# निबन्धालोक

[विश्वविद्यालयीय स्तर के कुछ विशिष्ट एवं गम्भीर विषयों पर सारगर्भित तथा विस्तृत आलोचनात्मक हिन्दी निबन्ध।]

लेखक
डॉ० राजेन्द्र शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०,
व्याख्याता, हिन्दी-विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

**लक्ष्मीनारायण अग्रवाल**
प्रकाशक व पुस्तक-विक्रेता
अस्पताल रोड, आगरा।

# नि ब न्धा लो क

[विश्वविद्यालयीय स्तर के कुछ विशिष्ट एवं गम्भीर विषयों पर सारगर्भित तथा विस्तृत आलोचनात्मक हिन्दी निबन्ध।]

लेखक
डॉ० राजेन्द्र शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०,
व्याख्याता, हिन्दी-विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल
प्रकाशक व पुस्तक-विक्रेता
अस्पताल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण, फरवरी—१९५३
द्वितीय संस्करण, फरवरी—१९६५


मूल्य : छह रुपये



प्रकाशक :
लक्ष्मीनारायण अग्रवाल,
आगरा।

मुद्रक :
मॉडर्न प्रेस,
आगरा।

# भूमिका

## ( हिन्दी गद्य का विकास )

'गद्य कवीनां निकषां वदन्ति'—यह कथन बिलकुल सच है क्योंकि गद्य लिखने में लेखक की योग्यता की परीक्षा हो जाती है। कविता में तो व्याकरण से मुक्त रहने के कारण इतना डर नहीं रहता क्योंकि आचार्यों ने कवियों के पक्ष में लिख दिया है कि कवियों को तार्किक और वैयाकरणों से दूर रहना चाहिए। इसलिए कवि लोग तार्किक और वैयाकरणों के आलोचना-कुठार के डर से निश्चित रहते हैं—रह सकते हैं, किन्तु तार्किक और वैयाकरणों की गिद्धदृष्टि गद्य-लेखकों पर सदैव जमी रहती है। इसलिए साधारणत: गद्य लिखना ही कठिन काम है, किन्तु गद्य में भी निबन्ध लिखना विशेषरूप से कठिन कार्य है क्योंकि एक वाक्य और कभी-कभी एक शब्द का भी व्यर्थ प्रयोग निबन्ध सौष्ठव में कलंक बन कर चमकने लगता है।

हिन्दी गद्य का इतिहास पद्य की भाँति प्राचीन नहीं है। विश्व की सभी भाषाओं में गद्य-साहित्य का सृजन पद्य-साहित्य के बाद हुआ है। हिन्दी-साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है।

हिन्दी गद्य के आदिग्रन्थ जो खोजने पर मिले हैं, वे १४ वीं शताब्दी में लिखे हुए ठहरते हैं। उनके विषय को देखने पर वे हठयोग तथा ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी प्रतीत होते हैं। हम इसे गोरखपन्थी-साहित्य कह सकते हैं। इस काल की भाषा का उदाहरण देखिये—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। है कैसे परमानन्द आनन्द स्वरूप हैं सरीर जिनको जिन्ह के नित्य गाएतें सरीर चेतन्नि अरु आनन्द मय होतु है। मैं जुहों गोरिस सो मछन्दरनाथ को दण्डवत करत हौं है कैसे वे मछन्दरनाथ? आत्मज्योति निश्चल है अन्तहकरन जिनके अरु मूल द्वार तें छह चक्र जिनि नीकी तरह जानें।" ब्रजभाषा का यह गद्य १४ वीं शताब्दी के लगभग का है। इसके पश्चात् कुछ गद्य-ग्रन्थ कृष्णभक्ति-शाखा के अन्तर्गत लिखे गये मिलते हैं। 'शृंगार-रस मंडन' नामक एक ग्रन्थ है जो बल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ द्वारा लिखा हुआ बताया जाता है। इसके अतिरिक्त बल्लभ सम्प्रदाय में गद्य के दो ग्रन्थ और मिलते हैं—(१) 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' (यह ग्रन्थ विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथजी का लिखा बताया जाता है यद्यपि इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है) और (२) 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' (यह पुस्तक

कुछ बाद में लिखी गयी प्रतीत होती है क्योंकि इसमें उर्दू-फारसी के शब्दों का पर्याप्त प्रयोग मिलता है। भाषा में पण्डिताऊपन की छाप भी स्पष्ट है। भाषा में विश्लेषणशक्ति का सर्वथा अभाव है।

इसके पश्चात् नाभादास कृत 'अष्टयाम' नामक पुस्तक मिलती है। इस पुस्तक में राम की दिनचर्या का वर्णन है, अतः यह पुस्तक धार्मिक भी है।

दो और पुस्तकें ब्रजभाषा गद्य में मिलती हैं—(१) 'अगहन महात्म्य' और (२) 'वैशाख महात्म्य'। लेखक हैं वैकुण्ठमणि शुक्ल। ये तत्कालीन ओरछा नरेश जसवन्तसिंह के आश्रित थे।

किसी अज्ञात लेखक द्वारा लिखित 'नासिकेतोपाख्यान' नामक पुस्तक का और पता चला है। रचना काल है—संवत् १७६० के लगभग।

सूरत मिश्र की लिखी हुई ब्रजभाषा गद्य की 'वैतालपच्चीसी' नामक पुस्तक है जिसका रचनाकाल सम्वत् १७६७ है। इसी प्रकार एक दूसरी पुस्तक 'आईनेअकबरी की भाषा' नामक है जिसके लेखक हैं कोई लाला हीरालाल। भाषा में उर्दू शब्दों का बाहुल्य है। बादशाह की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा भी इसमें है।

ब्रजभाषा का गद्य न तो परिष्कृत है और न भावों का विश्लेषण करने में समर्थ। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ने इस दिशा में विशेष ध्यान देने का कष्ट भी नहीं किया। ब्रजभाषा पद्य की भाषा हो गयी थी। पद्य में ही उसकी अभिव्यंजना-शक्ति प्रखर थी, गद्य में नहीं। यदि प्रयत्न किया जाय तो ब्रजभाषा का गद्य संतोषजनक रूप में पनप सकता था क्योंकि उसके आरम्भिक ग्रन्थों में ही आशा के अंकुर मिलते हैं, किन्तु परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी थीं कि उनमें गद्य का विकास सम्भव भी नहीं था।

१८ वीं शताब्दी में कुछ टीकाएं ब्रजभाषा गद्य में लिखी मिलती हैं, किन्तु उनकी भाषा इतनी अस्पष्ट और अविकसित है कि वे मूल से भी अधिक क्लिष्ट और अस्पष्ट प्रतीत होती हैं। वास्तव में पद्य की भाषा के रूप में ब्रजभाषा इतनी अधिक सम्मानित हो चुकी थी कि प्रतिभाशाली व्यक्ति जब ब्रजभाषा में लिखते थे तो पद्य में ही लिखते थे (इस स्थिति का कुछ अनुमान आज भी इस प्रकार किया जा सकता है कि यहाँ जब कोई अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की वस्तु लिखता है तो अंग्रेजी में लिखना पसन्द करता है। फलस्वरूप, हिन्दी प्रतिभाशाली व्यक्तियों की सेवा से वंचित ही रह जाती है।) फल यह हुआ कि ब्रजभाषा गद्य सदैव उपेक्षा भरी दृष्टि से देखा जाता रहा। फल-स्वरूप वह अविकसित, अपरिष्कृत तथा व्यंजनाहीन रह गया। भावों को अभिव्यक्त करने की उसकी शक्ति उतनी ही कम हो गयी जितनी ब्रजभाषा पद्य की बढ़ गयी। १८ वीं शताब्दी की टीका की भाषा के कुछ उदाहरण देना आवश्यक है जिससे उसका उत्तरोत्तर ह्रास स्पष्ट हो सके—

शृंगारशतक की मूल प्रवृत्तियाँ हैं—

उन्मत्त प्रेम संरम्भादालभन्ते यदंगना।
तत्र प्रत्यूह माधातुं ब्रह्मापि खलु कातरः॥

ब्रजभाषा गद्य में इसकी टीका इस प्रकार दी है—अंगनाजु है स्त्री सुप्रेम के अति आवेस करि। जु कार्य करना चहति है ता कार्य विषै। ब्रह्माऊ। प्रत्यूहं आधातुं। अन्तराउ कवि कहं कातर काइस है। काइस कहावै असमर्थ। जु कछु स्त्री करयौ चाहै सु अवश्य करहि। ताको अन्तराउ ब्रह्मा पहं न धस्यौ जाइ और की कितीक बात।"

स्पष्ट है कि टीका स्वयं मूल से भी अधिक अस्पष्ट है।

इसी प्रकार का एक और उदाहरण देखिये—

"—राघव शर लाघव गति छत्र मुकुट यों हयो।
हंस सबल अंसु सहित मानहु उड़ि कै गयो॥"

टीका है—"सबल कहैं अनेक रंग मिश्रित हैं, अंसु कहें किरण जाके ऐसे जे सूर्य हैं तिन सहित मानो कालिंद गिरि शृंग तें हंस कहैं हंस समूह उड़ि गयो है। यहाँ जाति विषै एक वचन है। हंसन के सदृश श्वेत छत्र है और सूर्यन के सदृश अनेक रंग नग जटित मुकुट हैं।"

ब्रजभाषा के गद्य का जन्म ऐसा प्रतीत होता है कि शुभ घड़ी में नहीं हुआ था क्योंकि उसका रूप और स्वास्थ्य जन्म के समय भी जितना अच्छा था, बाद में उतना भी नहीं रहा। जन्म के तुरन्त पश्चात् ही जिसके जीवन का ह्रास आरम्भ हो गया हो, भविष्य उसके लिए न तो आशा का विषय हो सकता है और न हर्ष का। जन्म से ही रुग्ण यह साहित्य-शिशु (ब्रजभाषा गद्य) अधिक दिनों तक जीवित न रह सका। ब्रज-भाषा के गद्य के इस ह्रास से खड़ी बोली से गद्य को बड़ा बल मिला। दो ऐसे कारण थे जिन्होंने खड़ी बोली गद्य के मूल तो साहित्य में गहरे प्रतिष्ठित कर दिये और ब्रजभाषा गद्य का मूलोच्छेदन कर दिया—(१) खड़ी बोली गद्य युगानुकूल था और (२) तत्कालीन मुसलमान राजाओं ने आश्रय देकर उसका पालन-पोषण किया।

खड़ी बोली गद्य का साहित्य-क्षेत्र में अचानक विस्फोट नहीं हुआ था। वह बहुत पहले से शक्ति-संचय करने में लगा था। गंग कवि की 'चंद छंद बरनन की महिमा' खड़ी बोली गद्य की आदि पुस्तक बताई जाती है। इस पुस्तक के गद्य के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा कि विकास के अंकुर उसमें आरम्भ से ही वर्तमान हैं—

"—सिद्धि श्री १०८ श्री पातसाहजी, श्री दलपतजी आमखास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे और आमखास भरने लगा है, जिसमें तमाम उमराव आइ आइ कुर्निश बजाइ जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी अपनी मिसिलसे। जिनको बैठक नहीं सो रेशम के रस्से में रेशम की लूमें पकड़ पकड़ के खड़े ताजीम में रहें। इतना सुनिके पातसाहजी श्री अकबरसाहजी आध सेर सोना नहरदास

चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास वंचना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।"

इस उद्धरण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि खड़ी बोली गद्य और व्रजभाषा गद्य की वाक्य-रचना तथा शैली में मौलिक अन्तर है। व्रजभाषा आवश्यकता पड़ने पर संस्कृत से शब्द लेती है और खड़ी बोली उर्दू से। मुसलमान राजाओं ने खड़ी बोली को अपने अनुकूल पाया और उसको अरबी-फारसी शब्दों से भरना प्रारम्भ कर दिया। बाद में अपनी इसी शैली की विशिष्टता के कारण यह 'उर्दू' नाम से अभिहित हुई। यह सोचना अत्युक्तियुक्त होगा कि खड़ी बोली को मुसलमान अपने साथ लाये थे, वह तो यहीं की उतनी ही प्राचीन बोली थी, जितनी व्रजभाषा। खड़ी बोली का आरम्भिक रूप अपभ्रंश भाषाओं तक में मिलता है। देखिये—

"—भल्ला हुआ जु मारिया बाहिणि म्हारा कंत।
लज्जेजं तु वयंसि अहि जय भग्गा घर अंतु॥"

'भल्ला', 'हुआ', 'मारिया' शब्द आधुनिक खड़ी बोली के पूर्वज हैं। खड़ी बोली के मूल भारतीय भाषाओं में उतने ही गहरे हैं जितने व्रजभाषा या अन्य किसी भाषा के।

गंग की पुस्तक के पश्चात् सम्वत् १७९८ में लिखी रामप्रसाद निरंजनी की 'योग वाशिष्ठ' नामक पुस्तक मिलती है। इस पुस्तक की भाषा खड़ी बोली का बड़ा ही उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करती है। इसकी भाषा से खड़ी बोली की आश्चर्यजनक प्रगति पर प्रकाश पड़ता है। देखिये—

"—प्रथम परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है जिससे सब भासते हैं और जिसमें सब लीन और स्थित होते हैं, ××× जिस आनन्द के समुद्र के कण से सम्पूर्ण विश्व आनन्दमय है, जिस आनन्द से सब जीते हैं। अगस्तजी के शिष्य सुतीक्षण के मन में एक सन्देह पैदा हुआ तब वह उसके दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधि सहित प्रणाम करके बैठे और विनती कर प्रश्न किया कि हे भगवान्! आप सब तत्वों और शास्त्रों को जाननहारे हो मेरे एक संदेह को दूर करो। मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान अथवा दोनों हैं समझाइके कहो।"

'जानन हारे' तथा 'समझाइ' दो-एक व्रजभाषा के शब्दों के प्रयोग को छोड़कर उपरोक्त उद्धरण हिन्दी का अत्यन्त आधुनिक रूप प्रस्तुत करता है। सम्वत् १७९८ को देखते हुए यह गद्य आश्चर्यजनक रूप से प्रौढ़, परिष्कृत तथा आधुनिक है।

इसके पश्चात् पं० दौलतराम द्वारा सं० १८१८ में हरिषेणाचार्य के जैन पद्म-पुराण का ७०० पृष्ठों में किया हुआ हिन्दी अनुवाद मिलता है। इतना कहना आवश्यक है कि रामप्रसाद निरंजनी की भाषा को देखते हुए इस बीच में खड़ी बोली गद्य ने अधिक प्रगति नहीं की।

ईसाई लोग जब भारतवर्ष में आये तो उन्हें अपने धर्म-प्रचार के लिए एक

भाषा की आवश्यकता पड़ी। इसके लिए उन्होंने हिन्दी को चुना। उन्होंने बाइबिल का हिन्दी में अनुवाद कराया तथा अपना सम्पूर्ण प्रचार-साहित्य हिन्दी में ही प्रकाशित किया। ईसाइयों ने भारतवर्ष में लोगों को धर्मभ्रष्ट करने का जो पाप किया था, उसका थोड़ा-बहुत प्रायश्चित शायद हिन्दी-प्रचार के पुण्य कार्य से हो गया होगा।

खड़ी बोली गद्य को एक निश्चित और व्यवस्थित रूप देने वाले चार आचार्य माने जाते हैं—(१) सदासुखलाल ; (२) इंशाअल्लाखाँ ; (३) लल्लूलाल ; (४) सदलमिश्र।

सदासुखलाल—धार्मिक व्यक्ति थे जो कुछ लिखते थे स्वांतः सुखाय लिखते थे। शेष तीनों व्यक्तियों से इनका महत्व इसलिए अधिक है कि बिना किसी के आश्रय में रहे तथा बिना किसी के कहेसुने इन्होंने हिन्दी लिखी। भाषा की दृष्टि से अपने काल के लेखकों में ये शीर्षस्थान के अधिकारी हैं। इनकी भाषा का उदाहरण देखिये—

"—इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं। आरोपित उपाधि है। क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चाण्डाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरन्त ही ब्राह्मण से चाण्डाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से लोग हमें नास्तिक कहेंगे। जो बात सत्य होइ उसे कहना चाहिए कोई बुरा माने कि भला।"

इंशाअल्लाखाँ—ये हिन्दी को संस्कृत और अरबी-फारसी के प्रभाव से मुक्त रखना चाहते थे और किसी बोली का पुट इन्हें हिन्दी में अच्छा नहीं लगता था। आपने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। उसकी भाषा का उदाहरण देखिये—

"—जब दोनों महाराजों में लड़ाई होने लगी, रानी केतकी सावन भादों के रूप रोने लगी। और दोनों के जी में यह आगई—यह कैसी चाहत जिसमें लहू बरसने लगा और अच्छी बातों को जी तरसने लगा।"

लल्लूलालजी—आगरा के रहनेवाले थे। जॉन गगिल क्राइस्ट के आदेश से 'प्रेमसागर' की रचना की। 'प्रेमसागर' में भागवत के दशम् अध्याय की कथा हिन्दी में लिखी गयी है। लल्लूलालजी की भाषा में पंडिताऊपन अधिक है। उदाहरण लीजिये—

"—इतना कह महादेवजी गिरिजा को साथ ले गंगा तीर पर जाइ नीर में न्हाइ न्हिलाइ अति लाड़ प्यार से लगे पार्वतीजी को वस्त्र आभूषण पहिराने। निदान अति आनन्द में मग्न हो डमरू बजाइ बजाइ, तांडव नाच, नाच संगीत शास्त्र की रीति से गाइ गाइ लगे रिझाने।"

सदलमिश्र—इनके द्वारा लिखी 'नासिकेतोपाख्यान' नामक पुस्तक मिलती है। फोर्ट विलियम कॉलेज के अधिकारियों की प्रेरणा से मिश्रजी ने हिन्दी लिखना प्रारम्भ किया। मिश्रजी की भाषा में पूर्वीपन स्पष्ट है। भाषा का उदाहरण देखिये—

"—इस प्रकार से नासिकेतु मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन करि फिर जौन जौन कर्म किए जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, माता, पिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध, गुरु इनका जो वध करते हैं वो झूठी साक्षी भरते झूठ ही कर्म में दिन रात लगे रहते हैं।"

इसके पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह तथा राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का हिन्दी में आविर्भाव हुआ।

राजा शिवप्रसाद—इन्होंने 'राजा भोज का सपना' तथा 'कंजूस का घोड़ा' आदि रचनाएँ लिखीं। आरम्भ में इनकी हिन्दी संस्कृतगर्भित मिलती है, परन्तु बाद में पता नहीं क्यों इनकी शैली उर्दू-फारसी शब्दों से भर उठी।

राजा लक्ष्मणसिंह—ये शैली में शिवप्रसाद के विपरीत, संस्कृतगर्भित भाषा के पक्षपाती थे और उर्दू-फारसी शब्दों के बहिष्कार की प्रवृत्ति इनमें मिलती है। इनकी 'शकुन्तला नाटक' (अनुवादित) हिन्दी की प्रसिद्ध पुस्तक है।

इसके पश्चात् हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द का आविर्भाव होता है और हिन्दी के अपूर्ण और अविकसित विषयों की पूर्ति का युग आता है।

निबन्धों के लिए देखिये—इसी पुस्तक का 'निबन्ध का इतिहास' नामक निबन्ध। अब यहाँ निबन्ध के शास्त्रीय पक्ष पर कुछ विचार किया जाय।

निबन्ध क्या है ? निबन्ध शब्द से साहित्य के जिस अंग का बोध होता है, वह उस रूप में संस्कृत काल में नहीं मिलता। इसलिए हिन्दी निबन्ध-साहित्य अपनी परम्परा के लिए संस्कृत-साहित्य का ऋणी न होकर अपने जन्म, रूपग्रहण तथा विशिष्टताओं के लिए अँग्रेजी भाषा का ऋणी है। हिन्दी निबन्ध का वर्तमान रूप अँग्रेजी Essay से प्रभावित है। निबन्ध शब्द का अर्थ है—'बँधा हुआ'। लेखक जहाँ अपने विचारों को बँधे हुए व व्यवस्थितरूप में रखता है, वही निबन्ध है। किसी विषय पर निबन्ध लिखने से पूर्व दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

(१) जिस विषय पर निबन्ध लिखना हो, उसका विभाजन कर लिया जाय जिससे लेख पुनरावृत्ति के दोष से बच सके।

(२) जो कुछ कहा जाय, वह आकर्षक और चमत्कारयुक्त भाषा में कहा जाय।

पृथ्वी और आकाश के बीच की कोई भी वस्तु निबन्ध का विषय हो सकती है। निबन्ध अपने सुन्दर गठन और रोचकता के कारण कभी-कभी कहानी की सीमा का स्पर्श करने लगता है, किन्तु कहानी और लेख में मौलिक अन्तर है, इतना तो स्पष्ट है। कहानी में विचार घटनाओं के सेवक के रूप में आता है, निबन्ध में विचार स्वामी होता है और शेष सभी तत्व उसके सेवक और सहायक होते हैं। किन्तु विचारतत्व निबन्ध में दर्शन की भाँति सन्यासी (विरक्त, वैभवहीन) बनकर नहीं आता अपितु अपने पूरे वैभव में पूर्ण आकर्षक रूप में आता है। कहानी में पात्रों की कल्पित स्थिति तथा कल्पना का जो अबाध प्रयोग होता है, निबन्ध में उसका भी अभाव होता है। संक्षेप में कह सकते है कि निबन्ध यदि विचारोत्तेजक होता है तो कहानी भावोत्तेजक। दोनों का कार्य-क्षेत्र भी मूलतः भिन्न है। कहानी विचारों का प्रचार भावों के माध्यम से करती है और निबन्ध विचारों के द्वारा भावों को परिष्कृत, संयत और समयानुकूल बनाता है। निबन्ध विश्लेषण की पैनी धार से वस्तुओं (समस्याओं) को खण्ड-खण्ड करके

देखता है, अतः वह विश्लेषणप्रधान है। कहानी विभिन्न वस्तुओं को संयुक्त करके सृजनात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करती है। कहानी के लिए घटना अनिवार्य है—निबन्ध के लिए विचार।

'उत्सुकता' कहानी के मुख्य तत्वों में से है। लेख में भी उसका समावेश किया जा सकता है। लेख का आरम्भ भी कहानी की भाँति उत्सुकतापूर्ण एवं अप्रत्याशित हो सकता है। लेख का प्रत्येक वाक्य पाठक की उत्सुकता को जागृत रख सकता है तथा रोचक हो सकता है। कहानी और निबन्ध की समस्याएं भी समान हो सकती हैं। सबसे बड़ा अन्तर शैली का है—अभिव्यक्ति के प्रकार का है। विषय एक होते हुए भी उसे प्रतिपादित करने का ढंग उनमें अन्तर कर देता है।

आज निबन्ध कहानी और उपन्यास की भाँति साहित्य का एक विशिष्ट अंग है, स्वतन्त्र अंग है। वह किसी का पूरक नहीं है अपितु अपने आप में पूर्ण है। जिस प्रकार उपन्यास के एक परिच्छेद को कहानी नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार उसे निबन्ध भी नहीं कह सकते।

किन्तु साहित्य में होने वाले नये-नये प्रयोग नित्य नवीन सत्यों का उद्घाटन करते जा रहे हैं। आज लेखक अपने विचारों को अधिकाधिक आकर्षक रूप में प्रस्तुत करना चाहता है। आज का कहानीकार भी नहीं चाहता कि उसकी कहानी केवल मनोरंजन या मानसिक विलास की घटिया सामग्री बन कर रह जाय। वह उसमें मनोरंजन के तत्व के साथ अधिक से अधिक विचार या मनन का तत्व रखना चाहता है। पता नहीं ये प्रवृत्तियाँ भविष्य में इन विशिष्ट अंगों को क्या रूप दे दें। आज के साहित्यिक जगत में कहानी और निबन्ध की रूपग्रहण-विषयक प्रतिद्वन्द्विता अत्यधिक स्पष्ट है। कहानी निबन्धों के विचारवैभव को अपनी सम्पत्ति बनाना चाहती है और निबन्ध कहानी की कथात्मकता, भावात्मकता तथा आकर्षण को हरण करने की घात में है।

सुविधा के लिए हम निबन्धों का वर्गीकरण निम्नांकित रूप में कर सकते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि यह वर्गीकरण तात्विक नहीं है, केवल व्यावहारिक है क्योंकि प्रत्येक निबन्ध में वर्णन, विचार, भाव तथा कथा का अंश रहता है, इसलिए विभाजन किसी तत्वविशेष की प्रधानता के आधार पर ही किया जा सकता है। विद्वानों ने निबन्धों को चार प्रकारों में बाँट दिया है—

(१) वर्णनात्मक ; (२) विचारात्मक ; (३) भावात्मक ; (४) कथात्मक।

(१) वर्णनात्मक—इस प्रकार के लेख में लेखक का उद्देश्य किसी वस्तु या व्यापार का वर्णन करना होता है। इस प्रकार का निबन्ध Informative अर्थात् सूचनाप्रधान होने के लिए विवश है। वर्णनात्मक निबन्धों का अपेक्षाकृत नीरस होना भी स्वाभाविक है क्योंकि इस प्रकार के निबन्धों में भावात्मकता का अभाव होने के कारण उन्हें केवल भाषा-चमत्कारप्रधान ही बनाया जा सकता है। इस प्रकार के

लेखों में जिन विषयों का वर्णन होता है, आवश्यक नहीं कि पाठक उन सबसे पूर्व-परिचित हो। अतः लेखक का कार्य ऐसे लेखों में यह होता है कि वह अपने विषय का ऐसा साङ्गोपाङ्ग वर्णन करें कि पाठक को विषय का अधिकतम सम्भव ज्ञान वर्णित वस्तुओं को प्रत्यक्ष देखे बिना ही हो सके। इस प्रकार के लेखों में लेखक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह उन्हीं बातों की चर्चा अपने लेखों में करे जो अत्यावश्यक हैं। शुक्लजी ने इसे ही उपलक्षण पद्धति कहा है, अर्थात् अपने अनुभव से लेखक उन बातों को चुन ले जिनके वर्णन से पाठक की आँखों के सामने विषय साकार हो उठे, उसका एक स्पष्ट चित्र पाठक अपने मानसपटल पर बना सके। इसलिये इस प्रकार के लेख लिखने में सफलता प्राप्त करने के लिए—(१) सूक्ष्म निरीक्षण तथा (२) भाषा पर असाधारण अधिकार—ये दोनों ही बातें लेखक के लिए अत्यावश्यक हैं।

(२) विचारात्मक निबन्ध—विचारात्मक निबन्ध का विषय प्रायः समस्या ही होता है। चाहे फिर वह राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक या साहित्यिक हो। लेखक उन समस्याओं पर अपने दृष्टिकोण से मनन करता है और तर्कयुक्त भाषा में उन्हें इस प्रकार रखना चाहता है कि पाठक उससे सहमत हो जाय। कोई भी गहन विषय सीधी-सादी भाषा में आसानी से नहीं रखा जा सकता, इसलिए विचारात्मक निबन्धों की भाषा क्लिष्ट होने के लिए विवश है। विचारात्मक निबन्ध अपने विषय-वैशिष्ट्य के कारण जनसाधारण के लिए न होकर कुछ ही व्यक्तियों के लिए होते हैं, इसलिए उनका गम्भीर होना भी अत्यन्त स्वाभाविक है। विचारात्मक निबन्ध विश्लेषणप्रधान होते हैं और भावुकता के तत्व का उनमें प्रायः अभाव रहता है; इसलिए वे अपेक्षाकृत नीरस भी होते हैं। विचारात्मक निबन्धों की भाषा बड़ी नपी-तुली होती है क्योंकि एक शब्द का भ्रमपूर्ण प्रयोग पूरे निबन्ध के भाव-सौन्दर्य को नष्ट कर सकता है। इसलिए ऐसे निबन्धों में पारिभाषिक शब्दों में एकरूपता (सर्वत्र एकसा ही प्रयोग) का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। विचारों की एकरूपता तथा स्पष्टता के अभाव में ऐसे निबन्ध लिखे ही नहीं जा सकते। जब तक लेखक स्वयं भ्रम में होगा तब तक वह अपना दृष्टिकोण पाठक को स्पष्टरूप से नहीं समझा सकता। हिन्दी में आचार्य शुक्ल अपने विचारप्रधान लेखों के लिए प्रसिद्ध हैं।

(३) भावात्मक निबन्ध—इस प्रकार के निबन्धों में भाव प्रधान होते हैं और विचार गौण। अधिक काव्यात्मक होने के कारण अलंकारों का भी प्रचुर प्रयोग इनमें मिलता है। अतः इनकी भाषा अन्य प्रकार के निबन्धों से अधिक अलंकृत होती है। इस प्रकार के निबन्ध भावात्मकता की अधिकता के कारण एक ओर तो कहानी की सीमाओं का स्पर्श करते हैं, तो दूसरी ओर काव्यत्व के प्राधान्य के कारण गद्य-काव्य की सीमाओं का स्पर्श करते हैं। इस प्रकार ये निबन्ध भावतत्व की प्रधानता के कारण गद्यकाव्य और कहानी—दोनों का आनन्द देते हैं। ऐसे निबन्धों में भावातिरेक (भावों की अधिकता) के कारण वाक्यों का अपेक्षाकृत लम्बा हो जाना स्वाभाविक ही है।

मनोवेगों की तीव्रता—ऐसे लेखों का प्रधान लक्ष्य है। इसलिये पढ़ने में कविता का आनन्द भी देते हैं। विभिन्न दिखायी देने वाली जातियाँ, अलग-अलग प्रतीत होते मनुष्यों के हृदय में अन्तःसलिला की भाँति प्रवाहमान एक ही मानवता के दर्शन कराना, इन निबन्धों का मुख्य विषय रहता है। हिन्दी में सरदार पूर्णसिंह के निबन्ध इस विषय के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। आज के यन्त्र युग में जिस प्रकार कविता का ह्रास हो रहा है, उसी प्रकार भावात्मक निबन्धों का भी क्योंकि तत्वतः दोनों एक ही हैं। विज्ञानप्रधान युग में इनके विकासके अवसर कम से कम रहते हैं, लेकिन मनुष्य में मस्तिष्क कितना ही प्राधान्य पा ले, फिर भी हृदय का नितान्त अभाव कभी नहीं हो सकता; हृदय के अभाव में वह जड़वत हो जायगा। प्रेम, शोक, क्रोध, घृणा आदि की भावनाएँ मनुष्य में बनी रहेंगी और इस प्रकार भावात्मक निबन्ध भी लिखे जाते रहेंगे।

(४) कथात्मक निबन्ध—इस प्रकार के निबन्धों का विषय रहता है—किसी घटना या वृत्तान्त का मनोरंजक वर्णन। प्रायः यात्रा के वर्णन, अतीत काल पर लिखे गये लेख, युद्ध तथा विविध सम्मेलनों के वृत्तान्त, इस प्रकार के लेखों के अन्तर्गत आयेंगे। ये एक प्रकार से वर्णनप्रधान लेख ही हैं, किन्तु कम विश्लेषणयुक्त होने के कारण उनसे भिन्न हो जाते हैं। किसी भी दृश्य या वृत्तान्त का सांगोपांग चित्र तो ऐसे लेखों में होगा ही, किन्तु उनकी आलोचना नहीं होगी। काव्यालंकारों—रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की आवश्यकता इन निबन्धों में भी पड़ती है और ये अलंकार इस प्रकार के निबन्धों का सौन्दर्य और आकर्षण बढ़ाते हैं। घटनावैचित्र्य तथा उत्सुकता के गुण के कारण ये निबन्ध बहुत कुछ कहानियों के निकट आ जाते हैं, किन्तु कथोपकथन और कल्पित पात्रों की अनुपस्थित उन्हें कहानी से भिन्न कोटि में रख देती है।

इस प्रकार के निबन्धों के लिए यह भी आवश्यक है कि विषय का उचित विभाजन कर लिया जाय क्योंकि वर्णन में पिष्टपेषण की प्रवृत्ति इस प्रकार के निबन्धों में कुरूपता की सृष्टि करती है। ऐसे लेखों की भाषा क्लिष्ट न होकर चलती हुई तथा प्रवाहपूर्ण होनी चाहिए।

आजकल विदेश-यात्रा, पहाड़ों की सैर, हवाई यात्रा तथा साहित्यिक यात्रा आदि विषयों पर पर्याप्त लेख हिन्दी में लिखे जा रहे हैं।

शैली—शैली के विषय में दो शब्द कहना अनुचित न होगा। यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि निबन्धों के प्रकार वास्तव में विषय के प्रकार न होकर शैलियों के हैं। यों तो प्रत्येक साहित्यिक कृति में शैली अपना विशेष महत्व रखती है किन्तु उसकी जितनी घनिष्ठता निबन्ध से है, उतनी और शायद किसी से नहीं। ( Style is the man ) 'शैली ही व्यक्तित्व है' की बात बहुत प्रसिद्ध है। यह सत्य भी है कि जिस प्रकार केवल आवाज सुनकर हम अपने मित्रों एवं घनिष्ठ व्यक्तियों को पहचान लेते हैं उसी प्रकार शैली के द्वारा हम लेखक को पहचान लेते

है। वस्तुजगत में व्यक्तियों की आवाज में जो अन्तर होता है, वही अन्तर विभिन्न लेखकों की शैली में होता है। वस्तुजगत में जैसे प्रत्येक व्यक्ति का अपना विशिष्ट स्वर होता है, उसी प्रकार साहित्यिक जगत में प्रत्येक साहित्यकार की अपनी शैली होती है।

शैली में शब्द-चयन, वाक्य-रचना तथा भाषा की विशिष्टताएँ ही नहीं आतीं, उसमें तो व्यक्ति की विचार-पद्धति, उसकी मान्यताएँ, उसकी व्यक्तिगत रुचि, अरुचि, आदि सभी स्पष्ट हो जाती हैं। एक विशिष्ट प्रकार की चिन्तन-क्रिया को विशिष्ट रूप में व्यक्त करने को शैली कह सकते हैं। शैली का सम्बन्ध केवल भाषा से नहीं, जीवन से होता है, इसलिए शैली की नकल करना बिलकुल असम्भव है। 'प्रसाद' और प्रेमचन्दजी की शैली का अनुकरण करके आज तक कोई 'प्रसाद' और प्रेमचन्दजी न बन सका। किन्हीं दो व्यक्तियों की आकृति जैसे बिलकुल नहीं मिल सकती, उसी प्रकार शैली भी। इस संसार में व्यक्ति की जो विशिष्ट आकृति है, साहित्य में वही शैली है। वस्तुजगत में व्यक्ति का जो व्यक्तित्व है, साहित्य-जगत में वही शैली है।

जिसकी अपनी शैली नहीं, वह चाहे कुछ हो जाय, निबन्धकार नहीं हो सकता। निराला, महादेवी, पन्त, सरदार पूर्णसिंह, वियोगीहरि को इस जगत में जैसे हम उनकी आकृति देखकर पहचान लेते हैं, साहित्य-जगत में वैसे ही उनकी शैली देखकर उन्हें पहचान लेते हैं।

यह शैली ही निबन्ध लिखने की कला का मूल आधार है। इसके अभाव में निबन्ध का भवन खड़ा नहीं किया जा सकता।

---

# विषय-सूची

# अध्याय १

# निबन्ध का इतिहास

## आरम्भिक युग

भारतेन्दु युग निबन्धों का आरम्भिक युग कहा जा सकता है। इससे पूर्व राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द द्वारा लिखी 'राजा भोज का सपना' नामक रचना मिलती है, किन्तु वह कथा-प्रधान है। इसलिए वह निबन्ध की अपेक्षा कहानी के अधिक निकट पड़ती है। भारतेन्दु बाबू ने हिन्दी की सेवा के लिये एक मण्डल तैयार किया था। उस मण्डल में भारतेन्दु बाबू के व्यक्तिगत मित्र ही अधिक थे। हिन्दी उस युग में उपेक्षा की वस्तु थी। इसलिए इस मण्डल के लेखकों का पथ काँटों से भरा था। किन्तु हिन्दी और हिन्दुस्तान के प्रति प्रेम की जो उत्कट भावना इस काल के लेखकों में पाई जाती है, बाद के लेखकों में वह इतनी नहीं मिलती। इस काल के लेखकों के लेखों को पढ़ने से प्रतीत होता है कि हिन्दी उनके जीवन की सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु थी। ऐसा लगता है कि हिन्दी को छोड़कर शायद और कोई विषय उनके लिए आवश्यक नहीं था। देश की सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितियों में इस काल के लेखक सजग प्रहरी थे। हिन्दी का उत्कर्ष और सामाजिक सुधार—इस काल के लेखकों के दो महान् उद्देश्य थे। इस मण्डल के प्रमुख व्यक्ति थे—

पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', पं० प्रतापनारायण मिश्र, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहनसिंह, लाला श्रीनिवास दास, पं० केशवराम भट्ट, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० राधाचरण गोस्वामी।

स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कितने ही निबन्ध लिखे। उनके निबन्धों की भाषा को हम हिन्दुस्तानी कह सकते हैं, न तो अत्यन्त संस्कृतगर्भित और न अरबी-फारसी शब्दों से बोझिल। हरिश्चन्द्र के निबन्धों की भाषा बहुत कुछ विषयानुकूल है। यदि विषय धार्मिक हुआ तो उनकी भाषा क्लिष्ट और संस्कृतनिष्ठ भी मिलेगी। उनके "वैष्णवता और भारतवर्ष" नामक निबन्ध की भाषा का उदाहरण देना उनकी शैली को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है—

"—जिस उत्तम उदाहरण द्वारा स्थापक आचार्यगण ने आत्मसुख विसर्जन

करके भक्ति-सुधा से लोगों को प्लावित कर दिया था, उसी उदाहरण से अब भी गुरु लोग धर्म-प्रचार करें। बाह्य आग्रहों को छोड़ कर केवल आन्तरिक उन्नत प्रेममयी भक्ति का प्रचार करें। देखें कि दिग्दिगन्त से हरिनाम की कैसी ध्वनि उठती है और विधर्मीगण भी इसको सिर झुकाते हैं कि नहीं।"

भारतेन्दु हिन्दी-निबन्ध-साहित्य के आदि पुरुष हैं, किन्तु उन्होंने भाषा को कितना मांजा, सवांरा और आधुनिक बनाया है, यह देख कर आश्चर्य होता है। भारतेन्दु के निबन्धों की भाषा जितनी सजीव, सरल और आधुनिक है, उतनी उस काल के और किसी लेखक की नहीं। भारतेन्दु १६ वीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार कहे जा सकते हैं। भारतेन्दु की अपनी विशिष्ट शैली थी जिसे उनके समसामयिक और परवर्ती लेखक 'हरिश्चन्दी हिन्दी' के नाम से पुकारते थे। भारतेन्दु के समकालीन और बाद के लेखकों ने, जहाँ तक शैली का सम्बन्ध है, बहुत कुछ भारतेन्दु का अनुकरण किया है।

भारतेन्दु युग के निबन्धकारों में पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० प्रतापनारायण मिश्र विशेष प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुए।

भट्टजी की निबन्ध-शैली प्रवाहयुक्त है। उर्दू, फारसी और अँग्रेजी तक के शब्दों का प्रयोग भट्टजी में मिलता है, जैसे तनज्जुली, चपत, निर्ख, ईजाद, Education, Society, National, Vigour and Strength, Standard आदि। स्थान-स्थान पर संस्कृत के उदाहरण भी आपके निबन्धों में मिलेंगे। व्यंग्य तथा विनोद का शैली में पुट अवश्य मिलेगा। देखिये—

"—भागवत के उस श्लोक का लिखने वाला हमें इस समय मिलता तो कम से कम गिन कर तीन गहरी चपत उसे जमाते।" की भी बानगी देखिये—

"वहाँ के स्थावर, जंगम सजित पदार्थ मात्र में सात्विक भाव का प्रकाश रहा। प्रत्येक मनुष्य यावत्-अभ्युदय और स्वर्गसुख का अनुभव करते हुए कृतकृत्य, पूर्णकाम और आप्तकाम रह किसी अंश में कहीं पर से किसी तरह की किसी भी त्रुटि का नाम न रहा।"

'न जाने' के लिए 'न जानिए' का प्रयोग भट्टजी के लेखों में मिलता है जैसे, "भारत में न जानिए के बार उस प्रवाह की प्रेरणा से चक्रवत पलटा खाते सतोगुण का उदय हो चुका है।"

प्रतापनरायण मिश्र की निबन्ध-शैली भी हास्य-व्यंग्य-गर्भित है। मिश्रजी 'ब्राह्मण' नामक पत्र का सम्पादन करते थे। इसी पत्र में मिश्रजी के बहुत से लेख प्रकाशित हुए। मिश्रजी की भाषा में पूर्वीपन का पुट मिलता है। मिश्रजी के निबन्धों के विषय थे—देश-दशा, समाज-सुधार, हिन्दी-प्रचार इत्यादि। मिश्रजी कहावतों के पण्डित थे। इनकी रचनाओं में कहावतों का प्रयोग खूब मिलेगा। १६ वीं शताब्दी में 'शैली ही व्यक्तित्व है' (Style is the man) का सत्य सबसे अधिक मिश्रजी पर ही

चरितार्थ होता है। मिश्रजी बड़े मौजी जीव थे। उनकी वास्तविक शैली, जो उनके व्यक्तित्व की प्रतीक है, 'दांत', 'वृद्ध', 'भौं', 'धोखा', 'मरे को मारै शाह मदार', 'समझदार की मौत है' आदि लेखों में मिलेगी। उनके कुछ गम्भीर निवन्ध भी मिलते हैं, जैसे—शिवमूर्ति, सोने का डंडा, काल, स्वार्थ आदि, किन्तु ये लेख मिश्रजी के वास्तविक व्यक्तित्व को नहीं प्रकट करते। अपने लेखों के बीच-बीच में मिश्रजी संस्कृत, उर्दू और फारसी आदि के उद्धरण भी देते थे।

भारतेन्दु युग में बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' का नाम अविस्मरणीय है। 'प्रेमघन' भाषा को माँजने और अलंकृत करने के समर्थक थे। आपके विषय में आचार्य शुक्ल का यह कथन द्रष्टव्य है—"लखनऊ की उर्दू का जो आदर्श था, वही उनकी हिन्दी का था।" आनन्द कादम्बिनी नामक पत्रिका के आप संचालक थे और नियमित रूप से उनके निवन्ध उसी पत्रिका में प्रकाशित होते थे।

भारतेन्दु युग में निवन्धों की इस आशातीत उन्नति को देख कर आशा की जा सकती थी कि हिन्दी का निवन्ध-साहित्य बहुत समृद्ध और उत्कृष्ट कोटि का हो जायगा, किन्तु भारतेन्दु युग के इस उपरोक्त 'मण्डल' के लेखकों के अतिरिक्त और नवीन लेखक इस ओर आकर्षित न हुए।

## द्विवेदी युग

भारतेन्दु युग में भाषा का रूप स्थिर नहीं था। एक ही शब्द का प्रयोग विभिन्न लेखक भिन्न-भिन्न प्रकार से करते थे। द्विवेदीजी ने सबसे बड़ा कार्य तो भाषा के सुधार का किया। द्विवेदीजी के अधिकांश लेख गवेषणात्मक या विचारात्मक हैं। द्विवेदीजी की शैली ऐसे निवन्धों में प्रायः संस्कृतनिष्ठ होती है। द्विवेदीजी ने स्वसम्पादित सरस्वती में सैकड़ों लेख लिखे। द्विवेदीजी का दृष्टिकोण सुधारवादी था। स्वतन्त्र लेखों के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबन्धकार लार्ड वेकन के निवन्धों का अनुवाद 'वेकन विचार रत्नावली' के नाम से किया। द्विवेदीजी के कितने ही निवन्ध स्थायी महत्व के हैं, जैसे 'कवि और कविता', 'साहित्य की महत्ता', 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' आदि।

द्विवेदीजी को स्वतन्त्र विषयों पर लेख लिखने का समय अधिक नहीं मिला। उनका अधिकांश समय भाषा-सुधार तथा साहित्यिक विवादों में बीता। उनके और श्री बालमुकुन्द गुप्त के बीच हुआ 'अनस्थिरता' शब्द-विषयक झगड़ा प्रसिद्ध है। इस बीच में इनके लेखों के कई संकलन निकले हैं, जैसे 'सुकविसंकीर्तन', 'अद्भुत आलाप' 'विचित्र चित्रण' आदि।

पं० माधव मिश्र इस युग के प्रमुख लेखकों में से हैं, इनके विषय में आचार्य शुक्ल का मत द्रष्टव्य है—

"पं० माधवप्रसाद के धार्मिक और ओजस्वनी लेखों को जिन्होंने पढ़ा होगा, उनके हृदय में उनकी मधुर स्मृति अवश्य बनी होगी। उनके निवन्ध अधिकतर

भावात्मक होते थे और धाराशैली पर चलते थे । उनमें बहुत सुन्दर मर्मपथ का अनुसरण करती हुई स्निग्ध वाग्धारा लगातार चलती थी ।"

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी इनकी प्रतिभा के कायल थे । उन्होंने इनके विषय में लिखा है—

"मिश्रजी बिना किसी अभिनिवेश के नहीं लिख सकते । यदि हमें उनसे लेख पाने हैं तो सदा एक न एक टंटा उनसे छेड़ ही रखा करें ।" मिश्रजी अपने आप कम लिखते थे, लिखते तब जब इन्हें कोई उत्तेजित कर दे । जो इनका लेखों में विरोध करता था, उसका विरोध ये भी अवश्य करते थे । मिश्रजी पक्के सनातनी थे और सनातन धर्म के विरुद्ध कोई भी बात इनके लिए असह्य थी । उस काल के 'सुदर्शन' नामक पत्र में मिश्रजी के लेख यदाकदा निकला करते थे, जैसे 'पर्व त्योहार,' 'उत्सव', 'तीर्थ-स्थान' आदि । भावनाओं के ऊपर भी मिश्रजी के दो लेख उपलब्ध हैं, जैसे 'धृति' और 'क्षमा' ।

बाबू गोपालराम गहमरी ने भी 'ऋद्धि-सिद्धि' आदि कुछ लेख लिखे हैं । आपकी भाषा चंचल, प्रवाहपूर्ण तथा विनोदपूर्ण होती थी ।

बाबू बालमुकन्द गुप्त इस काल के प्रमुखतम लेखक हैं । इन्हीं का 'अनस्थिरता' शब्द पर द्विवेदीजी से प्रसिद्ध विवाद चला था । गुप्तजी को जैसी सरल और सजीव भाषा इस काल में दूसरे लेखक की नहीं मिलेगी । विरोधी को तिलमिला देने वाला व्यंग्य गुप्तजी की भाषा की बड़ी विशेषता है । गुप्तजी का स्वभाव हँसमुख था और निर्भीक प्रकृति के व्यक्ति थे । गुप्तजी का लिखा 'शिवशम्भु का चिट्ठा' बहुत प्रसिद्ध है । इतनी व्यंग्यपूर्ण, चुलबुली और विनोदपूर्ण शैली हिन्दी में आज भी दुर्लभ है । गुप्तजी निबन्धकार के रूप में जितने महान् हैं, उतने ही सम्पादक के रूप में भी । आपने जीवन भर पत्रों का सम्पादन किया । द्विवेदीजी तक आपकी योग्यता का लोहा मानते थे । गुप्तजी के निबन्ध 'बालमुकंद गुप्त निबन्धावली' में संकलित हैं । गुप्तजी के व्यक्तित्व की दो सबसे बड़ी विशेषताएँ हैं—(१) उत्कृष्ट देश-प्रेम ; (२) निर्भीकता ।

### स्वर्ण युग

डॉ० श्यामसुन्दरदास के लेखक के रूप में प्रकट होने के पश्चात् से हिन्दी निबन्धों के स्वर्ण युग का आरम्भ होता है । डॉ० श्यामसुन्दरदास के गवेषणात्मक, विचारात्मक और आलोचनात्मक निबन्ध मिलते हैं । डॉ० श्यामसुन्दरदास की शैली संस्कृतनिष्ठ तो है, किन्तु दूसरी भाषाओं के शब्दों के प्रति भी उनकी नीति बहिष्कार-पूर्ण नहीं है । डॉ० श्यामसुन्दरदास का तो विचार था कि हिन्दी को दूसरी भाषाओं के प्रचलित शब्दों को अपना लेना चाहिए, किन्तु उन्हें अपने व्याकरण के अन्तर्गत करके । उदाहरण के लिये, 'मालिके मकान' न लिखकर हिन्दी में 'मकान का मालिक' और इसी प्रकार 'बटन्स' न कह कर 'बटनों' आदि लिखा जाना चाहिए । जब विदेशी शब्द हमारे व्याकरण द्वारा अनुशासित होंगे तो वे स्वयमेव हिन्दी शब्द बन जायेंगे ।

डॉ० साहब ने कबीर, तुलसी आदि पर विस्तृत आलोचनात्मक निबन्ध लिखे जिनका हिन्दी साहित्य में स्थायी महत्व है।

डॉ० साहब के निबन्धों की शैली शुक्लजी के बिलकुल विपरीत है। शुक्लजी पहले अपना विचार सूत्ररूप में प्रकट कर देते हैं और फिर पूरे निबन्ध में उसका विश्लेषण करते हैं। डॉ० श्यामसुन्दरदास इस शैली को दोषपूर्ण मानते थे। वे पहले किसी वस्तु का विश्लेषण करते थे और तब उसे अन्त में सूत्ररूप में लिख देते थे।

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने निबन्ध-साहित्य को समृद्ध और उत्कृष्ट बनाने में विशेष महत्वपूर्ण भाग लिया।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का निबन्ध-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। गुलेरीजी की विशेषता यह है कि इन्होंने अधिक नहीं लिखा, किन्तु जो कुछ लिखा, उससे उनकी प्रतिभा एवं विद्वत्ता पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। केवल एक कहानी लिख कर उन्होंने उच्च कोटि के कहानी-लेखकों में अपना स्थान बना लिया और थोड़े से निबन्ध लिख कर उच्च कोटि के निबन्ध-लेखकों में अग्रणी बन गये। गुलेरीजी के 'कछुआ धरम' तथा 'मारेसिमोहि कुठाव' आदि लेख बहुत प्रसिद्ध हैं। आचार्य शुक्लजी, गुलेरीजी की प्रतिभा और विद्वत्ता से बहुत प्रभावित प्रतीत होते हैं। एक स्थान पर गुलेरीजी के विषय में वे लिखते हैं—

"यह बेधड़क कहा जा सकता है कि शैली की जो विशिष्टता और अर्थगर्भित वक्रता गुलेरीजी में मिलती है, वह और किसी लेखक में नहीं। इनके स्मित हास की सामग्री ज्ञान के विविध क्षेत्रों से ली गयी है। अतः उनके लेखों का पूरा आनन्द उन्हीं को मिल सकता है जो बहुश्रुत हैं।"

गुलेरीजी की भाँति ही थोड़ा लिखकर अधिक प्रतिष्ठा-लाभ करने का श्रेय सरदार पूर्णसिंह को है। सरदार पूर्णसिंह अपनी विशिष्ट शैली के कारण अन्य लेखकों से बिलकुल भिन्न व्यक्तित्व रखते हैं। भावुकता की अधिकता पूर्णसिंहजी की शैली की सबसे बड़ी विशिष्टता है। यह भावुकतापूर्ण शैली ही निबन्ध-साहित्य में पूर्णसिंह जी को एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करती है। 'मजदूरी और प्रेम' नामक निबन्ध से उनकी इस शैली को स्पष्ट करने के लिए कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना असंगत न होगा—

"—जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पण्डित और साधु-सन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनकी बुद्धि अनन्त काल बीत जाने तक मलिन मानसिक जुआ खेलती रहेगी। उनका चिन्तन बासी, उनकी पुस्तक बासी, उनका विश्वास बासी और उनका तो खुदा भी बासी हो गया है।"

सरदार पूर्णसिंह के बहुत थोड़े ही निबन्ध—'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम' तथा 'सच्ची वीरता' आदि मिलते हैं।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने उस समय से लिखना आरम्भ किया है जब

हिन्दी में निबन्धों का अभाव था। बख्शीजी, द्विवेदी युग के लेखकों में अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखते हैं। उसी प्रकार जिस प्रकार द्विवेदी युग के कवियों में हरिऔधजी अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखते हैं। बख्शीजी की विशिष्टता यह है कि उन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी पाठकों और विद्वानों का ध्यान विदेशी साहित्य की ओर आकर्षित किया। अब तक हिन्दी में निबन्ध एक विशेष ढर्रे (पद्धति) पर चले जा रहे थे। बख्शीजी ने निबन्ध-क्षेत्र में इतिहास-दर्शन आदि विषयों पर निबन्ध लिख कर उसे अधिक विस्तृत बनाया। बख्शीजी के व्यक्तित्व की विशिष्टता उनकी शैली नहीं, अपितु विषय है। उनके निबन्धों की भाषा सरल, सीधी तथा छोटे-छोटे वाक्यों से युक्त है।

रामचन्द्र शुक्ल के रूप में हिन्दी के निबन्ध-साहित्य को सर्वप्रथम एक महान् लेखक मिला। हिन्दी के निबन्ध और आलोचना-साहित्य में शुक्लजी का वही स्थान है जो प्रसादजी का काव्य-नाटक तथा प्रेमचन्दजी का कहानी-उपन्यास के क्षेत्र में है। शुक्लजी ने भारतीय और अंग्रेजी साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था, इसलिए उनके निबन्धों में जहाँ विषय की विविधता, नवीनता है, वहीं शैली की विशिष्टता भी है। 'शैली ही व्यक्तित्व है' (Style is the man) की बात जितनी शुक्लजी पर चरितार्थ होती है, उतनी बहुत कम हिन्दी निबन्ध लेखकों पर होती है। शुक्लजी के निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वे वास्तव में निबन्ध हैं, इतने बँधे हुए और गठे हुए कि एक शब्द को निकालने से अर्थ में अस्पष्टता आ जायेगी और अर्थ का अनर्थ हो जायगा। शुक्लजी भाषा की आत्मा से परिचित थे। वे भाषा में अनर्गल प्रयोगों के पक्षपाती नहीं थे। शुक्लजी आरम्भ में अपनी बात सूत्ररूप में कह देते हैं और फिर शेष निबन्ध में उसका विश्लेषण करते हैं, किन्तु विचित्रता यह है कि बार-बार एक ही बात को दुहराने पर भी उनके निबन्धों में पिष्टपेषण की नीरसता का अनुभव नहीं होता। शुक्लजी ने विस्तृत आलोचनात्मक निबन्धों के अतिरिक्त कुछ मनोवैज्ञानिक लेख भी लिखे हैं, जैसे 'श्रद्धा और भक्ति, 'करुणा' इत्यादि। शुक्लजी की पैठ गहरी और विश्लेषण की प्रतिभा अद्भुत है। शुक्ल जी के निबन्ध केवल मस्तिष्क-प्रसूत ही नहीं हैं, अपितु उनमें उनके हृदय का भी उचित योग है, इसलिए गम्भीर होते हुए भी उनके निबन्ध नीरस नहीं हैं। शुक्लजी में हास्य का अभाव नहीं है, पर उनका हास्य शिष्ट और गूढ़ होता है।

विषय और शैली दोनों की दृष्टि से शुक्लजी ने हिन्दी निबन्धों को आगे बढ़ाया। शुक्लजी भारतीयता के समर्थक तो थे, परन्तु उनके निबन्धों पर पाश्चात्य प्रभाव भी अत्यन्त स्पष्ट है।

शुक्लजी के निबन्धों के विषय में इसी पुस्तक के 'निबन्धकार और आलोचक के रूप में शुक्लजी' नामक लेख में विस्तृत प्रकाश डाला, जायगा इसलिए यहाँ विस्तार में उनकी निबन्ध-कला की विवेचना अनावश्यक है।

बाबू गुलाबराय को भी निबन्ध के साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। आप

स्वयं दार्शनिक थे, इसलिए लेखों में दार्शनिकता का पुट सहजरूप से ग्रा गया है। 'साहित्य सन्देश' नामक पत्र के सम्पादक होने के कारण आपने कितने ही साहित्यिक निबन्ध भी लिखे हैं। किन्तु निबन्धकार के रूप में आपका स्थान बनाने वाले आपके वे निबन्ध हैं जो हास्यप्रधान हैं। उदाहरण के लिए, आपका 'कसौली' निबन्ध लिया जा सकता है। गुलाबराय जी का हास्य गूढ़ और साहित्यिक होता है, इसलिए श्रोता और पाठक को उन लेखों का आनन्द लेने के लिए बहुश्रुत होना आवश्यक है। गुलाब-रायजी की भाषा भावानुकूल मिलती है—साहित्यिक एवं आलोचनात्मक निबन्धों में संस्कृतगर्भित और व्याख्यात्मक। हास्यात्मक लेखों में यह सरल और प्रवाहपूर्ण होती है।

आज के निबन्ध-लेखकों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) जो कवि हैं और निबन्ध लेखक हैं—प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी आदि को हम इस प्रकार के निबन्धकारों में रख सकते हैं जो कवि पहले हैं, निबन्धकार बाद में।

(२) जो आलोचक हैं और निबन्धकार हैं—इस प्रकार के लेखकों में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, शान्तिप्रिय द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमार तथा डॉ० सत्येन्द्र आदि प्रमुख हैं।

(३) जो मार्क्सवादी आलोचक हैं और निबन्ध लेखक हैं—इस प्रकार के लेखकों में डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय, डॉ० रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, चन्द्रबलीसिंह आदि प्रमुख हैं।

प्रथम प्रकार के निबन्धों की संक्षेप में विशेषताएं हैं—

(१) क्लिष्ट और संस्कृतनिष्ठ भाषा-शैली।

(२) निबन्धों में भी काव्य का गुण।

(३) भावावेश के कारण वाक्य प्रायः लम्बे-लम्बे और समासपूर्ण।

(४) भाषा में लाक्षणिकता का बाहुल्य।

(५) भाषा में रूपकों की प्रचुरता; उदाहरण के लिए, पन्त और महादेवी के निबन्धों में यह रूपक की प्रवृत्ति अधिक मिलेगी।

(६) विश्लेषण की अपेक्षा भावुकता का प्राधान्य। विशेषरूप से डॉ० हजारी-प्रसाद द्विवेदी और महादेवी वर्मा के निबन्धों में यह विशेषता मिलेगी।

उपरोक्त लेखकों में से कुछ की पंक्तियाँ उद्‌धृत करना समीचीन होगा।

महादेवी वर्मा—"फागुन के गुलाबी जाड़े की वह सुनहली सन्ध्या क्या भुलाई जा सकती है? सवेरे के पुलक पंखी वैतालिक एक लयवती उड़ान में अपने-अपने नीड़ों की ओर लौट रहे थे। विरल बादलों के अन्तराल से उन पर चलाये हुए सूर्य के सोने के शब्दभेदी बाण उनकी उन्मद गति में ही उलझ कर लक्ष्यभ्रष्ट हो रहे थे।

दूध से सफेद बाल और दूध फेनी की सफेद दाढ़ी वाला वह मुख झुर्रियों के कारण समय का अङ्कगणित हो रहा था। कभी की सतेज आँखें आज ऐसी लग रही थीं मानों किसी ने चमकीले दर्पण पर फूँक मार दी हो।" —'एक रेखाचित्र' से।

जयशंकरप्रसाद—"जब 'वदित विकलं कायोनमुञ्चति चेतनाम्' की विवशता वेदना को चैतन्य के साथ चिर बन्धन से बाँध देती है, तब वह आत्मस्पर्श की अनुभूति, सूक्ष्म अन्तरभाव को व्यक्त करने में समर्थ होती है। ऐसा छायावाद किसी भाषा के लिए शाप नहीं हो सकता।" —'छायावाद' से।

सुमित्रानन्दन पन्त—"भविष्य में जब मानव जीवन विद्युत तथा अणुशक्ति की प्रबल टाँगों पर प्रलय वेग से आगे बढ़ने लगेगा तब आज के मनुष्य की टिमटिमाती हुई चेतना उसका संचालन करने में समर्थ नहीं हो सकेगी....।"

—युगवाणी की भूमिका से।

"सहस्रों वर्षों से आध्यात्म-दर्शन की सूक्ष्म-सूक्ष्मतम झंकारों से रहसमौन निनादित भारत के एकान्त, मनोगगन में मार्क्स तथा एंजिल्स के विचार-दर्शन की गूँजें बौद्धिकता के शुभ्र अन्धकार के भीतर से रेंगने वाले झींगुरों की रुँधी हुई झंकारों से अधिक स्पंदन नहीं पैदा करतीं।" —रचनाओं की पृष्ठ-भूमि से।

द्वितीय प्रकार के निबन्धकारों की संक्षेप में विशेषताएँ हैं—

(१) भाषा संस्कृतगर्भित, वाक्य प्राय: लम्बे।

(२) भावानुकूल भाषा कभी सरल कभी क्लिष्ट।

(३) बौद्धिकता का प्रामुख्य।

(४) विवेचनाप्रधान शैली।

(५) शैली पर अँग्रेजी का स्पष्ट प्रभाव। अँग्रेजी शब्दों का प्राय: कोष्ठक में प्रयोग।

(६) विषय विचारप्रधान।

इन आलोचक निबन्धकारों में शैली की दृष्टि से डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का विशेष स्थान है। अत: उनकी कुछ पंक्तियाँ उद्‌धृत करना अनावश्यक न होगा।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी—"उस सद्यस्त्रुटित धरित्री पिण्ड में ज्वलन्त गैस भरे हुए थे। कोई नहीं जानता कि इन असंख्य अग्निगर्भ कणों में से किसमें या किनमें जीवतत्व का अंकुर वर्तमान था। इसके बाद लाखों वर्ष तक धरती ठण्ढी होती रही, लाखों वर्ष तक उस पर तरलतप्त धातुओं की लहाछेह वर्षा होती रही। जीवतत्व स्थिर अविक्षुब्ध भाव से उचित अवसर की प्रतीक्षा में बैठा रहा। अवसर आने पर उसने समस्त जड़शक्ति के विरुद्ध विद्रोह करके सिर उठाया, नगण्य तृणांकुर के रूप में। तब से आज तक सम्पूर्ण जड़शक्ति अपने आकर्षण का समूचा वेग लगा कर भी उसे नीचे की ओर नहीं खींच सका।"

तीसरे प्रकार के निबन्धकारों में डॉ० रामविलास शर्मा सर्वप्रमुख व्यक्ति हैं।

डॉ० शर्मा की भाषा भावानुकूल, सरस और व्यंग्यपूर्ण होती है। भारतेन्दु काल के लेखकों के पश्चात्, यदि व्यंग्य कहीं अपने विकसित रूप में मिलता है तो डॉ० शर्मा में। डॉ० शर्मा का व्यंग्य जहाँ विरोधियों के लिए भय होता है, वहाँ पाठकों को वह उतना ही आनन्द देता है। 'प्रगति और परम्परा', 'संस्कृति और साहित्य', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' तथा 'आस्था और सौन्दर्य' में आपके निबन्ध संकलित हैं।

यशपाल के लेखों में मार्क्सवादी विचारों को मूर्त्त रूप दिया गया है। उनके निबन्ध उनके विचारों के साथ-साथ मार्क्सवादी सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप उपस्थित करते हैं। 'देखा सोचा समझा' उनके सुन्दर निबन्धों का संग्रह है।

हिन्दी में पर्याप्त संख्या में निबन्ध लिखे जा रहे हैं। विषय और शैली की उत्कृष्टता भी आज के निबन्धों में मिलेगी। हिन्दी के निबन्धों का भविष्य निश्चित रूप से उज्जवल है।

———

## अध्याय २

# कहानी-साहित्य का इतिहास

### आरम्भिक युग

काव्य की भाँति ही कहानी का मूल भी मानव-सभ्यता के आदिकाल में मिलेगा। गाने और रोने के समान ही कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति प्राचीन प्रतीत होती है। फिर भी जहाँ तक पता चलता है, बौद्धकालीन जातक-साहित्य ही भारत में कहानियों का शैशवकाल है। जातकों की ही कहानियाँ कुछ परिवर्तित रूप में 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश' में मिलती हैं। कुछ विद्वानों का कहना तो यहाँ तक है कि विश्व के कथा-साहित्य का मूल स्रोत ये जातक-कथाएँ ही हैं। यहाँ से ये कथाएँ अरब, मिस्र आदि में होती हुईं यूरोप तक जा पहुँची। संस्कृत में कहानी के लिए आख्यायिका शब्द मिलता है। किन्तु आख्यायिका और आज की कहानी में मौलिक अन्तर है। आख्यायिकाएँ, ऐसा प्रतीत होता है, केवल उपदेश देने के लिए लिखी जाती थीं। 'हर एक का विश्वास न करो', 'छोटे आदमी की मित्रता भी कभी बड़े काम आती है', 'विना वुद्धि के शक्ति व्यर्थ है' आदि उपदेश-वाक्यों को कथा का परिच्छदमात्र पहना दिया गया है। उसमें न तो चरित्र-चित्रण ही है और न तत्का-लीन सामाजिक समस्याएँ ही। किन्तु आजकल की हिन्दी कहानियाँ अपनी वस्तु और रूप के लिए पाश्चात्य कहानियों की ऋणी हैं। कहानी आज केवल मनोरंजन की ही वस्तु नहीं है, अपितु विचारों के प्रचार-प्रसार का सर्वोत्तम माध्यम भी है। आज की कहानियाँ मुख्य रूप से तीन भागों में बाँटी जा सकती हैं—

(१) वे कहानियाँ जिनका उद्देश्य चरित्र-चित्रणमात्र करना है।

(२) वे कहानियाँ जो सामाजिक समस्याओं को अपना आधार बनाती हैं।

(३) वे कहानियाँ जो कुछ घटनाओं का संघटनमात्र हैं, अर्थात् कथा कहना ही जिनका उद्देश्य है।

इनमें से भी उपरोक्त दो प्रकार की कहानियों का हिन्दी साहित्य में आज अधिक प्रचलन है और वे उच्च कोटि की समझी जाती हैं।

हिन्दी में सर्वप्रथम कहानी-लेखक कौन है और सर्वप्रथम कहानी कौनसी है ? यह एकदम निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। अगर कहानी शब्द पर ही विश्वास कर लिया जाय तो इन्शा अल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' सर्वप्रथम कहानी मानी जानी चाहिए। परन्तु वास्तव में कहानी शब्द को छोड़ कर उसमें कहानी के और लक्षण नहीं मिलते। कहानी के तत्वों का उसमें अभाव है। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द द्वारा लिखित 'राजा भोज का सपना' तथा 'वीरसिंह वृत्तान्त' कुछ कहानी सदृश लगते तो हैं पर पूर्णरूप से कहानी उन्हें भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि न तो उनमें चरित्र-चित्रण ही और न कथोपकथन है जो कहानी के दो मुख्यतम और सर्वमान्य तत्व हैं। केवल कथा को आज कहानी नहीं कहा जा सकता।

क्या उपन्यास, क्या नई कविता, क्या आधुनिक निवन्ध और क्या आधुनिक समालोचना, इन सभी को आधुनिक रूप में हिन्दी ने वँगला से ग्रहण किया और वँगला ने अंग्रेजी से। अंग्रेजी की Short Story (शॉर्ट स्टोरी) से प्रभावित होकर वँगला में गल्पों का प्रचलन हुआ और इन गल्पों के प्रभाव से हिन्दी में कहानियाँ लिखने का सूत्रपात हुआ। हिन्दी में सर्वप्रथम इन छोटी कहानियों का प्रकाश में लाने का श्रेय 'सरस्वती' मासिक पत्रिका को है। 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का हिन्दी में ऐतिहासिक महत्व है। हिन्दी के महत्व के निबन्ध, सारगर्भित समालोचनाएँ और सुन्दर कहानियाँ सर्वप्रथम इसी पत्रिका के द्वारा प्रकाश में आईं। सरस्वती जिस वर्ष (सं० १९५७) निकली ही थी, उसी वर्ष उसमें एक सुन्दर कहानी 'इन्दुमती' शीर्षक प्रकाशित हुई। इसके लेखक थे पं० किशोरीलाल गोस्वामी। हिन्दी के इस आरम्भिक काल में मौलिक और वँगला से अनुवादित दोनों प्रकार की कहानियाँ लिखी जा रही थीं। पार्वतीनन्दन के उपनाम से गिरजाकुमार घोष ने वँगला से कितनी ही कहानियों का अनुवाद हिन्दी में किया। 'वंगमहिला' नाम से एक महिला ने भी कई वँगला कहानियों का हिन्दी में अनुवाद किया। वंगमहिला की 'दुलाई वाली' नामक कहानी बहुत लोकप्रिय हुई। पं० रामचन्द्र शुक्ल 'इन्दुमती' नामक कहानी को हिन्दी की सर्वप्रथम कहानी मानते हैं, यदि यह किसी वँगाली कहानी का छायानुवाद नहीं है तब। इसके पश्चात् रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष' नामक कहानी आती है और उसके बाद 'दुलाई वाली' कहानी।

### प्रसाद युग

हिन्दी की मौलिक कहानियों को जब प्रसाद जैसी प्रतिभा का पारस स्पर्श मिला तो जैसे वे चमक उठीं। प्रसादजी 'इन्दु' नाम से एक पत्र निकालते थे। उनकी 'ग्राम' नामक कहानी सर्वप्रथम उसी पत्र में निकली। फिर तो चन्द्रमा की कलाओं की भाँति प्रसादजी की कहानी-कला अधिकाधिक निखरती और पूर्ण होती गयी और हिन्दी का कहानी-संसार इस महान् कलाधर की कला से आलोकित हो उठा। प्रसाद को पाकर दीन हिन्दी जैसे धन्य हो गयी। हिन्दी संसार को प्रसादजी ने कितनी ही अमूल्य कहानियाँ भेंट कीं। प्रसादजी के द्वारा लिखी गयीं सभी कहानियाँ 'छाया',

'प्रतिध्वनि', 'आकाश दीप', 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' नामक संग्रहों में संकलित हैं।

कहानी लिखने की प्रसादजी की अपनी टेकनिक है। प्रसादजी की कहानियों में कौतूहल का तत्व जितना अधिक मिलता है, सम्भवतः हिन्दी के किसी दूसरे लेखक में नहीं। प्रसादजी की ऐसी तो कोई कहानी नहीं होगी जिसमें घटना या रोचकता का अभाव हो। प्रसादजी की ओजपूर्ण संस्कृतनिष्ठ शैली एक ओर तो उचित वातावरण उत्पन्न करती है, दूसरी ओर कहानी के प्रभाव को अधिकाधिक घनीभूत करती चली जाती है।

प्रसादजी की कहानियों की ही नहीं, उनके पूरे साहित्य की दो विशेषताएँ सर्वोपरि हैं: (१) अन्तर्द्वन्द्व—पात्रों के हृदय में दो विरोधी भावनाओं का संघर्ष दिखाने और उसे सफलतापूर्वक चित्रित करने में हिन्दी साहित्य में प्रसादजी अद्वितीय हैं। (२) प्रकृति—प्रसादजी की सभी कहानियों की पार्श्वभूमि है। प्रकृति का साहचर्य मनुष्य जीवन के लिए एक सहज-प्राप्त वस्तु है। मनुष्य भी अन्य प्राणियों की भाँति प्रकृति का एक प्राणी है। प्रसादजी की अधिकांश कहानियों का प्रारम्भ प्राकृतिक वातावरण के बीच ही होता है। उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध कहानी 'आकाश दीप' झंझावात में फँसे एक पोत पर आरम्भ होती है। प्रसिद्ध कहानी 'पुरस्कार' के साथ भी यही बात है। 'पुरस्कार' कहानी की आरम्भिक प्रकृति-चित्रण विषयक पंक्तियों का उद्धृत करना असगत न होगा—

"आर्द्रा नक्षत्र, आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़—जिसमें देवदुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा था—देखने लगा महाराजा की सवारी। शैलमाला के अंचल में समतल उर्वरा-भूमि से सोंधी बास आ रही थी। प्रभात की हिमकिरणों से अनुरंजित नन्हीं-नन्हीं बूँदों का एक झोंका स्वर्णमल्लिका के समान बरस पड़ा।"

प्रकृति को प्रसादजी ने मानव के साथ अभिन्न करके देखा है। मनुष्य के विचारों और कार्य-व्यापारों पर वे प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव बड़े कौशल से दिखाते हैं। यदि हवा रुक गयी है, जैसे शून्य ने श्वास खींच ली हो, यदि कोई पक्षी भावी भय की आशंका से कातर वाणी बोल रहा है तो समझ लेना चाहिए कि प्रसादजी के कहानी के पात्रों पर भी कोई संकट आने वाला है। इसी प्रकार यदि झंझावात थम गया हो, पक्षी मधुर वाणी में बोल रहे हों, वायु संयत चलने लगी हो तो समझ लेना चाहिए कि प्रसादजी के कथापात्रों का दुर्भाग्य समाप्त होने को है।

'पुरस्कार' कहानी की मुख्य पात्री मधूलिका अपने दुर्भाग्य के दिन पूरे कर रही है। प्रकृति का वातावरण अत्यन्त भयानक है। ऐसे भयंकर वातावरण में प्रसादजी एक पात्र का प्रवेश कराते हैं। उनके प्रकृति-वर्णन की सांकेतिक शैली ही स्पष्ट कर देती है कि आगन्तुक पात्र भी दुर्भाग्यग्रस्त है। देखिये—

"—वर्षा ने भीषण रूप धारण किया। गड़गड़ाहट बढ़ने लगी। ओले पड़ने की संभावना थी। मधूलिका अपनी जर्जर झोपड़ी के लिए काँप उठी, सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ।

"—कौन है यहाँ ? पथिक को आश्रय चाहिये।"

मधूलिका ने डंठलों का कपाट खोल दिया। बिजली चमक उठी। उसने देखा एक पुरुष घोड़े की डोर पकड़े खड़ा है। सहसा वह चिल्ला उठी—
"राजकुमार ?"

'मधूलिका ?" आश्चर्य से युवक ने कहा।

× × × ×

"—और आज आपकी यह क्या दशा है ?"

सिर झुका कर अरुण ने कहा—"मैं मगध का विद्रोही कोशल में जीविका खोजने आया हूँ।"

यदि प्रकृति का वातावरण ऐसा विक्षुब्ध और भयानक न दिखाते तो पाठक आशा कर सकता था कि राजकुमार प्रसन्न और सकुशल होगा, किन्तु वातावरण ने राजकुमार की विपन्नावस्था का पूर्वाभास सांकेतिक रूप से दे दिया।

इसी प्रकार प्रसादजी अन्तर्द्वन्द्व दिखाने में अत्यन्त पटु हैं। यह अन्तर्द्वन्द्व उनके पूरे साहित्य के भाव पक्ष की विचित्रतायुक्त विशेषता है। 'आकाशदीप' कहानी में उन्होंने एक प्रेमभरी रमणी के अन्तर्द्वन्द्व का स्पष्ट चित्र खींचा है। रमणी अपने प्रिय को ही घृणा करती है क्योंकि वह उसे अपने पिता का हत्यारा समझती है। उस रमणी का कोमल हृदय पितृप्रेम और प्रियतम-प्रेम की दो विरोधी भावनाओं के झूले पर झूलता हुआ अस्थिर रहता है। वह कभी निश्चय नहीं कर पाती है कि क्या करे, जिसे प्रेम करती है, उससे प्रेम या घृणा।

इसी प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व प्रसादजी ने 'पुरस्कार' में चित्रित किया है। यह द्वन्द्व प्रेम और कर्त्तव्य की भावना के बीच है। मधूलिका (पुरस्कार की मुख्य पात्री) राजकुमार (पुरस्कार का मुख्य पात्र) को प्रेम करती है। प्रेम के आवेश में वह कोशल को बलात् हस्तगत कर लेने में राजकुमार की सहायता करने को तैयार हो जाती है, किन्तु कर्त्तव्य की भावना एक कठोर प्राचीर बन कर उसके प्रेम-मार्ग में आ जाती है। दोनों भावनाओं में भयंकर संघर्ष होता है। कुछ समय के लिए कर्त्तव्य की भावना के समक्ष प्रेम की भावना आत्मसमर्पण कर देती है। वह राजकुमार को अपने देश का शत्रु समझकर बन्दी करा देती है। किन्तु क्या प्रेम वास्तव में पराजित होता है ? नहीं। देखिये—

राजा ने कहा—"मेरे निज की जितनी खेती है, मैं सब तुझे देता हूँ।"

मधूलिका ने एक बार बन्दी अरुण की ओर देखा। उसने कहा—"मुझे कुछ न चाहिए।" अरुण हँस पड़ा। राजा ने कहा—"नहीं, मैं तुझे अवश्य दूँगा। माँग ले।"

"तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले।" कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।"

कितने आश्चर्य के साथ कहानी का अन्त होता है। आश्चर्य के साथ आरम्भ और आश्चर्य के साथ अन्त—प्रसादजी की कहानी-कला की यह अविस्मरणीय विशेषता है।

मधूलिका के अन्तर्द्वन्द्व का एक सुन्दर चित्र प्रसादजी के शब्दों में उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा—

"—पथ अन्धकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा; मधुरता नष्ट हो गयी। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी। उसका भय अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो? फिर सहसा सोचने लगी वह क्यों सफल हो? श्रावस्ती दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय? मगध कोशल का चिरशत्रु! ओह, उसकी विजय! कोशलनरेश ने क्या कहा था—"सिंहमित्र की कन्या।" सिंहमित्र कोशल का रक्षकवीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है? "नहीं, नहीं मधूलिका! मधूलिका!!" जैसे उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी। रास्ता भूल गयी।

प्रसादकी कहानियों में चरित्र-चित्रण उच्च कोटि का मिलता है। मानव जीवन का अध्ययन प्रसादजी ने पुस्तकों द्वारा नहीं, अपितु जीवन-संघर्ष के बीच रह कर किया था। इसलिये किसी भी प्रकार की अस्वाभाविकता उनकी कहानियों में नहीं मिलेगी। प्रसादजी के कथोपकथनों के कारण उनकी कहानी में भी नाटकों जैसा आनन्द आने लगता है। इसलिये नाटकीयता भी उनकी कहानियों की विशेषता है।

राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह ने 'कानों में कँगना' नामक कहानी लिखी जो बहुत लोकप्रिय हुई।

ज्वालादत्त शर्मा तथा चतुर्सेन शास्त्री के नाम भी कहानी-साहित्य के इतिहास में उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी में हास्य सम्बन्धी रचनाओं की अभी तक कमी है। इसलिये श्री जी० पी० श्रीवास्तव का नाम भी कहानियों की चर्चा करते समय भुलाया नहीं जा सकता। जी० पी० श्रीवास्तव ने हिन्दी में हास्यरस की कहानियाँ लिख कर एक बड़े अभाव की पूर्ति की। दूसरे व्यक्ति को हँसाना सबसे कठिन बात है। इस दृष्टि से हास्यरस की कठिनाई आँकी जा सकती है। हास्य उत्पन्न करने के अनेकों उपाय हैं। हास्य प्रायः विरोधमूलक होता है। इसके अतिरिक्त जान-बूझ कर अपने आपको मूर्ख बना कर भी हास्य की सृष्टि की जाती है। इसके अतिरिक्त मुख-विकृति, अंग-संचालन तथा

परिस्थितियों द्वारा भी हास्य उत्पन्न किया जाता है। लेखक श्लेष या यमक तथा इसी प्रकार व्यंग्यादि द्वारा भी हास्य-सृष्टि कर सकता है। परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न हास्य उच्च कोटि का नहीं माना जाता। जी० पी० श्रीवास्तव का हास्य अधिकतर परिस्थितिजन्य ही है। लेकिन उनके समय को देखते हुए श्रीवास्तवजी की सफलता कम नहीं है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकारों में से एक हैं। कौशिकजी ने पारिवारिक जीवन को विशेषरूप से अपनी कहानियों का आधार बनाया। ऐसा लगता है कि कौशिकजी का पारिवारिक जीवन का अध्ययन, निरीक्षण और मनन असाधारण था। कौशिकजी एक आदर्शवादी कलाकार थे, इसलिये उपदेशात्मकता इनकी कहानियों में सहज रूप से आ गयी है। चरित्र-चित्रण और मनोविज्ञान की दृष्टि से भी कौशिकजी की कहानियों का स्थान ऊँचा है। कौशिकजी आरम्भ में अतीत की सभी बातों को आदर्शरूप में प्रस्तुत करते रहे। भारत का अतीत उनके लिए गौरव और मोह की वस्तु था, किन्तु युग बदलने पर कौशिकजी पुरातनता से ही नहीं लिपटे रहे। उन्होंने नई भावनाओं को ग्रहण कर युगानुकूल रचनाएँ देकर इस दिशा में भी जनता का मार्ग-प्रदर्शन किया। उदाहरणार्थ, कौशिकजी की आरम्भिक कहानियों में विवाह आदि के विषय में उनका दृष्टिकोण मातृ-पितृ-पक्ष का समर्थन करता हुआ मिलेगा। जाति-पाँति तोड़ कर माँ-बाप की अवज्ञा कर, किसी भी जाति की लड़की के साथ पाणिग्रहण करने का साहस कौशिकजी की आरम्भिक कहानियों के पात्रों में नहीं है, किन्तु बाद में कौशिकजी की विचारधारा युगानुकूल हो गयी और उन्होंने अपनी कला पर से रूढ़ियाँ तथा पुरातनता का परिच्छद उतार फेंका। अन्तिम दिनों में कौशिकजी का दृष्टिकोण युवक वर्ग का पक्ष लेता हुआ प्रतीत होता है।

कौशिकजी की 'ताई' कहानी गुणों में उनकी कहानियों की प्रतिनिधि है। संकीर्ण और स्वार्थपूर्ण मनोवृत्तियों के कारण हमारा परिवार संघर्ष और दुःख का क्रीड़ा-स्थल बन जाता है और उदात्त विचारों के आविर्भाव से स्वर्गोपम हो जाता है। संक्षेप में, यही 'ताई' की मूल चेतना है और कौशिकजी के पूरे कहानी-साहित्य की भी।

विश्व के कहानी-साहित्य में ऐसे उदाहरण कम मिलेंगे, जहाँ कोई व्यक्ति केवल एक कहानी के कारण ही अमर हो गया हो, किन्तु ऐसी आश्चर्यजनक घटना हिन्दी-साहित्य के लिए नई नहीं है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का व्यक्तित्व कुछ ऐसा ही है। उनकी 'उसने कहा था' कहानी ने उन्हें अमर तो कर ही दिया—साथ ही कहानीकारों की सूची में उन्हें शीर्ष-स्थान का अधिकारी बना दिया।

इस कहानी के विषय में आश्चर्यजनक बात यह है कि जब यह लिखी गयी थी तब हिन्दी में कहानी लिखने की कोई अपनी टेकनिक नहीं थी। कहानी के नाम पर कुछ व्यक्ति उपदेशों को लिपिबद्ध किया करते थे। सजीवता और यथार्थता का प्रायः

अभाव था। कहानियों के शीर्षक प्रायः पात्र के नाम पर होते थे, किन्तु 'उसने कहा था' कहानी तो अपने जन्म-काल के हिसाब से २५ वर्ष अधिक प्रौढ़ लगती है। क्या गठन, क्या चरित्र-चित्रण, क्या कथोपकथन, क्या घटना-चयन और क्या वर्णन करने का ढंग—इन सब बातों में यह कहानी अपने युग की कहानियों से कम से कम ३५ वर्ष आगे है। २५ वर्ष का समय साहित्य में कम समय नहीं होता। 'उसने कहा था' पवित्र प्रेम के लिए किये गये निःस्वार्थ बलिदान की रोमांचक कहानी है। उपदेशात्मकता जिसके पास भी नहीं फटकती। आज जब हिन्दी का कहानी-साहित्य इतना समृद्ध हो गया है, कहानी-कला इतनी निखर गयी है—फिर भी हिन्दी के कहानी-कोष में 'उसने कहा था' के समान चमकते हुए अधिक रत्न नहीं हैं। कहानी के इतिहास में यह कहानी एक आश्चर्य है—एक घटना है। गुलेरीजी ने जिस समय इस कहानी की रचना की थी, उस समय तक कहानियों का नामकरण प्रायः पात्रों के आधार पर होता था किन्तु 'उसने कहा था' शीर्षक ही पूरी कहानी, पूरे कार्य-व्यापार और पूरी कथा को एक वाक्य में व्यंजित कर देता है। इतने अधिक सार्थक, चमत्कार-युक्त और मार्मिक शीर्षक हिन्दी में कितनी कहानियों के हैं? स्वाभाविकता तो इस कहानी की जान है। युद्ध का सजीव और रोचक वर्णन, यथा आवश्यकतानुसार पंजाबी, अंग्रेजी तथा जर्मन भाषा तक के शब्दों का प्रयोग मानो इस कहानी की स्वाभाविकता को पुकार-पुकार कर घोषणा कर रहे हैं। पंजाबी जीवन और पंजाबी संस्कृति को इतने सुन्दर रूप में व्यक्त करने वाली हिन्दी में अधिक कहानियाँ नहीं लिखी गयीं। 'उसने कहा था' का लहनासिंह पाठकों के मस्तिष्क के कोने-कोने में समा जाता है और फिर कभी निकलता ही नहीं। संक्षेप में, इस कहानी का हिन्दी में ऐतिहासिक महत्व है और कलात्मकता की दृष्टि से भी यह कहानी-साहित्य में शीर्षस्थान की अधिकारिणी है।

इस कहानी के विषय में आचार्य शुक्ल के शब्दों को उद्धृत करना कहानी के महत्व को स्पष्ट करने की दृष्टि से उचित होगा—

"इसमें यथार्थवाद के बीच सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ संपुटित है। घटना उसकी ऐसी है, जैसी बराबर हुआ करती है पर उसके भीतर से प्रेम का स्वर्गीय स्वरूप झाँक रहा है। निर्लज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा है। कहानी भर में कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की वीभत्स विवृति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुँचता। इसकी घटनाएँ ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।"

प्रेमचन्द युग

हिन्दी का कहानी-साहित्य अभी दूसरे साहित्यों से ऋण लेकर (अनुवाद कर) अपना काम चला रहा था किन्तु उसके एक अमर साधक ने अपनी प्रतिभा के बल पर हिन्दी को उऋण तो कर ही दिया, उसे इतना समृद्ध भी बना दिया कि और

साहित्यों को वह ऋण दे सके। हिन्दी के इस अमर कलाकार, अद्वितीय कहानीकार का नाम था प्रेमचन्द। प्रेमचन्द हिन्दी के लिए एक वरदान थे। हिन्दी में आने से पूर्व प्रेमचन्दजी उर्दू में लिखते थे। उर्दू-साहित्य में प्रेमचन्द का एक विशिष्ट स्थान है। हिन्दी के सौभाग्य से यह तरुण साधक उसकी ओर आकर्षित हुआ और उर्दू को छोड़ कर फिर यावज्जीवन हिन्दी की ही पूजा करता रहा। प्रेमचन्द कृषकों के लेखक थे। युग-युग से उपेक्षित विश्व के इन अन्नदाताओं के कष्टों और इनकी शक्ति को प्रेमचन्द ने समझा और उनको वर्ण्य-विषय बनाकर उन्होंने अपना जीवन सार्थक कर लिया।

प्रेमचन्द के समक्ष कहानी-कला के रूप और वस्तु दोनों की कठिनाई थी। प्रेमचन्द ने स्वयं ही कहानी की टेकनिक बनाई और स्वयं ही उसका चरम विकास किया।

प्रेमचन्दजी की कहानियाँ प्रायः घटना-प्रधान होती हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि प्रेमचन्दजी की कहानियाँ भावाभाव के दुर्गुण से युक्त हैं। सच तो यह है कि प्रेमचन्दजी शुष्कता और नीरसता के परिहार के लिए घटनाओं का आश्रय लेते हैं और भावों को उन्हीं के माध्यम से व्यक्त करते हैं। प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विशेषता है—उनका सूक्ष्म निरीक्षण। मानव जीवन का अध्ययन प्रेमचन्दजी ने संसार में रह कर किया है, पुस्तकों द्वारा नहीं। इसलिए उनकी कहानियों के विषय भी सीमित और संकुचित नहीं हैं। प्रेमचन्दजी की कहानी पढ़ते समय पाठक यह देख कर स्तम्भित रह जाता है कि प्रेमचन्दजी तो उसी की स्थिति का वर्णन कर रहे हैं। वर्ण्य-विषय से प्रेमचन्दजी का तादात्म्य इतना अधिक रहता है कि पाठक स्वयं भी प्रेमचन्दजी के साथ बहने लगता है। समाज का कोई वर्ग ऐसा नहीं जिस पर प्रेम-चन्दजी ने कहानी न लिखी हो। क्या खोमचे वाला, क्या ताँगे वाला, क्या घास वाली, क्या रानी, क्या पण्डित, क्या चमार, क्या अध्यापक, क्या वकील, क्या विद्यार्थी, क्या डॉक्टर, क्या व्यापारी, क्या बालक और क्या वृद्ध—प्रेमचन्द की लेखनी इन सभी को अपनी विस्तृत परिधि में समेट लेती है। 'गोदान' को छोड़ कर अपने शेष साहित्य में प्रेमचन्द एक आदर्शवादी कलाकार के रूप में उभर कर आते हैं। किन्तु उनकी आदर्शवादिता ने या उनकी उपदेशात्मक वृत्ति ने उनके साहित्य-सौंदर्य को कहीं कलंक नहीं लगाया। प्रेमचन्दजी का आदर्शवाद वर्णन का न होकर परिणाम का है, इसलिए उनका साहित्य उपदेशात्मकता की नीरसता से बच सका। वर्णन और परिणाम से अभिप्राय है कि जब प्रेमचन्दजी किसी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति का चित्रण अपनी लेखनी से करते हैं, तो उनकी आदर्शवादी भावनाएँ कभी उसमें बाधक नहीं होतीं, अर्थात् वे उनका यथावत् चित्रण कर देते हैं। वे अपनी ओर से कोई हेर-फेर उसमें नहीं करते हैं। कहानी या उपन्यास के परिणाम को वे आदर्श के अनुकूल रखते हैं,

इसीलिये उनका आदर्शवाद भी यथार्थोन्मुख आदर्शवाद के नाम से अभिहित है।

प्रेमचन्दजी की कहानियों का ही नहीं, उनके पूरे साहित्य का आधार है—सामयिक सामाजिक समस्याएं। अमर रचनाएं देने के ढोंग में प्रेमचन्दजी ने कभी युग-समस्याओं की उपेक्षा नहीं की। इसीलिए तो उनकी कहानियां और उपन्यास पाठक के हृदय और मस्तिष्क पर छा जाते हैं। समाज में जो कुछ कुरूप है, जो कुछ वीभत्स है, एक पलायनवादी कलाकार की भांति प्रेमचन्दजी ने कभी उससे आंखें नहीं चुराईं, अपितु उसे अपनी खुली आंखों से देख कर और रचनाओं में उसे तद्वत व्यक्त करके समाज की आंखें खोल दीं।

प्रेमचन्दजी का कथा-साहित्य (कहानी और उपन्यास) कुछ सीमा तक कृषकों का साहित्य है। न तो प्रेमचन्दजी से पूर्व और न उनके बाद किसी ने समाज के इतने बड़े भाग की बात ध्यान से सुनी और ध्यान से कही। कबीर से भी अधिक उग्र और मार्मिक रूप में प्रेमचन्दजी ने समाज और धर्म के ठेकेदारों के पाखण्डों की पोल खोल दी। प्रेमचन्दजी का स्वयं का जीवन विरोध, क्रान्ति और दुःखपूर्ण संघर्ष का जीवन था। प्रेमचन्दजी ने कभी किसी भी प्रकार के प्रभाव में आकर, जिसे वे ठीक समझते थे, उसे गलत और जिसे गलत समझते थे, उसे ठीक नहीं कहा। उनके व्यक्तिगत जीवन की ईमानदारी उनके साहित्य से भी टपकती है। आश्चर्य होता है, प्रेमचन्दजी के उस महान् अनुभव पर जो जीवन की किसी भी दिशा में न अपूर्ण है और न अपरिपक्व। प्रेमचन्दजी जब अध्यापक पर कहानी लिखते हैं तो पाठक अपने मन में विश्वास कर लेता है कि प्रेमचन्दजी अध्यापक अवश्य रहे होंगे, नहीं तो ये सब बातें वे कैसे लिखते? इसी प्रकार जब किसी वकील के विषय में वे लिखते हैं तो लगता है उन्होंने वकालत अवश्य की होगी। यहां तक तांगे वालों और खोंमचे वालों के वर्णन यह बताते हैं कि प्रेमचन्दजी ने उनके जीवन का अध्ययन करने में पूरा-पूरा समय लगाया होगा।

चरित्र-चित्रण, कथा का गठन, उद्देश्य की सफल अभिव्यक्ति कथोपकथन आदि की श्रेष्ठता की दृष्टि से हिन्दी का कोई कहानी-लेखक प्रेमचन्दजी के समक्ष टिक नहीं पाता। तुलसी को लोग हिन्दी कविता संसार की आश्चर्यमयी घटना कहते हैं। प्रेमचन्दजी हिन्दी कहानी साहित्य में एक स्वयं आश्चर्यपूर्ण घटना हैं।

प्रेमचन्दजी ने जिन समस्याओं को आधार बना कर कहानियां लिखीं, समाज पर उनका क्या प्रभाव पड़ा? यदि यह कथन सच है कि साहित्य में क्रान्ति करने की क्षमता है तो वह पूर्णरूप से प्रेमचन्दजी की कहानियों पर चरितार्थ होता है। सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध प्रेमचन्दजी की लौह लेखनी ने भयंकर संघर्ष किया और बुराइयों एवं पाखण्डों के उस सुदृढ़ गढ़ को उसने एक बार हिला दिया। 'बड़े घर की बेटी', 'शान्ति', 'पंच परमेश्वर', 'दो सखियां' आदि ही सामाजिक कहानियां हैं जो समाज के हलाहल का पान कर अमृत उगलती हैं। प्रेमचन्दजी

शोषितों के लेखक थे—भविष्य ही उनका सच्चा मूल्यांकन करेगा। भाव और भाषा की दृष्टि से वे शताब्दियों में उत्पन्न होने वाले महान् कलाकार हैं। यदि हिन्दी में ऐसे दस-पाँच कलाकार भी अवतरित हो जाते तो शोषक-व्यवस्था का मूलोच्छेदन एक ध्रुव सत्य था। रूसो और वोल्तेयर से प्रेमचन्दजी का महत्व किसी प्रकार कम नहीं और सामाजिक क्रान्ति की ज्वाला भी उनकी रचनाओं में रूसो और वोल्तेयर से कम नहीं है। प्रेमचन्दजी की 'शान्ति' कहानी पढ़ कर तो लोगों ने लड़कियों को अंग्रेजी पढ़ाना बन्द कर दिया था। प्रेमचन्दजी द्वारा लिखित 'माघ की रात' निर्धनता का जैसा भयंकर और यथार्थ रूप चित्रित करती है, हिन्दी में हृदय को हिला देने वाली ऐसी अधिक कहानियाँ नहीं लिखी गयीं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उनकी 'बूढ़ी काकी' और 'आत्माराम' कहानियाँ आज भी कला और विषय-वस्तु की दृष्टि से हिन्दी कहानियों का मार्ग-प्रदर्शन करने की क्षमता रखती हैं। प्रेमचन्दजी की 'दो बैल' कहानी अपने ढंग की विचित्र कहानी है। दो बैलों में अन्याय का विरोध करने की जो भावना है, पाठक को पढ़ कर लगेगा कि वे बैल मनुष्यों को भी कुछ सिखा सकते हैं।

सारांश यह कि प्रेमचदजी ने जो कहानियाँ हिन्दी-साहित्य को भेंट की हैं, वे कला और विषय-वस्तु की दृष्टि से विश्व के समस्त समृद्ध साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कहानियों से टक्कर ले सकती हैं। प्रेमचन्दजी भारत के गोर्की थे। वे महान् मनुष्य और महानतम कहानीकार थे। उनकी कहानियाँ 'मानसरोवर' के विभिन्न भागों में संकलित हैं। (पहले ये कहानियाँ 'प्रेमद्वादशी', 'प्रेम पच्चीसी' आदि अनेक संग्रहों में संकलित थीं)।

यों तो प्रेमचंदजी जैसा महान् और समर्थ कलाकार हिन्दी के कहानी-साहित्य को फिर नहीं मिला, फिर भी विविधता और उत्कृष्टता की दृष्टि से हिन्दी का कहानी-साहित्य आशाजनक है।

हिन्दी में आज बहुत सुन्दर प्रगतिशील कहानियाँ लिखी जा रही हैं। यों तो ग्रामीण जीवन पर फिर प्रेमचन्दजी के अनुभव के साथ किसी ने लेखनी नहीं उठाइ, किन्तु समाज के शोषण को स्पष्ट करती हुई कहानियों का तो आज भी अभाव नहीं है।

प्रगतिशील कलाकारों में

श्री यशपाल, राहुल जी, डॉ० रांगेय राघव, कृष्णदास, गिरीश अस्थाना, राजेन्द्र यादव आदि प्रमुख हैं। प्रेमचन्दजी के बाद हिन्दी की कहानी-कला श्री यशपाल के हाथों में बहुत कुछ सुरक्षित है। घटनाओं और वातावरण की दृष्टि से उनकी कहानियाँ प्रेमचन्दजी के टक्कर की हैं।

मनोवैज्ञानिक कहानीकारों में

इस दृष्टि से इलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय' तथा जैनेन्द्रकुमार आदि के नाम लिये

जा सकते हैं । ऐसी कहानियों में घटना कम, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अधिक होता है । हिन्दी में ऐसी कहानियों का भी समुचित विकास हो रहा है जो चरित्र-चित्रण, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा घटनाओं के उचित मिश्रण से अत्यन्त सुगठित एवं रोचक होती हैं । ऐसी कहानियाँ विचार-प्रधान कही जा सकती हैं । राजेन्द्र यादव द्वारा लिखित 'पिल्ला' और 'नरभक्षी' आदि कहानियाँ इस प्रकार की कहानियों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं । कहानी के गठन, मार्मिकता तथा प्रभावात्मकता की दृष्टि से ये कहानियाँ प्रेमचन्दजी के रचना-कौशल और प्रभावात्मकता से टक्कर लेती हैं ।

विचार-प्रधान कहानी-लेखकों में

सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, धर्मवीर भारती, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, श्रीमती ऋषभचरण जैन, चन्द्रवती सौनरिक्सा आदि प्रधान हैं ।

रावीजी हिन्दी में अपने ढंग की विचित्र कहानियाँ लिख रहे हैं । वे कहानियाँ शेखसादी की भाँति अत्यन्त छोटी और उपदेश-प्रधान होती हैं । ऐसी कहानियों की घटना प्रायः अलौकिकता के सम्मिश्रण से बनती है । इन कहानियों का परिणाम लेखक के उद्देश्य को स्पष्ट करता है ।

कुछ नये कहानीकार कहानी के क्षेत्र में आये हैं । परम्परागत कहानी से अपनी कृति को भिन्नता देने के लिए वे उसे नई कहानी कहते हैं । ऐसे कहानीकारों में मन्नू भंडारी, निर्मल वर्मा, अमरकान्त, रमेश बक्षी, उषा प्रियम्वदा, भीष्म साहनी, राजकमल चौधरी, शैलेश मटियानी, मनहर चौहान, विजय चौहान, शिवप्रसाद सिंह तथा हरिशंकर पारसाई आदि प्रमुख हैं ।

सारांश यह है कि हिन्दी कहानी-साहित्य की प्रगति संतोषजनक है । इस युग में विशेषरूप से कहानियों का प्रचार-प्रसार हो रहा है क्योंकि अपने व्यस्त जीवन में आज मनुष्य उपन्यास नहीं पढ़ पाता, अतः वह कहानी ही पढ़ना चाहता है ।

———

## अध्याय २

# उपन्यास-साहित्य का इतिहास

### प्रारम्भिक युग

साहित्य के अन्य अंगों की भाँति हिन्दी के उपन्यासों का आरम्भ भी भारतेन्दु युग से ही माना जाता है। संस्कृत में 'कादम्बरी' को लोग उपन्यास बताते हैं, किन्तु कथा को छोड़ कर आधुनिक उपन्यास का कोई और तत्व उसमें भी नहीं मिलता। आधुनिक उपन्यासों के रूपनिर्णय में अंग्रेजी के Novel (उपन्यास) का बहुत कुछ हाथ है। बँगला में आधुनिक ढंग के उपन्यास हिन्दी से पूर्व लिखे जाने लगे थे, इसलिये आधुनिक उपन्यासों के विकास में बँगला उपन्यासों का प्रभाव भी साधारण नहीं है। कुछ दिन तक तो बंगला उपन्यासों के अनुवाद से ही हिन्दी जगत में उपन्यासों की पूर्ति की गयी।

भारतेन्दु युग में जो उपन्यास लिखे गये, वे केवल आरम्भिक प्रयत्न की दृष्टि से तो प्रशंसनीय कहे जा सकते हैं, रूप (टेकनीक) की दृष्टि से नहीं।

लाला श्रीनिवासदास द्वारा हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास 'परीक्षागुरु' के नाम से लिखा गया। इसकी उपदेशपूर्ण शैली यद्यपि इसकी उत्कृष्टता में बाधक है, फिर भी भाषा की सजीवता उसमें पर्याप्त है। चरित्र-चित्रण तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की बात भी उस समय नहीं सोची जा सकती थी। लाला श्रीनिवासदास को उपन्यास लिखने में इतनी सफलता नहीं मिली जितनी नाटक लिखने में।

इसके पश्चात् श्री राधाकृष्णदास (भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई) ने भी उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया, किन्तु वे भी जितने सफल नाटककार थे, उतने सफल उपन्यासकार न हो सके। इन्होंने एक मौलिक उपन्यास 'निस्सहाय हिन्दू' नामक लिखा और कुछ उपन्यासों का बँगला से हिन्दी में अनुवाद भी किया। 'स्वर्णलता', 'मरता क्या न करता' उनके अनुवादित उपन्यास हैं।

### अनुवाद युग

उपरोक्त उपन्यासों के पश्चात् हिन्दी में जो उपन्यास लिखे गये, उनमें बंगला से अनुवादित उपन्यास अधिक थे, मौलिक कम। इसलिये अनुवाद में इस लम्बे युग

को 'अनुवाद युग' कहना अनुपयुक्त न होगा। बँगला के अतिरिक्त दूसरी प्रान्तीय भाषाओं से भी हिन्दी में अनुवाद-कार्य हुआ किन्तु अधिक नहीं। उर्दू और अँग्रेजी से हिन्दी में उपन्यासों का अनुवाद करने वालों में श्री रामकृष्ण वर्मा का नाम प्रमुख है। इनके अनुवादित उपन्यासों में 'ठग वृत्तान्त' (सन् १९४६), 'पुलिस वृत्तान्त माला' (सं० १९४७), 'अकबर' (सं० १९४८), 'अमला वृत्तान्त माला' (सं० १९५१) आदि प्रमुख हैं। वर्माजी के बँगला से अनुवादित 'चित्तौर चातकी' नामक उपन्यास को लेकर तो एक आन्दोलन ही खड़ा हो गया। बात यह थी कि उस उपन्यास के कुछ स्थल चित्तौर के राजवंश के सम्मान तथा मर्यादा के विरुद्ध थे, फल यह हुआ कि इस उपन्यास की सभी प्रतियाँ गंगा में प्रवाहित कर दी गयीं।

इस अनुवाद युग में गोपालराम गहमरी का नाम अविस्मरणीय है। इन्होंने बँगला के कितने ही श्रेष्ठ सामाजिक (पारिवारिक) उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद किया। मुख्य उपन्यास थे 'दो वहिन', 'तीन पतोहू', 'सास-पतोहू', 'देवरानी-जिठानी' तथा 'बड़ा भाई' आदि। इस काल में जिन बँगला लेखकों की कृतियों का अनुवाद हिन्दी में किया गया, उनमें वंकिमचन्द्र, शरच्चन्द्र, चंडीचरण सेन, चारुचन्द्र तथा रवीन्द्र वाबू आदि प्रमुख हैं। रवीन्द्र बाबू के उपन्यास 'आँख की किरकिरी' का अनुवाद भी हिन्दी में हुआ। आज तो उपरोक्त लेखकों की प्रायः सम्पूर्ण कथा-कृतियों का हिन्दी में अनुवाद हो चुका है। गोपालराम गहमरी भी सफल अनुवादक के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनकी भाषा सजीव, सरल और आकर्षक है। अनुवाद के लिए जैसी प्रवाहपूर्ण भाषा की आवश्यकता होती है, वैसी ही भाषा गहमरीजी ने लिखी है।

वावू रामचन्द्र वर्मा ने मराठी के 'छत्रसाल' नामक उपन्यास का सुन्दर अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत किया। अँग्रेजी से जिन उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद हुआ, उनमें 'टामकाका की कुटिया' तथा 'लन्दन रहस्य' प्रमुख है।

इस अनुवाद युग से एक वात स्पष्ट है कि उस समय दरिद्र हिन्दी-साहित्य याचक-वृत्ति पर जीवन-निर्वाह कर रहा था। अपने भण्डार को उसने इस भिक्षान्न (अनुवादित साहित्य) से ही भरा। हिन्दी जगत के लिए यह गौरव की वात तो अवश्य नहीं थी, फिर भी इससे एक वड़ा लाभ यह हुआ कि लोग उपन्यासों के प्रति आकृष्ट हो गये और इस प्रकार हिन्दी में मौलिक उपन्यासों के लिए इन अनुवादित उपन्यासों ने एक क्षेत्र बना दिया। हिन्दी उपन्यास-साहित्य की प्रगति में इन अनुवादित उपन्यासों का आभार न मानना साहित्यिक कृतघ्नता होगी। हिन्दी का उपन्यास-साहित्य आज जिस उन्नत दशा में है, हिन्दी में आज उपन्यास-पाठकों की संख्या जो किसी भी दूसरी प्रान्तीय भाषा से अधिक है, उसका वहुत कुछ श्रेय इन अनुवादित उपन्यासों को देना न्यायसंगत ही है।

हिन्दी में इस समय जो थोड़े-वहुत मौलिक उपन्यास लिखे गये, जहाँ उनकी संख्या नगण्य है, वहाँ कला की दृष्टि से भी उसका स्थान अत्यन्त निम्न है।

मौलिक उपन्यासों के नाम पर इस काल में जो कुछ उपन्यास मिलते हैं, वे प्रायः जासूसी, तिलस्मी या ग्रय्यारी उपन्यास हैं।

बाबू देवकीनन्दन खत्री का नाम हिन्दी के मौलिक उपन्यासकारों में प्रथम है। जहाँ तक विषय और रूप का प्रश्न है, आज की दृष्टि से उनका मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिए। हिन्दी में उनका ऐतिहासिक महत्व है। यद्यपि खत्रीजी के 'उपन्यास-साहित्य का भवन' तिलस्म और ग्रय्यारी की ग्रनुन्नत भूमि पर खड़ा है, पर उस समय वही एक ग्राश्चर्य की वस्तु थी। खत्रीजी ने अपने रोचक और सरल भाषा में लिखे घटना-प्रधान उपन्यासों की ओर जनता का ध्यान विशिष्ट रूप से ग्राकर्षित किया। हिन्दी में उन्होंने उस समय पाठकों की संख्या बढ़ाई जब कि वह शोचनीय थी। हिन्दी में तो उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द को छोड़कर शायद ही किसी उपन्यासकार को इतने पाठक मिले हों। ग्रहिन्दी भाषा-भाषियों ने केवल उनके उपन्यास पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी यह एक सर्वमान्य सत्य है। खत्रीजी के जो उपन्यास सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए, वे हैं 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति,' किन्तु इसके अतिरिक्त और भी कई घटना-प्रधान उपन्यास उन्होंने लिखे हैं, जैसे 'नरेन्द्र मोहिनी,' 'कुसुम कुमारी', 'वीरेन्द्रवीर' आदि।

खत्रीजी के उपन्यास विशुद्ध घटना-प्रधान हैं, न उसका कोई विशिष्ट उद्देश्य है और न जीवन-प्रदर्शन। पूरा उपन्यास पढ़ जाने के पश्चात् भी पाठक के हाथ कुछ नहीं लगता क्योंकि इन उपन्यासों में घटनाओं की सृष्टि किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं की गयी, अपितु घटनाओं का सृजन घटनाओं के लिए ही किया गया है। इसलिये ऐसे उपन्यासों में, जहाँ घटनाओं का आकर्षण है, वहाँ उद्देश्यहीनता का दोष भी इनमें है। किन्तु जिस काल में इन उपन्यासों का प्रणयन हुआ, उसको देखते हुए इनका यह दोष क्षम्य है क्योंकि हिन्दी में उस समय तक उपन्यास की कोई टेकनीक (शास्त्रीय पक्ष) नहीं थी। ऐसे उपन्यासों की भाषा अत्यन्त सरल और चलती हुई होती थी। उसे 'हिन्दुस्तानी' कहा जा सकता है। उर्दू शब्दों का, जो बहुप्रचलित हैं, प्रयोग इन उपन्यासों में खुल कर किया गया है। खत्रीजी के इन उपन्यासों के विषय में आचार्य शुक्लजी का मत द्रष्टव्य है—

"इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना-वैचित्र्य रहा, रस-संचार, भाव-विभूति या चरित्र-चित्रण नहीं। ये वास्तव में घटना-प्रधान कथानक या किस्से हैं जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं, इससे ये साहित्य-कोटि में नहीं आते। पर हिन्दी साहित्य के इतिहास में बाबू देवकीनन्दन का स्मरण इस बात के लिए सदैव बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किये, उतने और किसी ग्रन्थ-कार ने नहीं। 'चन्द्रकान्ता' पढ़ने के लिए ही न जाने कितने लोगों ने हिन्दी सीखी।"

हिन्दी में ऐसे घटना-प्रधान उपन्यासों की परम्परा अभी तक चली आती है। बाबू देवकीनन्दन खत्री इस परम्परा के आदि पुरुष हैं। परवर्ती लेखकों ने ऐसे

उपन्यास लिखने की प्रेरणा उन्हीं की कृतियों से ली। लेकिन जैसा शुक्लजी का मत है 'साहित्य में ऐसे उपन्यासों का कोई स्थान नहीं होता क्योंकि चरित्र-चित्रण, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, मार्मिकता और साहित्यिक अभिव्यक्ति का इनमें अभाव होता है। अलौकिकता-प्रधान ये उपन्यास अस्वाभाविकता के हिम से निर्जीव और जीवन-ऊष्मा की स्वाभाविकता से कोसों दूर रहते हैं। विशुद्ध कल्पना-प्रसूत ये उपन्यास जीवन-स्पंदन से रहित केवल मनोरंजन की वस्तु हैं। साहित्य, जीवन के लिए महान् संदेश देने का जो कार्य करता है, उसका इस उपन्यास-साहित्य में नितान्त अभाव है। किसी राजकुमार और राजकुमारी का प्रणय-वृत्त ही इन उपन्यासों की संकीर्ण परिधि बनाता है। वे राजकुमार और राजकुमारी भी इस लोक से अधिक अप्सरा लोक के प्राणी होते हैं—विश्व की सब अलौकिकताओं से युक्त। अतः जहाँ तक प्रकार का सम्बन्ध है, ये 'नानी की कहानी' के अधिक निकट पड़ते हैं।'

किशोरीलाल गोस्वामी हिन्दी में सम्भवतः संख्या में सबसे अधिक उपन्यासों के स्रष्टा हैं। लगभग ७५ उपन्यास इनके द्वारा लिखे बताये जाते हैं, किन्तु वे उच्च कोटि के उपन्यास नहीं हैं। गोस्वामीजी ने साहित्यिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक सभी प्रकार के उपन्यास लिखने की कृपा की है, किन्तु उन्होंने अपने उपन्यासों के लिए अध्ययन करने का कुछ भी कष्ट नहीं किया है। यह उनके उपन्यासों से स्पष्ट हो जाता है। इसलिए उनके उपन्यास अनैतिहासिकता, अप्रामाणिकता और असंगतता के रोग से पीड़ित हैं। गोस्वामीजी के उपन्यासों में कालानुसार वातावरण का अभाव है। गोस्वामीजी में साहित्यिक सहृदयता का अभाव पाया जाता है, जैसा कि आजकल 'पंत' और 'अज्ञेय' में मिलता है। फलस्वरूप, उनका साहित्य लोक-कल्याणकारी, विविध मानवीय भावनाओं का सहजक्षेत्र न रह कर उनके व्यक्तिगत अहं का सक्रिय ज्वालामुखी बन जाता है जिसमें उनकी रुद्ध और असामाजिक भावनाओं का तप्त, क्षुब्ध, सतत-प्रवहन-शील लावा समाज के अस्तित्व के लिए भयानक अभिशाप बन जाता है। गोस्वामीजी प्रस्तुत विषय के सहज चित्रण को छोड़ कर अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के प्रदर्शन में ही लगे रहे। ऐसा लगता है कि पाठकों को विषय से अधिक अपने ज्ञान का परिचय देना ही उनका उद्देश्य रहा। इसीलिए गोस्वामीजी की भाषा कहीं तो प्रायः संस्कृत हो गयी है और कहीं प्रायः फारसी। उनके उपन्यासों में से कुछ के नाम हैं—'राजकुमारी,' 'रजिया बेगम', 'लीलावती', 'लवंगलता', 'हीराबाई', 'हृदय हारिणी', 'तारा', 'चपला', 'लखनऊ की कब्र' आदि।

अयोध्यासिंह उपाध्याय हिन्दी में कवि के नाते प्रतिष्ठित हैं, किन्तु उन्होंने कुछ उपन्यासों का सृजन भी किया है, जैसे 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' तथा 'अधखिला फूल'। हरिऔधजी के साहित्य में जो पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति मिलती है, उनके उपन्यास भी इस प्रवृत्ति के अपवाद नहीं हैं। उपन्यास लिखने के लिए जिस घटना, कौशल और सरस, सरल अभिव्यक्ति की अपेक्षा होती है, उसका हरिऔधजी में अभाव है। सरस

ग्रौर धार्मिक ग्राख्यानों को कविता का रूप देना एक बात है ग्रौर दैनिक जीवन की नीरस तथा शुष्क बातों को ग्राकर्षक रूप में व्यक्त करना दूसरी बात। हरिग्रौधजी को ग्रन्तिम बात का ग्रभ्यास नहीं है। वे कवि हैं, उपन्यासकार नहीं। हरिग्रौधजी के साथ ही लज्जाराम महता का नाम भी स्मरण हो जाता है जिन्होंने बिना ग्रौपन्यासिक कौशल ग्रौर प्रतिभा के कुछ उपन्यासों का प्रणयन किया, यथा 'धूर्त', 'रसिकलाल', 'बिगड़े का सुधार' तथा 'ग्रादर्श सिंह' ग्रादि। शुक्लजी ने इन दोनों लेखकों के विषय में ग्रपने विचार इन शब्दों में प्रकट किये हैं—

"—ये दोनों महाशय वास्तव में उपन्यासकार नहीं। उपाध्यायजी कवि हैं ग्रौर महताजी पुराने ग्रखबारनवीस।"

बाबू व्रजनन्दन सहाय, बी० ए० के दो उपन्यासों का उल्लेख ग्रावश्यक है। उनके नाम हैं—(१) 'सौंदर्योपासक' ग्रौर (२) 'राधाकान्त'।

प्रेमचन्द युग

ग्रौपन्यासिकता की दृष्टि से प्रेमचन्दजी के पूर्व का उपन्यास-साहित्य हिन्दी के लिए गर्वयोग्य वस्तु नहीं थी। उपान्यासों की पूर्व परम्परा को देखते हुए प्रेमचन्दजी की प्रतिभा का विश्लेषण सम्भव नहीं। कारण, प्रेमचन्दजी से पूर्व 'उपन्यास-कला' ग्रत्यन्त पिछड़ी हुई ग्रौर ग्रविकसित थी, कला की कसौटी पर खरा उतरने वाला एक भी उपन्यास प्रेमचन्दजी के समक्ष न था। ग्रतः प्रेमचन्दजी को ग्रपना मार्ग ग्रपने ग्राप बनाना पड़ा। उपन्यास की टैकनीक प्रेमचन्दजी ने स्वयं बनाई ग्रौर स्वयं ही उत्कृष्ट व कलापूर्ण उपन्यासों का सृजन किया। इससे पूर्व प्रेमचन्दजी उर्दू में लिखते थे ग्रौर उर्दू साहित्यिकों में ग्रपना स्थान बना चुके थे। उर्दू वाले भाषा माँजने का जितना ध्यान रखते हैं, हिन्दी वाले उतना नहीं। इसलिए प्रेमचन्दजी उर्दू भाषा की विशेषताग्रों को लेकर हिन्दी में ग्राये। निस्सन्देह वह ऐतिहासिक दिन था जिस दिन उर्दू छोड़कर प्रेमचन्दजी ने हिन्दी में लिखना ग्रारम्भ किया। कौन जानता था कि एक दूसरी भाषा का लेखक एक दिन हिन्दी उपन्यास-जगत का सम्राट् बन जायगा। ग्राज भी जब उपन्यास-साहित्य परिमाण में इतना ग्रधिक है तब भी उसने विविधता की दृष्टि में प्रेमचन्दजी के उपन्यासों से कुछ भी उन्नति की है, ऐसा कठिन है। हिन्दी उपन्यास-संसार में प्रेमचन्दजी का ग्राविर्भाव एक ग्राश्चर्यमयी सुखद घटना है।

प्रेमचन्दजी ने हिन्दी-साहित्य में सबसे पहले उपन्यासों का सम्बन्ध जीवन से जोड़ा। उनसे पूर्व का उपन्यास-साहित्य तिलिस्म, ग्रय्यारी ग्रौर जासूसी का क्रीड़ा-क्षेत्र था। प्रेमचन्दजी एक सहृदय कलाकार थे। ग्रतः युग समस्याग्रों से तटस्थ ग्रौर ग्रप्रभावित बने रहने का ढोंग उन्होंने कभी नहीं किया। वे 'युग-युग' के साहित्य के फेर में नहीं पड़े क्योंकि ऐसे साहित्य के षड्यन्त्र को वे जानते थे। तुलसी के काव्य की भाँति प्रेमचन्दजी के उपन्यासों की पृष्ठभूमि ग्रत्यन्त विस्तृत है। जीवन की विविधता के दर्शन जितने प्रेमचन्दजी के उपन्यास-साहित्य में होते हैं, उतने ग्रन्यत्र नहीं।

प्रेमचन्दजी ने अपने युग की विभिन्न समस्याओं को लेकर उपन्यास लिखे। अब तक के पाठक केवल निर्जीव घटनाओं की उद्देश्यहीन कथा-कृतियों से ही परिचित थे। सर्वप्रथम प्रेमचन्दजी में उन्होंने घटनाओं को भावों के सेवक के रूप में देखा। सार्थक घटनाएँ, सुन्दर सशक्त भाषा, युग जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति, प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में देखकर हिन्दी-भाषा-भाषी जनता जैसे कृतकृत्य हो गयी।

जब प्रेमचन्दजी का प्रथम मौलिक सामाजिक उपन्यास 'सेवासदन' हिन्दी में आया तो हिन्दी जगत में एक सुख और आश्चर्य की लहर दौड़ गयी। हिन्दी पाठकों के लिए ऐसा उपन्यास सर्वथा नई बात थी। यह उपन्यास उपन्यास-परम्परा में अपने पूर्वजों से किसी बात में सादृश्य नहीं रखता था। 'सेवासदन' अपने युग का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना गया। उपन्यास जगत में प्रेमचन्दजी की प्रतिभा का यह प्रथम विस्फोट था। उनके एक ही प्रहार में ढोंगी और पाखंडियों के पैर लड़खड़ा गये। उपन्यास का नायक एक वेश्या की बहिन से शादी कर ले, यह उस काल की कितनी बड़ी साहित्यिक घटना थी। उसकी ठीक-ठीक कल्पना आज नहीं की जा सकती। हिन्दी पाठकों ने सर्वप्रथम इस उपन्यास के द्वारा समाज के अन्तर में झाँका और सुन्दर बाह्य आवरण के भीतर उसमें नर्क पलते देखा। समाज और धर्म के प्रतिष्ठित ठेकेदारों को भयंकर विषधरों के रूप में ढोंग की कुण्डली मारे और स्वार्थ की जिह्वा लपलपाते देखा और जो समाज वास्तव में उनके विष से भयंकर रूप से पीड़ित था। प्रेमचन्दजी ने इस क्रान्तिकारी उपन्यास द्वारा उनका उद्घाटन कर दिया था।

'सेवासदन' लिख कर ही प्रेमचन्दजी की प्रतिभा निष्क्रिय नहीं हो गयी। यह तो उनका पहला ही प्रयास था। प्रेमचन्दजी की सतत् विकासमान प्रतिभा ने एक से एक अधिक सुन्दर और मार्मिक उपन्यासों की सृष्टि की। प्रत्येक आने वाला उपन्यास अपने पूर्व उपन्यास से अधिक सुन्दर रूप और मार्मिक विषय-वस्तु लेकर आया। स्थानाभाव के कारण प्रेमचन्दजी के सम्पूर्ण उपन्यासों का संक्षिप्त आलोचनात्मक परिचय देना यहाँ सम्भव नहीं है। इसलिए उनके नाम-मात्र से ही कार्य चलाना पड़ेगा। 'सेवासदन' के पश्चात् लिखे गये प्रेमचन्दजी के उपन्यासों के नाम निम्न-लिखित हैं—

'प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, काया-कल्प, गबन, प्रतिज्ञा, निर्मला, गोदान' आदि। प्रेमचन्द के इन उपन्यासों ने समाज की सभी समस्याओं को अपनी विस्तृत परिधि में समेट लिया है। 'वेश्यावृत्ति, स्त्रियों की आभूषणप्रियता और उसके दुःखद परिणाम, विधवा-समस्या, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक समस्याएँ तथा देश के घोर दारिद्रय से उत्पन्न समस्याएँ" प्रेमचन्दजी के विभिन्न उपन्यासों का विषय बनी हैं।

कुछ शब्द प्रेमचन्दजी के दृष्टिकोण के विषय में लिखना आवश्यक है। 'सेवासदन' से लेकर 'गोदान' से पहले तक प्रेमचन्दजी की कला में एकरूपता मिलती

है। प्रेमचन्दजी का उपदेशक रूप इन सब उपन्यासों में समान रूप से मिलेगा। प्रेमचन्दजी का दृष्टिकोण अपने इन पूर्व उपन्यासों में प्राचीन परम्परा और रूढ़ियों के प्रति विध्वन्स या आमूल नाश का नहीं है अपितु सुधार का है। इसलिए प्रेमचन्दजी के इन उपन्यासों में यथार्थवादी चित्रण तो है परन्तु प्रेमचन्दजी का पूर्व निश्चित उद्देश्य ही उन उपन्यासों का परिणाम बन जाता है। फलत: उनके ये अधिकांश उपन्यास उपदेश-प्रधान से हो गये हैं। यह कहना तो युक्ति-युक्त नहीं होगा कि प्रेमचन्दजी के इन उपन्यासों में रोचकता या मार्मिकता का अभाव है। हिन्दी कथा-साहित्य में घटनाओं के सृजन की ऐसी अदम्य प्रतिमा किसी दूसरे कलाकार में नहीं दिखाई देती। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्दजी ने 'जमींदार-किसान समस्या' ली है। जमींदारों और किसानों के स्वार्थों में एक मूलभूत विरोध है जिसका आधार वैज्ञानिक है। प्रेमचन्दजी ने तब यह बात स्पष्ट रूप में नहीं समझी थी। इसलिए 'प्रेमाश्रम' में उन्होंने जमींदारों को अधिक उदार होने तथा प्रजा को पुत्रवत् मानने का परामर्श दिया है, उधर किसानों को उन्होंने स्वामिभक्त होने का उपदेश दिया है। इसी प्रकार 'गोदान' को छोड़ कर उनके अन्य उपन्यासों में भी यही समन्वयवाद तथा पुनसुंधार का स्वर अधिक ऊँचा है। बंगाली उपन्यासकार (विशेषरूपेण शरद्) अपने उपन्यासों में अपने विचारों का वाहक किसी पात्र-विशेष को बना लेते हैं। प्रेमचन्दजी अपना विचार-वाहक किसी निश्चित पात्र को न बना कर हर पात्र के मुँह से अवसर पड़ने पर अपनी बात कहला देते हैं। 'गोदान' से पूर्व के उपन्यासों में प्रेमचन्दजी का अनुभव अपेक्षाकृत अपरिपक्व, उनका स्वयं का चिन्तन अपेक्षाकृत अपूर्ण और लेखनी अपेक्षाकृत कम सधी हुई थी। उनकी ये सब विशेषताएँ 'गोदान' में अपने पूर्णतम रूप में पहुँचती हैं।

प्रेमचन्दजी के जीवन भर के अनुभव, चिन्तन और उनकी साहित्यिक साधना का सुपरिणाम है—उनका 'गोदान' उपन्यास। अकेला 'गोदान' उपन्यास उनकी साहित्यिक साधना को दो भागों में बाँट देता है। 'गोदान' और 'गोदान' से पूर्व का साहित्य एक ही बात नहीं है। 'गोदान' से पूर्व का साहित्य एक बात है और 'गोदान' दूसरी बात। व्यक्ति और समाज के विरोधों को पाटने के लिए प्रेमचन्दजी की समन्वयवादी आदर्शोन्मुख यथार्थवादी लेखनी धैर्य के साथ एक युग तक अविराम गति से चलती रही। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमचन्दजी को 'गोदान' से पूर्व अपने समाज और इसकी परम्पराओं के प्रति वैसा ही मोह था जैसा कि 'गोदान' में होरी को अपने खेतों के प्रति था। उनकी लेखनी समाज को सुधार पायेगी, इसका उन्हें हार्दिक विश्वास था। किन्तु 'गोदान' का प्रणयन हिन्दी उपन्यास-साहित्य की एक महान् घटना तो है ही अपितु प्रेमचन्दजी के साहित्यिक जीवन की महानतम और कठोरतम घटना है। 'गोदान' ने प्रेमचन्दजी के पूर्वप्रणीत उपन्यासों के महत्व को तो कम नहीं किया, किन्तु प्रेमचन्दजी के जो विश्वास उन उपन्यासों के आधार थे, 'गोदान'

उनकी समाधि है । कुछ विद्वानों का कथन है कि 'गोदान', 'प्रेमाश्रम' का प्रायश्चित है । यह आंशिक सत्य है । पूर्ण सत्य तो यह है कि 'गोदान' प्रेमचन्दजी के पूरे साहित्यिक जीवन का प्रायश्चित है । ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन भर अपरिपक्व और अव्यावहारिक दृष्टिकोण का भार अपने मन-मस्तिष्क में व्यर्थ वहन करते रहने का क्रोध और क्षोभ इस उपन्यास ( गोदान ) में साकार हो गया है । प्रेमचन्दजी से अधिक ईमानदार साहित्यिक की कल्पना करना भी कठिन है जिसने जीवन की संध्या में अपनी साधना की असफलता स्वीकार कर 'गोदान' के रूप में नवीन साधना का शुभारम्भ किया । गोदान उपदेशात्मक उपन्यास नहीं है—समन्वय तथा समझौते का उपन्यास नहीं है । इस आर्थिक विषमता और वर्ग-स्वार्थों से भरे संसार में यह समन्वय का काम उन्हें स्वयं ही घृणित लगा । इसीलिये प्रेमचन्दजी ने 'गोदान' में सुधार का नहीं, सड़ी-गली समाज-व्यवस्था और अशुभ प्राचीन परम्पराओं के विध्वंस तथा समूल नाश का स्वर ऊँचा किया है । अपनी आन्तरिक सचाई से वर्तमान समाज-व्यवस्था को मानने वाले, पाषाणों, पाषाणपूजकों, धर्म और समाज के ठेकेदारों को पूरी श्रद्धा से पूजने वाले, अपने सर्वनाश को अपने समक्ष साकार देख कर भी यमदूत के समान पंचों के न्याय-कुठार के सामने अपनी गर्दन सहर्ष झुका देने वाले, अपने भोलेपन के कारण इन निर्मम स्वामी-जोंकों को अपने रक्त की अन्तिम बूँद तक चुसा देने वाले, धर्म की निष्ठुर बलिदेवी पर अपना सर्वस्व बलिदान करने वाले लोगों का इस सड़ी-गली समाज-व्यवस्था में जो परिणाम होता है, प्रेमचन्दजी ने उसे केवल एक शब्द में व्यक्त कर दिया है । 'होरी' ही यह वह शब्द है जिसमें शोषित भारत की सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परम्पराएँ शोषकों की स्वार्थाग्नि में धू-धू करके जल रही हैं । प्रेमचन्दजी इस उपन्यास में पूर्ण यथार्थवादी रूप में प्रकट हुए हैं । उनका जीवनव्यापी 'आदर्श' इस उपन्यास में प्रायश्चित की अग्नि में आ बैठा है । भारतीय संस्कृति का प्राचीन चौखटा अब चरमरा उठा है, 'गोदान' में उसका शब्द स्पष्ट रूप से सुनाई देता है । अपने आदर्श बाहुल्य के कारण प्रेमचन्दजी उपन्यास-कला में बंगाली उपन्यासकारों से पीछे गिने जाते थे, परन्तु 'गोदान' में प्रेमचन्दजी इन लोगों को बहुत पीछे छोड़ गये हैं । बंगाली लेखकों का यथार्थवाद हाथ घुमाकर नाक पकड़ने का यथार्थवाद है, अर्थात् सामाजिक दुर्भाग्य की मूल समस्या को उन्होंने स्पष्टत: नहीं समझा है । इसके लिए वे कहीं तो धर्म, कहीं समाज और कहीं व्यक्ति के चरित्र को दोषी ठहराते हैं किन्तु प्रेमचन्दजी ने दुर्भाग्य की इस मूलशिरा को ठीक-ठीक समझा था और इसलिए उनका 'गोदान' इस सामाजिक राजरोग के मूल, आर्थिक विषमता, के नाश का ही उचित निदान करता है । आर्थिक विषमता को प्रेमचन्दजी राष्ट्रीय दुर्भाग्य का मूल कारण मानते हैं । 'गोदान' यह दिखाता है कि गाँवों का आर्थिक ढाँचा टूट गया है और इस प्रकार देश का मेरुदंड ही टूट गया है, राष्ट्र की कमर झुक गयी है । प्रेमचन्दजी के ऊपर

'गोदान' से पूर्व तक गांधीजी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उन्होंने कांग्रेस के असहयोग आंदोलन में सक्रिय भाग भी लिया था किन्तु 'गोदान' में जैसे उनके गांधीवादी संस्करण बिलकुल धुल-पुछ गये हैं। 'गोदान' आधुनिक युग की रामायण है। हमारे समाज की छोटी से छोटी समस्या, छोटी से छोटी कमी उसकी परिधि के बाहर नहीं है। 'गोदान' शान्ति का नहीं क्रान्ति का शंखनाद करता है। वह सुधार का नहीं, आमूलचूल परिवर्तन का मन्त्र देता है। प्रेमचन्दजी का अन्तिम और अपूर्ण उपन्यास 'मंगलसूत्र' तो क्रान्ति की चिनगारियों का अक्षय-कोष है। कहते हैं कि इस उपन्यास में प्रेमचन्दजी अपने घोर क्रान्तिकारी रूप में आ रहे थे। यह सच इसलिए है कि उनके दृष्टिकोण के आमूल परिवर्तन की सूचना तो 'गोदान' ही दे चुका था। प्रेमचन्दजी इस बात को भलीभांति समझ गये थे कि शोषकवर्ग के हृदय-परिवर्तन की आशा, अग्नि से शीतलता उत्पन्न करने के प्रयत्न के समान ही दुराशापूर्ण थी।

जयशंकरप्रसादजी का हिन्दी उपन्यास-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। लेकिन प्रसादजी पहले कवि हैं बाद में कुछ और। यह बात तथ्यपूर्ण जान पड़ती है क्योंकि प्रसादजी का कवि के नाते जो स्थान हिन्दी में है, वह इतना व्यापक और उच्च है कि उनके शेष रूप उसकी छाया में निष्प्रभ और अविकसित लगते हैं। प्रसादजी और महादेवी वर्मा के विषय में एक बड़ी विचित्र बात यह है कि वे अपने काव्य में जितने ही अधिक काल्पनिक हैं, अपने गद्य में उतने ही अधिक यथार्थ। कल्पना-परी को सम्भवतः गद्य के सादा और रंगविहीन पंख इतने अधिक पसन्द नहीं जितने पद्य के सुन्दर और चित्र-विचित्र पंख। इसलिए गद्य जहाँ अपेक्षाकृत नीरस होने के लिये बाध्य है, वहाँ यथार्थता उसकी चिरसहवर्तिनी अभिन्न सखी भी है। प्रसादजी के द्वारा लिखे तीन उपन्यास मिलते है—'कंकाल', 'तितली' और 'इरावती'। 'इरावती' अपूर्ण उपन्यास है। प्रसादजी का 'कंकाल' समाज के कंकाल का नग्न चित्र है। इसमें प्रसादजी घोर यथार्थवादी कलाकार के रूप में दिखाई देते हैं। प्रसादजी ने सामाजिक समस्याओं के विषय में जीवन भर जो मनन किया था और अपने काव्य में जिसका वे उपयोग नहीं कर सके, शायद उसी को व्यक्त करने के लिए उन्हें उपन्यासों का माध्यम ग्रहण करना पड़ा। प्रसादजी के उपन्यासों को पढ़ने से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—

(१) सामाजिक समस्याओं पर प्रसादजी ने गम्भीर चिन्तन किया है।

(२) औपन्यासिक कौशल का उनमें अभाव है।

इस विषय में कुछ बंगाली लेखकों से उनकी समानता और असमानता दिखाना असंगत न होगा। शरच्चन्द्र का 'शेष प्रश्न' सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण कोष प्रतीत होता है। किन्तु शरद भारत के सर्वश्रेष्ठ सिद्धहस्त उपन्यासकारों में से एक हैं, इसलिए उनके विश्लेषणों की कुरूपता कथा के प्रवाह में बह जाती है। पाठक की दृष्टि उस पर स्थिर ही नहीं हो पाती। प्रसादजी में यह बात नहीं है। उनकी मन्दगामी कथा में उनके ये विश्लेषण पाठक की दृष्टि को अपने ऊपर ही केन्द्रित कर लेते हैं

और नीरसता का दोष उपन्यास में उत्पन्न कर देते हैं। प्रसादजी भावों के कलाकार हैं, वे घटना-सृष्टि में कुशल नहीं हैं, जैसे प्रेमचन्दजी और यशपाल। इसलिए प्रसादजी के ये विश्लेषण कथा-प्रवाह में मिलते नहीं हैं, अपितु 'नदी के द्वीपों' की सदृश्य कथा-प्रवाह में अलग उभरे हुए दिखाई देते हैं और इस प्रकार कथा के प्रवाह में बाधा ही उत्पन्न करते हैं। प्रसादजी की शैली भी उपन्यासों के लिए उपयुक्त नहीं है। कहीं तो यह कविता की भाँति दुरूह और काव्य-प्रधान हो जाती है, कहीं निबन्धों की भाँति शुष्क। फिर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि प्रसादजी ने अपने उपन्यासों में अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण उपस्थित किया है जो उनकी कविता से भिन्न है। इसलिए प्रसादजी का उपन्यासकार के रूप में भी एक विशिष्ट व्यक्तित्व है।

## आधुनिक युग

प्रेमचन्दजी ने जिस धारा को प्रवाह और विकास दिया, वह उत्तरोत्तर गहरी और विस्तृत ही होती गयी। बाद के लेखकों में पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', बाबू प्रतापनारायण मिश्र, जैनेन्द्रकुमार, वृन्दावनलाल वर्मा, आचार्य चतुर्सेन शास्त्री, 'सुदर्शन', 'उग्र', भगवतीचरण वर्मा, धर्मवीर भारती, 'अश्क', अंचल, 'निराला' आदि का नाम आता है।

इनमें से वृन्दावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध हैं; यों तो उन्होंने सामाजिक उपन्यास भी सफलतापूर्वक लिखे हैं। 'मृगनयनी', 'विराटा की पद्मिनी', गढ़कुण्डार', 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', 'साहिबज़ू' आदि उनके प्रमुख उपन्यासों के नाम हैं।

शेष लेखक सामाजिक उपन्यासों के प्रणेता के रूप में ही प्रसिद्ध हैं।

उपन्यासों के इस चरम विकास के युग में कितनी ही विशिष्ट प्रवृत्तियाँ इन उपन्यासों में मिलेंगी। सामान्यत: आज के उपन्यास जाति, धर्म तथा देश के बन्धन तोड़ कर नई मानवता के निर्माण में कृतप्रयत्न हैं। आज के उपन्यासकारों में दो दल स्पष्टरूप से देखे जा सकते हैं। एक तो वे जो व्यक्ति को लेकर चलते हैं और उसी के माध्यम से समाज को देखते हैं। इस प्रकार के उपन्यास मनोविश्लेषण पर अधिक बल देते हैं। दूसरे प्रकार के उपन्यास जो समाज का चित्रण करते हैं और समाज के माध्यम से व्यक्ति को देखते हैं। इस प्रकार के उपन्यास प्रेमचन्दजी की परम्परा में माने जायँगे। मार्क्सवादी चिन्तन इन उपन्यासों की आधार-भूमि होता है। आर्थिक क्रान्ति और धर्महीन समाज की स्थापना इन उपन्यासों की विषय-वस्तु होती है। ऐसे उपन्यासों का दृष्टिकोण सामाजिक उपयोगिता का होता है। अत: सामाजिक आदर्श-वाद इन उपन्यासों का स्वर होता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास-लेखकों में प्रमुख हैं—

अज्ञेय—'शेखर', 'नदी के द्वीप' आदि इनके प्रमुख उपन्यास हैं।

इलाचन्द्र जोशी—'सन्यासी', 'प्रेत और छाया' तथा 'मुक्तिपथ' आदि इनके प्रमुख उपन्यास हैं। इन लोगों के ऊपर पाश्चात्य उपन्यासकारों का विशेष प्रभाव है। यूरोप के मनोविश्लेषण-प्रधान उपन्यासों से ये प्रभावित हैं। अंग्रेजी का 'यूलिसीज' उपन्यास इस विषय में संसार-प्रसिद्ध है। ऐसे उपन्यासों में घटना महत्वपूर्ण नहीं होती, महत्वपूर्ण होता है—मनोवैज्ञानिक विश्लेषण।

मार्क्सवादी उपन्यासकारों में—यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, कृष्णचन्द्र, नागार्जुन, डॉ० रांगेयराघव आदि का नाम लिया जा सकता है।

इनमें भी यशपाल प्रमुख हैं। इनके 'दादा कॉमरेड' तथा 'मनुष्य के रूप' आदि प्रमुख उपन्यास हैं।

अमृतलाल नागर आज के अत्यन्त लोकप्रिय और लब्धप्रतिष्ठ उपन्यासकार हैं। उनके 'महाकाल', 'सेठ बाँकेमल', 'बूंद और समुद्र' तथा 'शतरंज के मोहरें' नामक प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'शतरंज के मोहरें' अपने ढंग का अद्वितीय उपन्यास है। शिल्प और वातावरण तथा चरित्र-चित्रण में इससे टक्कर लेने वाले उपन्यास हिन्दी में अधिक नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त 'अनन्त गोपाल शेवड़े, अमृतराय, उदयशंकर भट्ट, उषादेवी मित्रा, फणीश्वरनाथ रेणु, डॉ० देवराज, नरेश मेहता, प्रभाकर माचवे, भैरवप्रसाद गुप्त, राजेन्द्र यादव, रामेश्वर 'शुक्ल अंचल', गुरुदत्त आदि आज के प्रमुख उपन्यासकार हैं।

हिन्दी उपन्यासों की आज की प्रगति संतोषजनक है। नये-नये प्रतिभाशाली लेखक इस क्षेत्र में आ रहे हैं। उपन्यासों का भविष्य निस्सन्देह उज्ज्वल है।

---

अध्याय ४

# नाटक-साहित्य का इतिहास

## भारतेन्दु युग

हिन्दी में भारतेन्दु युग को ही नाटकों का आदि-युग मानना चाहिए। यद्यपि भारतेन्दु से पूर्व भी कुछ नाटकों का पता चलता है परन्तु वे नाम के ही नाटक हैं। नाटक की शास्त्रीय कसौटी पर वे खरे नहीं उतरते।

भारतेन्दु से पूर्व लिखे गये तीन नाटकों का उल्लेख करना आवश्यक है। पहला नाटक है 'आनन्द रघुनन्दन'। इसके लेखक हैं महाराज विश्वनाथ सिंह। नाटक की भाषा खड़ी बोली न होकर ब्रजभाषा है।

दूसरा नाटक है 'नहुष' और इसके लेखक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचन्दजी बताये जाते हैं। यह नाटक भी खड़ी बोली में नहीं लिखा गया वरन् ब्रजभाषा में ही लिखा गया है।

तीसरा नाटक उपरोक्त सब नाटकों में सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इस नाटक का नाम है 'शकुन्तला नाटक' और इसके लेखक हैं हिन्दी के प्रसिद्ध व्यक्ति राजा लक्ष्मण-सिंहजी। यह नाटक मौलिक नहीं है। संस्कृत के कालिदास रचित 'शाकुन्तलम्' का यह अनुवाद है। अनुवाद में राजा साहब ने शुद्ध हिन्दी में लिखने का प्रयत्न किया है। उर्दू शब्दों के बहिष्कार की प्रवृत्ति इस नाटक से स्पष्ट परिलक्षित होती है। भाषा को शुद्ध हिन्दी बनाये रखने के कारण भाषा संस्कृतगर्भित अधिक हो गयी है। इसमें सन्देह नहीं कि यह नाटक, जहाँ तक अनुवाद का सम्बन्ध है, पूर्ण सफल रहा। पढ़ते समय पाठक नहीं जान पाता कि यह अनुवादित नाटक है।

स्वयं भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र हिन्दी नाटकों के प्रारम्भिक युग के सबसे अधिक समर्थ व्यक्ति हैं। सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी दृष्टियों से भारतेन्दु बाबू का युग संक्रांति युग है। भारत का प्राचीन सांस्कृतिक ढाँचा रूढ़ि-जर्जर हो रहा था और पाश्चात्य सभ्यता की चमक-दमक लोगों की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर रही थी। लोग स्वभावतः उसकी ओर आकृष्ट हो रहे थे। हर व्यक्ति के हृदय में दो भावनाओं का संघर्ष हो रहा था—'प्राचीनता से चिपके रहें या नवीनता को ग्रहण

करें।' भारतेन्दुयुगीन साहित्य में, विशेषरूप से नाटकों में, यह संघर्ष बहुत स्पष्ट रूप से उभर कर आया है।

भारतवर्ष में अंग्रेजों ने सर्वप्रथम बंगाल में अपने पैर जमाये। इसलिए उनके साथ-साथ अंग्रेजी भी बंगाल की उर्वरा और शस्यश्यामला भूमि पर क्रीड़ा करती रही। इस विदेशी श्वेतांगी का बंगालियों ने विशेष आदर किया और उसके प्रति विशेषरूप से अपनी भक्ति प्रकट की। बंगाल के आरम्भिक साहित्य में अंग्रेजी प्रभाव के अमिट चिन्ह स्पष्ट हैं। कुछ तो बंगला भाषा के माध्यम से और कुछ प्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी का प्रभाव सभी प्रान्तीय भाषाओं पर पड़ा। भारतेन्दु स्वयं बंगाली जानते थे। उन्होंने बंगला के 'विद्यासुन्दर' नामक नाटक का हिन्दी में अनुवाद भी किया था। इसलिए एक तो बंगाली भाषा और साहित्य के सम्पर्क से तथा प्रत्यक्षरूप से भी भारतेन्दुयुगीन नाटक-साहित्य पर अंग्रेजी का प्रभाव पड़ा। स्वयं भारतेन्दु पर वह प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में पौर्वात्य तथा पाश्चात्य नाटक-तत्वों का सम्मिश्रण कर दिया है। उन्होंने भारतीय ( संस्कृत ) परम्परा के आधार पर अपने नाटकों में प्रस्तावना तो रखी है किन्तु कथावस्तु के संधि आदि अंगों की उन्होंने विशेष चिन्ता नहीं की। संस्कृत नाटकों में नाटक के अन्त में कल्याण-सूचक पद्य रहता था जिसे भरत-वाक्य कहते थे। भारतेन्दु के कितने ही नाटकों में यह 'भरत-वाक्य' मिलता है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक से ही इसका उदाहरण दिया जा सकता है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के अन्त में निम्नांकित पद्य भरत-वाक्य के रूप में लिखा मिलता है—

> खलगन सों सज्जन दुखी मत होंइ, हरि पद रत रहैं,
> उपधर्म छूटैं सत्य निज भारत गहै कर दुःख बहै।
> बुध तजहिं मत्सर नारि नर सम होंइ सब जग सुख लहैं,
> तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहैं।

भारतेन्दु ने हिन्दी के दरिद्र नाटक-भण्डार को कितने ही नाटक-रत्न भेंट किये। भारतेन्दु ने अनुवादित और मौलिक दोनों प्रकार के ही नाटक पर्याप्त संख्या में लिखे। उनके प्रमुख नाटक हैं—

(१) विद्यासुन्दर; (२) रत्नावली; (३) पाखण्ड विडम्बना; (४) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति; (५) धनंजय; (६) प्रेमयोगिनी; (७) सत्य हरिश्चन्द्र; (८) मुद्राराक्षस; (९) कर्पूरमञ्जरी; (१०) विषस्य विषमौषधम; (११) चन्द्रावली; (१२) भारत दुर्दशा; (१३) भारत जननी; (१४) नीलदेवी; (१५) अंधेर नगरी; (१६) सती प्रताप।

भारतेन्दु उच्च कोटि के सच्चे कलाकार थे। उनके नाटक अपने युग को प्रतिबिम्बित करते हैं। भारत को अंग्रेजी राज्य के अन्तर्गत देखना भारतेन्दु को अच्छा नहीं लगता है। सम्भवतः भारतेन्दु पहले हिन्दी-साहित्य के लेखक हैं जिनकी रचनाओं में

देशभक्ति का तत्व मिलता है। अंग्रेज भारत का आर्थिक शोषण कर रहे थे। भारतीय जनता की आर्थिक दशा बिगड़ती जा रही थी। भारत की इस दुर्दशा को देखकर भारतेन्दु मौन रहने वाले नहीं थे। उन्होंने अपने 'भारत दुर्दशा' नाटक में भारत की इस दुर्दशा का नग्न चित्र खींचा है और उस पर शोक के आँसू भी बहाये हैं—

"—आवहु सब मिल कर रोवहु भाई,
हा हा भारत दुर्दशा न देखो जाई ॥"

राष्ट्रीय धन को विदेश जाते देख कर उनका हृदय दुःख से कराह उठा—

"—पै धन विदेश चलति यहै दुःख भारी।"

भारतेन्दु की देश और भाषा के प्रति लगन केवल उन्हीं तक सीमिति नहीं थी। उन्होंने अपने व्यक्तिगत मित्रों के सहयोग से एक लेखक-मण्डल तैयार किया था जो देश और भाषा की निरन्तर सेवा करता रहे। इस मण्डल के प्रमुख सदस्य भारतेन्दु के प्रमुख मित्र थे और उन सभी में देश के प्रति उत्कट प्रेम, निडरता, व्यंग्य की गहराई आदि विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। भारतेन्दु द्वारा स्थापित इस मण्डल के कुछ व्यक्तियों की रचनाओं का नाम-निर्देश असंगत न होगा।

श्रीनिवासदास—इन्होंने कई नाटक लिखे। प्रमुख हैं—'संयोगिता स्वयंवर', 'प्रह्लादचरित', 'रणधीर प्रेममोहिनी', 'तप्ता संवरण' आदि। श्रीनिवासदास का 'रणधीर प्रेममोहिनी' नाटक अपनी कुछ विशिष्टिताएँ रखता है—

(१) वह एक दुखान्त नाटक है ;
(२) उसमें प्रस्तावना नहीं है।

भारतीय सिद्धान्त के अनुसार नाटक दुःखान्त नहीं होना चाहिए क्योंकि भारतीय नाटक घटना पर आधारित न होकर फल पर आधारित रहता है। फल भी निम्नांकित चार वस्तुओं में से एक होना चाहिए—(१) धर्म ; (२) अर्थ ; (३) काम ; (४) मोक्ष। इसलिये फल को ध्यान में रख कर नाटक के कार्य-व्यापार की निम्नांकित अवस्थाएँ होती थीं—

(१) प्रारम्भ ; (२) यत्न ; (३) प्राप्त्याशा ; (४) नियताप्ति ; (५) फलागम।

नाटक में फल की प्राप्ति एक अनिवार्य बात थी। नायक धर्म का प्रतिनिधि होता था, इसलिये फल की अप्राप्ति का अर्थ था नायक की असफलता, जो धर्म-विरुद्ध बात पड़ती थी। अतः भारतीय सिद्धान्त के अनुसार नाटक सुखान्त होने के लिए बाध्य था।

किन्तु पाश्चात्य नाटकों का आधार घटना होती है और नाटक के कार्य-व्यापार को वे घटना के आधार पर ही बाँटते हैं, जैसे—

(१) प्रारम्भ ; (२) संघर्ष का प्रारम्भ ; (३) संघर्ष चरम सीमा की ओर, (४) चरम सीमा ; (५) समाप्ति; १. दुःख में भी और २. सुख में भी)।

पाश्चात्य नाटकों की समाप्ति दुःख में ही अधिकतर होती है ; कारण, उनका

आधार कोई आध्यात्मिक सिद्धान्त नहीं है। संसार में वास्तव में जैसी घटनाएँ घटित होती हैं, पाश्चात्य नाटकों में वे यथावत् लिख दी जाती हैं; उदाहरणार्थ, सत्य पक्ष को पाश्चात्य नाटकों में पराजित भी दिखाया जा सकता है और असत्य पक्ष को विजयी भी दिखाया जा सकता है।

उपरोक्त दृष्टान्त से यह स्पष्ट है कि भारतीय नाट्य-साहित्य पर भारतेन्दु युग में ही पाश्चात्य प्रभाव पड़ने लगा था। भारतीय नाट्य-शास्त्र के नियमों का पालन यथावत् नहीं किया जाता था। इसके अतिरिक्त 'रणधीर प्रेममोहिनी' नाटक में भारतीय नाटकों की भाँति प्रस्तावना भी नहीं थी।

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु-मण्डल के अन्य लेखकों ने भी नाटक-रचना की। कुछ प्रमुख नाटककारों एवं नाटकों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'—भारत सौभाग्य, नाटक।
(२) तोताराम — केटो वृत्तान्त, नाटक।
(३) पं० गदाधर भट्ट— रेल का विकट खेल, नाटक। वाद-विवाद तथा चन्द्रसेन।
(४) पं० बालकृष्ण भट्ट— पद्मावती, शर्मिष्ठा, चन्द्रसेन।

भारतेन्दु युग में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के अतिरिक्त दो और लेखक विशेष प्रतिभाशाली थे—

(१) प्रतापनारायण मिश्र—इन्होंने चार नाटकों की रचना की जो पर्याप्त लोकप्रिय थे—(१) गोसंकट नाटक; (२) कलिकौतुक रूपक; (३) जुवारी ख्वारी; (४) हठी हमीर। इसके अतिरिक्त मिश्रजी ने कितने ही प्रहसन भी लिखे जो लोगों ने बहुत पसन्द किये।

(२) राधाकृष्णदास—ये भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई थे और भारतेन्दु युग के भारतेन्दु को छोड़कर सबसे अधिक लोकप्रिय और प्रतिभाशाली नाटककार थे। इन्होंने कई नाटक लिखे हैं—

(१) 'महारानी पद्मावती'—यह ऐतिहासिक नाटक है।

(२) 'महाराणा प्रताप'—यह भी ऐतिहासिक नाटक है और अपने युग के सर्वाधिक सफल नाटकों में से एक है। इस नाटक का कितनी ही बार सफल अभिनय भी किया जा चुका है। इस नाटक में गुलाब और मालती की एक सहायक कथा भी चलती है जिसके कारण नाटक की रोचकता और भी बढ़ जाती है।

(३) 'दुखिनी बाला'—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह एक सामाजिक नाटक है। हमारे समाज में अधिकांश स्त्रियों का जीवन दुःखमय है। इसका मुख्य कारण है—यहाँ की वैवाहिक कुप्रथाएँ। यही इस नाटक में लेखक ने दिखाया है।

यों तो और भी कितने ही लेखक हैं जिन्होंने इस काल में नाटक लिखने का प्रयास किया, किन्तु वे अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं।

भारतेन्दु युग में हिन्दी में अनेक मौलिक नाटक लिखे गये, किन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वयं बंगला के 'विद्या सुन्दर' नाटक का अनुवाद करके अनुवाद करने की एक परम्परा स्थापित कर दी थी। भारतेन्दु के बाद के काल को यदि 'अनुवाद युग' कह कर पुकारें तो अत्युक्ति न होगी।

अनुवाद का यह कार्य भारतवर्ष में विशेषरूप से बंगला से तथा यूरोप की अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषाओं से किया गया। शेक्सपीयर के कितने ही नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया गया। बंगला में मुख्य रूप से द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया गया। द्विजेन्द्रलाल के मुख्य नाटक हैं—'मेवाड़ पतन', 'शाहजहाँ', 'महाराणा प्रताप' आदि। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे घटना-प्रधान होते थे तथा अभिनेय होते थे। इसके विपरीत रवीन्द्रबाबू के नाटक घटनाहीन एवं भावप्रधान होने के कारण साहित्यिक तो अधिक होते थे, किन्तु अभिनेय कम।

यह नहीं भूल जाना चाहिए कि इन दिनों लोगों में नाटक देखने और पढ़ने की रुचि बढ़ रही थी। किन्तु नाटक कम लिखे गये थे, इसलिए बाहर की भाषाओं से अनुवाद तक करके नाटकों को अभिनीत किया गया था। पारसी कम्पनियाँ भी नाटक खेलने का कार्य इस समय किया करती थीं। यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस काल का रंगमंच बहुत पिछड़ा हुआ और अविकसित दशा में था।

इसके पश्चात् हिन्दी में और भी अनेक मौलिक नाटक लिखे गये। इन नाटकों या नाटक-लेखकों को हम सुविधा की दृष्टि से दो भागों में बाँट सकते हैं—

(अ) वे लेखक जो मौलिक नाटकों की रचना करते थे, किन्तु जिनके नाटकों में में दृश्य-काव्य से श्रव्य-काव्य के ही गुण अधिक रहते थे।

(१)मिश्रबन्धु—इन्होंने 'नेत्रोन्मीलन' नामक नाटक लिखा।

(२) पं० बद्रीनाथ भट्ट—इन्होंने 'चन्द्रगुप्त', 'वेनचरित्र' तथा 'दुर्गावती' आदि नाटक लिखे। 'चुंगी की उम्मेदवारी' नामक एक सफल प्रहसन भी भट्टजी ने लिखा।

(३) राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'—इन्होंने 'चन्द्रकला भानुकुमार' नाटक लिखा।

(४) बाबू मैथिलीशरण गुप्त—इन्होंने 'चन्द्रदास' नामक नाटक लिखा।

पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी—इन्होंने 'मधुर मिलन' नामक सामाजिक नाटक लिखा।

(आ) वे लेखक जो पारसी नाटक कम्पनियों के लिए नाटक लिखा करते थे। इस प्रकार लिखे गये नाटक साहित्यिक सौंदर्य से शून्य होते थे और केवल अभिनय के लिए लिखे जाते थे। ऐसे लेखकों में मुख्य ये—

(१) नारायणप्रसाद बेताब ; (२) पं० राधेश्याम 'कथावाचक' ; (३) आगाहश्र; (४) हरीकृष्ण जौहर ; (५) तुलसीदत्त 'शैदा' (६) कृष्णचन्द्र 'जेबा'।

इन लेखकों में भी पं० राधेश्याम 'कथावाचक' का अपना विशिष्ट स्थान है क्योंकि इनके नाटक अभिनय की दृष्टि से सबसे अधिक सफल रहे।

इसके पश्चात् नाटकों के क्षेत्र में फिर अनुवाद की लहर आई और अधिकांश संस्कृत नाटकों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर दिया गया। इस दिशा में दो व्यक्तियों ने बहुत अधिक कार्य किया—

(१) रायबहादुर लाला सीताराम—इन्होंने कितने ही संस्कृत नाटकों को हिन्दी में रूपान्तरित कर दिया।

(२) सत्यनारायण कविरत्न—इन्होंने भवभूति के 'उत्तररामचरित' और 'मालतीमाधव' नामक नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया।

## उत्थान युग (प्रसाद युग)

इसके पश्चात् हिन्दी नाटक-साहित्य में जयशंकरप्रसाद का आविर्भाव होता है। इस काल को नाटकों का उत्थान युग या प्रसाद युग कह सकते हैं।

जयशंकरप्रसाद—हिन्दी के नाटककारों में प्रसादजी शीर्षस्थान के अधिकारी हैं। प्रसादजी के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं। अतः उनका विषय अतीत है। प्रसादजी ने संस्कृत भाषा तथा बौद्धकालीन साहित्य का विशेष अध्ययन किया था और इसका परिणाम प्रसादजी के नाटकों पर स्पष्ट है। प्रसादजी ने संस्कृत के प्रभाव से नारी की महानता और बौद्ध-दर्शन के प्रभाव से करुणा ग्रहण की और यही दोनों विशेषताएं उनके सभी नाटकों में अन्तर्सूत्र की भाँति व्याप्त हैं। अतीत को मूर्त-रूप देने के लिए वैसा ही वातावरण उपस्थित करने की आवश्यकता थी—ऐसा करने के प्रयास में प्रसादजी की भाषा संस्कृतगर्भित अधिक हो गयी है। प्रसादजी ने यद्यपि अतीत को ही अपनी रचनाओं का आधार बनाया है किन्तु उन्होंने उसमें वर्तमान की समस्याओं का हल भी खोजा है। उनके प्रत्येक नाटक में वर्तमान की समस्याएं प्रकारान्तर से मिल जायेंगी।

उदाहरणार्थ, (१) 'अजातशत्रु' नाटक में स्त्री द्वारा समानाधिकार माँगने की समस्या और इस विषय में 'दीर्घकारायण' तथा 'छलना' का वार्त्तालाप।

(२) 'स्कन्दगुप्त नाटक' में बौद्ध और ब्राह्मणों के झगड़े के द्वारा आज के हिन्दू और मुसलमानों के झगड़े का आभास तथा आततायी (हूण) के रूप में अंग्रेजों का आभास।

(३) 'स्कन्दगुप्त नाटक' के अन्तिम अंक में तत्कालीन जनता के नैतिक पतन के द्वारा आज के समाज का आभास आदि।

नारी-चरित्र की महानता से प्रभावित होकर प्रसादजी ने नारी के कई अमर चरित्र हिन्दी-साहित्य को दिये हैं। उदाहरणार्थ, 'अजातशत्रु' की 'मल्लिका' तथा 'स्कन्दगुप्त' की 'देवसेना'। प्रसादजी का मन नाटक में नारी-चरित्रों के साथ ऐसा

रमता है कि वे पुरुष-चरित्रों पर छा जाती हैं और वे नारी-पात्रों के हाथ में खिलौनों के सदृश दिखाई देते हैं।

यह तो सत्य ही है कि प्रसादजी कवि पहले थे बाद में कुछ और, इसलिए प्रसादजी के सम्पूर्ण नाटकों में काव्यात्मकता प्रचुर मात्रा में है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसादजी ने नाटक अभिनय के लिए लिखे भी नहीं थे। संक्षेप में, प्रसादजी के नाटकों में दृश्य-काव्य के गुण इतने नहीं हैं जितने श्रव्य-काव्य के। उनके नाटकों को पढ़ने में इतना ही आनन्द आता है जितना किसी उपन्यास या कविता-पुस्तक के पढ़ने में आता है। इसलिए जब उनके नाटकों को अभिनीत करने का प्रश्न आता है तो कितनी ही कठिनाइयाँ सामने आती हैं—

(१) साधारणतः प्रसादजी के नाटक लम्बे बहुत हैं। वे किसी भी प्रकार तीन घंटे में समाप्त नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ, 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'अजातशत्रु' आदि।

(२) प्रसादजी के प्रत्येक नाटक में पात्र इतने अधिक हैं कि अभिनय के समय उनको रंगमंच पर सफलतापूर्वक उतारना एक बड़ी समस्या है।

(३) प्रसादजी की भाषा सर्वत्र असाधारण रूप से क्लिष्ट है जो श्रोताओं के लिए (रसनिष्पत्ति में) एक बहुत बड़ी बाधा है।

(४) प्रसादजी के नाटकों में ऐसे दृश्यों का बाहुल्य है जिनको रंगमंच पर दिखाना सर्वथा असम्भव है। उदाहरणार्थ, अश्वारोहियों का दौड़ना, नगरावरोध, हाथियों का युद्ध में भागना, कुभा का टूटना और उसमें स्कन्दगुप्त आदि का बहता हुआ दिखाई देना।

(५) उनके नाटकों में दृश्य-परिवर्त्तन बहुत अधिक है। रंगमंच पर इतने अधिक पर्दों का प्रबन्ध एक व्यावहारिक कठिनाई है।

(६) प्रसादजी के नाटकों में स्वगत-कथन बहुत अधिक है। वे प्रायः अधिक लम्बे, दार्शनिक एवं क्लिष्ट भाषा में हैं।

इसमें तो संदेह नहीं कि प्रसादजी के नाटकों में उपरोक्त कमियाँ अभिनय की दृष्टि से हैं, किन्तु उनके नाटकों की कितनी ही ऐसी विशेषताएँ भी हैं जो केवल हिन्दी के ही नहीं अपितु अन्य समृद्ध भाषाओं के नाटकों में भी दुर्लभ हैं। प्रसादजी हिन्दी के द्विजेन्द्रलाल राय कहे जाते हैं। द्विजेन्द्रलाल राय की भाँति प्रसादजी के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं। प्रसादजी ने महाभारत से लेकर हर्षवर्द्धन तक के काल को अपने नाटकों में बाँधने का प्रयत्न किया है। इसके लिए प्रसादजी ने इस काल का गम्भीर अध्ययन किया है। इस लम्बे युग की धार्मिक, राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति को उन्होंने समझा है और उस पर मनन किया है। उस काल की समस्याओं पर प्रसादजी का मनन और अध्ययन इतना गहरा है कि अपने नाटकों में भारत के उस अतीत युग को वे साकार कर सके हैं। तद्वत् वातावरण उपस्थित कर देना, यही

नाटककार की सबसे बड़ी विशेषता है और इस विशेषता में प्रसादजी इतने सिद्धहस्त और असाधारण रूप से पटु हैं कि अन्य नाटककार इस विषय में उनकी वर्षों शिष्यता कर सकते हैं।

प्रसादजी के सभी नाटकों में उनका अपना दृष्टिकोण अन्तसूत्र की भाँति व्याप्त मिलेगा। केवल नाटकों में ही नहीं, अपितु उनके सम्पूर्ण साहित्य के साथ यही बात मिलती है।

(१) प्रसादजी नियति में विश्वास करते हैं, इसलिए उनके सभी नाटकों के सर्वश्रेष्ठ पात्र भी नियतिवादी हैं। परन्तु प्रसादजी की नियति मनुष्य को कायर बनाने वाली नहीं है, अपितु मनुष्य को उद्‌बुद्ध और अपने कर्त्तव्य के प्रति सर्वस्व बलिदान करने की भावना से ओतप्रोत कर देने वाली है। 'अजातशत्रु' में प्रसादजी 'जीवक' के मुँह से बोलते दिखाई देते हैं—"मैं नियति की डोरी लेकर निर्भय कर्म-कूप में कूद सकता हूँ।"

(२) भारतीय संस्कृति के प्रति प्रसादजी के हृदय में असीम श्रद्धा और प्रेम है। भारतीय संस्कृति की उच्चता को उन्होंने अपने साहित्य में व्यक्त करने का सफल प्रयास किया है। सिकन्दर के राजा पुरु से यह पूछने पर कि मैं तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार करूँ और उसके उत्तर में पुरु की गम्भीर गिरा जैसे आज भी गूँजती सी लगती है—"जैसा एक शत्रु एक शत्रु के साथ करता है।" भारतीय संस्कृति झुकने की संस्कृति नहीं है, चाहे वह टूट भले ही जाय। शत्रु के समक्ष दीनता भारतवासियों के लिए कभी अनुभव का विषय नहीं रही और न आपद्‌ग्रस्त शत्रु के प्रति क्रूरता ही उन्होंने कभी की। आपद्‌ग्रस्त व्यक्ति को आश्रय देते समय न तो भारतवासियों के कंठ से कभी 'न' निकली और न कभी भविष्य की सम्भावित आपदाओं ने उनके दीप्त मुँख को म्लान ही किया। 'न दैन्यं न पलायनम्' जैसे आज भी उनकी युद्ध-नीति की शंख-ध्वनि कर रहा है। प्रसादजी के सर्वश्रेष्ठ पात्र इन विशेषताओं से सदैव युक्त मिलेंगे।

(३) प्रसादजी गौतम बुद्ध के जीवन और दर्शन से प्रभावित हैं; इसलिए प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति की भावनाओं को उन्होंने विचित्र रूप से मिला दिया है। शेक्सपीयर का 'हेमलेट' इतना वीर नहीं है जितना चिन्तक। उसका चिन्तन उसके जीवन की स्फूर्ति और ऊष्मा छीन लेता है, किन्तु प्रसादजी के स्कन्दगुप्त को उसके समक्ष रखने से अंग स्पष्ट हो जायगा। 'स्कन्दगुप्त' वीरता के साथ वैराग्य का विचित्र सम्मिश्रण है। उसकी तलवार द्वारा उगली अग्निधारा में स्नान कर शत्रु परलोक-वासी होते हैं। स्कन्दगुप्त की वक्र भ्रकुटियाँ और रक्तिम आक्रोशपूर्ण नेत्र उनके लिए प्रलय के पूर्व-चिन्ह हैं, किन्तु एकान्त मिलते ही स्कन्दगुप्त विरक्ति और वैराग्य की शीतल धारा आकण्ठ मग्न होने में ही सुख और शान्ति का अनुभव करता है।

(४) प्रसादजी की अव्यय भावुकता की सरस सुन्दर भूमि पर तो उनका काव्य-

साहित्य-भवन ही खड़ा है। वर्णनात्मकता की शुष्कता और नीरसता से तो प्रसाद-साहित्य का परिचय ही नहीं है।

(५) नारी के प्रति प्रसादजी का दृष्टिकोण गौरवपूर्ण है। उनकी दृष्टि में नारी जाति महानता और गौरव की प्रतीक है, इसीलिये पूरे प्रसाद-साहित्य में नारियों के चरित्र इतने पूर्ण, आकर्षक और महान् लगेंगे कि पुरुष पात्र उनके समक्ष सदैव हतप्रभ दिखाई देंगे। उदाहरणार्थ, उनके 'अजातशत्रु' में स्वयं महात्मा बुद्ध भी 'मल्लिका' के प्रकाशपुंज के समक्ष निष्प्रभ से दिखाई देते हैं और 'स्कन्दगुप्त' में स्वयं 'स्कन्द' 'देवसेना' से जीवन-प्रकाश ग्रहण करता है।

(६) प्रसादजी के नाटक-साहित्य में ही नहीं अपितु उनके पूरे साहित्य में सौन्दर्य के प्रति प्रसादजी का अपना दृष्टिकोण मिलेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसादजी सौन्दर्य को स्वर्गीय वस्तु मानते हैं—दर्शन की वस्तु मानते हैं— उपभोग की नहीं। सर्वत्र ही सौन्दर्य के प्रति उनके साहित्य में आनन्द और आश्चर्य का भाव मिलता है। लेकिन उनके सौन्दर्य की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि वह विषरस से भरा कनकघट नहीं होता है। उनका आदर्श सौन्दर्य सदैव अमृत से युक्त होता है। उनका रूप जलाता नहीं, शांति देता है। अपने इस प्रकार के सौन्दर्य को प्रसादजी ने उसके विपरीत सौन्दर्य के समक्ष रख कर अधिक स्पष्ट कर दिया है। 'कामायनी' में 'इड़ा' की तुलना में 'श्रद्धा', 'स्कन्दगुप्त' में 'विजया' की तुलना में 'देवसेना' तथा 'अजातशत्रु' में 'मागंधी' की तुलना में 'मल्लिका' अपने साहित्य-सौन्दर्य की उच्चता में सभी के लिए आश्चर्य और सुख का विषय है, उपभोग और दुःख का नहीं।

प्रसादजी इतिहास को बहुजन-सम्मत-किंवदन्तीमात्र मान कर चले हैं, ब्रह्म-वाक्य मान कर नहीं। इसलिये उन्होंने नाटक-सौन्दर्य की दृष्टि से कितने ही काल्पनिक पात्रों की सृष्टि की है तथा जिन चरित्रों को इतिहास ने अपने लौहपाश में कस रखा है, उनको भी उन्होंने अपनी कल्पना के रंगों से रंग कर तथा एक विशिष्ट रूप देकर प्राचीनता की कुरूपता से मुक्त कर दिया है। इसलिये चरित्रों के जीवनान्त सम्बन्धी ऐतिहासिक परिणामों को छोड़ कर शेष सब स्थानों पर प्रसादजी ने उन्हें अपनी कल्पना की छाया में रखा है।

जहां तक कथावस्तु के गठन का सम्बन्ध है, प्रसादजी ने पौर्वात्य एवं पाश्चात्य शैली का सम्मिश्रण किया है। प्रस्तावना और भरत-वाक्य आदि उन्होंने अपने नाटकों में नहीं रखे हैं, किन्तु उनकी कथावस्तु भारतीय नाटकों के सिद्धान्तों से युक्त-व्यवस्थित और गठी हुई रहती है।

प्रसादजी ने लगभग १३ नाटकों का प्रणयन किया है। काल-क्रमानुसार उनके नाम हैं—

(१) सज्जन ; (२) कल्याणी परिणय ; (३) करुणालय ; (४) प्रायश्चित ;

(५) राज्यश्री ; (६) विशाख ; (७) अजातशत्रु ; (८) कामना ; (९) जनमेजय का नागयज्ञ ; (१०) स्कन्दगुप्त ; (११) एक घूंट ; (१२) चन्द्रगुप्त ; (१३) ध्रुवस्वामिनी।

प्रसादजी के सभी नाटक भारतीय पद्धति के अनुसार सुखान्त नहीं हैं और न वे पाश्चात्य नाटकों की भाँति दुःखान्त ही हैं। अपने विचित्र अन्त के कारण उनके नाटक प्रसादान्त कहलाते हैं।

## स्वर्ण युग

पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव तो भारतेन्दु युग से ही पड़ने लगा था, प्रसादजी पर भी वह प्रभाव स्पष्ट है। किन्तु प्रसादजी के पश्चात् तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो यहाँ के नाटक-साहित्य ने प्राचीन भारतीय परम्परा से अपना सम्बन्ध ही तोड़ लिया। भारतीयता के अनुसार नाटक के नायक को विशिष्ट पुरुष होना चाहिए, साधारण मनुष्य नहीं। नाटक सुखान्त होना भी प्राचीन काल में एक अनिवार्यता थी, किन्तु आधुनिक काल में साहित्य ने अपने को सभी प्राचीन बन्धनों से मुक्त कर लिया। जीवन की समस्याएँ ज्यों-ज्यों बढ़ती गयीं, त्यों-त्यों साहित्य के भाव और कलापक्ष में स्पष्टतः एक नई विशिष्टता आती गयी। आज के नाटककारों पर पाश्चात्य नाटककारों का प्रभाव अत्यन्त घनीभूत प्रतीत होता है और विशेषरूप से जार्ज बर्नार्ड शॉ ने तो विश्व के सभी बुद्धि-जीवियों को प्रभावित किया है।

आज के नाटकों में समस्याएँ अधिकाधिक स्थान पा रही हैं। धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याएँ ही आज के नाटकों का मूलाधार होती हैं। नाटक का उद्देश्य भी धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष में से किसी की प्राप्ति न होकर ये समस्याएँ ही होती हैं और इस प्रकार जब नाटक घटना-प्रधान होने के लिए बाध्य हैं तो परिणाम में उनका दुःखान्त होना भी स्वाभाविक है। साहित्य में प्रचलित यथार्थवादी और आदर्शवादी दोनों विचारधाराओं का प्रभाव भी आज के नाटक-साहित्य में मिलता है। कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे जा रहे हैं, परन्तु उनकी संख्या नगण्य है।

## आज के प्रमुख नाटककार

लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', हरिकृष्ण 'प्रेमी', उदयशंकर भट्ट, गोविन्दवल्लभ पन्त, माखनलाल चतुर्वेदी, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', चतुर्सेन शास्त्री, जे० पी० श्रीवास्तव, रामवृक्ष बेनीपुरी, वृन्दावनलाल वर्मा, रांगेय राघव, मोहन राकेश आदि का नाम लिया जा सकता है।

'प्रेमीजी', 'वृन्दावनलाल वर्मा' आदि ऐतिहासिक नाटकों के लिए प्रसिद्ध हैं तथा 'मिश्रजी' और 'पन्तजी' सामाजिक नाटकों के लिए।

हिन्दी में एकांकी नाटक-साहित्य भी पर्याप्त लिखा गया है। आज के व्यस्त जीवन में लम्बे नाटकों को देखने का समय और धैर्य जन-साधारण के पास नहीं है, इस-

लिए एकांकी नाटक पर्याप्त लोकप्रिय हो रहे हैं।

## प्रसिद्ध एकांकी नाटककार

डॉ० रामकुमार वर्मा, विष्णु प्रभाकर, 'अश्कजी', उदयशंकर भट्ट भुवनेश्वरप्रसाद, जगदीशचन्द्र माथुर, 'रावीजी', सत्येन्द्रशरद्, 'सुदर्शन', यशपाल आदि प्रमुख हैं।

आज का युग संक्रान्ति युग है, इसलिये भाव और भाषा में क्रान्ति हो रही है। नये रूप-रंग लेकर नये-नये नाटक आ रहे हैं। हिन्दी में नाटक-साहित्य का भविष्य उज्ज्वल और आशापूर्ण है, ऐसा कहा जा सकता है।

---

अध्याय ५

# हिन्दी आलोचना-साहित्य का इतिहास

[आलोचना की प्राचीन पद्धति ; आधुनिक आलोचना का आरम्भिक युग (भारतेन्दु युग ; उत्थान युग या द्विवेदी युग ; स्वर्ण युग या शुक्ल युग ; छायावादी आलोचक और उनकी सामान्य विशेषताएँ ; प्रगतिवादी आलोचक और उनकी सामान्य विशेषताएँ ; उपसंहार]।

प्राचीन काल की आलोचना-पद्धति और आजकल की आलोचना-पद्धति में आकाश-पाताल का अन्तर है। हिन्दी की आज की आलोचना-पद्धति पाश्चात्य आलोचना-पद्धति (Criticism) से अत्यधिक प्रभावित है। प्राचीन समय के आलोचना-साहित्य को खोजने का प्रयास यदि आज किया जाय तो सम्भवत: विस्तृत और विशद आलोचनाएँ प्राप्त न होंगी। प्राचीन समय में तो प्रशंसा या अप्रशंसा के वाक्य पद्यबद्ध तथा सूत्ररूप में प्रचलित रहते थे। उदाहरणार्थ, सूर-तुलसी तथा केशव की तुलनात्मक समीक्षा या आलोचना निम्नांकित दोहा करता है—

"—सूर सूर, तुलसी शशी, उडगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करें प्रकास।

सूर्य में सबसे अधिक प्रकाश होता है, चन्द्रमा में उससे कम, तारों में उससे भी कम ; उपरोक्त दोहे से स्पष्ट हो जाता है कि सूर का यश सर्वाधिक, तुलसी का उसकी अपेक्षा कुछ कम और केशव का उससे भी कम माना गया है। यद्यपि उपरोक्त दोहा लिखने वाले आलोचक का निर्णय निर्विवाद नहीं है, किन्तु फिर भी उसमें तथ्य की झलक स्पष्ट है। इसी प्रकार निम्नांकित पद्यबद्ध पंक्ति तुलसी और गंग के काव्योत्कर्ष को व्यक्त करती है—

"—तुलसी गंग दुवौ भये सुकविनु के सरदार।"

नन्ददास अष्टछाप के प्रमुख कवियों में से हैं। उनकी कविता के कलापक्ष का लोहा तत्कालीन बड़े-बड़े कवि भी मानते होंगे, यह निम्नांकित पंक्ति से स्पष्ट है—

"—और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया।"

किन्तु ऊपर जिस प्रकार की आलोचना-पद्धति की चर्चा की गयी है, उसका कोई निश्चित तथा क्रमबद्ध इतिहास नहीं है। समय-समय पर लोगों ने इस प्रकार की अपनी आलोचना को पद्यबद्ध किया। किन्तु यह तो आलोचना मे अधिक प्रशंसा की एकांगी अभिव्यक्ति है। आलोचना में तो सदसद् का विशद् विवेचन होना चाहिए जिसका नितान्त अभाव उपरोक्त प्रकार की आलोचना में मिलता है।

## आरम्भिक युग

हिन्दी में आलोचना का आरम्भिक युग भारतेन्दु युग ही मानना चाहिए क्योंकि भारतेन्दु युग से अब तक आलोचना की एक निश्चित पद्धति और क्रमबद्ध शृंखला मिलती है।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने हिन्दी भाषा की सर्वांगीण उन्नति के लिए अपने मित्रों का ही एक मण्डल तैयार किया था जिसमें बालकृष्ण भट्ट, पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि व्यक्ति प्रमुख थे। इसी मण्डल में से बालकृष्ण भट्ट तथा पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आधुनिक हिन्दी आलोचना के जनक माने जा सकते हैं। आलोचना का सच्चे अर्थों में आरम्भ इन्हीं लोगों ने किया। सर्वप्रथम पं० बालकृष्ण भट्ट ने लाला श्रीनिवासदास लिखित 'संयोगिता स्वयंवर' की खरी आलोचना की। इस आलोचना के द्वारा पं० बालकृष्ण भट्ट ने उपरोक्त नाटक के दोषों पर विशेषरूप से प्रकाश डाला।

## उत्थान युग

यह तो मानना ही पड़ेगा कि भारतेन्दु युग में आलोचना की विशेष उन्नति नहीं हुई। भारतेन्दु युग तो समालोचना, निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि सभी का जन्मदाता है। इन साहित्यांगों की उन्नति तो उसके बाद ही हुई। इस दृष्टि से द्विवेदी युग को आलोचना-साहित्य का उत्थान युग कहा जा सकता है। महावीर-प्रसाद द्विवेदी हिन्दी में निबन्धकार तथा आलोचक के नाते ही प्रसिद्ध हैं। द्विवेदीजी अपनी आलोचनाओं में आलोच्य विषय पर अच्छा या बुरा निर्णय देना कभी नहीं भूलते थे। संक्षेप में, इस युग को निर्णयात्मक आलोचना का युग कह सकते हैं। व्याख्यात्मक तथा सैद्धान्तिक आलोचना का इस युग में प्रायः अभाव है। निर्णयात्मक आलोचना में आलोचक की अपनी रुचि प्रधान होती है और अपनी रुचि के समर्थन के लिए आलोचक कुछ सिद्धान्तों का सहारा भी लेता है। द्विवेदीजी भी ऐसे ही आलोचक थे। द्विवेदीजी 'सरस्वती' के सम्पादक थे और उनकी आलोचनाएँ उसी में प्रकाशित होती रहती थीं। हिन्दी में द्विवेदीजी ने सर्वप्रथम 'सरस्वती' में पुस्तक-समालोचना (Book review) आरम्भ की। द्विवेदीजी का स्थान चाहे उनकी आलोचनाओं के प्रकार (Quality) के आधार पर बहुत ऊँचा न हो किन्तु उनका हिन्दी-साहित्य में ऐतिहासिक महत्व है, यह तो निर्विवाद है। द्विवेदीजी सत्-साहित्य के समर्थक

थे। साहित्य में अश्लीलता को वे सहन नहीं कर सकते थे। उनके युग में भी काव्य रस-रीति की गंदी नालियों में होकर बह रहा था। अधिकांश कवियों का दृष्टिकोण शृंगार-परक था। द्विवेदीजी ने युग-साहित्य का नारा ऊँचा किया और शृंगारी रचनाएँ लिखने वाले लोगों का घोर विरोध किया। कुछ तो युग की माँग और कुछ द्विवेदीजी के प्रयत्नों के कारण, हिन्दी में शृंगार-कविता कुछ समय के लिए समाप्त हो गयी। द्विवेदीजी की भाँति सौभाग्यशाली आलोचक हिन्दी में कम ही निकलेंगे जो अपनी लेखनी (आलोचना) के बल पर साहित्य (साहित्यिकों) को मार्ग बदलने के लिए विवश कर दें। द्विवेदीजी ने साहित्य-धारा की दिशा ही बदल दी। उसको उन्होंने अधिक प्रगतिशील और युगोन्मुख बना दिया।

द्विवेदीजी ने आलोचना के अतिरिक्त भाषा को परिष्कृत बनाने का गुरुतर कार्य भी यथाशक्ति किया। उन्होंने हिन्दी के बहुरूपों में प्रचलित शब्दों के रूप स्थिर किये और लेखकों से उनको एक निश्चित रूप में प्रयोग करने का आग्रह किया। इसलिए भाषा-परिष्कार तथा आलोचना-क्षेत्र में हिन्दी-साहित्य उनका ऋणी है।

समालोचना का क्रमिक इतिहास प्रस्तुत करते समय मिश्रबन्धुओं को भी नहीं भुलाया जा सकता। जब तक हिन्दी में आलोचना का अधिक विकास भी नहीं हुआ था, तभी से ये विद्वान् बन्धु (मिश्रबन्धु तीन भाई हैं जो एक साथ लिखने के कारण अपने को मिश्रबन्धु लिखते हैं)। हिन्दी के आलोचना-साहित्य को समृद्ध बनाने में लगे हैं। इन्होंने 'नवरत्न' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसे परिचयात्मक आलोचना का ग्रन्थ कहा जा सकता है। मिश्रबन्धुओं ने इस ग्रन्थ में हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नौ कवियों को उनकी श्रेष्ठता के क्रम से रखा है। मिश्रबन्धु 'देव' को 'विहारी' से श्रेष्ठतम कवि मानते हैं। उनकी इस मान्यता ने एक साहित्यिक विवाद का प्रारम्भ किया और इस प्रकार हिन्दी में निर्णयात्मक आलोचना उत्तर-प्रत्युत्तर रूप में अधिक लिखी गयी। मिश्रबन्धुओं द्वारा प्रतिपादित 'बिहारी' की तुलना में 'देव' की श्रेष्ठता को प्रसिद्ध आलोचक पं० पद्मसिंह शर्मा सहन नहीं कर सके और इसका उत्तर देते हुए तथा 'देव' की तुलना में 'बिहारी' की श्रेष्ठता घोषित करते हुए उन्होंने एक आलोचनात्मक पुस्तक लिख ही डाली। उन्होंने अपनी आलोचना में एक नई बात उपस्थित की। उन्होंने विभिन्न कवियों का रचनाओं से बिहारी के दोहों की तुलना की और उन्हें श्रेष्ठतम घोषित किया। इसलिये यह कहना अनुचित न होगा कि पं० पद्मसिंह शर्मा ने हिन्दी समालोचना-साहित्य में तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात किया। पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपनी आलोचना में प्रशंसात्मक शब्दों, यथा वाह ! वाह !! शाबाश ! आदि का अत्यधिक प्रयोग किया है, इसलिये उनकी शैली कुछ उथली और बाजारू जैसी लगती है। उसमें वह गम्भीरता नहीं दिखायी देती जो आलोचना में होनी चाहिए।

पं० पद्मसिंह शर्मा की इस आलोचना के उत्तर में पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने अपनी 'देव बिहारी' नामक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी। श्री कृष्णबिहारी मिश्र की

इस पुस्तक का विशेष महत्व इसलिये है कि इसकी शैली में वह उथलापन नहीं है जो पं० पद्मसिंह शर्मा की पुस्तक में है। मिश्रजी ने अपने विचारों का समर्थन या प्रतिपादन तर्कों के आधार पर किया है जो पाठक को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र इतने सौभाग्यशाली नहीं थे कि उनका 'देव' की श्रेष्ठता विषयक निर्णय सर्वमान्य हो जाता। बिहारी के प्रसिद्ध समर्थक लाला भगवानदीन 'दीन' ने 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक लिखकर मानो मिश्रजी के निर्णय को चुनौती दी और उन्होंने 'देव' की तुलना में 'बिहारी' की श्रेष्ठता प्रतिपादित की।

सच बात तो यह है कि उत्तर-प्रत्युत्तरस्वरूप लिखी गयी आलोचनाओं में आलोचना (सद्-सद् विवेचन) का तत्व इतना नहीं है जितना व्यक्तिगत रुचि या योग्यता-प्रदर्शन का। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण होगा कि ये रचनाएँ पक्षपातरहित हैं। वास्तव में ऐसी रचनाएँ निष्पक्ष हो ही नहीं सकतीं। आलोचक जिस कवि को पसन्द करता है, उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करने में उसकी कमियों की जान-बूझकर उपेक्षा कर देता है और व्यर्थ की प्रशंसा से अपनी आलोचना को भरता है, जिस प्रशंसा का आधार न तो तर्क होता है और न कोई साहित्यिक प्रमाण। केवल व्यक्तिगत रुचि और धारणाएँ ही आलोचक का इस प्रकार की आलोचनाओं में मार्ग-दर्शन करती हैं, इसलिए ऐसी आलोचनात्मक कृतियों में यदि भ्रम न हो तभी आश्चर्य है।

### स्वर्ण युग

द्विवेदी युग जिस आलोचना-साहित्य का उत्थान युग है, शुक्ल के युग को उसका निश्चय ही स्वर्ण युग कहा जा सकता है। शुक्ल से हमारा अभिप्राय हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल से है। शुक्लजी ने आलोचना के क्षेत्र में बड़ा मौलिक कार्य किया। उन्होने परम्परा से आती हुई विवादात्मक आलोचना में भाग नहीं लिया, अपितु हिन्दी के कुछ कवियो पर उन्होंने विस्तृत एवं सारगर्भित प्रबन्ध लिखे। 'सूर', 'तुलसी' आदि पर लिखे गये उनके आलोचनात्मक प्रबन्ध हिन्दी आलोचना-साहित्य की अमर सम्पत्ति हैं। इतना ही नहीं, शुक्ल जी ने कुछ अज्ञात और अप्रसिद्ध कवियों को अपनी लेखनी के बल पर प्रसिद्ध और हिन्दी कवियों में शीर्ष स्थान का अधिकारी बना दिया। 'जायसी' का नाम इस विषय में लिया जा सकता है। 'जायसी' हिन्दी-साहित्यरज में पड़े हुए आलौकिक हीरे थे जिन्हें सर्वप्रथम शुक्लजी ने ही पहचाना और परखा। आज उसी 'जायसी' कविरत्न की प्रभा से हिन्दी-साहित्य आलोकित है। शुक्लजी का यह कार्य ऐतिहासिक महत्व का तो है ही, इसके साथ आलोचना की टेकनिक (शास्त्रीय पक्ष) को भी उन्होंने उन्नत एवं विकसित किया। सच कहा जाय तो कहना पड़ेगा कि शुक्लजी से पूर्व न तो आलोचना की कोई टेकनिक थी और न उसका समुचित विकास ही हुआ था। शुक्लजी के पारस कर-स्पर्श से

आलोचना की धातु जैसे स्वर्ण में परिणत हो गयी। इसलिए शुक्ल युग को आलोचना का स्वर्ण युग कहना सर्वथा संगत और युक्तियुक्त है।

आलोचना के साहित्य में शुक्लजी ने दो महान् कार्य किये—एक तो उन्होंने कुछ सिद्धान्त स्थिर किये और दूसरे, उन्होंने कृतियों को अपने बनाये हुए सिद्धान्तों की कसौटी पर कसा। शुक्लजी के आलोचना-साहित्य की कसौटी यदि दो शब्दों में कहें तो लोकमंगल या लोककल्याण है। जो वस्तु या कृति लोककल्याणकारी नहीं है, शुक्लजी की दृष्टि में उसका मूल्य धूल से अधिक कुछ नहीं है।

शुक्लजी का अध्ययन गहन और उनका निरीक्षण अत्यन्त व्यापक था, इसलिए उनके निर्णय केवल उनके ही नहीं, अपितु अधिकांश पाठकों के भी होते हैं। सारांश यह कि शुक्लजी के निर्णय से पाठक प्राय: सहमत रहते हैं।

शुक्लजी का प्रत्येक कथन तर्क पर आधारित रहता है, इसलिए चाहे कोई पाठक शुक्लजी से मतैक्य न रखता हो, लेकिन जब तक वह शुक्लजी की रचना पढ़ेगा तब तक वह अपने को शुक्लजी के प्रभाव से मुक्त नहीं रख सकता। शुक्लजी की विषय-प्रतिपादन-शैली इतनी तथ्यपूर्ण तथा तर्कगर्भित होती है कि उनके विरोधी भी उनकी लेखनी का लोहा मानते हैं।

इसमें तो संदेह नहीं कि आलोचना की कसौटी शुक्लजी ने अपने व्यक्तिगत विचारों से ही तैयार की है, किन्तु यह भी सत्य है कि वह ऐसे तत्वों से बनी है जो अधिक विवादास्पद नहीं है। शुक्लजी की आलोचना सम्बन्धी अन्य विशेषताओं को यदि विस्तार में लिया जाय तो वह अलग एक निबन्ध का विषय बन जायगा और हमें उचित भी यही लगता है कि शुक्लजी की निबन्ध और आलोचना सम्बन्धी विशेषताओं पर एक स्वतन्त्र लेख लिखा जाय। इसी पुस्तक में संकलित 'निबन्धकार एवं आलोचक के रूप में शुक्लजी' नामक निबन्ध में निबन्धकार और आलोचक के रूप में शुक्लजी की विशेषताओं का विस्तार में विवेचन किया गया है।

शुक्लजी के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'विषय में उनकी पैठ' अत्यन्त गहरी और उनका विश्लेषण असाधारण होता है।'

शुक्लजी का नाम लेते ही श्रीयुत् श्यामसुन्दरदासजी का नाम भी अपने आप ही स्मृतिपटल पर उभर कर आ जाता है। रूपक में कहें तो कह सकते हैं कि शुक्ल और श्यामसुन्दरदास आलोचना-सरिता के दो किनारे हैं, जहाँ सरिता आश्रय प्राप्त करती है और अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती है। एक ही सरिता को दोनों किनारों पर भिन्न-भिन्न अनुभव होते होंगे। दोनों किनारे भिन्न-भिन्न पृथ्वी के दो खण्ड होते हैं जो समान महत्वपूर्ण होते हुए भी अपनी विशेषताओं के कारण भिन्न हैं। शुक्लजी और श्यामसुन्दरदासजी में कितने ही साहित्यिक विषयों पर मतभेद था, किन्तु हिन्दी के आलोचना-साहित्य-भण्डार के ये दोनों सर्वाधिक प्रभापूर्ण रत्न हैं। वास्तव में दोनों की अपनी-

अपनी प्रभा और अपनी-अपनी प्रतिभा है। हिन्दी के दीन-हीन आलोचना-साहित्य को डॉ० श्यामसुन्दरदास ने अमूल्य निधि दी है।

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने 'साहित्यालोचन' नामक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी। यद्यपि यह विशुद्ध सैद्धान्तिक आलोचना की पुस्तक है, किन्तु हिन्दी में अपने ढंग की यह एक ही पुस्तक है। यद्यपि आज हिन्दी-साहित्य अपनी उन्नति की चरम सीमा का स्पर्श कर रहा है, फिर भी आज भी उसमें अधिक आलोचनात्मक पुस्तकें नहीं हैं जो साहित्यालोचन की टक्कर की हों लेकिन साहित्यालोचन का वास्तविक महत्व हमारे समक्ष तभी स्पष्ट होगा जब हम उसके रचना-काल पर ध्यान देंगे। जब डॉ० श्यामसुन्दरदास ने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया था तो वह हिन्दी-आलोचना का आरम्भिक काल ही था। 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ में डॉ० श्यामसुन्दरदास ने साहित्य के सभी अंगों पर प्रकाश डाला है और उनकी शास्त्रीय विवेचना की है। कला क्या है? उत्कृष्ट कला के क्या लक्षण हैं? नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि का गठन और सैद्धान्तिक पक्ष आदि विषय उन्होंने उसमें स्पष्ट किये हैं।

इतना ही नहीं, डॉ० श्यामसुन्दरदास ने कबीर, सूर, तुलसी आदि पर विस्तृत आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। इसमें संदेह नहीं कि शुक्लजी से उनका कितने ही विषयों में मतभेद है। शुक्लजी और श्यामसुन्दरदास की विषय-प्रतिपादन-शैली भी एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न है। स्वयं डॉ० श्यामसुन्दरदास शुक्लजी की शैली के विरोधी थे। शुक्लजी अपने निबन्ध के आरम्भ में ही कोई बात सूत्ररूप में कह देते हैं और फिर उसकी व्याख्या पूरे निबन्ध में करते हैं। इसके विरुद्ध डॉ० श्यामसुन्दरदास पहले तो विश्लेषण करते हैं और अन्त में 'सारांश यह' कह कर अपनी पूरी बात को सूत्ररूप में रख देते हैं।

सैद्धान्तिक आलोचना के प्रसंग में दो नाम अविस्मरणीय हैं—एक तो पं० रामदहिन मिश्र का जिन्होंने 'काव्य दर्पण' नामक पुस्तक का प्रणयन किया। इसमें संदेह नहीं कि यह पुस्तक संस्कृत के ग्रन्थों का कुछ सीमा तक भाषानुवाद है, किन्तु यह भी सत्य है कि विद्वान् लेखक ने संस्कृत के क्लिष्ट विषयों को बड़ी स्पष्टता के साथ हिन्दी में रूपान्तरित किया है। इस ग्रन्थ की एक सबसे बड़ी विशेषता यह भी है कि अपने युक्ति-समर्थन के लिए लेखक ने जितने कवियों के उदाहरण दिये हैं, वे अब तक की रीत्यानुसार प्राचीन कवियों के न होकर नवीन कवियों के हैं। मिश्रजी ने साधारणीकरण जैसे विषय को, शुक्लजी के साथ अपनी असहमति दिखाते हुए विस्तार के साथ स्पष्ट किया है। मिश्रजी की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि ये तर्क के आधार पर प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों का औचित्य प्रमाणित करते हैं, किन्तु साहित्य में नवीन तत्वों के समावेश के भी वे विरोधी नहीं हैं।

दूसरा नाम है बाबू गुलाबराय, एम० ए० का। गुलाबरायजी ने भी सैद्धान्तिक

आलोचना की पुस्तक के रूप में 'सिद्धान्त और अध्ययन' पुस्तक लिखी है लेकिन न तो वह 'साहित्यालोचन' की भाँति ठोस है और न 'काव्य-दर्पण' की भाँति स्पष्ट। बाबू गुलाबराय ने समन्वय को अपनी विशेषता बना लिया था। जहाँ किसी विषय में विद्वान् मतभेद रखते हैं, वहाँ गुलाबरायजी देव मध्यम (समन्वय) मार्ग ग्रहण करते थे।

इसके अतिरिक्त 'साहित्य संदेश' के सम्पादक के रूप में भी बाबूजी का सम्बन्ध हिन्दी के आलोचना जगत से रहा। हमारा विचार है कि निबन्धकार के रूप में बाबूजी का स्थान हिन्दी साहित्य में अधिक ऊँचा है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य में ऐसे आलोचकों की संख्या बहुत अधिक है जिन्होंने विभिन्न कवियों पर उनके भावपक्ष और कलापक्ष को स्पष्ट करते हुए विस्तृत प्रबन्ध लिखे हैं। डॉ० श्यामसुन्दरदास और पं० रामचन्द्र शुक्ल इस दिशा में पहले ही मार्ग-दर्शन कर चुके हैं। लेकिन उन जैसी संयत और तर्कपूर्ण विश्लेषणात्मक रचनाएँ इधर प्राय: देखने में नहीं आतीं। आजकल तो प्राय: आलोचक अपनी रुचि के कवि की स्तुति अधिक करते हैं। उसकी रचनाओं का उचित, तर्कपूर्ण और युक्तियुक्त विश्लेषण कम। इस प्रकार की कुछ रचनाओं एवं आलोचकों का नाम देना असंगत न होगा—

(१) गुप्तजी की कला—सत्येन्द्र।
(२) सुमित्रानन्दन पंत—नगेन्द्र।
(३) केशव की काव्य-कला—कृष्णशंकर शुक्ल।
(४) प्रसाद की काव्य-साधना—रामनाथ 'सुमन'।

अब हिन्दी में दो प्रकार के समालोचक और बच रहते हैं। उनको संक्षेप में इस प्रकार बाँट सकते हैं—(१) छायावादी आलोचक ; (२) प्रगतिवादी आलोचक।

१—छायावादी आलोचकों में डॉ० नगेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, नन्ददुलारे बाजपेयी, डॉ० हजारीप्रसाद द्रिवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, विशम्भर 'मानव', गंगाप्रसाद पाण्डेय, तथा डॉ० रामरतन भटनागर आदि प्रमुख हैं।

छायावाद की सभी विशेषताएँ इसी पुस्तक के छायावाद शीर्षक निबन्ध में मिल जायेंगी। छायावादी कवियों का प्रकृति के प्रति एक जो विशिष्ट दृष्टिकोण है, उस दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिए जिस विशिष्ट प्रकार की भाषा का प्रयोग छायावादी कवि करते हैं, उपरोक्त आलोचक उनके दृष्टिकोण और भाषा-प्रयोग के प्रशंसक हैं। छायावाद का हिन्दी में घोर विरोध हुआ और उसके प्रसिद्ध विरोधी पं० रामचन्द्र शुक्ल अपने अन्तिम दिनों में उसके समर्थक हो गये थे। संयोग की बात है कि हिन्दी के प्रसिद्ध छायावादी कवि—प्रसाद, पंत, महादेवी तथा 'निराला' स्वयं आलोचक भी हैं। उन्होंने स्वयं अपने-अपने विषय में स्पष्टीकरण देने के अतिरिक्त छायावाद के विरोधियों को उत्तर देने के लिए तथा छायावाद के समर्थन में आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं। इनमें पंत और महादेवी इस विषय में औरों से आगे हैं।

छायावादी कवियों की जहाँ ये सामान्य विशेषताएँ हैं, वहाँ छायावादी आलोचकों की भी सामान्य विशेषताएँ हैं।

(१) भाषा का व्यर्थ आडम्बर ;
(२) अपने रुचि के कवि की अतिरंजित प्रशंसा ;
(३) अस्पष्टता को गुण के रूप में चित्रित करना ;
(४) साहित्य में अमांसल सौन्दर्य का समर्थन ;
(५) कविता से अधिक कवि को महत्व और विश्लेषण से अधिक योग्यता-प्रदर्शन ।

इसमें सन्देह नहीं कि कुछ अच्छे छायावादी आलोचक उपरोक्त बातों के अपवाद भी हो सकते हैं।

२—प्रगतिवादी आलोचकों में प्रमुख हैं—डॉ० रामविलास शर्मा, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय तथा चन्द्रबलीसिंह आदि। प्रगतिवाद की विशेषताएँ इसी पुस्तक के प्रगतिवाद शीर्षक निबन्ध में मिल जायगी। संक्षेप में प्रगतिवादी आलोचकों की विशेषताएँ ये हैं—

(१) भाषा की आडम्बरहीनता ;
(२) विचारों की प्रचुरता ;
(३) जन-कल्याण की भावना का प्रामुख्य ;
(४) मार्क्सवादी दर्शन में विश्वास ;
(५) साहित्य में अस्पष्टता एवं अश्लीलता का विरोध ;
(६) भौतिकवाद का समर्थन ;
(७) 'साहित्य जीवन के लिए' के सिद्धान्त में विश्वास ;
(८) साहित्य में वर्ग-स्वार्थों का प्रतिबिम्ब देखने की भावना ;
(९) साहित्य को सर्वहारा वर्ग के मोर्चे का अस्त्र मानने की भावना ।

हिन्दी का आलोचना-साहित्य आकार में जितना बढ़ रहा है, प्रकार में उतना ऊँचा नहीं उठ रहा, फिर भी अनेक नवीन आलोचक प्रकाश में आ रहे हैं और आलोचना-साहित्य का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल दिखाई देता है ।

अध्याय ६

# छायावाद

## भूमिका

हिन्दी-साहित्य में साहित्यिकवादों का जहाँ तक सम्बन्ध है, छायावाद अपना विशिष्ट स्थान रखता है। जिस प्रकार गांधीजी को 'महात्माजी' की संज्ञा व्यंग्य में दी गयी थी और बाद में गांधीजी ने उसे सहर्ष स्वीकार कर उसे व्यंग्य से हीन तथा सार्थक शब्द बना दिया था, उसी प्रकार हिन्दी-साहित्य में एक विशेष प्रकार के काव्य को 'छायावाद' की संज्ञा व्यंग्य में दी गयी थी। इसका अर्थ था, वह काव्य जो विक्षिप्त व्यक्तियों का अनर्गल प्रलाप है तथा जो अत्यन्त अस्पष्ट और भावहीन है किन्तु बाद में यही व्यंग्यमयी संज्ञा छायावाद के लिए वरदान सिद्ध हुई और छायावाद साहित्य की महान् आकर्षक धाराओं में से एक हो गया। एक युग तो हिन्दी-साहित्य में ऐसा आया जब छायावाद श्यामल मेघ की भाँति हिन्दी काव्याकाश की सभी दिशाओं को घेर कर छा गया और केवल उसी की 'रिमझिम' का सुमधुर संगीत काव्य-प्रेमियों के कानों में गूँजता रहा। इस काव्य की शीतल छाया ने नग्न वास्तविकता की प्रखरता से तप्त लोगों के नेत्रों को शीतलता प्रदान की। काव्य-प्रेमियों ने छायावाद के इस युग में कितने ही अविस्मरणीय सुन्दर चित्र देखे। इससे पूर्व प्रकृति का भव्य सौन्दर्य अपने सुन्दरतम रूप में उन्होंने कभी न देखा था। संध्या और उषा के 'घन केश पाशों' से लेकर 'संध्या घनमाला की रंग-बिरंगी छींट' पहिने शैल-श्रेणियों तक में पाठकों के विस्मित नयन उलझे रहे। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि एक दिन परिवर्तन के एक झोंके ने छायावाद के श्याम मेघों को छिन्न-भिन्न कर दिया और पाठकों ने अपने आपको नग्न आवश्यकताओं तथा आर्थिक समस्या के सूर्य के प्रखर ताप में प्रगतिवाद की कठोर धरती पर खड़े पाया। साहित्य में यह परिवर्तन स्वाभाविक है। जीवन के प्रतिबिम्ब-साहित्य में गतिहीनता शोभा भी कैसे दे सकती है? साहित्य के विभिन्नवाद साहित्य-जगत में प्रगति के मील चिन्ह (Mile Stone) हैं। छायावाद हिन्दी-साहित्य जगत के असीम पथ में अपने अमर चरण-चिह्न छोड़ चुका है। अब वह अमर है।

छायावाद की पृष्ठभूमि

यों तो साहित्य भावों का अगाध समुद्र है किन्तु कभी-कभी उसमें कुछ विशिष्ट भावों की तरंगें अधिक उत्तुंग हो उठती हैं। उदाहरण के लिए, हिन्दी के वीरगाथा युग में यद्यपि और भावों का भी अभाव नहीं है तथापि दुंदभी वीर रस की ही बज रही है। इसी प्रकार भक्ति युग में शांति रस की बीणा का स्वर सबसे ऊँचा है। इसके पश्चात् रीतिकाल में जो शृंगार की धारा काव्य में बही, वह भारतेन्दु युग-कूलों तक को स्पर्श कर बही। वैसे विचारों की दृष्टि से भारतेन्दु युग हिन्दी-साहित्य में एक क्रान्ति युग माना जाता है क्योंकि उस समय के साहित्य में सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक रूढ़ियों के विरुद्ध संघर्ष का स्वर अत्यन्त प्रखर तथा मुखर है। किन्तु एक बात बड़ी विचित्र है कि भारतेन्दु जैसा युगसृष्टा, जहाँ गद्य में रूढ़ियों का खुल कर विरोध कर सका, कवियों को वहाँ पद्य में उसने एक धर्मभीरु व्यक्ति की भाँति उसी शृंगार-सरिता में अवगाहन कर सन्तोष कर लिया। किन्तु इसके पश्चात् द्विवेदी युग में आचार्य द्विवेदी ने लोगों को इस शृंगार की कुत्सित विचारधारा से सावधान किया। उनके विचार से शृंगार की इस कुत्सित विचारधारा में अनैतिकता के कीटाणुओं का पोषण होता है जो समाज-स्वास्थ्य के लिए भयंकर रूप से घातक है। द्विवेदीजी इस कल्याणमयी विचारधारा के स्रोत को ही बन्द करना चाहते थे। शृंगार कविता लिखने वाले को उन्होंने पापी, नैतिकता से गिरा हुआ और समाजविरोधी बताया। अपनी आलोचनाओं में द्विवेदीजी ने ऐसे कवियों को जी भर कर कोसा और समाज-अपराधी के रूप में उन्हें चित्रित किया। इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। द्विवेदीजी के जीवनकाल में ही उनके आलोचना अंकुश ने बड़े-बड़े कवि मातगों को मनमानी करने से विरत कर दिया। काव्य का आधार स्वच्छन्द भाव नहीं, अपितु नैतिक विचार बने। फल यह हुआ कि काव्य भाव और भावुकता के अभाव में इतिवृत्तात्मक (वर्णनमात्र) हो गया।

किन्तु यह प्राकृतिक सत्य है कि कोई भाव निर्मूल नहीं हो सकता। मनुष्य अपने हृदय के आवेश को अधिक समय तक नियन्त्रित नहीं रख सकता। भावों का उद्वेक काव्य में सीधी अभिव्यक्ति चाहता है। शृंगार की भावना मानव हृदय की अनादि भावना है। वह वस्तु-जगत में जीवन की मूल प्रेरणाओं में से एक है। साहित्य में वह मुख्य रसों में प्रथम है। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता से लोगों का मन ऊब चुका था। साहित्य हृदय की कोमल अनुभूतियों की माँग कर रहा था। अन्त में भावों ने उस इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में छायावाद का जन्म हुआ। छायावाद इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध एक भावात्मक विद्रोह है। इसे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह भी कहा जाता है। डॉ० नगेन्द्र इसे अन्तर्मुखी भावनाओं का विस्फोट मानते हैं। एक स्थान पर वे लिखते हैं—

"—राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की अचल सत्ता और समाज में सुधार

की दृढ़ नैतिकता असंतोष और विद्रोह (बंधन-मुक्ति) की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थी ; निदान, वे भावनाएं अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर पैठ रही थीं और वहां से क्षतिपूर्ति के लिए छाया-चित्रों की सृष्टि कर रही थीं" × × × आशा के इन्हीं स्वप्नों और निराशा के छायाचित्रों की समष्टि का ही नाम छायावाद है।"

## छायावाद की परिभाषाएं

छायावाद क्या है ? क्या वह केवल अस्पष्टता है, अतृप्त आकांक्षाओं की छायारूप साहित्यिक अभिव्यक्तिमात्र है ? क्या प्रकृति में मानवीकरण ही छायावाद है ? छायावाद की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है।

आचार्य शुक्ल छायावाद को दो रूपों में स्वीकार करते हैं—

(१) काव्य-वस्तु के रूप में—जहाँ कवि अज्ञात प्रियतम के प्रति अपने हृदयस्थ प्रेम का चित्रमयी तथा व्यंजनात्मक भाषा में व्यक्त करता है।

(२) काव्य-शैली के रूप में—जहां कवि अपनी भाषा का विशेष रूप से लाक्षणिक प्रयोग करता है तथा अलंकारों के प्रति दृष्टि-भेद के कारण उसकी भाषा प्राचीन काव्य-भाषा से भिन्न सी लगती है।

यह ध्यान रखने योग्य बात है कि शुक्लजी छायावाद और रहस्यवाद में कोई तात्विक भेद नहीं मानते। वे छायावादी काव्य-वस्तु को तो रहस्यवाद मानते हैं और उसकी विशिष्ट शैली को छायावाद। डॉ० रामकुमार वर्मा भी छायावाद और रहस्यवाद को अभिन्न मानते हुए उसकी परिभाषा करते हैं—

"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहां तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता।"

महादेवी वर्मा छायावाद की परिभाषा देते हुए लिखती हैं—

"स्वच्छन्द छन्द में चित्रित इन मानव अनुभूतियों का नाम 'छायावाद' बहुत ही उपयुक्त हुआ।" महादेवी के कथनानुसार मनुष्य में जड़ और चेतन अगाढ़ आलिंगन में आबद्ध हैं। "मनुष्य में जड़ और चेतन एक अगाढ़ आलिंगन में आबद्ध रहते हैं। उसका वाह्याकार पार्थिव और सीमित संसार का भाग है और अन्तस्तल अपार्थिव असीम का।"

प्रसादजी अर्थ-वक्रता-प्रसूत छाया को छायावाद मानते है—

"उसमें अर्थ की वक्रता से आने वाली (विच्छिति या लावण्य जैसे मोती में आव या चमक होती है) की प्रतिष्ठा हुई।"

गंगाप्रसाद पाण्डेय छायावाद की परिभाषा करते हैं—

"विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना छायावाद है।"

जैनेन्द्रजी छायावाद की परिभाषा देते हुए लिखते हैं—

"—छायावाद में अभाव को अनुभूति से अधिक कल्पना से भरा गया। वियोग उसके लिए एक Cult (दृष्टि) ही हो गया। आँसू मानो छिपाने की चीज नहीं, दिखाने की वस्तु हो गयी। व्यथा संग्रहणीय न होकर बिखेरी जाने लगी। जो वेदना संजोयी जाकर बल बनती, वह साज-सज्जा से प्रस्तुत की जाकर छायामात्र रह गयी।"

डॉ० देवराज के अनुसार छायावाद—"आधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का विद्रोह है।"

(डॉ० देवराज की परिभाषा में छायावाद की शैली का कोई उल्लेख नहीं है जो छायावाद की प्राणवायु है)।

डॉ० नगेन्द्र का कथन है—

"—युग की उद्‌बुद्ध चेतना ने वाह्याभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की, वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई। जिन परिस्थितियों ने हमारी कर्मवृत्ति को अहिंसा की ओर प्रेरित किया, उन्हींने भाववृत्ति को छायावाद की ओर। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।"

डॉ० नगेन्द्र छायावाद और रहस्यवाद को अभिन्न नहीं मानते। उनका कथन है कि छायावाद और रहस्यवाद भिन्न वस्तुएँ हैं। रहस्यवाद का सम्बन्ध आध्यात्मिक से है जब कि छायावाद विशुद्ध भौतिक है।

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि विद्वानों ने छायावाद को तीन रूपों में समझने की चेष्टा की है—

(१) काव्य-वस्तु के रूप में अर्थात् रहस्यवाद के रूप में;

(२) शैली-अभिव्यक्ति के प्रकार के रूप में;

(३) वस्तु और शैली के विचित्र मिश्रण और उसके विचित्र प्रयोग के रूप में।

## छायावाद का मूल दर्शन

छायावाद के आरम्भकाल में वास्तव में उसके पास उसका अपना कोई दर्शन नहीं था, इसलिये वह अभिव्यक्ति का एक प्रकार शैलीमात्र था, परन्तु कालान्तर में प्रमुख छायावादी कवियों (प्रसाद, पंत, महादेवी, 'निराला') ने वेद तथा उपनिषदों का गम्भीर अध्ययन किया और इसलिये उस अध्ययन की छाप उनके साहित्य पर भी स्पष्ट अंकित है। छायावादी कवि प्रकृति के मूल में एक चेतना देखते हैं। महादेवी का काव्य इसका स्पष्ट और सुन्दर निदर्शन है। महादेवी प्रकृति के मूल में एक चेतना का अनुभव करती हैं और उस अनुभूति को वे काव्य के माध्यम से व्यक्त करती हैं। इसलिये रहस्यवाद को वे छायावाद का दूसरा सोपान (सीढ़ी) मानती हैं। वे एक स्थान पर लिखती हैं—

"—प्रकृति के लघु तृण और महान् वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलाएँ

अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड़ अन्धकार और उज्ज्वल विद्युत रेखा, मानव की लघुता, विशालता, कोमलता, कठोरता, चंचलता-निश्चलता और मोहज्ञान का केवल प्रतिबिम्ब न होकर एक ही विराट से उत्पन्न सहोदर हैं। जब प्रकृति की अनेकरूपता में परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके असीम हृदय में समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक-एक अंश अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा।"

"—परन्तु इस सम्बन्ध से मानव-हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुरागजनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता, तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती, तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण, पर एक मधुर व्यक्तित्व का आरोपण कर, उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना, इस काव्य (छायावाद) का दूसरा सोपान बना, जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही 'रहस्यवाद' का नाम दिया गया है।"

इस रहस्य की भावना को स्पष्ट करने के लिए महादेवीजी की कुछ कविता-पंक्तियों को यहाँ उद्धृत करना आवश्यक है—

"—शून्य नभ में उमड़ जब दुःख भार सी,
नैश तम में सघन छा जाती घटा।
बिखर जाती जुगुनुओं की पाँति भी,
जब सुनहले आँसुओं के हार सी।
तब चमक जो लोचनों को मूँदता
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है?"

× × ×

कैसे कहती हो सपना है, अलि उस मूक मिलन की बात।
भरे हुए अब तक फूलों में मेरे आँसू उनके हास॥

× × ×

कहते हैं नक्षत्र पड़ी हम पर उस माया की झाई
कह जाते ये मेघ हमीं करुणा की उनकी परछाई॥

× × ×

वे मन्थर सी लोल हिलोर फैला अपने अंचल छोर।
कह जातीं—"उस पार बुलाता है हमको तेरा चितचोर॥"

रेखांकित पंक्तियों से स्पष्ट है कि कवि को उस असीम सत्ता की झलक प्राकृतिक वस्तुओं में मिलती है। छायावाद यदि प्रकृति का मानवीकरण है तो रहस्य-

वाद को प्रकृति का 'ईश्वरीकरण' कहा जा सकता है। छायावाद में कवि प्रकृति-कार्य-कलापों को भी मानव-कार्यकलापों के समान समझता है। अपने हृदयस्थ दुःख और सुख का प्रतिबिम्ब वह प्रकृति में भी देखता है परन्तु रहस्यवाद में वह किसी सत्ताविशेष (ईश्वर) का ही प्रतिबिम्ब इस संसार को मानता है। स्पष्ट करने के लिए पन्तजी की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना असंगत न होगा—

"—कहो कौन हो दमयन्ती सी तुम तरु के नीचे सोई।
हाय तुम्हें भी छोड़ गया क्या अलि नल-सा निष्ठुर कोई।।

उपरोक्त पंक्ति में कवि के हृदय में कुंज में पड़ी छाया को देख कर उसके हृदय में जो भाव जगा है, उसी का एक शब्द-चित्र है। कवि छाया को दमयन्ती के सदृश्य कृश तथा दुःखी नारी समझता है। दुःख-सुख का यह मानवीय व्यापार है। छाया यहाँ मानवीय भावों की प्रतिच्छाया के रूप में चित्रित है, असीम सत्ता (ईश्वर) की प्रतिच्छाया के रूप में नहीं।

डॉ० नगेन्द्र का कथन है कि "छायावाद' की प्रेरणा उसकी कुण्ठित वासनाओं से ही आई है, सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से नहीं, इसीलिए पल्लव, नीहार, परिमल, आँसू आदि की मूलवर्ती वासना अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म तो अवश्य है पर उदात्त और आध्यात्मिक नहीं है।"

इस बात को हम पहले ही स्पष्ट कर चुके है कि छायावाद के आरम्भ काल में छायावाद का कोई दार्शनिक आधार नहीं था, किन्तु कालान्तर में जब प्रमुख छायावादी कवियों ने उपनिषदों आदि का अध्ययन किया तो स्वभावतः सर्वात्मवाद उनकी रचनाओं का आधार बन गया।

डॉ० नगेन्द्र छायावाद और रहस्यवाद को अभिन्न नहीं मानते। उन्होंने छायावाद के विषय में तीन भ्रान्तियों का उल्लेख किया है—

(१) जो छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर न मानने के कारण हैं, छायावाद बौद्धिक है, साधनात्मक नहीं।

(२) छायावाद और योरुपीय रोमेन्टिसिज्म (Romanticism) को एक मानना। (जहाँ छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था। रोमेन्टिसिज्म के पीछे फ्रांस का सफल विद्रोह था। उसका आधार अधिक ठोस और स्वप्न अधिक यथार्थ थे। वह छायावाद की अपेक्षा कम वायवी और अन्तर्मुखी था।)

(३) छायावाद को शैली मानने के कारण (शुक्लजी इसे शैलीमात्र मानते हैं)।

कोई भी काव्य-धारा केवल अपनी अभिव्यक्ति की विचित्र शैली के कारण जीवित नहीं रह सकती। अनुभूति या कोई निश्चित दर्शन या दृष्टिकोण ही उसे गहराई दे सकता है। छायावाद भी अपना विशिष्ट दृष्टिकोण रखता है और वह दृष्टिकोण है—भावात्मक दृष्टिकोण। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "जिस प्रकार भक्ति-काव्य

जीवन के प्रति एक प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण था, रीतिकाल एक दूसरे प्रकार का, उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है।"

**छायावाद के जन्मकाल की परिस्थितियाँ, विकास तथा उस पर बाहरी प्रभाव—**

आधुनिक हिन्दी कविता का आरम्भ भारतेन्दु के समय से माना जाता है। भारतेन्दु का युग सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक क्रान्ति का युग था। समाज का रूप बदल रहा था। सामन्तशाही अपनी अन्तिम श्वासें ले रही थी और अपना उत्तराधिकार उसने पूँजीवाद को दे दिया था। धर्म भी क्रान्ति की लपटों से नहीं बचा था। मानवतावादी ईसाई धर्म ने रूढ़िवादी हिन्दू धर्म पर करारी चोट की थी और उसे अपना रूप समयानुकूल बनाने के लिए विवश कर दिया था। फलस्वरूप, हिन्दू धर्म में ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज तथा आर्यसमाज आदि का उदय हुआ। भारत का राजनैतिक क्षेत्र भी विदेशी चरणों से आक्रान्त होकर कुछ करवट लेना चाहता था और राजनैतिक रंगमंच के नेपथ्य में से विप्लवी वामपक्षी शक्तियों का समवेत स्वर स्पष्ट सुनाई देने लगा था। साम्राज्यवाद के विरुद्ध जन-विरोध तीव्र हो उठा था। साम्राज्यवादी सत्ता के बल-प्रयोग तथा हस्तक्षेप के कारण रुक कर वह गम्भीर तथा विक्षुब्ध होने लगा था। सन् १९०४ के जापान-रूस-युद्ध में जापान की विजय ने एशियायी देशों को एक प्रकाश तथा आशा का बल दिया। कांग्रेस के नेतृत्व में भारत का जनान्दोलन तीव्रतर होने लगा और कांग्रेस में भी गर्मदल अधिक पुष्ट तथा लोकप्रिय हो चला। किन्तु इस आन्दोलन का असफलता में दुःखद अन्त हुआ। भारतीय क्रांति के कुछ सेनानी तो विदेश प्रयाण कर गये और कुछ ने सन्यास ले लिया। लोगों की भावनाएँ घुटने लगीं, वे निराश हो गये। गांधीजी जब आन्दोलन के सूत्रधार बने तो वे सत्याग्रह का अहिंसात्मक तथा भावात्मक रूप अपने साथ लाये। राजनीति स्थूल से हट कर सूक्ष्म की ओर मुड़ी। काव्य भी स्थूल से हट कर सूक्ष्म की ओर मुड़ा, किन्तु उसमें विद्रोही तत्त्वों की कमी नहीं थी। उसने प्राचीन भाव और भाषा में क्रान्ति की, विचारों में क्रान्ति की ; वह साहित्यिक रूढ़ियों का कट्टर शत्रु था। उसने कविता-कामिनी का साहित्यिक नियमों की अंधकारता से उद्धार किया। उसने उषा से रोली तथा निर्झरों के जल-सीकर लेकर उसकी अर्चना की। अलंकारों के व्यर्थ भार से उसे तथा उसके प्रकृति-सौन्दर्य को मुक्त किया। पन्तजी ने कहा था—

"—तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।"
"—खुल गये छन्द के बन्द प्रास के रजत पाश,
अब गीत मुक्त औ' युग वाणी बहती अयास।"

छायावाद का आरम्भ सन् १९२१ के लगभग माना जाना चाहिए। सन् १९२१ से १९३१ तक कितनी ही अच्छी छायावादी रचनाएँ प्रकाश में आईं। 'आँसू' (१९२६), 'पल्लव' (१९२७), 'परिमल' (१९२०), 'नीहार' (१९३०)। प्रसादजी छाया-

वाद के ऐतिहासिक पुरुष हैं। उनका 'आँसू' छायावाद का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। वस्तु और शैली दोनों दृष्टियों से वह अपने काल की युगान्तरकारी रचना है। एक प्रसिद्ध आलोचक प्रसादजी के ऐतिहासिक महत्व की ओर इंगित करते हुए लिखते हैं—

"—प्रसाद, पन्त और निराला की वृहत्रयी कविता के अन्तरंग और वाह्य को—मौलिक सृष्टि करके साहित्य-समाज के सामने आई। इसमें भी ऐतिहासिक दृष्टि से जयशंकरप्रसाद का कार्य सबसे अधिक विशेष-समन्वित है। उन्होंने कविता-विषय को सर्वप्रथम रसमय बनाया। कल्पना और सौन्दर्य के नये स्पर्श अनुभव कराये।"

सन् १९३१ से १९३८ तक का युग छायावाद का स्वर्णयुग (विकसिततम युग) है। इस काल में छायावाद के अमर ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। 'गुंजन' (१९३२), 'कामायनी' (१९३७), 'तुलसीदास' (१९३८), 'गीतिका' (१९३९)।

परिस्थितियाँ

बड़े ही विक्षुब्ध साहित्यिक वातावरण में छायावाद का जन्म हुआ था। छायावाद का आरम्भ में बड़ा ही भयंकर विरोध हुआ। आचार्य शुक्ल ने उसे 'कायिक वृत्तियों का प्रच्छन्न-पोषण' कह कर उसे रोगी घोषित किया तथा 'अज्ञात प्रेयसी के प्रति अनर्गल प्रलाप कह कर' उसके स्वर की आलोचना की गयी। उसे 'विदेशी औरस पुत्र' बताया गया। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने छायावादी लेखकों को 'तुक्कड़' बताया, उनके कविता-प्रयास को बाल-प्रयास कहा और उन्हें रवीन्द्र की कविता का असफल नक्काल कहा और यहाँ तक कह डाला कि "यदि ये लोग भी रवीन्द्रनाथ की ही तरह सिद्धकवि हो जाँय और उन्हीं की जैसी गुह्यातिगुह्य कवित्व-रचना करने में भी समर्थ हो जाँय तो कहना पड़ेगा कि किसी दिन 'विन्ध्यस्तरेत्सागतम्'।" द्विवेदीजी इन 'कमल, अमल, अरविंद, मलिंद आदि अनोखे उपनामों की लांगूल लगाने वाले' छायावादी कवियों को 'कवित्वहता छोकड़े' तक कहने में नहीं हिचकते थे। इसी प्रकार पद्मसिंह शर्मा तथा लाला भगवानदीन को भी छायावादी काव्य की भाषा, अलंकार, आदि सब भद्दे प्रतीत होते थे। पं० पद्मसिंह शर्मा छायावादी कविता को 'कुत्सित कर्मनाशा की नई नदी' ही समझते थे। उन्होंने एक जगह पन्तजी की 'वीणा' और 'पल्लव' पर कठोर व्यंग्य करते हुए लिखा है—

"—कुत्सित-वल्ली को प्रतिभा के वारि से सींचकर 'पल्लव' निकालिये, खुशी से उसकी छाया में बैठ कर 'वीणा' बजाइये, पर काव्य-कानन के कल्प-वृक्षों की जड़ पर कुमति-कुठार न चलाइये। यह अत्याचार असह्य है। आपको इसकी गन्ध नहीं भाती, शिकायत नहीं, अपनी पसन्द, अपनी रुचि, कोजै कहा करता से न चारो, पर इनकी महक से मतवाले मधुप भी हैं, उन वृक्षों पर न सही इन पर दया कीजिये। 'पल्लव' के

नोकीले और जहरीले काँटे इनके दिल में न चुभाइये, 'वीणा' में मोहनी स्वर छोड़िये, 'मारुराग' न बजाइये।"

भगवानदीन ने छायावाद को अंधकारवाद मानते हुए एक स्थान पर लिखा है—

"—नाम 'सत्यप्रकाश' और भटकते फिरते हो अंधेरे में। भारत में न तो छाया-वाद चलेगा और न प्रतिबिम्बवाद यहाँ तो प्रकाशवाद ही रहा है और रहेगा।"

इसके पश्चात् आलोचकों के दूसरे दल ने भी 'छायावाद' पर विष उगलना जारी रखा। इनमें प्रमुख थे पं० रामचन्द्र शुक्ल, पन्नालाल पदुमलाल बख्शी तथा श्याम-सुन्दरदास। छायावादी कवियों में सबसे अधिक विरोध सहना पड़ा, महाकवि 'निराला' को। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने उनके साहित्य को घासलेटी साहित्य बताया और उनके सहित उनकी कविता के बहिष्कार का नारा हिन्दी-जगत में लगाया। उसके अतिरिक्त 'हरिऔध' तथा गुप्तजी (मैथिलीशरण) जैसे कवि भी छायावाद के विरोधी रहे हैं। किन्तु इस सम्मिलित विरोध ने छायावाद कवियों को आपस में मिला दिया और उन्होंने भी ईंट का जवाब पत्थर से देना आरम्भ किया। पंत की 'पल्लव' की भूमिका इस विषय में अपना ऐतिहासिक महत्व रखती है। 'प्रबन्ध पूर्णिमा' में निरालाजी ने भी अपने आलोचकों को खूब नोचा। 'निराला' की चिकोटी तिलमिला देने वाली होती है (उदाहरण के लिए, 'कला के विरह में जोशी बन्धु' उनका लेख पढ़ा जा सकता है)। पन्त द्वारा द्विवेदीजी को दिये गये उत्तर तथा रीतिकाल के कविताप्रेमियों पर किये गये व्यंग्य अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं। उनमें से कुछ अंशों को उद्धृत करना असंगत न होगा। द्विवेदीजी की आलोचना से ढाल का काम लेते हुए पन्तजी प्रत्युत्तर देते हैं—

"—व्यास, कालिदास के होते हुए तथा सूर, तुलसी के अमर ग्रन्थों के होते हुए भी ये कवि यशोलिप्सु, कवित्वहन्ता, छायावाद के छोकड़े कमल-यमल, अरविन्द-मलिन्द आदि अनोखे-अनोखे उपनामों की लाङ्गूल लगा, कामा-फुलिस्टापों से जर्जरित, प्रश्न, आश्चर्य चिह्नों के तीरों से मर्माहत, कभी गज-गज की लम्बी, कभी दो ही दो उंगलियों की टेढ़ी-मेढ़ी, ऊँची-नीची, गतिहीन, छन्दहीन, काली सतरों की चींटियों की टोलियाँ तथा अस्पृश्य काव्य के कच्चे घरौंदे बना, ताम्रपत्र-भोजपत्र को छोड़ बहुमूल्य कागज पर मनोहर टाइप में अनोखे-अनोखे चित्रों को सजधज तथा उत्सव के साथ छपवा कर जो 'बिन्ध्यस्तरेत्सागरम्' की चेष्टा कर रहे हैं, यह सरासर इनकी हिमाकत, धृष्टता, अहम्मन्यता तथा 'हम चुनी दीगरे नेस्त' के सिवा और क्या हो सकता है?"

ब्रजभाषा के मिस ब्रजभाषा-प्रेमियों की पन्त द्वारा की गयी आलोचना बड़ी ही मर्मभेदी है—

"—पर उस ब्रज के वन में झाड़-झंखाड़, करील-बबूल भी बहुत हैं। उसके

स्वर में दादुरों का बेसुरा आलाप, उसके कुमिल-पंकिल गर्भ में जीर्ण अस्थिपंजर, रोड़े, सिवार और घोंघों की भी कमी नहीं है। उनके बीच-बीच बहती हुई अमृत जान्हवी के चारों ओर जो शुष्क कर्दममय बालुका-तट है, उसमें विलास की मृगतृष्णा के पीछे भटकते हुए अनेक कवियों के अस्पष्ट पदचिह्न कालानिल के झोंकों से बचे हुए यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उस ब्रज की उर्वशी के दाहिने हाथ में अमृत का पात्र और बायें में विष से परिपूर्ण कटोरा है जो उस युग के नैतिक पतन से भरा छलछला रहा है। ओह! उस पुरानी गूदड़ी में असंख्य छिद्र व अपार संकीर्णताएँ हैं।"

इसी प्रकार रीतिकालीन शृंगार के विरुद्ध पन्त की विद्रोहवाणी निम्नांकित पंक्तियों में फूट पड़ती है—

"—शृंगार-प्रिय कवियों के लिए शेष ही क्या रह गया। उनकी अपरिमेय कल्पना-शक्ति कामना के हाथों द्रौपदी के दुकूल की तरह फैल कर 'नायिका' के 'अंग-प्रत्यंग' में लिपट गयी। बाल्य काल से वृद्धावस्था पर्यन्त—जब तक कोई 'चन्द्रवदनि मृगलोचनी' तरस खाकर उनसे बाबा न कह दे—उनकी रसलोलुप सूक्ष्मतम दृष्टि केवल नख से लेकर शिख तक, दक्षिणी ध्रुव तक, यात्रा कर सकी। ऐसी विश्वव्यापी अनुभूति! इसी विराट रूप का दर्शन कर ये पुष्प धनुर्धर कवि रति के महाभारत में विजयी हुए। समस्त देश के वीभत्स समुद्र को मथकर इन्होंने कामदेव को नव-जन्म-दान दिया, वह अब सहज में ही भस्म हो सकता है?"

रीतिकाव्य के कलापक्ष पर भी उनका व्यंग्य अत्यन्त मार्मिक है—

"—भाव और भाषा का ऐसा शुद्ध प्रयोग, राग और छन्दों का ऐसा एक स्वर, रिमझिम उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अशान्त उपलवृष्टि, क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है?"

इस प्रकार पन्त ने अपने कठोर व्यंग्यों से प्राचीनतावादी रीति कविता-प्रेमियों की खूब खबर ली है। उपरोक्त पंक्तियों में द्विवेदीजी, पद्मसिंह शर्मा एवं लाला भगवानदीन के आक्षेपों का करारा उत्तर तो है ही, साथ ही उनकी कुत्सित रुचि एवं प्रतिक्रियावादी होने की कठोर आलोचना भी है। वह समय ही ऐसा था कि छायावाद के इन कवियों को प्राचीनतावादी लोगों को स्वयं ही अपने व्यंग्य तथा उत्तरों से सन्तुष्ट करना पड़ा। बाद में जब 'छायावाद' काव्य की एक धारा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया तो कितने ही उच्च कोटि के आलोचकों ने अपनी प्रतिभा तथा आलोचना से छायावादी कविता का शृंगार किया, उसके गुणों का विश्लेषण किया। समर्थक आलोचकों में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, विशवम्भर 'मानव' तथा बाबू गुलाबराय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। लगभग दो शताब्दियों तक छायावाद हिन्दी-साहित्याकाश में छाया रहा।

### बाह्य प्रभाव

बंगला और अंग्रेजी साहित्य का स्पष्ट प्रभाव छायावाद पर दिखाई देता है।

रवीन्द्र की 'गीतांजलि' की भारत में ही नहीं, विदेशों में भी बड़ी धूम रही। हिन्दी के कवि भी 'गीतांजलि' से बड़े प्रभावित हुए। यह प्रभाव रायकृष्णदास, मैथिलीशरण गुप्त, 'पन्त' और 'निराला' पर बहुत स्पष्ट है। अँग्रेजी भी इस समय तक पढ़े-लिखे वर्ग के अध्ययन की भाषा बन गयी थी और अँग्रेजी के ग्रन्थों का अनुवाद भी हिन्दी में प्रारम्भ हो गया था। अतः अँग्रेजी का प्रभाव दो रूपों में पड़ा—(१) अध्ययन द्वारा; (२) अनुवाद द्वारा। अँग्रेजी के इस प्रभाव से लोगों के प्रकृति-विषयक दृष्टि-कोण में परिवर्तन हुआ तथा वे अधिक मानवतावादी हो गये। इसके अतिरिक्त अँग्रेजी के रोमान्टिकवाद तथा रोमान्टिक कवियों का भी प्रभाव हिन्दी पर पड़ा। इन कवियों में वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स तथा ब्लेक मुख्य हैं। पन्तजी उपरोक्त कवियों के प्रभाव को स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त बंगला के अध्ययन तथा अनुवाद से भी हिन्दी छायावादी कवि प्रभावित हुए और वह प्रभाव उनकी रचनाओं में भी झलकता है। महात्मा गाँधी, उपनिषद्, बुद्ध, विवेकानन्द का प्रभाव भी छायावादी कविता पर स्पष्ट है। पन्तजी इन प्रभावों को स्वीकार करते हैं।

अँग्रेजी के रोमान्टिक काव्य की कुछ विशेषताएँ छायावाद में भी हैं—

उदाहरणार्थ, (१) विस्मय मिश्रित कौतूहल—

"—प्रथम रश्मि का आना रंगिणि
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ-कहाँ हे बाल विहंगिनि !
पाया तू ने यह गाना ?" —पंत।

(२) सौन्दर्य-प्रेम—सौन्दर्य-प्रेम तो पूरी छायावादी कविता का विषय ही है। 'सुन्दरम्' ही उसका आधार है। जितने सुन्दर चित्र इस (छायावादी) कविता में मिलेंगे, अन्यत्र दुर्लभ हैं। सौन्दर्य वृत्ति तथा अचेतन प्रकृति में चेतन का आरोप छायावादी कविता की सर्वमहान् विशेषताएँ हैं। निरालाजी की 'संध्या की सुन्दरी' कविता दोनों विशेषताओं का उत्कृष्ट निदर्शन है—

"—दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी सी
धीरे धीरे धीरे।
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर,
किन्तु जरा गम्भीर नहीं है उनमें हास-विलास
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन काले घुँघराले बालों से

हृदय राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक
अलसता की सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता ने कन्धे पर डाले बाँह
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली
नहीं बजती उसके हाथों में वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग-आलाप
नूपुरों में भी रुनझुन रुनझुन नहीं
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा "चुप, चुप, चुप"
है गूँज रहा सब कहीं—"

(३) सूक्ष्म-रहस्यात्मक अनुभूति

सभी प्रमुख छायावादी कवियों में आध्यात्मिक रहस्यानुभूति मिलेगी—

"—न जाने कौन अभेद्य तिमान
जान मुझ को अबोध, अज्ञान,
फूँक देते छिद्रों में गान
अहे सुख दुःख के सहचर मौन।
नहीं कह सकती तुम हो कौन !" —'पंत'

(४) मानवीकरण

मानवीकरण की भावना तो छायावाद की आधार-भूमि ही है। छायावादी कवि प्रकृति के अणु-परमाणु में 'मानवीय' भावनाओं का आरोप कर लेते हैं। गंगा' का 'मानवीकृत' चित्र कवि हमारे समक्ष रखता है—

"—सैकत शैया पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा ग्रीष्म विरल
लेटी है श्रांत, क्लान्त, निश्चल, तापस बाला गंगा निर्मल
शशिमुख से दीपित मृदु करतल, लहरे उर पर कोमल कुन्तल।"

उपरोक्त विशेषताएँ छायावाद और रोमान्टिक काव्य में समान रूप से मिलती हैं। लेकिन दोनों में अन्तर भी है जिसे हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं। रोमान्टिक काव्य का स्वर आशा, उत्साह तथा प्रसन्नता के ओत-प्रोत है क्योंकि उसके पीछे एक सफल राजनैतिक विद्रोह था जब कि छायावाद के पीछे असफल राजनैतिक विद्रोह था। अतः छायावाद का स्वर अवसादी है और पलायन के तत्व भी उसमें हैं।

(कुछ विद्वानो का यह भी कथन है कि छायावादी काव्य के अवसादपूर्ण होने का राजनैतिक आन्दोलन की असफलता से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका कारण वे वैयक्तिक मानते हैं, सामाजिक नहीं। किन्तु कवि कभी युग से तटस्थ नहीं रह सकता। अरविंद के राजनीति से पलायन में और छायावादी कवियों के पलायन में कुछ सम्बन्ध हो सकता है।)

छायावाद की विशेषताएँ (कलापक्ष)

छायावाद की सर्व महान् विशेषता उसकी भाषा-सम्बन्धी क्रान्ति है। छायावादी कवियों ने पुरातन-मात्र से घृणा का भाव दिखाया। उन्होंने भाव और भाषा दोनों में क्रान्ति की। 'पन्त' ने सभी कुछ 'नये' के लिए अपना स्वर ऊँचा किया। "नव विचार, नव रीतिनीति, नवनियम, नव भाव, नवदर्शन।" 'पन्त' ने भाव, भाषा, अलंकार सम्बन्धी विचार अपनी 'पल्लव' की भूमिका में व्यक्त किये हैं। वास्तव में उनका ऐतिहासिक महत्व है। पन्त के उन विचारों में से कुछ को यहाँ उद्धृत करना असंगत न होगा—

भाषा के सम्बन्ध में

"—कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेव की तरह, जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में, आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों, जिनका भाव संगीत विद्युतधारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके.......।'

अलंकारों के सम्बन्ध में

"—अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं।" "अलंकार वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं।"

छन्दों के विषय में

"—कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कंपन, छन्द कविता का स्वभाव ही है। स्वयं प्रकृति एक अखण्ड संगीत है। छन्द का भाषा के उच्चारण और उसके संगीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।"

सभी छायावादी कवि पश्चिम से प्रभावित हैं। अतः सबसे अधिक छायावादी कवियों ने अँग्रेजी के कुछ अलंकारों को अपनाया, जैसे मानवीकरण (Personification), विशेषण विपर्यय (Transferred Epithet) आदि।

छायावादी कविता ने खड़ी बोली की रुक्षता दूर की और भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति बढ़ाई। भाषा की लाक्षणिकता और ध्वन्यात्मकता के लिए छायावादी कविता प्रसिद्ध है और उसकी इस विशेषता का लोहा उसके विरोधी भी मानते हैं।

अब संक्षेप में छायावाद के कलापक्ष की विशेषताओं पर विचार किया जाय—

(१) मानवीकरण

मानवीकरण की पद्धति छायावाद की सबसे बड़ी विशेषताओं में से है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन साहित्य में इसका नितान्त अभाव है। 'मेघदूत' तथा 'पवनदूत' के रूप में इसका आभास तो प्राचीन काव्य में भी मिलता है, परन्तु निश्चित रूप से यह काव्य की प्रवृत्ति इससे पूर्व कभी नहीं रही। कुछ उदाहरण देखिये—

गंगा का मानवीकृत रूप

"—सैकत शैया पर दुग्धधवल, तन्वंगी गंगा ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रान्त, क्लान्त, निश्चल, तापस बाला गंगा निर्मल,
शशिमुख से दीपित मृदु करतल, लहरे उर पर कोमल कुन्तल।"

—'पन्त'

रात्रि का मानवीकृत रूप

"—पगली, हाँ सँभाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल;
देख बिखरती हैं मणिराजी अरी उठा बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या ओ यौवन की मतवाली,
देख अकिंचन जगत लूटता तेरी छवि भोली-भाली।"

—'प्रसाद'

संध्या का मानवीकृत रूप

"—दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है,
वह संध्या सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे"

—'निराला'

(२) अमूर्त का मूर्त विधान

अमूर्त को मूर्तरूप देने की पद्धति छायावाद में प्रचुरता से मिलेगी। सभी छायावादी कवियों ने इसका प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

"—मृत्यु अरी चिर निद्रे! तेरा अंक हिमानी सा शीतल
तू अनन्त में लहर बनाती काल जलधि की सी हलचल।

× × ×

जीवन तेरा क्षुद्र अंश है व्यक्त नीलघन माला में,
सौदामिनि सन्धि सा सुन्दर क्षण भर रहा उजाला में।

× × ×

ओ चिन्ता की पहली रेखा, अरी विश्ववन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कम्प सी मतवाली।"

—'प्रसाद'

(३) मूर्त का अमूर्त विधान

मूर्त वस्तुओं का अमूर्त रूप में चित्रण भी छायावादी कविताओं में बहुत मिलेगा। उदाहरणार्थ—

"—गिरिवर के उर से उठ कर उच्चाकांक्षाओं से तरुवर"

—'पन्त'

बादल मूर्त वस्तु है, उसका अमूर्त विधान देखिये—

"—धीरे धीरे संशय से उठ, बढ़ अपयश से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह से, फैल लालसा से निशि भोर।"
× × ×
"घोष भर विप्लव भय से हम छा जाते द्रुत चारों ओर।"

—'पन्त'

(४) प्रतीक पद्धति

शुक्लजी के मतानुसार छायावाद में गुण और धर्म की समानता से अधिक प्रभाव-साम्य पर जोर दिया गया है। जितने भी प्रतीक हैं, उन्हें प्रभाव-साम्य का उदाहरण कहा जाता है। उदाहरण के लिए, पहले 'कमल' सुन्दरता और कोमलता का उपमान था क्योंकि उसका धर्म, सुन्दरता और गुण, कोमलता है। परन्तु छाया-वादी कविता में इससे भिन्न ऐसे उपमान लिये गये जो इन दोनों वस्तुओं से भिन्न प्रभाव-साम्य रखते थे, जैसे 'रात्रि' 'निराशा' का तथा 'प्रातः' 'प्रसन्नता' का। इसी प्रकार कितने ही प्रतीक मिलेंगे—

'अंधकार'—'दुःख' का प्रतीक
'वसन्त'—'यौवन' का प्रतीक
'संध्या'—'अवसाद' का प्रतीक
'दीप-शिखा'—'साधना' का प्रतीक
'चाँदनी'—'पवित्रता' या 'स्निग्धता' का प्रतीक
'गोधूलि'—'समाप्ति काल' का प्रतीक
'उषा'—'उल्लास' का प्रतीक
'प्रकाश—'सुख' का प्रतीक
'पतझड़'—'जरा' (वृद्धावस्था) का प्रतीक
'मुकुल'—'प्रफुल्लता' का प्रतीक
'बच्चों की साँस'—'भोलेपन' का प्रतीक
'घूँघट'—'रहस्य' का प्रतीक
'शलभ'—'साधक' का प्रतीक

'प्रतीक' भाषा में भाव-गाम्भीर्य तो लाते ही हैं, साथ ही उससे भाषा की व्यञ्जक-शक्ति भी बढ़ती है। 'प्रसादजी' के निम्नांकित छंद में कई प्रतीकों का एक साथ प्रयोग हुआ है।

"—शशिमुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छुपाये
जीवन की गोधूलि में कौतूहल से तुम आये।
उषा का था उर में आवास
मुकुल का मुख में मृदुल विकास।
चाँदनी का स्वभाव में वास
विचारों में बच्चों की साँस।"

(५) गत्यात्मकता

जहाँ कविता में एक गति का आभास मिलता हो, जैसे—

"—चमक झमकमय मंत्र वशीकर
छहर घहरमय विष-सीकर।
स्वर्ग-सेतु से इन्द्रधनुष धर
कामरूप घनश्याम अमर।"

—'पन्त'

(६) चित्रोपमता

भाषा जहाँ चित्र खड़ा कर देती है, जैसे—

"—बाँसों का झुरमुट, संध्या का झुटपुट
चिड़ियाँ करतीं टी वीटी टुट टुट
वे नाप रहे निज घर का मग,
कुछ श्रमजीवी घर डगमग पग
भारी है जीवन, भारी पग।"

(७) चित्रमय विशेषण (One-word picture)

चित्रमय एवं सार्थक लम्बे विशेषणों का प्रयोग भी छायावादी शैली की विशेषता है—

"—हृदय की सुरभित साँस (स्नेह)
स्तब्ध विश्व के अपलक विस्मय (नक्षत्र)
मूक गिरवर का मुखरित गान (निर्झर)
नभ की निस्सीम हिलोर (वायु)
विश्व वन की व्याली (चिन्ता)
तरल गाल की लघुलहरी (चिन्ता)
तम के सुन्दरतम रहस्य (तारा)
व्यथित विश्व के सात्विक शीतल बिंदु (तारा)
हे अनन्त की गणना (तारा)।"

—'प्रसाद'

(८) ध्वन्यात्मकता

भाषा के शब्द जहाँ स्वयं बोलने लगते हैं, भाषा में से ध्वनि निकलने लगती है—

"—पपीहों की वह पीन पुकार, निर्झरों की भारी झरझर।
झींगुरों की झीनी झंकार, घनों की गुरु गम्भीर घहर।
बिन्दुओं की छनती छनकार, दादुरों के वे दुहरे स्वर।"

× × ×

"—शत शत फेनोच्छ्वासित स्फीत फूत्कार भयंकर।" —'पन्त'

(६) विशेषण विपर्यय

भाव-गाम्भीर्य, सजीवता एवं मार्मिकता लाने के लिए विशेषण को संज्ञा बनाकर उसके पहले और विशेषणों का प्रयोग किया जाता है—

"—कल्पना में है कसकती वेदना
अश्रु में जीता सिसकता गान है।"
× × ×
"आह यह मेरा गीला गान।" —'पन्त'

छन्द-विधान

छायावादी कवियों ने छन्द के बन्धनों को स्वीकार नहीं किया। वे तो 'युगवाणी' को 'अनायास' ही बहने देना चाहते थे, अत: जहाँ उन्होंने मुक्त छन्दों में लिखा, वहाँ नवीन छन्दों का निर्माण भी किया। छन्दों के विषय में यहाँ महादेवी और 'पन्त' के विचारों से परिचित होना आवश्यक है।

महादेवी वर्मा लिखती हैं—

"—छायावाद ने नये छन्दबन्धों में सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति को जो रूप देना चाहा, वह खड़ी बोली की सात्विक कठोरता नहीं सह सकता था, अत: कवि ने कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप-तोल और काट-छाँट कर तथा कुछ नये गढ़ कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमलतम कलेवर दिया।"

पंतजी लिखते हैं—

"—संस्कृत का संगीत जिस प्रकार हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नहीं। हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्द ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य को सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है। वर्ण-वृत्तों की लहरों में उसकी धारा अपना चंचल नृत्य खो बैठती है।"

'हरिऔधजी' ने 'प्रियप्रवास' को संस्कृत में प्रयुक्त वर्णिक छन्दों में लिखा था।' 'पन्तजी' का विचार है कि हिन्दी भाषा में लिखे जाने वाले छन्द स्वरप्रधान होने चाहिए। इसलिए 'पन्तजी' ने ही क्या, सभी छायावादी कवियों ने हिन्दी भाषा के स्वभाव के अनुकूल मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग अधिक किया है जिसमें 'पीयूषवर्षण', 'रूपमाला' तथा 'सखी' छन्द प्रमुख हैं।—

छायावादी छन्दों के विषय में डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं—

"पन्तजी ने हिन्दी के कोमल छन्दों को चुनकर संगीत और गीत का पूर्ण ध्यान रखते हुए भावानुकूल परिवर्तन करके इस कला को विकसित किया। 'निरालाजी' ने लय और ताल के आधार पर स्वच्छन्द छन्द (मुक्त छन्द) की सृष्टि की। महादेवीजी ने पुराने ग्राम-गीतों में नवीन कलात्मक प्राण फूँक कर एक अपूर्व सौन्दर्य प्रदान किया।"

## छायावाद की विशेषताएं (भावपक्ष)

### छायावाद प्रकृति तथा शृंगारिक भावना

हिन्दी साहित्य के इतिहास में छायावाद का युग ही एक ऐसा युग है जिसमें प्रकृति का आलम्बनरूप में भी चित्रण मिलता है। यों तो प्राचीन साहित्य से कुछ उदाहरण प्रकृति के आलम्बन रूप में चित्रित होने के दिये जा सकते हैं, किन्तु वे इने-गिने उदाहरण तत्सम्बन्धी अभाव को ही अधिक व्यक्त करते हैं। छायावादी कवियों ने सर्वप्रथम प्रकृति के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उस पर सुन्दर रचनाएं लिखीं, जड़ समझी जाने वाली प्रकृति में भी उन्होंने चेतना देखी। प्रकृति के अनन्य कवि 'पन्त' तो स्पष्टत: यह स्वीकार करते हैं कि कविता करने की प्रेरणा उन्हें प्रकृति से मिली—

"—कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँख मूंद कर लेटता था, तो वह दृश्यपट चुपचाप मेरी आँखों के सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज में दूर तक फैली, एक के ऊपर एक उठी, ये हरित, नील, धूमिल, कूर्माचल की छायांकित पर्वत-श्रेणियाँ, जो अपने शिखरों पर रजतमुकुट हिमाचल को धारण की हुई हैं और अपनी ऊंचाई से आकाश की अवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाये हुए हैं, किसी भी मनुष्य को अपने महान् नीरव सम्मोहन के आश्चर्य में डुबाकर कुछ काल के लिए भुला सकती हैं।"

"—प्रकृति-निरीक्षण से मुझे अपनी भावनाओं की अभिव्यंजना में अधिक सहायता मिली है, कहीं उससे विचारों की प्रेरणा भी मिली है।"

'पन्त' प्रकृति-प्रेम को छोड़ अपने को लोचन 'बाला' के बाल-जाल में भी नहीं उलझना चाहते—

"—छोड़ द्रुमों की मृदु छाया तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूं लोचन।"........

इसके अतिरिक्त 'पन्त' तो प्रकृति को अपने से अलग सजीव सत्ता रखने वाली नारी के रूप में भी देखते हैं—

"—उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही माँ वह अपनी वय बाली में।"

पन्त के प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी कुछ और उदाहरण दृष्टव्य हैं—

" —पावस ऋतु है पर्वत प्रदेश,
पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश
मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस्र दृग सुमन फाड़,

अवलोक रहा है बार-बार नीचे जल में निज महाकार
जिसके चरणों में पड़ा ताल, दर्पण सा फैला है विशाल।"

बादल— "—फिर परियों के बच्चों से हम,
सुभग सीप के पंख पसार,
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में,
पकड़ इन्दु के कर सुकुमार।'

× ×

धूम धुआँरे काजर कारे,
हम ही बिकरारे बादर,
मदन राज के वीर बहादुर
पावस के उड़ते फणिधर।"

नौका विहार— "चाँदी के साँपों सी रलमल,
नाचती रश्मियाँ जल में चल
रेखाओं सी खिंच तरल सरल।"

डॉ० नगेन्द्र के अनुसार छायावादी कवियों ने प्रकृति का दो रूपों में उपयोग किया है—

(१) "शान्त स्निग्ध विश्राम-भूमि के रूप में।" (२) "प्रतीक रूप में।"

यह स्मरण रखने योग्य बात है कि प्रतीकों में काम-प्रतीक ही विशेषरूप से छायावादी कवियों को ग्राह्य है।

वास्तव में छायावादी काव्य में प्रकृति नारी रूप में ही चित्रित मिलती है। छायावाद के प्रमुख कवि 'प्रसादजी' नारी को प्रकृतिमय देखते हैं तो 'पन्तजी' प्रकृति को नारीमय। 'प्रसादजी' की कविता से कुछ ऐसे उदाहरण देना असंगत न होगा जिसमें वे नारी में प्रकृति-वैभव देखते हैं—

श्रद्धा का रूप-वर्णन

"—नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।
आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम
बीच जब घिरते हो घनश्याम;
अरुण रवि मण्डल उनको भेद—
दिखाई देता हो छविधाम।

× × ×

उषा की पहली रेखा कान्त
माधुरी से भीगी भर मोद;
मदभरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति की गोद।
कुसुम कानन अंचल में मन्द
पवन प्रेरित सौरभ साकार;
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार।"

'पन्तजी' इसके विरुद्ध प्रकृति में सर्वत्र नारीत्व की ही झलक देखते हैं। गंगा का नारी रूप में चित्र दृष्टव्य है—

"—सैकत शैया पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रान्त क्लान्त, निश्चल।
तापस बाला सी निर्मल गंगा, शशिमुख से दीपित मृदु करतल,
लहरें उर पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर सिहर, लहराता ताल तरल सुन्दर,
चंचल अंचल सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी है वर्तुल मृदुल लहर।
दो बाँहों से दूरस्थ तीर, धारा का कृश कोमल शरीर,
आलिंगन करने को अधीर।"

'पन्तजी' ने स्वयं लिखा है कि प्रकृति के सुन्दर दृश्यों में वे इतने तन्मय हो जाते थे कि उन्हें अपनी सुधि तक नहीं रहती थी। वस्तु-जगत की नग्न वास्तविकताओं एवं कठोर अभावों से प्रताड़ित छायावादी कवियों का मन प्रकृति-वर्णन एवं उसकी कल्पना में ही विश्राम प्राप्त करने लगा।

'पन्तजी' की 'हिमाद्रि' कविता की निम्नांकित पंक्तियाँ इस बात को स्पष्ट कर सकेंगी—

"—मानदण्ड भू के अखण्ड हे
पुण्य धरा के स्वर्गारोहण,
प्रिय हिमाद्रि तुमको हिमकण से
घेरे मेरे जीवन के क्षण।
मुझ अंचलवासी को तुमने
शैशव में आशा दी पावन,
नभ में नयनों को खो तबसे
स्वप्नों का अभिलाषी जीवन।

कब से शब्दों के शिखरों में
तुम्हें चाहता करना चित्रित,
शुभ्र शान्ति में समाधिस्थ हे
शाश्वत सुन्दरता के भूभृत।
बाल्य चेतना मेरी तुममें
जड़ीभूत आनन्द तरंगित,
तुम्हें देख सौन्दर्य साधना
मेरी महाश्चर्य से विस्मित।
जिन शिखरों को स्वर्ण-किरण नित
ज्योति मुकुट से करती मंडित,
जिन पर सहसा स्खलित तड़ित
हो उठती निज आलोक से चकित।
जिन शिखरों पर रजत पूर्णिमा।
सिन्धु ज्वार सी लगती स्तम्भित,
जिनकी भी नीरवता मेरे
गीत स्वप्न रहते थे झंकृत।
जिनकी शीतल ज्वाला में जल
बनी चेतना मेरी निर्मल,
प्राण हुए आलोकित जिनके
स्वर्गोन्नत सौन्दर्य से सजल।
हृदय चाहता काव्य-कल्पना
को किरीट पहनाना उज्ज्वल
स्मृति में ज्योति तंरगित स्वर्गिक
शृंगों के आलोक का तरल।"

काम-प्रतीकों के रूप में प्रकृति-उपमानों को उपस्थित करने के लिए 'कामायनी' के श्रद्धा-रूपवर्णन को प्रस्तुत किया जा सकता है।

### शृंगारिकता

यदि कहें कि छायावादी काव्य मूलतः शृंगार-काव्य है तो अत्युक्ति नहीं होगी। परन्तु एक बात अवश्य ध्यान में रखने योग्य है कि रीतिकालीन शृंगारिक अभिव्यक्ति और छायावादी अभिव्यक्ति में आकाश-पाताल का अन्तर है। रीतिकालीन शृंगारिक अभिव्यक्ति अत्यन्त मांसल एवं कामोत्तेजक है, किन्तु छायावादी शृंगारिक अभिव्यक्ति अशरीरी एवं जिज्ञासाप्रधान है। छायावादी कवि का सौन्दर्य के प्रति दृष्टिकोण वासनात्मक नहीं है, अपितु जिज्ञासात्मक आश्चर्यपूर्ण एवं विस्मयात्मक है।

डॉ० नगेन्द्र इसे अतीन्द्रिय शृंगार कहते हैं और उनके मतानुसार यह दो रूपों में व्यक्त हुआ है—

(१) प्रकृति के प्रतीकों द्वारा (प्रकृति पर नारी भाव का आरोप)।

(२) नारी शरीर के अमांसल चित्रण द्वारा, उसके आत्मसौन्दर्य को प्रधानता देते हुए।

छायावाद के इस अशरीरी या अतीन्द्रिय शृंगार का कारण बताते हुए डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं—"कठोर नैतिकता के अंकुश के कारण शृंगारिक भावनाएं स्वच्छन्द अभिव्यक्ति नहीं पा सकीं।" अतः वे ही भावनाएं "प्रच्छन्न (अशरीरी एवं शृंगारसज्जा) रूप में अभिव्यक्ति हुईं।" नारी का रूप ही छायावादी कवियों के शृंगार का अव्यय स्रोत है। किन्तु वह रीतिकाल की भांति उपभोग का नहीं, अपितु विस्मय का विषय है। 'निराला' की 'जुही की कली' इस प्रकार के सौन्दर्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। सोती हुई जुही की कली वास्तव में सोती हुई कोई नारी है। सोती हुई नारी के सम्पूर्ण कार्यकलापों को बड़ी चतुराई से 'निरालाजी' 'जुही की कली' में दिखा सके हैं—

"—विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी, स्नेह-स्वप्नमग्न,
अमल-कोमल-तनु तरुणी जुही की कली
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में।"

इसी प्रकार 'निरालाजी' 'शेफाली' का भी बिलकुल नारीरूप में एक मनोहर चित्र उपस्थित करते हैं—

"—बन्द कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से,
यौवन उभार ने,
पल्लव पर्यंक पर सोई शेफाली के।"

संक्षेप में, छायावादी कवियों ने नारी और प्रकृति को अभिन्न करके देखा है। नारी में प्रकृति और प्रकृति में नारी की छाया छायावाद की महती विशेषता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि छायावाद रीतिकालीन भाव-भाषा एवं छन्दों के विरुद्ध एक विद्रोह के रूप में आया, किन्तु शृंगार उसका भी मेरुदण्ड रहा। छायावाद के बीस-पच्चीस वर्षों में भाषा ने कितनी प्रौढ़ता एवं भाव-व्यंजकता प्राप्त की, यह वास्तव में आश्चर्य का विषय है। 'प्रसादजी' ने कुछ ही शब्दों में छायावाद की 'आत्मा' को बांधने का प्रयास किया है—"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएं हैं।" जगत की नग्न विभीषकाओं से पलायन कर अतीन्द्रिय कल्पनालोक में निवास कर छायावादी कवि भाषा को ही मांजते-संवारते रहे। यदि कहें कि गत बीस-

पच्चीस वर्ष की साहित्य-साधना उसके कलापक्ष की ही साधना है, तो अत्युक्ति न होगी। किन्तु आकाशवेलि (अमरवेलि) की भाँति छायावाद अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सका क्योंकि उसकी जड़ें पृथ्वी में नहीं थीं। आकाश की वायु उसकी छाया को श्वास तो दे सकी, किन्तु धरती के अभाव में उसकी काया को जीवन-रस नहीं मिला। इसीलिए 'छायावाद' की छाया जितनी घनीभूत और विस्तृत है, उसकी काया उतनी ही अशक्त और सूक्ष्म है। फिर भी छायावाद के पास काव्य-अधिष्ठात्री सरस्वती के चरणों में समर्पित करने एवं उसे प्रसन्न करने के लिए पर्याप्त सामग्री है।

---

## अध्याय ७

# रहस्यवाद

### रहस्य की भावना का मूल

मनुष्य ने जब प्रथमत: सृष्टि में अपनी आँखें खोली होंगी तो उसे अपने चतुर्दिक वातावरण पेड़-पौधे, पुष्प, पशु, पक्षी, तारागण, सूर्य, चन्द्र आदि को देख कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ होगा। मनुष्य की उस आदिम तुतलाहट को सामवेद आज भी अपने अन्तर में सुरक्षित रखे हुए है। इतना तो निश्चित है कि आरम्भ में मानव नामधारी जीव का मस्तिष्क अविकसित था, किन्तु उसका हृदय अपेक्षाकृत अधिक विकसित था, इसलिए उसकी आरम्भिक क्रियाएँ भावप्रधान अधिक थीं, बुद्धिप्रधान कम। संक्षेप में कहें तो आदि मानव का आरम्भिक जीवन आश्चर्यमय था। आश्चर्य अज्ञान का सखा है। 'प्रसादजी' ने मनु द्वारा मनुष्य की आरम्भिक भावनाओं का बहुत ही सुन्दर चित्र 'कामायनी' में दिया है। मनु प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं को देख कर आश्चर्यमग्न हो जाते हैं। वे वस्तुएँ उनके हृदय में गुदगुदी पैदा करती हैं। उनके मस्तिष्क को भी सजग करती हैं, किन्तु विश्लेषण का असामर्थ्य उनके आश्चर्य को भावोच्छ्वासों में व्यक्त करती है। मनु आश्चर्य करते हैं—

> "—महानील इस परम व्योम में,
> अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान;
> ग्रह, नक्षत्र और विद्युतकण,
> किसका करते से संधान।
> छिप जाते हैं और निकलते,
> आकर्षण में खिंचे हुए,
> तृण वीरुध लहलहे हो रहे,
> किसके रस से सिंचे हुए?"

किन्तु धीरे-धीरे मनुष्य का मस्तिष्क सजग हुआ। प्रकृति के पदार्थ उसके चिरसहचर हो गये और उसका तद्विषयक आश्चर्य धीरे-धीरे कम हुआ, किन्तु एक बात उसकी समझ में फिर भी न आई कि उचित समय पर उदित और अस्त होने

वाले सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों का नियमन और संचालन कौन करता है ? संसार के मूल में, उसकी गति में एक निश्चित क्रम है, उसका नियन्त्रण कौन कर रहा है ?

"—सिर नीचा कर किसकी सत्ता,
सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?"

इस चराचर विश्व के पार किसी अज्ञात सत्ता या शक्ति का आभास तो उसे हुआ किन्तु वह सत्ता कौन है ? क्या है ? इसका रहस्य वह नहीं समझ सका और वह आज तक उसके लिए रहस्य का विषय है। अज्ञान के तट पर खड़ा मानव दिग्भूव्यापी असीम, अव्यक्त सत्ता के आभास से आश्चर्य-विजड़ित होकर अपने कण्ठ-स्वरों में जिज्ञासा का भाव भरकर पुकारने लगा—

"—हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता,
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो,
भार विचार न सह सकता।
हे विराट, हे विश्वदेव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान
मन्द गम्भीर धीर स्वर-संयुत
यही कर रहा सागर गान।"

इस प्रकार रहस्य की भावना का मूल है जिज्ञासा और वह सृष्टि के आदि में ही पाई जाती है । किन्तु रहस्य की भावना और रहस्यवाद में अन्तर है। कोई सहज भावना जब सजग प्रवृत्ति बन जाती है या विचारों को व्यक्त करने की एक विशेष पद्धति बन जाती है तब वह 'वाद' बनती है।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है, प्राप्ति के पश्चात् वह वस्तु उसके लिए इतनी महत्वपूर्ण नहीं रह जाती, जितनी कि वह प्रयत्नावाथा में थी। ऐसी कोई वस्तु विश्व के इतिहास में दिखाई नहीं देती, जिसके लिए मनुष्य ने प्रयत्न किया हो और वह उसकी सफलता की परिधि के बाहर रह गयी हो । हाँ, एक वस्तु अवश्य है और वह है ब्रह्म । सृष्टि के आदि से आज तक ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए मानव साधनारत है, किन्तु उसकी प्राप्ति का गर्व करने योग्य वह आज भी नहीं हुआ है। मानव के हृदय और मस्तिष्क अपनी अजेयशक्ति को यदि कहीं कुण्ठित पाते हैं तो यहीं। किसी कवि ने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

—"पाना अलभ्य को जग की यह कैसी है अभिलाषा।'
है ब्रह्म अप्राप्य इसी से सब करते उसकी आशा।"

किन्तु सिद्धि के इस अनिश्चित एवं दीर्घकालीन विलम्ब ने मानव को उसके साधना-पथ से अभी तक विचलित नहीं किया। मनुष्य ने अपने मस्तिष्क और हृदय के मार्ग से अपनी इस अनन्त यात्रा में अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया है। दर्शन मनुष्य के मस्तिष्क-पथ की यात्रा और काव्य हृदय-पथ की यात्रा का क्रमिक इतिहास है।

शुक्लजी ने लिखा है कि "साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, काव्य में वही रहस्यवाद है।" वास्तव में मनुष्य मस्तिष्क के द्वारा जिस लक्ष्य तक पहुँचता है, वहाँ रहस्य सम्भव ही नहीं है। ब्रह्म के निराकार रूप का अनुसन्धान मानव ने इसी मार्ग से किया। इसलिए दर्शन विश्लेषणप्रधान है, रहस्यमय नहीं। उसके साकार रूप को मानव ने अपने हृदय का विषय बनाया, इसलिए आकारयुक्त होने के कारण रहस्य की भावना से वह भी रहित है। भक्ति के क्षेत्र में रहस्य की भावना (रहस्यवाद) का सूत्रपात तब हुआ जब मनुष्य ने निराकार ब्रह्म को, जो मस्तिष्क के चिन्तन का विषय था, हृदय या प्रेम का विषय बनाया। निराकार के प्रति प्रणयानुभूति रहस्यवाद का मूल तन्तु है और निराकार के प्रति काल्पनिक प्रणयानुभूति की साहित्यिक अभिव्यक्ति रहस्यवादी काव्य का मूल है, अर्थात् निराकार ईश्वर के प्रति प्रेम की काल्पनिक भावना को जब काव्य के द्वारा प्रकट करते हैं तो उसी को रहस्यवाद का नाम दिया जाता है।

## रहस्यवाद का इतिहास

हिन्दी में रहस्यवाद का इतिहास पर्याप्त प्राचीन है। सर्वप्रथम, रहस्यवाद की भावना नाथपंथी योगियों में पाई जाती है। परन्तु काव्य में कबीर ही इसके आदि कवि ठहरते हैं। राम, कबीर के उपास्य हैं, किन्तु वे दशरथ-पुत्र राम नहीं—"दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।" उनके राम तो 'त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैत विलक्षण, भावाभाव विनुमुक्त, अलख, अगोचर, अगम्य-प्रेमपारावार तथा ब्रह्म" हैं। इन्हीं राम को कबीर निर्गुण राम कहते हैं—

"—निर्गुण राम जपहु रे भाई, अवगति की गति लखी न जाई।"

वह अभिव्यक्ति के परे है, केवल अनुभव की वस्तु—

"—गूंगे केरी सर्करा, बैठे मुसकाई।'

किन्तु इस निर्गुण ब्रह्म को भी कबीर ने अपने हृदय के माध्यम से भक्ति का विषय बनाया, मस्तिष्क के माध्यम से चिन्तन का नहीं और इसी कारण उनकी रचनाएँ रहस्य से युक्त हैं। माधुर्यभाव की भक्ति रहस्य की भावना के लिए आवश्यक है। कबीर तो अपने को राम की 'बहुरिया' ही मानते हैं—

"—राम मोर पीउ हौं राम की बहुरिया।"

इतना ही नहीं, राम उनके पाहुने बन कर आते हैं और कबीर के साथ उनकी भाँवरें भी पड़ती हैं—

—"सजनी गावहु मंगलाचार
तन रत कर मैं मन रत करिहौं पंचतत्व बाराती ।
राम देव मोरे पाहुनें आये हौं जो बन में माती ।।"

लेकिन एक बार संयोग होने के पश्चात् फिर जो वियोग होता है, तो वह यावज्जीवन रोते रहने की एक लम्बी कहानी है । कबीर चाहे कितना ही अपने प्रेम का वर्णन करें, कितना ही विरह में रोएं, किन्तु उनके आराध्य रहते सदैव निर्गुण ही हैं । प्रियतम से मिलने की उद्दाम लालसा है, किन्तु स्वयं उनके यहाँ जाने में लज्जा लगती है । मार्ग भी तो कितना कठिन है और साधक कितना अनाड़ी, फिर साधना की ये सीढ़ियाँ वह किस प्रकार चढ़े । कबीर की वियोगी आत्मा उसे 'अंग लगाकर' भेंटना चाहती है, इसलिये तो उसने शरीर धारण किया है—

"—पिया मिलन की आस रहौं कबलौं खरी,
ऊंचे नहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी ।
पाँव नहीं ठहराइ चढ़ूं गिरि गिरि परूं,
फिर चढ़ूं संभारि चरन आगे धरूं,
अंग अंग थहिराहि तौ बहु विधि डरि रहूं,
करम कपट मग घेरि तो भ्रम में पड़ि रहूं ।
बारी निपट अनारि ये तो झीनी गैल है,
अटपट चाल तुम्हार मिलन कैसे होइ है ?"

राम के प्रति प्रेमलीला का विस्तृत वर्णन कबीर ने किया है, किन्तु साध्य के निराकार होने के कारण वह रहस्यमय हो गया है ।

कबीर में प्रेम की तीव्रता और मधुरता सगुणोपासक कवियों से कम नहीं है । अपने प्रियतम के विरह में रोते-रोते उनकी आँखें प्रकाशहीन हो चली हैं, जिह्वा में छाले पड़ गये हैं, लेकिन बिना रोये प्रियतम से जो भेंट नहीं होती—हँसने से अपने प्रिय से भेंट नहीं होती—

"—आँखड़ियाँ झाँई पड़ी पन्थ निहारि निहारि,
जीभड़ियाँ छाला पड़या राम पुकारि पुकारि ।
हँसि हँसि कन्थ न पाइये जिनि पाया तिन रोइ,
जो हाँसे ही हरि मिले तो न दुहागिनि कोइ ।"

विरहिणी अपने प्रियतम के शुभागमन की आशा में मार्ग ही पर जाकर खड़ी हो गयी है और प्रत्येक पथिक से पूछती है, "तुमने उन्हें देखा है ? कब तक आ जायेंगे वे ?"

"—विरहिनि ऊभी पंथ सिर पूछे पंथी धाइ,
एक सबद कहि पीउ का कबरे मिलेंगे आइ ।"

निराकार के प्रति इस प्रेम में भी कितनी तल्लीनता है। प्रियतम ने प्रेम का एक बाण अपने भक्त के अन्तर को लक्ष्य करके मारा है। वह बाण ही अब भक्त के जीवन का आधार है। उसके बिना जीवन सम्भव ही नहीं।

"—जबहु मारा खींचि करि तब में पाई जाणि।
लागी चोट मरम्म की गयी कलेजा छांड़ि।
जिस सर मारी काल्हि सो सर मेरे मन बसा।
तिहि सर अबहु मारि सर बिनु सचु पाऊं नहीं॥"

कबीर का रहस्यवाद बहुत कुछ साधनात्मक लगता है और शुक्लजी इसीलिए उसे साम्प्रदायिक तक कहते हैं क्योंकि उनकी रचनाओं में हठयोगी प्रतीकों का ही समावेश है। किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रेम उनकी भी भक्ति का आधार था, जैसा सगुणोपासक भक्तों में होता है। इसका कारण भी था, वास्तव में निर्गुण सम्प्रदाय और सगुण सम्प्रदाय एक महान् भक्ति-आन्दोलन के ही दो भाग थे। इस वेदान्त भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात दक्षिण से हुआ था, इसके दो रूप थे—

(१) पौराणिक अवतारों को जिसने अपना केन्द्र बनाया अर्थात् सगुणोपासना।

(२) निर्गुण ब्रह्म को जिसने अपना केन्द्र बनाया अर्थात् निर्गुणोपासना।

किन्तु भक्ति की इन दोनों पद्धतियों में प्रेम समान रूप से ग्राह्य था। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी इस विषय में लिखते हैं—"प्रेम दोनों का मार्ग था, सूखा ज्ञान दोनों को अप्रिय था, अहैतुक भक्ति दोनों को काम्य थी। बिना शर्त भगवान के प्रति आत्मसमर्पण दोनों के प्रिय साधन थे। इन बातों में दोनों एक थे।"

इसमें तो संदेह नहीं कि कबीर पर हठयोग का प्रभाव है। इसीलिए हठयोग के प्रतीकों का कबीर में बाहुल्य है, किन्तु यह कहना ठीक न होगा कि वे और प्रभावों से बिलकुल मुक्त थे। कबीर का रहस्यवाद कितनी ही विचित्र वस्तुओं का मिश्रण है। डॉ० श्यामसुन्दरदास के अनुसार कबीर के रहस्यवाद पर हठयोग, सूफियों के प्रेम-तत्व तथा भारतीय अद्वैतवाद का प्रभाव स्पष्ट है।

कबीर की विरहिणी आत्मा का अपने प्रियतम से सम्मिलन हुआ था। वे राम से अलग थे ही नहीं, इसीलिए तो उन्होंने कहा था कि जब राम नहीं मरेंगे तो मैं कैसे मरूंगा—

"—राम न मरिहैं तो हमहु न मरिहैं।"

डॉ० हजारीप्रसाद के मतानुसार कबीर साधनात्मक योग से सहजयोग की ओर बढ़े हैं। हो सकता है, रामानन्दजी से साक्षात्कार होने के पहले वे हठयोग के समर्थक हों और उनके प्रभाव से बाद में सहजयोग को अधिक महत्व देने लगे हों—इसके प्रमाण उनकी रचनाओं से बराबर मिलते हैं। हो सकता है, रामानन्द से भेंट होने से पूर्व के विचार अस्पष्ट हों, किन्तु उनसे मिलने पर उनके (कबीर के) भ्रम दूर हो गये, ऐसा वे स्वीकार करते हैं—

"—सद्गुरु के परतापतें, मिट गयो सब दुःख दन्द,
कहु कबीर दुविधा मिटी, गुरु मिल्या रामानन्द ।।"

हो सकता है, प्रारम्भ में कबीर का विश्वास हठमार्ग में दृढ़ हो, वे शृंगी, मुद्रा, आसन, नाद आदि को अधिक महत्व देते हों, किन्तु अन्त में तो वे ये मानने लगे थे कि बिना भक्ति के सब कुछ व्यर्थ है और भक्ति बिना प्रेम के सम्भव नहीं—

"—भाग बिना नहिं पाइये, प्रेम प्रीति की भक्त।
बिना प्रेम नहि भक्ति कछु, भक्ति परस्यो सब जक्त ।।"

काया का योग (हठयोग) बिलकुल व्यर्थ है, मन का योग ही सब कुछ है। शृंगी, मुद्रा आदि तो मन के अन्दर ही देखी जा सकती है—

"—तन को जोगी सब करें, मन का बिरला कोइ।
सहजें सब विधि पाइये, जो मन जोगी होइ ।।" तथा

"—सो जोगी जाके मन में मुद्रा, राति दिवस ना करई निद्रा,
मन में आसण मन में रहना, मन का जप तप मनसूं कहणा।
मन में खपरा मन में सींगी, अनहद देव न बजावै रंगी,
पंच पर जारि भसम करि भूका, कहै कबीर सो लहसै लंका।"

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर में रामानन्द की भेंट के पश्चात् जो परिवर्तन हुआ, उसके विषय में लिखते हैं—"सो जिस दिन महागुरु रामानन्द ने कबीर को भक्तिरूपी रसायन दी, उस दिन से उन्होंने सहज समाधि की दीक्षा ली। आँख मूँदने और कान रूँधने के टन्टे को प्रणाम किया। मुद्रा और आसन की गुलामी को सलामी दे दी। उनका चलना ही परिक्रमा हो गया, काम-काज ही सेवा हो गये, सोना ही प्रणाम बन गया, बोलना ही नाम-जप हो गया और खाने-पीने ने ही पूजा का स्थान ले लिया। हठयोग के टन्टे दूर हो गये। खुली आँखों से ही उन्होंने भगवान के मधुर मादक रूप को देखा, खुले कानों से ही अनहदनाद सुना, उठते-बैठते सब समय समाधि का आनन्द पाया और अत्यन्त उल्लास के आवेग में उन्होंने घोषित किया—

"—साधो सहज समाधि भली।
गुरु-प्रताप जा दिन ते उपजी दिन-दिन अधिक चली ।।
जहँ-तहँ डोलों सोइ परिकरमा जो कुछ करों सो सेवा।
जब सोवों तो करों दण्डवत पूजों और न देवा ।।
कहों सो नाम सुनों सो सुमरिन, खाव पियों सो पूजा।
गिरह (गृह) उजाड़ एक सम लेखों भाव न राखों दूजा ।।
आँख न मूँदों कान न रूंधों तनिक कष्ट नहिं धारों।
खुले नैन पहिचानों हँसि-हँसि सुन्दर रूप निहारों ।।"

सगुणमार्गी भक्त कवियों एवं कबीर के प्रेम-विषयक दृष्टिकोण में एक मौलिक अन्तर यह है कि सगुण भक्ति में 'द्वैत' की भावना होती है। भक्त भगवान (साकार)

का नैकट्य प्राप्त करना चाहता है, उसमें लीन नहीं होना चाहता है। इसलिए वह संसार को सच्चा समझता है और भगवान को संसार में देखता है—

"—सियाराम मय सब जग जानी" तथा

"—पैज परे प्रहलादहुँ कौ प्रकटे प्रभु पाहनतें नहियें तें।" —'तुलसी'

किन्तु निर्गुणोपासक कवि होने के नाते कबीर अद्वैतवादी हैं। वे अपना अस्तित्व भगवान से अलग नहीं रखना चाहते, उसमें मिल जाना चाहते हैं, उसमें एकाकार हो जाना चाहते हैं, जैसे—

"—जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटो कुम्भ जल जलहि समाना यह तथ कथो गयानी॥"

लेकिन वह उस निराकर ब्रह्म से एकाकार होने में विश्व की सभी वस्तुओं को वाधक पाता है, अतः उन्हें वह माया जान कर त्याज्य मानता है। कबीर का भी दृष्टिकोण यही है, किन्तु समय-समय पर हुए आध्यात्मिक अनुभवों को कबीर प्रकट करना चाहते हैं। वाणी उनका साथ नहीं देती, "गूँगे केरी सर्करा, खाये और मुसकाइ।" इसलिए वे भावाभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का सहारा लेते हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार कबीर के कुछ प्रतीक हैं—

सुषुम्ना—शून्यपदवी (शून्यमार्ग) राजपथ, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, ब्रह्मनाड़ी, मध्यमार्ग, सरस्वती।

इड़ा—उल्टी गंगा, ब्रह्माण्ड में चढ़ाई, श्वासा, संसार मुखी रागरूपी गंगा का ब्रह्ममुखी होना।

संसार—समुद्र।

मन—भौंरा, चकवा, शश।

धरती—जड़माया, ब्रह्माण्ड।

पारधी—पार्थिव परम पुरुष, मन।

इसी प्रकार उनके काव्य में 'चदरिया शरीर की', 'पंच चोर'—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह के पंच रंग पंचतत्व के प्रतीक हैं। कबीर ताने-बाने के प्रतीकों से भी शरीर एवं आत्मा के रहस्यों को व्यक्त करने में सफल हुए हैं। प्रकृति के प्रति कबीर का दृष्टिकोण अन्य कवियों से भिन्न है क्योंकि उसे वे माया समझते हैं, अतः वह मिथ्या है।

सम्भवतः कुछ विशेष प्रतीकों को ही ध्यान में रखकर शुक्लजी ने कबीर के रहस्यवाद को शुष्क तथा साम्प्रदायिक कहा है। किन्तु डॉ० हजारीप्रसादजी के कबीर के साधना तथा भक्ति-विषयक निष्कर्ष अधिक तथ्यपूर्ण तथा युक्तियुक्त हैं। शुक्लजी के इस साम्प्रदायवाद का उत्तर देते हुए श्री विश्वनाथसिंह अपने 'छायावाद-रहस्यवाद' नामके लेख में लिखते हैं—

"—यदि संकीर्ण दृष्टि से देखा जाय तो किसी भी 'वाद'-विशेष के अन्तर्गत आने वाली कविता को साम्प्रदायिक कहा जा सकता है। राम और कृष्ण सम्बन्धी ईश्वरत्व भावना की व्याप्ति एक समुदाय-विशेष में होने के कारण हम 'तुलसी' और 'सूर' की भक्ति-भावना पर या उनके काव्यों के वैसे स्थलों पर, जहाँ उन्होंने अपने-अपने उपास्यों को ब्रह्म कहा है, बड़ी आसानी से साम्प्रदायिकता का आरोप कर सकते हैं। यदि काव्य के मूल विषय पर विचार करें तो निर्गुण ब्रह्म, सगुण ब्रह्म से हर हालत में अधिक व्यापक है, हृदय के साथ-साथ बुद्धि को भी सन्तुष्ट करने वाला है, अवतार-वाद और रहस्यवाद में व्यापकता की दृष्टि से कोई तुलना नहीं हो सकती। ब्रह्म का जो स्वरूप रहस्यवाद का आधार है, वह दार्शनिक उड़ान की चरम सीमा है।"

शुक्लजी हिन्दी में जायसी के रहस्यवाद को मधुरतम तथा सर्वश्रेष्ठ मानते हैं किन्तु कबीर की रचनाओं में से पर्याप्त ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो अगर भावुकता-मधुरता में जायसी से अधिक नहीं फिर भी कम तो किसी भी दशा में नहीं है—

"—नयनन की करि कोठरी पुतरी पलंग बिछाइ,
पलकन की चिक डारि कै पिउ को लेंउ बिठाइ।
× × × ×
चकवी बिछुरी रैनि की आइ मिलो परभाति,
जे जन बिछुरे राम से ते दिन मिले न राति।
वासरि सुख ना रैन सुख ना सुख सपने माहिं,
कबीर बिछुटया रामसूँ ना सुख धूप न छांह।
आँखड़ियाँ झाईं पड़ी पन्थ निहारि-निहारि,
जीभड़ियाँ छाला पड़ा राम पुकारि-पुकारि।
× × × ×
रामवियोगी ना जिये जिये तो बौरा होइ।
× × × ×
सुखिया सब संसार है खावै और सोवै,
दुखिया दास कबीर है जागै और रोवै।"

कबीर का रहस्यवाद वास्तव में न साम्प्रदायिक है, न शुष्क। ब्रह्म के विरह में दिन-रात तड़पने वाले कबीर की वाणी में साधना की गहराई है, प्रेम की तीव्रता है और जीवात्मा-परमात्मा के सम्मिलन का मधुर रहस्य है।

## जायसी का रहस्यवाद

जायसी का रहस्यवाद तत्वतः कबीर से भिन्न है। कबीर का रहस्यवाद तो भारतीय अद्वैतवाद के अनुकूल है और जायसी का इस्लामी एकेश्वरवाद के अनुकूल।

इसलिये कबीर जहाँ इस नामरूपात्मक संसार को मिथ्या मानते हैं, वहाँ जायसी ऐसा नहीं मानते। मायावाद के कारण ही प्रकृति कबीर के काव्य में बिलकुल उपेक्षित है, किन्तु जायसी प्रकृति के प्रति सहृदय हैं। वे अपने प्रियतम की आभा प्रकृति के अणु-अणु में देखते हैं। सूफी मत में 'मायावाद' जैसी कोई वस्तु नहीं है। जायसी ने अपने प्रसिद्ध काव्य 'पद्मावत' में 'रत्नसिंह' को एक साधक के रूप में चित्रित किया है। जायसी यह मानते हैं कि जब जीवात्मा इस संसार में शरीर ग्रहण करती है, तब से उसका विरह प्रारम्भ हो जाता है और वह परमात्मा के पास लौट जाना चाहती है। इसलिये परमात्मा के प्रति जिस व्यक्ति के हृदय में जितनी ही प्रचण्ड विरहाग्नि होगी, भक्त उतना ही सिद्ध और पहुँचा हुआ माना जायगा। लेकिन हर व्यक्ति अज्ञान के कारण ईश्वर के प्रति विरह का अनुभव नहीं करता, यह गुरु का उत्तरदायित्व है कि शिष्य के हृदय में विरह की एक चिनगारी लगादे और शिष्य के शिष्यत्व की सार्थकता तब है, जब वह उस चिनगारी को प्रेम-साधना के द्वारा विरहाग्नि में परिणत कर ले। जायसी एक स्थान पर कहते हैं—

"—गुरु विरह चिनगी धरि मेला,
जो सुलगाइ लेइ सो चेला।"

सूफी मत में भी साधना की कुछ सीढ़ियाँ हैं, जिनको चढ़कर उस प्रियतम तक पहुँचा जा सकता है।

(१) शरीयत—धर्म-ग्रन्थों के विधि-निषेध का सम्यक् पालन इसके अन्तर्गत आता है।

(२) तरीकत—बाह्य क्रिया-कलाप से परे केवल हृदय की शुद्धता द्वारा भगवान के ध्यान का विधान इसके अन्तर्गत है। इसे उपासनाकाण्ड भी कह सकते हैं।

(३) हकीकत—भक्ति और उपासना के प्रभाव से सत्य का सम्यक् बोध, जिससे साधक त्रिकालज्ञ हो जाता है, इसके अन्तर्गत है। इसे ज्ञानकाण्ड भी कह सकते हैं।

(४) मारफत—सिद्धावस्था, जब साधना द्वारा साधक की आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है।

जायसी ने अपनी पुस्तक 'अखरावट' में इन सबका वर्णन भी किया है—

"—कहीं सरीयत चिस्ती पीरु, उधरति असरफ औ जहँगीरु,
राह हकीकत परै न चूकी, पैठि मारफत मारि बड़ूकी।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भारतीय साधना-पद्धति से इसका साम्य बताते हुए लिखते हैं—

"—परगट लोकचार कहुबाता, गुपुत भाव मन जासौं राता।"

खिलवत दर अंजुमन (लोकाचार करते हुए उपासना) कहते हैं इसे। नफ्स

(विषय-भोगवृत्ति या इन्द्रियाँ) से युद्ध करते हुए भगवान तक पहुँचने के मार्ग को 'तरीका' कहते हैं। इसके मार्ग के पड़ावों को 'मुकामात' कहते हैं। जायसी ने चार बसेरे कहे हैं, वे या तो चार अवस्थाएँ हैं या ये ही चार मुकामात हैं—

"—चार बसेरे सों चढ़ै सत सों उतरै पार।"

ये अवस्थाएँ 'अहवाल' कहलाती हैं। 'अहवाल' अवस्था का प्राप्त होना 'हालआना' कहलाता है। यही मधुमती भूमिका की अवस्था है।

जायसी की भाँति साधना की इसी प्रकार की सीढ़ियों का वर्णन कबीर में भी मिलता है—

(१) यम ; (२) नियम ; (३) आसन ; (४) प्राणायाम ; (५) प्रत्याहार ; (६) धारणा ; (७) ध्यान ; (८) समाधि।

जिस प्रकार हठयोग का प्रभाव कबीर पर स्पष्ट है, उसी प्रकार जायसी पर भी उसका प्रभाव लक्षित होता है। सिंहलगढ़ और शरीर का संश्लिष्ट वर्णन जायसी करते हैं—

"—नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा, औ तहँ फिरहि पाँच कोतवारा।
दसवं दुआर गुपुत इक ताका, अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका।
भेदे जाइ कोइ ओहि घाटी, जो लहि भेद चढ़ै होइ चाँटी।
गढ़तर कुण्ड सुरंग तेहि माँहा, तहँ वह पन्थ कहौं तिहि पाँहा।
दसवं दुआर ताल कै लेखा, उलट दिष्टि जो लाव सो देखा।"

(नौ पौरी = नाक, कान, मुँह आदि नव द्वार। दसँव दुआर = ब्रह्मरन्ध्र। पाँच-कोतवारा = काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह। गढ़तरकुण्ड = नाभिकुण्ड जहाँ कुण्डलिनी है। सुरंग = सुषुम्ना नाड़ी, यह नाभिकुण्ड से होकर जाती है और ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शुष्कता का दोष केवल कबीर के सिर पर ही नहीं थोपा जा सकता। जहाँ हठयोग सम्बन्धी स्थल आये हैं, वहाँ जायसी में भी शुष्कता है। किन्तु सहजप्रेम की उच्च आध्यात्मिक भूमि पर कबीर ने जो काव्य-सृजन किया है, वह उतना ही मधुर है, जितना उसी भूमि पर किया गया जायसी का काव्य। किन्तु एक अन्तर अत्यन्त प्रत्यक्ष है—कबीर की अनुभूति व्यक्तिगत है, वे प्रिय का दर्शन अपने हृदय में करते हैं, विश्व में नहीं। इसलिए उनको जीवात्मा के विश्वात्मा से मिलने के प्रसंग रहस्यगर्भित हैं। किन्तु जायसी का प्रेम इतना व्यक्तिगत नहीं है। जायसी अपने प्रिय के दर्शन प्रकृति के माध्यम से करते हैं, इसलिए जायसी का रहस्य-वाद रहस्य का आभासमात्र है, अतः जहाँ वह अस्पष्ट है, मधुर भी अधिक है। कबीर में यदि साधना की गहराई है तो जायसी में दृष्टि का विस्तार ; कबीर में यदि रहस्यवाद की स्पष्टता अधिक है तो जायसी में रहस्यवादी मधुरता ; कबीर के रहस्य-वाद का आधार विश्व के प्रति विरक्ति है—विश्व से निवृत्ति है, किन्तु जायसी के रहस्यवाद का मार्ग विश्व के हृदय में होकर गया है, उनमें प्रवृत्ति भी है।

जायसी के 'पद्मावत' में जो रहस्यवादी स्थल आते हैं, वे उस परमात्मा की ओर मधुरता से इंगित कर जाते हैं। जायसी ने कबीर की भाँति जीवात्मा-परमात्मा के मिलन का आध्यात्मिक और रहस्यात्मक वर्णन नहीं किया। पद्मिनी और रत्नसिंह के प्रथम मिलन का वर्णन भौतिक अधिक है, आध्यात्मिक कम। जायसी के वे स्थल उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा, जहाँ रहस्य का आभासमात्र ही मिलता है। यह आभास, इसमें सन्देह नहीं, बड़ा ही मार्मिक, भावुक तथा हृदयग्राही होता है।

जायसी का हृदय एक साधक का हृदय है जो प्रियतम के विरह में सदा ही दुःखी रहता है, किन्तु जायसी उस दुःख का व्यक्तिगत वर्णन न करके उसका विश्वव्यापी प्रभाव चित्रित करते हैं। वे अकेले ही व्यथित नहीं हैं, अपितु प्रकृति के सभी तत्व 'उससे' मिलने के लिए व्याकुल हैं। लेकिन बिना कठिन साधना के मिलना सम्भव नहीं। वायु, अग्नि, जल सभी तो उससे मिलने के लिए आकुल-व्याकुल हैं, लेकिन असफलता और निराशा में अपना सिर पीट लेते हैं—

"—पवन जाइ तँह पहुँचे चहा, मारा तैस लोटि भुँइ रहा।
अगिनि जरी जरि उठी नियाना, धुवाँ उठा उठ बीच बिलाना।
पानि उठा उठि जाइ न छूआ, बहुरा रोइ आइ भुँइ चूआ।"

केवल जायसी ही नहीं, प्रकृति का अणु-परमाणु उसके विरह में व्यथित है। क्या पृथ्वी, क्या आकाश, सब ही 'उसके' विरह-शरों से विद्ध हैं—

"—उन बानन अस को जो न मारा, बेधि रह्यो सिगरो संसारा।
गगन नखत जो जाँहि न गने, वै सब बान ओहि के हने।
धरती बान बेधि सब राखी, साखी ठाढ़ देहि सब साखी।
बरुनि बरुनि अस ओपहँ बेधे रन बन ढाँख।
सौंजहि तन सब रोवां पंखहि तन सब पाँख ॥"

विश्व की जिन-जिन वस्तुओं में जो विशेषताएँ हैं, वे भी मानो उसी की प्रसन्नता या स्वागत-सत्कार के लिए हैं—

"—पहुप सुगन्ध करहिं एहि आसा, मकु हिरकाइ लेइ हम पासा।"

पद्मावती की प्राप्ति के लिए रत्नसिंह द्वारा की गयी यात्रा बाधाओं से भरपूर है। वास्तव में प्रियतम से मिलने के लिए प्रेमी को जिस साधना-मार्ग से चलना पड़ता है, वह भी अनेकों बाधाओं से युक्त है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि सफलता मिलेगी ही नहीं। अपने साथियों के निराश होने पर रत्नसिंह कहता है—

"—हौं रे पथिक परवेस, जेहि बन मोर निवाहु।
खेलि चला तेहि बन कहँ, तुम अपने घर जाहु ॥"

अन्त में साधना सफल होती है, साधक आराध्य के नैकट्य का अनुभव करता है, हृदय की सारी निराशा का सब कलमष धुल जाता है और उसके शरीर का रोम-रोम हर्ष से पुलकित हो उठता है—

"—देखि मानसर रूप सुहावा, हिय हुलास पुरइन होइ छावा।
गा अँधियार रैन मसि छूटी, भा भिनसार किरन रवि फूटी।
अस्ति-अस्ति सब साथी बोले, अन्ध जो अहे नैन विधि खोले।"

इसी प्रकार का एक आध्यात्मिक संकेत वहाँ भी है, जहाँ कवि पद्मावती की विदाई का वर्णन करता है। स्त्री का अन्तिम स्थान तो पति का घर ही है, वह अपने पितृगृह में तो तभी तक ठहरती है, जब तक वह अविवाहित है। यह जीवात्मा और परमात्मा का रूपक भी है। कबीर ने भी इस रूपक का उपयोग किया है। संसार पितृग्रह है, जीवात्मा का अन्तिम ध्येय परमात्मा है। जीवात्मा उससे मिलने को व्याकुल भी है, किन्तु इस संसार के प्रति मोह भी अत्यन्त स्वाभाविक है। जायसी पद्मावती के विवाहोपरान्त विदा का बड़ा ही मार्मिक और आध्यात्मपूर्ण चित्र देते हैं—

"—रोवहिं माता पिता औ' भाई, कोइ न टेक जो कंत चलाई।
भरी सखी सब भेंटत फेरा, अन्त कन्त सौं भयउ गुरेरा।
कोउ काहुकर नाहिं निआना, मायामोह बाँधा अरुझाना।
जब पहुँचाइ फिरा सब कोऊ, चला साथ गुन अवगुन दोऊ।"

जायसी कभी भी ऐसा अवसर नहीं छोड़ते जहाँ रहस्य का संकेत किया जा सकता हो। हाट का वर्णन करते समय भी उनके पारमार्थिक संकेत स्पष्ट हैं—

"जे जिन्ह ऐहि हाट न लीन विसाहा, ताकहँ आन हाट कित लाहा।"

× × × ×

"—कोई करै विसाहनी, काहू करे बिकाय,
कोई चलै लाभ सों कोई मूर गवाइ॥"

रत्नसिंह दिल्ली में बन्दी हैं। प्रेमातुरा पद्मिनी विलाप करती है। कवि पारमार्थिक संकेत के द्वारा उसके विलाप को आध्यात्मप्रधान बना देता है—

"—मो दिल्ली अस निवहुर देसू, केहि पूछहुँ को कहइ सँदेसू।
जो कोइ जाइ तहाँ कर होई, जो आवै किछु जान न सोई।
अगम पंथ पिय तहाँ सिधावा, जोरे गयउ सो बहुरि न आवा।"

दो प्रसंग और ऐसे हैं जहाँ कवि ने लौकिक वस्तुओं के माध्यम से अलौकिक तत्व की व्यंजना की है। एक तो है पद्मिनी के रूप-वर्णन का प्रसंग, दूसरा नागमती का विरह-वर्णन। नागवती का विरह साधारण नहीं है, उसमें सारी सृष्टि डूबी हुई है। वास्तव में तो सृष्टि स्वयमेव उस व्यापक विरह का अनुभव प्रति क्षण करती है। जायसी द्वारा चित्रित वियोग केवल नागमती का ही नहीं है वह तो प्रकृतिव्यापी है—

"—सूरज बूढ़ि उठा होइ राता, औ मँजीठ टेसू बनराता।
भा बसन्त राती बनसपती, औ राते सब जोगी जती।
भूमि जो भींजि भयउ सब गेरू, औ राते सब पंख पखेरू।
राती सती अगिनि सब काया, गगन मेघ राते तेहि छाया।"

जायसी ने पद्मिनी को साध्य या आराध्य के रूप में चित्रित किया है। रत्नसिंह साधक है और इन दोनों के मिलन में बाधक नागमती सांसारिकता का प्रतीक है। अन्त में इस रहस्य को खोल कर जायसी ने पूरी कथा को आध्यात्मिक रंग में रंग दिया है।

"—तन चितउर मन राजा कीन्हा, हिय सिंहल बुद्धि पद्मिनि चीन्हा।
गुरु सुआ जेहि पन्थ दिखावा, बिन गुरु जगत को निर्गुन पावा।
नागमती यह दुनिया धंधा, बाँचा सोइ न ऐहि चित बन्धा।
राघवदूत सोई सैतानू, माया अलाउद्दीन सुल्तानू।"

इसलिए कवि ने जहाँ भी पद्मिनी का रूप-चित्रण किया है, वहाँ उसमें उसने सदैव अलौकिकता का समावेश किया है। पद्मिनी का रूप केवल साधक रत्नसिंह के लिए ही सीमित नहीं है, वह तो विश्वव्यापी है। पद्मावती स्नान करके आती है, स्नान से पहले जब वह अपनी केशराशि को बन्धन-मुक्त करती है तो जैसे सारा विश्व अंधकारमय हो जाता है—

"—सरवर तीर पद्मिनी आई, खोंपा छोरि केस मुकुलाई।
आनेई घटा परी जग छाँहा..........................।
वेनी छोरि झार जौ बारा, सरग पतार होइ अँधियारा।"

पद्मावती के भ्रकुटि-संचालन से जैसे सारा विश्व ही संचालित है—

"—जग डोलै डोलत नैना हाँ, उलटि अड़ार जाँहि पल माँहा।
जबहिं फिराहिं गगन गहि बोरा, अस वै भवरचक्र कै जोरा।
पवन झकोरहिं देइ हिलोरा, सरग लाइ भुँइ लाइ बहोरा।"

संसार स्वयं शोभाहीन है, उसमें जो शोभा दृष्टिगोचर होती है, वह उसकी अपनी नहीं, अपितु पद्मिनी की शोभा का प्रतिबिम्बमात्र है। भौतिक पदार्थ उससे शोभा ग्रहण करके शोभाशाली होते हैं—

"—बिगसा कुमुद देखि ससिरेखा, भइ तहँ ओप जहाँ जो देखा।
पावा रूप रूप जस चाहा, ससि मुख सहुँ दरपन होइ रहा।
नयन जो देखा कमल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नगहीर॥"

इस विश्व के प्रकाश का मूल ब्रह्म है। विश्व का अणु-परमाणु उसी की ज्योति से ज्योतिर्मय है। पद्मिनी (ईश्वर का प्रतीक) भी सारे विश्व की ज्योति का मूल है—उद्गम है। उसके उज्ज्वल दाँत ही विश्व के प्रकाश के जनक हैं। सारे विश्व ने प्रकाश वहीं से ग्रहण किया है—

"—जेहि दिन दसन जोति निरमई, बहुतै जोति जोति ओहि भई।
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती, रतन पदारथ, मानिक मोती।
जहँ-जहँ विहँसि सुभावहि हँसी, तहँ-तहँ छिटकि जोति परगसी।"

जायसी की विशेषता इस बात में है कि उन्होंने साधना की सीढ़ियों एवं हठयोग की शुष्क-पद्धति का वर्णन नहीं किया अपितु लौकिक बातों से ही अलौकिकता का आभास दिया। प्रकृति का सुन्दर चित्रण और उसके द्वारा उस 'निराकार प्रियतम' का आभास उन्होंने दिया। जायसी ने पद्मिनी को सूफी धर्म के अनुसार ही ब्रह्म माना है (सूफी धर्म ईश्वर को माशूक मानता है)। कबीर ईश्वर को सदैव पुरुष मान कर चले हैं, उनका प्रेम भारतीय है जबकि जायसी का सूफी धर्म के अनुसार। कबीर अपने को दुलहिन मानते हैं, राम को दूल्हा। अद्वैतवाद से प्रभावित होने के कारण वे विश्व को प्रपंच तथा मिथ्या मानते हैं। जायसी विश्व के माध्यम से उसका आभास देते हैं। जायसी मिलन का सीधा वर्णन न करके यथास्थान उसका आभास देते चलते हैं। कबीर अपने व्यक्तिगत मिलन का सीधा वर्णन करते हैं। शुक्लजी जायसी को अधिक भावुक तथा मधुर मानते हैं—"कबीर में वाक्चातुर्य था, प्रतिभा थी, पर सहृदयता और भावुकता न थी। अतः इनका रहस्यवाद शुष्क है, मर्मस्पर्शी नहीं। हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में।" शुक्लजी की इस बात से हम सहमत हैं कि जायसी का रहस्यवाद मर्मस्पर्शी है, पर इस बात से नहीं कि कबीर का रहस्यवाद शुष्क है। कबीर के रहस्यवाद को स्पष्ट करते समय ऊपर जो उद्धरण कबीर की रचनाओं से दिये गये हैं, वे इस बात को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। कबीर उतने हो मधुर, भावुक और हृदयग्राही हैं, जितने जायसी। कबीर प्रेम को 'खाला का घर' नहीं समझते थे। "सीस उतारै भुँइ रखै तापै राखै पाँव—" ऐसे व्यक्ति को वे सच्चा प्रेमी समझते थे। जायसी भी कुछ ऐसा ही विचार रखते हैं। वे प्रेम को दुर्गम पर्वत के सदृश बताते हैं, जहाँ हर कोई नहीं जा सकता।

"—प्रेम पहार कठिन विधि गढ़ा, सौपै चढ़ै जो सिर सों चढ़ा।
पन्थ सूर करि उठा अँकूरू, चोर चढ़ै की चढ़ मंसूरू।"

जायसी का रहस्यवाद 'प्रबन्धगत' है, इसलिए वह सरल और मधुर जान पड़ता है। कबीर का रहस्यवाद उनके मुक्तक पदों में व्यक्त है। इसलिये कथा का आनन्द 'जनसाधारण के लिए' नहीं है, जितने उनके पद तन्मय कर देने वाले अनुभूतिपूर्ण और ब्रह्म के प्रति विरह-वेदना से भरे हैं। हिन्दी-साहित्य में कदाचित् मीरा को छोड़ कर और कवि उनसे टक्कर लेने योग्य नहीं। मीरा—गिरधर गोपाल के साथ मिलन के रहस्यमय वर्णन के कारण मीरा के भी कुछ पद रहस्यभवना से युक्त हैं, किन्तु मीरा का रहस्यवाद विशुद्ध इसलिए नहीं है क्योंकि वे सगुणरूप की ही उपासना करती थीं।

## आधुनिक रहस्यवाद और उसकी परिभाषाएँ

ऊपर कबीर और जायसी के रहस्यवाद का विश्लेषण किया जा चुका है। प्राचीन काल के रहस्यवादी कवियों के विषय में एक बात स्पष्ट है कि वे साधक पहले थे और कवि बाद में। भाषा तो उनके लिए एक माध्यम थी जिसके द्वारा वे अपने

हृदयोद्गारों को व्यक्त किया करते थे। कविता उनका चरम लक्ष्य नहीं थी। किन्तु आजकल के रहस्यवादी कवि पहले हैं और साधक बाद में भी नहीं। उनका रहस्यवाद काल्पनिक या बौद्धिक अधिक है, अनुभूतिपूर्ण या साधनापरक कम। आज तो हम रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं। जीवात्मा और परमात्मा (निराकार) के मिलन की काल्पनिक अनुभूति और उस काल्पनिक अनुभूति की साहित्याभिव्यक्ति ही रहस्यवाद है। इस रहस्यवाद में एक विचित्र तत्व यह भी है कि इसमें शेष सृष्टि के प्रति कवियों का दृष्टिकोण निवृत्तिमूलक न होकर प्रवृत्तिमूलक ही अधिक है। आज के कवि जायसी की भाँति ही विश्वात्मा का प्रतिबिम्ब प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं में देखते हैं। प्रकृति के प्रति इस दृष्टिकोण-विशेष ने आधुनिक रहस्यवाद को छायावाद का ही एक विकसित रूप बना दिया है। महादेवी वर्मा के शब्दों में वह छायावाद का दूसरा सोपान है। कवि ने प्रकृति को चेतना अनुप्राणित देखा, किन्तु यही पर्याप्त नहीं था। महादेवी लिखती हैं—

"—जब प्रकृति की अनेकरूपता में परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया है जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक-एक अंश अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा।"

"—परन्तु इस सम्बन्ध से मानव-हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुरागजनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती, तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुर व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना इस काव्य (छायावाद) का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही 'रहस्यवाद' का नाम दिया गया है।"

रहस्यवाद के विषय में विभिन्न विद्वानों के विचार जान लेना उचित होगा। रहस्यवाद की परिभाषा करते हुए डॉ० रामकुमार वर्मा लिखते हैं—

"—रहस्यवाद आत्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध अन्त में यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कोई अन्तर शेष नहीं रह जाता।"

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का विचार है कि

"—किसी परम परोक्ष सत्ता की अनुभूति व उससे मिलने की भावना रहस्यवाद है। अतः परोक्ष (परम) की रहस्यपूर्ण अनुभूति (अथवा उससे मिलने की भावना) के गीत रहस्यवादी (गीत) हैं।"

गंगाप्रसाद पाण्डेय के इस विषय में विचार हैं कि

"—रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने

असीम और पार्थिव अस्तित्व से उस असीम एवं अपार्थिव महाअस्तित्व के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लग जाता है।"

प्रसादजी के विचार भी इस विषय में महत्वपूर्ण हैं। प्रसादजी के कथन की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि वे रहस्यवाद को बाह्य-प्रभाव-प्रसूत नहीं मानते, अपितु उसे भारतीय भावना के अनुकूल तथा भारतीय काव्य-परम्परा का स्वाभाविक विकसित रूप मानते हैं—

"—वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है। वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष सहानुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहम् का इदम् से सम्बन्ध करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर इसमें सम्मिलित है। वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सम्पत्ति है, इसमें सन्देह नहीं।"

"—काव्य की आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।"

"—वास्तव में भारतीय दर्शन और साहित्य दोनों का समन्वय रस में हुआ था और यह साहित्यरस दार्शनिक रहस्यवाद से अनुप्राणित है।"

सारांश यह है कि रहस्य की भावना का निराकार के प्रति प्रणयानुभूति के मूल में रहती है और जब उस भावना को एक निश्चित पद्धति द्वारा साहित्यिक अभिव्यक्ति दी जाती है तो वही रहस्यवादी काव्य कहलाता है।

### छायावाद और रहस्यवाद

आरम्भ में छायावाद और रहस्यवाद एक ही वस्तु के दो नाममात्र समझे जाते थे, अर्थात् छायावाद और रहस्यवाद का एक ही अर्थ लिया जाता था। स्वयं शुक्लजी ने छायावाद को दो अर्थों में स्वीकार किया—(१) रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य-वस्तु से होता है, अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम अनेक प्रकार से व्यंजन करता है। (२) काव्य-शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में।

वास्तव में इस भ्रम का एक मुख्य कारण यह भी था कि छायावाद के मुख्य कवि ही रहस्यवाद के भी मुख्य कवि थे। किन्तु बाद में यह अन्तर धीरे-धीरे अधिक स्पष्ट हो गया। छायावाद तो प्रकृति में एक मानवीय चेतना के दर्शन करनामात्र है, अर्थात् प्रकृति की वस्तुओं में मानवीय दु:ख-सुख की भावना का आरोपमात्र है, किन्तु रहस्यवाद में प्रकृति में मानवीय भावनाओं का आरोप न होकर उस असीम सत्ता का आरोप होता है। जहाँ कवि प्रकृति में भौतिक मांसलता देखता है, वहाँ छायावाद और जहाँ निराकार परमात्मा का रहस्यमय आभास पाता है, वहाँ रहस्यवाद माना जाना चाहिए। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी। छायावादी कविता के उदाहरण इस बात को प्रकट करेंगे कि उनमें प्रकृति के उपादानों के प्रति एक आत्मीय

भाव है। रहस्यवाद के उदाहरण इस बात को व्यक्त करेंगे कि उनमें प्रकृति के माध्यम से उसी एक परमात्मा के दर्शन किये गये हैं।

छायावादी कविता

कुंज में पड़ी हुई छाया के प्रति—

"—कहो कौन तुम दमयन्ती सी हो तरु के नीचे सोई।
हाय ! तुम्हें भी छोड़ गया क्या अलि नल सा निष्ठुर कोई।"

संध्या-वर्णन

"—दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी-सी
धीरे, धीरे, धीरे"

जुही की कली

"—विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी, स्नेह-स्वप्नमग्न
अमल-कोमल-तनु तरुणी जुही की कली
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में"

शेफाली

"—बन्द कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से
यौवन उभार ने
पल्लव पर्यंक पर सोई शेफाली के"

रहस्यवादी कविता

"—शून्य नभ में उमड़ जब दुख भार-सी
नैश तम में सघन छा जाती घटा।
बिखर जाती जुगनुओं की पाँति भी
जब सुनहले आँसुओं के हार-सी।
तब चमक जो लोचनों को मूँदता
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है?

कह जाते नक्षत्र पड़ी हम पर माया की झाँई।
कह जाते ये मेघ हमीं करुणा की उनकी परछाई।।

× × ×

वे मन्थर सी लोल हिलोर फैला अपने अंचल छोर।
कह जातीं—'उस पार बुलाता है तुमको तेरा चित चोर।।"

× × ×

किसी निर्मम कर का आघात
छेड़ता जब वीणा के तार।
अनिल से चल पंखों के साथ
दूर जो उड़ जाता झंकार।
जन्म ही जिसे विरह की रात
सुनावे क्या वह मिलन प्रभात।"

उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि रहस्यवादी काव्य की शैली तो छाया-वादी है। हाँ, उसकी भाव-भूमि छायावाद से अधिक ऊँची और अधिक सूक्ष्म है। छायावादी और रहस्यवादी कविताओं में प्रकृति के विभिन्न पदार्थ, मेघ, लहर, उदधि, ज्योत्सना, पुष्प, निर्झर, तन्त्री, तार, लय आदि समान रूप से व्यवहृत होते हैं, किन्तु दोनों प्रकार की कविताओं के दृष्टिकोण में महान् अन्तर है। छायावादी कविता में प्रकृति की ये उपरोक्त वस्तुएँ स्वयं वर्णन का स्वतन्त्र विषय होती हैं, किन्तु रहस्यवादी कविता में ये वर्ण्य-विषय न होकर किसी भाव को घनीभूत करने में सहायक या किसी अज्ञात सत्ता के अव्यक्त इंगितों का संदेश देने वाली होती है। छायावाद में प्रकृति की वस्तुएँ कवि का अन्तिम लक्ष्य होती हैं और रहस्यवाद में किसी अज्ञात सत्ता की ओर इंगित करने का माध्यम, उस अज्ञात सत्ता (परमात्मा) को आभासित करने का माध्यममात्र।

### रहस्यवाद और शृंगारिकता

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि निराकार के प्रति प्रेम का अनुभव करना ही रहस्यवाद की मूल भावना है। निराकार ईश्वर की भक्ति करना ही रहस्य-वाद है, किन्तु यह भक्ति होनी चाहिए माधुर्यभाव की। निराकार ईश्वर को पति मानकर, प्रियतम मानकर, जो साहित्य रचा गया है, वह रहस्यवादी साहित्य के अन्तर्गत आता है। भक्त या साधक उस असीम सत्ता के प्रति प्रेम और उसकी अनुपस्थिति में विरह का अनुभव करता है, इसलिए वियोग-शृंगार तो रहस्यवादी काव्य की आधारभूमि ही है। कवि को कभी अपने उस प्रिय की उपस्थिति का आभास इस प्रकृति में मिला था, किन्तु आज तक वह उसे ही खोज रहा है। उसका जीवन अश्रुमय और निश्वासें व्यथामय हो गयीं हैं। उसके हृदय में जो भयंकर विरहाग्नि प्रज्ज्वलित है, आकाश के नक्षत्र उसकी चिनगारियाँमात्र हैं। कवि का विरह प्रकृति-व्यापी है (कुछ ऐसा ही विरह जायसी का है)। प्रसादजी अपने 'आँसू' नामक विरह-ग्रन्थ में अपने विरह को काव्य का रूप देते हैं—

"—ये सब स्फुलिंग हैं मेरी इस ज्वालामयी जलन के।
कुछ शेष चिह्न हैं केवल मेरे उस महामिलन के।।"

अब तो रात्रि जागते-जागते और रोते-रोते ही बीत जाती है। विरह की पीड़ा ही ऐसी है जो अग्नि से अधिक दाहक है और हिम से अधिक शीतल। अगर यह अग्नि

समाप्त हो जाय तो साधक की साधना व्यर्थ गयी। वह तो इस अग्नि को प्राणों का धन समझकर अपने अन्तर में सहेज कर रखता है। विरह की यही शीतल ज्वाला उसे असीम प्रिय के प्रति प्रेमोन्मुख बनाये रखती है—

"—शीतल ज्वाला जलती है
ईंधन होता दृग जल का
क्यों व्यर्थ श्वांस चल चल कर
करती है काम अनिल का।" —'प्रसाद'

जब प्रियतम की स्मृति सजग हो गयी तो फिर नींद कैसी ?

"—अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भीगी पलकों का लगना।"

"वह निष्ठुर, असीम प्रियतम इतने पर भी नहीं आया, लेकिन अब तो साधक की जीवन-संध्या आ गयी है—उसका इस संसार से चलने का समय आ गया है। क्या अब भी वह नहीं आयेगा ? अवश्य आयगा और वह आया भी, लेकिन आकारहीन प्रभु को काव्य के बन्धन में कैसे बाँधा जाय—उसका वर्णन किस प्रकार किया जाय ? वह स्वयं रहस्यावृत होकर आया है—सौन्दर्य और रहस्य दोनों साथ-साथ ! प्रसादजी लिखते हैं—

"—शशि मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाए।
जीवन की गोधूलि में, कौतूहल से तुम आए।"

वियोग श्रृंगारप्रधान होने के कारण प्राय: सभी रहस्यवादी काव्य-साहित्य आँसुओं से गीला है। वह विरहप्रधान है इसलिए वेदनाप्रधान है। हिन्दी के आधुनिक रहस्यवादी कवियों में भी महादेवी वर्मा में वेदना अपने प्रखरतम रूप में मिलती है। वे तो चाहती हैं कि प्रियतम उनके हृदय में दु:ख-आवरण के बीच रहे जिससे उसका हृदय सदैव दु:खपूर्ण रहे और उस असीम को वे संसार में ढूंढती फिरें—

"—तुम मानस में बस जाओ
छिप दु:ख के अवगुण्ठन में
मैं तुम्हें ढूंढने के मिस
परिचित हो लूँ कण-कण से।"

वे तो यावज्जीवन अपने प्रिय के प्रेम की प्यासी रहना चाहती हैं क्योंकि वे जानती हैं "बूझते ही प्यास हमारी पल में विरक्ति जाती बन"। इसलिये वे जीवन में तृप्ति नहीं चाहतीं—जीवन भर रोते रहना चाहती हैं—

"—मेरे छोटे जीवन में,
देना न तृप्ति का कण भर।
रहने दो प्यासी आँखें,
भरती आँसू के सागर।"

महादेवी का विश्वास है कि दुःख जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जायगा, जब वह सीमाहीन हो जायगा तो सुख में बदल जायगा। इसलिये वे जीवन-भर जलती रहना चाहती हैं—

"—चिर ध्येय यही जलने का,
ठण्डी विभूति बन जाना।
है पीड़ा की सीमा यह,
दुःख का चिर सुख हो जाना।"

साधक जिस मार्ग से साध्य तक पहुँचता है, दीर्घ सहवास के कारण उसे उस मार्ग के प्रति भी मोह हो जाता है। महादेवी 'प्रेमपीर' को प्रिय के समान ही मादक समझने लगी हैं—

"—प्रिय से कम मादक पीर नहीं।"

इतना ही नहीं, वे कहती हैं, "तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा।" वे जानती हैं कि प्रियतम से जिस दिन भेंट होगी, पीड़ा की इतनी लम्बी कहानी 'कठिन साधना का इतना ज्वलंत इतिहास' अनायास ही समाप्त हो जायगा। वेदना से उन्हें मोह है, प्रिय-सम्मिलन की उत्कट इच्छा भी उनके हृदय में है। मिलन और विरह दोनों एक साथ कैसे रहें? पर महादेवी तो यही चाहती हैं कि सरिता जैसे अपने दोनों किनारों को छूकर चलती है, मेरा जीवन भी विरह और मिलन दोनों को छूता हुआ चले—

"—चिर विरह-मिलन पुलिनों की सरिता हो मेरा जीवन,
प्रति पल होता रहता हो युग कूलों का आलिङ्गन।"

विरह प्रेम की अग्नि-परीक्षा है। सच्चे प्रेमी का प्रेम इसमें तपकर स्वर्ण की भाँति चमकता ही जाता है और झूठे प्रेम की कलई इस कठोर अग्नि में तुरन्त खुल जाती है। महादेवी इस विरहाग्नि में अपने प्रेम को तपा-तपा कर स्वर्ण की भाँति निखार रही हैं—

"—पीड़ा ही पीड़ा संज्ञाहीन,
साधना में डूबा उद्‌गार।
ज्वाला में बैठा हो निस्तब्ध,
स्वर्ण बनता जाता है प्यार।"

महादेवीजी जानती हैं कि विरह की आकुलता ही वह वस्तु है, जिसकी तन्मयता में साधक प्रपंचात्मक संसार को भूल कर प्रिय से मिल सकता है। परमात्मा के प्रति

जितना उत्कट प्रेम होगा, उतना ही तीव्र विरह और उतनी ही तीव्र व्याकुलता बढ़ेगी—

"—व्याकुलता ही आज बन गयी तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य द्वैत क्या कैसी बाधा ?"

महादेवीजी पीड़ा का मानो एक साक्षात विश्व हैं। उनके अस्तित्व से ही ईश्वर का अस्तित्व है। जब वे नहीं रहेंगी तो ईश्वर का पीड़ा का राज्य समाप्त हो जायगा, अर्थात् विश्व में फिर पीड़ा आयेगी कहाँ से—

"—चिन्ता क्या है रे निर्मम ! बुझ जाये दीपक मेरा।
हो जायेगा तेरा ही पीड़ा का राज्य अँधेरा।"

हिन्दी में आधुनिक कवियों में विरह का उत्कट रूप और साधना की गहराई, यदि किसी में है तो महादेवी में, इसलिए सच्चे अर्थों में तो आज की वे ही एकमात्र रहस्यवादिनी कवियित्री हैं। 'पन्त' और 'निराला' बौद्धिक अधिक हैं, भावुक कम। इसलिये उनके काव्य में विरह का वह उत्कृष्ट रूप नहीं मिलता जो महादेवीजी में, यों तो रहस्यमय उक्तियाँ 'प्रसाद', 'पन्त' और 'निराला' में भी मिल ही जाती हैं। 'प्रसादजी' का रहस्यवाद जिज्ञासाप्रधान अधिक है। किसी अज्ञात रहस्यमय लोक में जाने की इच्छा तो प्रायः इन सब कवियों की रही है। रामकुमार वर्मा एक स्थान पर लिखते हैं—

"—मैं जाता हूँ बहुत दूर, रह गयी दिशाएँ इसी पार।
श्वासों के पथ पर बार-बार कोई कर उठता है पुकार।"

महादेवी वर्मा भी इस नश्वर विश्व की परिधि में नहीं रहना चाहतीं, वे भी उस रहस्यमय प्रदेश को देखने को उत्सुक हैं—

"—तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देखलूँ उस पार क्या है ?
जा रहे जिस पथ से युग-कल्प उसका सार क्या है ?
क्यों मुझे प्राचीर बन कर आज मेरे स्वास घेरे
फिर विकल हैं प्राण मेरे।"

'प्रसादजी' भी इस संघर्ष और कोलाहल भरे संसार को छोड़ कर उसी अज्ञात और रहस्यमय देश में जाने को इच्छुक हैं, जहाँ न इस संसार के से छल हैं और न भयंकर कोलाहल—

"—ले चल मुझे भुलावा देकर,
मेरे नाविक धीरे-धीरे !
जिस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेमकथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।"

**'पन्त'**

'पन्तजी' में जहाँ-कहीं आध्यात्मिक संकेत अवश्य है, परन्तु वास्तव में 'पन्त' कभी रहस्यवादी न रहे और न हैं। यों तो यदि भावों की अस्पष्टता और भाषा की क्लिष्टता को काव्य का रहस्य माना जाय तो 'पन्त' अवश्य बड़े रहस्यवादी ठहरेंगे; परन्तु निराकार के प्रति प्रणय की अनुभूति जो रहस्यवाद को जन्म देती है, विरह की वह उत्कट तीव्रता जो रहस्यवादी काव्य को भावों की मधुरता और अश्रुओं की सजलता प्रदान करती है, उनमें नहीं है। 'पन्तजी किसी भाव-धारा में डूबते नहीं हैं, वे तटस्थ दर्शक बने रहते हैं। वे विश्व के सब पदार्थों से अधिक अपने आप को ही महत्व देते हैं। इसलिये उनके काव्य में रहस्यवाद का अभाव है। 'पन्तजी' छायावादी अवश्य हैं। प्रकृति के प्रति उनका ममतामय दृष्टिकोण तथा भाषा की लाक्षणिकता उनको निस्सन्देह छायावादी कवियों में शीर्ष-स्थान पर रखती है। किन्तु इधर 'पन्तजी' आध्यात्मवादी हुए अवश्य हैं किन्तु उनके काव्य में दार्शनिकता की अधिकता और बुद्धि-प्रामुख्य से शुष्कता ही अधिक आई है। 'पन्तजी' में जहाँ-तहाँ रहस्य की भावना मिलती है। 'मौन निमन्त्रण' उनकी ऐसी कतिपय कविताओं में एक है—

"—स्तब्ध ज्योत्सना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान
न जाने नक्षत्रों से कौन,
निमन्त्रण देता मुझको मौन।"

**'निराला'**

छायावादी काव्य के लौह-पुरुष 'निराला' भावुक इतने नहीं हैं जितने बुद्धि-प्रधान। महादेवीजी की भाँति विरह का एक सूत्र उनकी रचनाओं में अन्तर्व्याप्त नहीं है, किन्तु इस जग के पार जाने की इच्छा तो उनकी भी है, जहाँ रूप की ज्योति सहस्रशः रूपों में खिली है तथा जहाँ सदैव आनन्द की धारा प्रवाहित रहती है—

"—हमें जाना है जग के पार
जहाँ नयनों से नयन मिले
ज्योति के रूप सहस्र खिले
सदा ही बहती नव-रस-धार
वहीं जाना इस जग के पार।"

इस प्रकार वे 'उस असीम' के अंचल में एक दिन अपने चिर रुदन को छिपा देना चाहते हैं—

"—एक दिन छिप जायगा रोदन तुम्हारे अंचल में।"

### डॉ० रामकुमार वर्मा

कुछ लोग डॉ० रामकुमार वर्मा को भी रहस्यवादी कवि मानते हैं, किन्तु उनमें उस अनुभूति की गहराई के दर्शन नहीं होते जो महादेवी वर्मा में है। वे शुद्ध कल्पना के कवि हैं।

### रहस्यवाद और प्रकृति

छायावादी काव्य में प्रकृति का जो स्थान है, उससे कम महत्वपूर्ण स्थान रहस्यवाद में नहीं हैं। कवि प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं में उसी 'असीम सत्ता' का आभास पाते हैं। प्रकृति उन्हें अपने साथ 'उसके' विरह में अश्रुमुखी दिखाई देती है। महादेवीजी अपने प्रिय से निवेदन करती हैं कि हे, निष्ठुर, देखो सारी सृष्टि ही मिटी जा रही है, अकेली मैं ही तुम्हारे वियोग में नहीं मिट रही हूँ—

"—हँस देता नव इन्द्रधनुष की स्मिति घन मिटता-मिटता,
रँग जाता है विश्वराग से निष्फल दिन ढलता-ढलता,
कर जाता संसार सुरभिमय एक सुमन झरता-झरता,
भर जाता आलोक तिमिर में, लघु दीपक बुझता-बुझता,
मिटने वालों की हे निष्ठुर,
बेसुध रँगरलियाँ देखो।"

महादेवीजी अपने प्रिय से कहती हैं कि मैं ही अकेली बन्धनों में नहीं बँध रही हूँ, अपितु यह सारी सृष्टि ही कड़ियों में बँधी है। यहाँ का अणु-परमाणु अपने विकास के लिए समाप्त हो जाता है और इस प्रकार वह विकसित और विकसिततर अवस्था की कड़ी बन जाता है। सारा विश्व इन्हीं कड़ियों में बँधा है—

"—गल जाता लघु बीज असंख्यक नश्वर बीज बनने को,
तजता पल्लव वृन्त पतन के हेतु नये विकसाने को,
मिटता लघु पल प्रिय देखो कितने युग कल्प मिटाने को,
भूल गया जग भूल विपुल भूलोंमय सृष्टि रचाने को,
मेरे बन्धन आज नहीं प्रिय'
संसृति की कड़ियाँ देखो।"

महादेवीजी अपने प्रिय से कहती हैं कि मेरा जीवन बिल्कुल 'सांध्य-गगन' जैसा है और इस प्रकार अपनी दशा के वर्णन के साथ-साथ सांध्य-गगन का एक उत्कृष्ट चित्र प्रस्तुत करती हैं—

"—प्रिय सांध्य-गगन, मेरा जीवन,
यह क्षितिज बना धुँधला विराग
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग
छाया सी काया वीतराग
सुधि भीने स्वप्न रँगीले घन !

साधों का आज सुनहलापन,
घिरता विषाद का तिमिर सघन,
संध्या का नभ से मूक मिलन,
यह अश्रुमती हँसती चितवन !

× × ×

इच्छाओं के सोने से शर
किरणों से द्रुत झीने सुन्दर
सूने असीम नभ में चुपकर..... ...
बन बन आते नक्षत्र सुमन !

घर लौट चले सुख दुख विहग,
तम पोंछ रहा मेरा अंग जग
छिप चला आज वह चित्रित पग
उतरो अब पलकों में पाहुन !"

उपरोक्त कविता के अक्षर-अक्षर में जैसे सूक्ष्म-प्रकृति-निरीक्षण स्पष्ट बोल रहा है। मानवीय मनोभावों एवं प्रकृति के ऐसे सुन्दर संश्लिष्ट चित्र हिन्दी-साहित्य में अधिक नहीं मिलेंगे। उपरोक्त कविता वास्तव में छायावादी शैली के चरम विकास के साथ, रहस्यवाद के चरम विकास की भी रेखाएँ खींचती है। प्रकृति लगती है, जैसे जीवन के साथ अन्न-जल के समान मिल गयी है। वह अपने से बाहर कुछ नहीं है। छायावाद में प्रकृति का जो शृंगार हुआ है, रहस्यवाद ने उसको सम्पूर्णता की सीमा तक तो पहुँचाया ही है, इसके साथ-साथ उसे साधक की अनन्त यात्रा के मार्ग का चिर सहचर भी बना दिया है। हिन्दी के आज तक के काव्य-साहित्य में प्रकृति रहस्यवादी काव्य में अपने सुन्दरतम रूप में मिलती है।

वास्तव में साधक के हृदय में जब वह 'असीम' अपने शशि-मुख को घूँघट में छिपाये, रहस्यमय रूप में पदार्पण करता है तो साधक को प्रकृति का अणु-अणु उसी ज्योति से ज्योतिर्मय और उसी चेतना से अनुप्राणित लगता है। फिर संसार में जड़ और चेतन नामक दो तत्व ही नहीं रह जाते। जड़ कहलाने वाली प्रकृति उस अखण्ड आनन्द से चेतन हो उठती है। 'प्रसादजी' ने 'कामायनी' के अन्त में अखण्ड आनन्द में सजीव दिखती प्रकृति का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। निस्सन्देह रहस्यवाद में प्रकृति के सुन्दर चित्रण का यह उत्कृष्ट उदाहरण है—

"—हिम खण्ड रश्मिमंडित हो
मणि दीप प्रकाश दिखाता;
जिनसे समीर टकरा कर
अति मधुर मृदंग बजाता।

× × ×

रश्मियाँ बनी अप्सरियाँ
अन्तरिक्ष में नचती थीं;
परिमल का कनकन लेकर
निज रंगमंच रचती थीं ।

मांसल सी आज हुई थी
हिमवती प्रकृति पाषाणी
उस लास रास में विह्वल,
थी हँसती सी कल्याणी ।

वह चन्द्र किरीट रजत नग
स्पन्दित सा पुरुष पुरातन;
देखता मानसी गौरी
लहरों का कोमल नर्तन

× × ×

सम-रस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था ।"

## रहस्यवाद का कलापक्ष

छायावाद के कलापक्ष की जो विशेषताएँ हैं, वे रहस्यवाद के कलापक्ष की भी हैं। वास्तव में रहस्यवादी काव्य की शैली छायावादी ही है । छन्दों का जहाँ तक सम्बन्ध है, रहस्यवादी काव्य में 'गीतों' का ही प्रयोग अधिक हुआ है। हिन्दी के सब कालों के सभी रहस्यवादी कवियों ने अपनी आत्माभिव्यक्ति पदों (गीतों) में ही की है। आज का रहस्यवादी काव्य भी उसका अपवाद नहीं ।

———

अध्याय ८

# प्रगतिवाद

## भूमिका

साहित्य भावों की क्रीडाभूमि है। भावों के अनजान शिशु-साहित्य की रज में ही लोट कर पुष्ट होते हैं। कवि भावों का जनक है। वही अव्यक्त भावनाओं को शब्दों में साकार करता है। कवि समाज का प्रतिनिधि है, अपने युग का उद्घोषक। वह अपने समाज से प्रभावित होता है—आन्दोलित होता है। हृदय और मस्तिष्क की हलचल ही शब्दों का शरीर प्राप्त कर साहित्य बन जाती है, किन्तु हलचल गति का ही दूसरा नाम है और गति ही जीवन है, इसलिए यदि कहें कि साहित्य जीवन की शब्दरूप अभिव्यक्ति है तो असंगत न होगा। किन्तु जीवन क्या है? गति या परिवर्तन ही जीवन है। अतः साहित्य में गति या जीवन के गुण होना अनिवार्य है। सृष्टि के आदि काल से लेकर आज तक प्रत्येक युग का साहित्य अपना व्यक्तित्व रखता है, अपनी विशिष्टताओं से युक्त है। उसमें यह अन्तर क्यों? केवल इसलिए कि विश्व गतिशील है और इसलिए साहित्य भी गतिशील होना चाहिए। प्रश्न उठता है कि 'साहित्य' युग-युग का होना चाहिए कि युग का? उत्तर स्पष्ट है। 'साहित्य' आगत का दर्पण और अनागत का प्रदीप होता है। जो बीत चुका है, वह तो उसमें हम देखते ही हैं किन्तु वर्तमान की भी तो झाँकी हमारा साहित्य ही देगा एवं भविष्य के लिए सन्देश भी वही देगा। जो साहित्य युग का नहीं होगा, वह युग-युग का कैसे हो सकता है? प्रत्येक युग का साहित्य तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम होता है। उन परिस्थितियों से अलग करके न तो हम उस साहित्य का उचित अध्ययन कर सकते हैं और न उचित मूल्यांकन। अतः यह स्पष्ट है कि युग और साहित्य एक-दूसरे में प्रतिबिम्बित होते हैं। युग परिवर्तनों के समुच्चय का प्रतीक है, इसलिए प्रत्येक युग का साहित्य भी अपने युग के परिवर्तनों के लिए वाणीस्वरूप होता है।

## पृष्ठभूमि

द्विवेदी काल की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रियास्वरूप छायावाद का युग हिन्दी-साहित्य में आया। उसके आने के और भी सामाजिक, राजनैतिक एवं अन्य कारण

थे। उसी प्रकार छायावाद की सूक्ष्मता की प्रतिक्रियास्वरूप प्रगतिवाद का आविर्भाव हिन्दी-साहित्य में हुआ। युग की पुकार पर छायावाद को अपने साहित्यिक आसन का परित्याग प्रगतिवाद के पक्ष में करना पड़ा और इस प्रकार साहित्य से उसे निर्वासित कर दिया गया क्योंकि छायावाद अपने युग की आवश्यकताओं के अनुरूप आचरण करने में असफल रहा। युग के विरुद्ध वह टिक नहीं सका, विश्व में आज तक कोई भी युग-विरोधी होकर नहीं टिक सका। छायावाद में क्या कमियाँ थीं, जिसके कारण वह श्रीहत होकर निर्वासित हुआ? प्रसिद्ध छायावादी कवि 'पन्त' उसे उचित रूप से व्यक्त कर सके हैं—

"—छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रह कर केवल अलंकृत संगीत बन गया था। वह नये युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नहीं कर सकता था। उसमें व्यावसायिक क्रान्ति और विकासवाद के बाद का भावना-वैभव तो था, पर महायुद्ध के बाद की अन्न-वस्त्र की धारणा (वास्तविकता) नहीं आई थी। छायावाद जीवन की वास्तविकता से पलायन का काव्य था, वह आकाशवासी कल्पना की श्वासों पर जीवित था। विश्व के नग्न, दुःखानलदग्ध रूप से उसे विरक्ति थी, अतः वह केवल 'सुन्दरम्' का ही प्रतीक रह गया था, सत्य उसमें बहुत दूर छूट गया था। इस समय ऐसे काव्य की आवश्यकता थी जिसका दृष्टिकोण यथार्थ एवं ऐतिहासिक हो तथा जो अपने युग की सभी समस्याओं को वाणी दे सके। ये सभी विशेषताएं प्रगतिवाद में थीं।" 'पन्तजी' इसी बात को और भी स्पष्ट रूप में कहते हैं—"ऐतिहासिक विचारधारा से मैं अधिक प्रभावित इसलिए भी हुआ हूँ कि उसमें कल्पना के स्रोत को विशद और वास्तविक पथ मिलता है। छायावाद के दिशाहीन शून्य-सूक्ष्म आकाश में अति काल्पनिक उडान भरने वाली अथवा रहस्यवाद के निर्जन अदृश्य शिखर पर कालहीन विराम करने वाली कल्पना को एक हरी-भरी ठोस, जनपूर्ण धरती मिल जाती है।"

अतः यह स्पष्ट हो गया कि प्रगतिवाद के हिन्दी-साहित्य में आविर्भाव के दो कारण मुख्य हैं—

(१) छायावाद की प्रतिक्रिया;

(२) युग की पुकार।

## प्रगतिवाद का आरम्भ तथा परिस्थितियाँ

इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि प्रगतिवाद अपने अस्तित्व के लिए पाश्चात्य विचाराधारा या पश्चिम का ऋणी है। भारत के बंगाल प्रान्त की उर्वरा एवं शस्यश्यामला भूमि विदेशी विचार-बीजों के लिए भी कभी विरुद्ध-प्रकृति नहीं हुई। पूर्वी और पश्चिमी विचारधारा उस भूमि में समानरूप से अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित होती रही हैं। रोमान्टिक साहित्य का सबसे प्रथम प्रभाव पड़ा बंगाल पर।

छायावाद की मौलिक जन्मभूमि होने का श्रेय भी भारत में उसी को प्राप्त है। प्रगति तथा 'प्रगतिवाद' के दर्शन को भी उसी ने भारत के अन्य प्रान्तों को दिया। 'प्रगति' की विचारधारा बंगाल में सर्वप्रथम सन् १९२७ के लगभग प्रकाश में आई। श्री बुद्धदेव वसु और श्री अजितदत्त ने 'प्रगति' नामक मासिक-पत्रिका ढाका से निकाली। हिन्दी में इसका आरम्भ सन् १९३६ के लगभग मानना चाहिए। यहाँ 'प्रगतिशील लेखक-संघ' की स्थापना नवम्बर सन् १९३५ में हुई। सज्जाद जहीर तथा डॉ० मुल्कराज आनन्द इसके मूल संस्थापकों में हैं। अप्रैल सन् १९३६ में 'प्रगतिशील लेखक-संघ की प्रथम बैठक लखनऊ में उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्दजी की अध्यक्षता में हुई तथा इसके लगभग दो वर्ष पश्चात् इसकी दूसरी बैठक सन् १९३८ में रवीन्द्रनाथ के सभापतित्व में कलकत्ते में हुई।

'प्रगतिवाद' के आरम्भ की परिस्थितियों पर ध्यान देना आवश्यक है। इस समय तक भारतीय जनता राजनैतिक रूप से प्रबुद्ध हो उठी थी। अंग्रेजों के अत्याचार ने उसे और भी क्रुद्ध बना दिया था। असन्तोष और क्रोध की भयंकर ज्वाला देश के अन्तर में व्यापकरूप से धधक रही थी। भारत विस्फोट-आसन्न ज्वालामुखी बना हुआ था। गांधीजी की अहिंसा और प्रेम का जादू लोगों को मन्त्रमुग्ध नहीं कर पा रहा था। धधकती घृणा क्रुद्ध लावे के रूप में फूट पड़ना चाहती थी, चाहे फिर उसका परिणाम कुछ भी क्यों न हो! नेताजी सुभाषचन्द्र बोस उस विस्फोट के समर्थक थे। वे 'प्रतीक्षा करो' के समर्थक नहीं थे, वे तो 'करो या मरो', 'अब या कभी नहीं' (Now or never) का नारा लगा रहे थे। जनता की सहानुभूति सुभाष के साथ थी। गांधीजी उस समय संघर्ष आरम्भ करने के विरोधी थे। जनता 'कुछ करने के लिए' उत्कंठित थी। उसे छायावादी, हालावादी कविताओं के प्रति कुछ भी आकर्षण नहीं था। राष्ट्रीय कविताएँ (विशेषरूप से उग्र) बड़ी रुचि से पढ़ी और सुनी जाती थी। साहित्य-जगत में ऐसे समय 'प्रगतिवाद' शब्द को लोगों ने सहर्ष ग्रहण किया और जन-जीवन का काव्य होने के नाते समाज में उसे लोकप्रियता भी शीघ्र ही मिली। यही कारण है कि प्रसिद्ध छायावादी कवि शीघ्र ही प्रगतिवादी हो गये क्योंकि जनता की रुचि वे पहचानते थे। 'प्रगतिवाद' हिन्दी-साहित्य में युग की पुकार या आवश्यकता के रूप में आया। उसका प्रचार-प्रसार इसलिए और भी शीघ्र हुआ कि छायावाद के काल्पनिक गानों से 'अन्न-वस्त्र-पीड़ित' जनता ऊब गयी थी और अब वह वास्तविकता के गाने सुनना चाहती थी। द्विवेदीकाल की इतिवृत्तात्मकता ने छायावाद के प्रचार-प्रसार के लिए मार्ग साफ किया था और छायावाद की सूक्ष्मता (अतीन्द्रियता) ने प्रगतिवाद के प्रचार-प्रसार के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

### प्रगतिशील काव्य और प्रगतिवाद

सन् १९३५ से पूर्व प्रगतिवाद शब्द हिन्दी-साहित्य में अपरिचित था। किन्तु क्या इससे पूर्व प्रगतिशील काव्य या प्रगतिशील कवियों का नितान्त अभाव था? बात

ऐसी नहीं है। अन्याय न सहने की भावना, अन्याय के प्रति क्रोध की भावना मनुष्य-जाति में चिरन्तन है। वास्तव में प्रगति शब्द सापेक्षिक है, उसका अलग न कोई अर्थ है और न महत्व। वह तुलनात्मकता का प्रतीक है। वीरगाथाकाल से लेकर आज तक जिन महान् कवियों ने अपने-अपने समय में फैली रूढ़ियों का विरोध किया है, वे सब प्रगतिशील कवि कहे जायेंगे और उनका काव्य 'प्रगतिशील काव्य।'

लेकिन प्रगतिशील काव्य की कोई कसौटी तो रखनी ही पड़ेगी जिस पर किसी साहित्य को कसा जा सके। जन-कल्याण की भावना ही ऐसी कसौटी हो सकती है।

वीरगाथाकाल को लिया जाय, उसमें कुछ प्रगतिशील काव्य है या नहीं? प्रगतिशील कवि हैं या नहीं? युद्ध का तांडव नृत्य वीरगाथाकालीन साहित्य में मिलता है जो खड्गों की खटखटाहट, हाथियों की चिंघाड़, घोड़ों की टाप, वीरों के सिंहनाद, तथा कायरों के अन्र्तनाद के संगीत से पूर्ण है। तत्कालीन कवियों के युद्धोत्तेजक कविता-स्वर, जिनमें युद्ध में कट-मरने के लिए वीरों का आह्वान है, आज भी साहित्य में अमिट है। परन्तु प्रश्न यह है कि वे युद्ध क्यों लड़े गये थे? उनका परिणाम क्या हुआ? तत्कालीन कवियों का उन युद्धों में क्या महत्व है? वीरगाथाकाल में समस्त भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। ये सामन्त अपने को सार्वभौम राजा समझते थे और युद्ध का कारण जनता की भलाई नहीं, वरन् शत-प्रतिशत उनकी कामलिप्सा थी।

आल्हाखण्ड के इन शब्दों में जैसे आज भी उस काल का सौभाग्य रो रहा है—

"—जिहि की बिटिया सुन्दर देखी तिहि पर जाइ धरे हथियार।"

इन चारणों या कवियों का महत्व क्या था? वे राजाओं के कुकृत्यों के कारण उदासीन जनता में जननी के दूध, पत्नी के सिन्दूर तथा मातृभूमि की लज्जा के नाम पर आपस में ही कट-मरने का युद्धोन्माद भरा करते थे। इतिहास के विद्यार्थी के लिए यह बात अस्पष्ट नहीं है कि ये चारण कवि अपने आश्रयदाता सामन्तों की चापलूसी करके उनको ब्रह्मा, विष्णु और महेश का अवतार बताकर भोली जनता को पथ-भ्रष्ट कर रहे थे। किसी एक लोकनायक के अभाव में जनशक्ति का अपव्यय हो रहा था। युद्ध-क्षेत्र रक्त-मांस से पट जाने पर उसका परिणाम निकलता था 'राजकुमारी हर ली गयी।' अनैतिकता के पोषक राजन्य वर्ग के लिए जनता अपना सर कटा रही थी। राष्ट्र की जीवनी-शक्ति जैसे-जैसे धीरे-धीरे रिस रही हो। परिणाम यह हुआ कि जब विदेशी आक्रान्ताओं ने भारत को पददलित किया तब तक जनता की शक्ति अपने नरेशों के विलास-यज्ञ की अन्तिम आहुति बन चुकी थी। जो कुछ शक्ति शेष भी थी, उसको भी एक सूत्र में पिरोकर उसे सुव्यवस्थित करने की बात न तो तत्कालीन दम्भी नरेशों ने सोची, न उनके चाटुकार चारणों ने वह बात उन्हें सोचने ही दी। किसी व्यक्ति-विशेष के मनोरंजन के लिए जन-शीशों के बलिदान की कहानी वीर-काव्य नहीं है, वह तो वास्तव में करुण-काव्य है। (अपने कथन के

प्रमाण के लिए मैं वृन्दावनलाल वर्मा द्वारा 'मृगनयनी' में चित्रित एक चारण का चरित्र या उन्हीं के द्वारा 'पूर्व की ओर' में चित्रित एक कवि के चरित्र का उदाहरण दूँगा )। देश के पराभव की वह कहानी 'वीर छन्दों' में लिखी जाने से न तो वीर-काव्य बनेगी न प्रगतिशील काव्य। फल यह हुआ कि विदेशी आततायियों को भारत-भूमि पर अधिकार करने में कुछ समय नहीं लगा। गुप्तजी ने जैसा लिखा है—"हम हों समष्टि के लिए व्यष्टि बलिदानी"। वीरगाथाकाल में उसके विपरीत हुआ, वहाँ तो व्यष्टि के लिए समष्टि को बलि देनी पड़ी, वह भी तुच्छ उद्देश्यों के लिए।

भक्तिकाल के काव्य और कवियों को जब इसी कसौटी पर कसते हैं तो कितने ही कविरत्न भक्ति के उस अगाध समुद्र में हमें मिलते हैं जिन्होंने अपने प्राणों के प्रकाश से दूसरों का पथ आलोकित किया। सर्वप्रथम कबीर को लें। कर्मकाण्ड की व्यर्थ की अधिकता में कबीर का मन मर्माहत हुआ। बाह्याडम्बरों का महत्व उन्होंने ठीक-ठीक आँका। मनुष्य का निरादर और पत्थर का आदर करने वाले मनुष्य पर उन्हें दया आई, उन्हें दुःख हुआ—

"—मनुआ कैसे बावरे रे पाथर पूजन जाँय,
घर की चकिया कोई न पूजै जाको पीसौ खाँय।"

नेम, व्रत, योग, रोजा, नमाज, तीर्थ, पवित्रता का ढोंग, अस्पृश्यता आदि की उन्होंने तीव्र स्वर में निन्दा की। सामन्तशाही के द्वारा मनुष्य-मनुष्य में पैदा किये अन्तर के विरुद्ध कबीर जीवन भर लड़े। वे समाज में मनुष्यमात्र की प्रतिष्ठा चाहते थे, व्यक्ति की नहीं। अतः प्रतिक्रियावादी पण्डितों के ज्ञान-दर्शन को उन्होंने उसके नग्नरूप में जनता के समक्ष रख दिया—

"—मैं कहता हूँ जग की लेखी, तू कहता पत्रा की देखी
तू पण्डित हों काशीक जुलाहा················।
सो ज्ञानी आप विचारैं।"

यह कबीर के अहं का विस्फोट नहीं है अपितु पण्डितवर्ग के दम्भ का उग्र भाषा में विरोध है।

कबीर की दो महान् विशेषताएँ भुलाई नहीं जा सकतीं—

(१) वे किसी राजा के आश्रित कवि नहीं थे;

(२) उन्होंने अपने लिए कुछ नहीं किया। समाज को प्रबुद्ध बनाने में अपना जीवन लगा दिया।

"—सब आपस में भाई-भाई हो। छूआछूत छोड़ो। तुम सबका निर्माण एक ही रक्त से हुआ है। हिन्दू-मुसलमान धर्म की कल्पित प्राचीरें तुम्हारे मार्ग में बाधक हैं। प्रेम करने वाले जाँति-पाँति नहीं मानते। इस संसार में सोचकर देख लो—अपने समान नीच कोई नहीं है। तिलक, व्रत, गेरुआ तस्त्र, वेद-शास्त्रों के पाखण्ड को छोड़ो, रोजा, नमाज, हज्ज के चक्कर में मत पड़ो। तुम सब आपस में भाई-भाई हो, उस

राम की सन्तान हो।" इस उपदेश के देने वाले का कोई नाम न बताये और किसी से पूछे, बताओ तो ये किसके वाक्य लगते हैं तो सुनने वाला झट से कहेगा कि गांधीजी के। पर शब्द हैं ये कबीर के, उस व्यक्ति की महानता इसी से समझी जा सकती है कि इतनी शताब्दियों पूर्व उसने जिस शुभ कार्य को आरम्भ किया, उसी को थोड़ा दुहराकर बीसवीं शताब्दी में 'मोहनदास करमचन्द गांधी' 'महात्मा' बन गये। महान् बन गये। किन्तु समय और परिस्थितियों को देखते हुए कौन अधिक प्रगतिशील है, यह निर्णय करना अधिक कठिन है।

कबीर के महान् व्यक्तित्व के विषय में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—

"—कबीर का रास्ता उल्टा था। उन्हें सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते हैं, प्रायः सभी उनके लिए बन्द थे। वे मुसलमान होकर भी वास्तव में मुसलमान नहीं थे, हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे, वे साधु होकर साधु (अगृहस्थ) नहीं थे, वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे, वे योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे भगवान के नृसिंहावतार की मानव प्रतिमूर्ति थे। नृसिंह की भाँति वे नाना असम्भव समझी जाने वाली परिस्थितियों में 'मिलन-बिन्दु' पर अवतीर्ण हुए थे।..... ............नृसिंह ने इसीलिए नाना कोटियों के 'मिलन-बिन्दु' को चुना था। असम्भव व्यापार के लिए शायद ऐसी ही परस्पर-विरोधी कोटियों का 'मिलन-बिन्दु' भगवान को अभीष्ट होता है। कबीरदास ऐसे ही 'मिलन-बिन्दु' पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व; जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा; जहाँ पर एक ओर योगमार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्तिमार्ग; जहाँ से एक ओर निर्गुण-भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना। उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर-विरुद्ध दिशा में गये हुए मार्गों के गुण-दोष उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवतदत्त सौभाग्य था। उन्होंने उसका खूब उपयोग भी किया।"

परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि कबीर के युग की अपनी सीमाएं थीं और कबीर भी उन्हीं सीमाओं की परिधि में आते हैं। आज की प्रगतिशीलता की कसौटी पर उनको कसना असंगत होगा।

कबीर के पश्चात् तुलसी को लिया जाना चाहिए। तुलसी की निम्नांकित विशेषताएं द्रष्टव्य हैं—

(१) किसी के आश्रित कवि नहीं थे। "कीन्हे प्राकृत गुन गन गाना, सिर धुन गिरा लगागि पछताना" में विश्वास रखते थे।

(२) कहीं भी मर्यादा का अतिक्रम अपने काव्य में नहीं किया क्योंकि वे

जानते थे कि समाज पर उसका असर अच्छा नहीं पड़ेगा। इसलिए सीता को राम के दर्शन तक 'कंकन के नग की परछाईं'' से कराये।

(३) संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी 'भाषा' में रामायण की रचना की।

(४) ''जाति-पाँति पूछै नहीं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई''।

(५) हठयोग आदि का विरोध करके साकार ईश्वर (राम) का शील-शक्ति-समन्वित रूप जनता के समक्ष रखा।

(६) ''सियाराम मय सब जग जानी, करौं प्रणाम जोर जुग पानी'', संसार को तुच्छ नहीं समझा।

(७) जनता के हृदय को तुलसी ने जितना समझा तथा महत्व दिया, उतना सम्भवतः अन्य तत्कालीन कवियों ने नहीं।

(८) 'रामचरितमानस' में कितने ही स्थलों की उद्भावना की जो जन-कल्याण के पक्ष में पड़ते हैं, उदाहरणार्थ, राम और सीता का प्रथम दृष्टि में प्रेम, निषाद से भेंट आदि।

(९) कविता की भाषा का सरल तथा बोधगम्य होना।

(१०) ऐसे छन्दों का प्रयोग जो जनता में अधिक प्रचलित थे, अर्थात् दोहा और चौपाई।

(११) अदम्य प्रतिभा और अगाध पाण्डित्य।

तुलसी की भावुकता तथा महत्व के विषय में शुक्लजी की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

''कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का 'रामचरित' से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है? जीवन-स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं? इस क्षेत्र में कवि सर्वत्र पूरा उतरता दिखाई पड़ता है। उसकी भावुकता को और कोई नहीं पहुँच सकता। जो केवल दाम्पत्य-रति ही में अपनी भावुकता प्रकट कर सकें या वीरोत्साह ही का अच्छा चित्रण कर सकें, वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते। पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्द-शक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें। हिन्दी के कवियों में इस प्रकार की सर्वांगपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामीजी में ही है, जिसके प्रभाव से 'रामचरितमानस' उत्तरी भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है।'

रीतिकाल का युग तो साहित्य के अंधकार का युग है। राज्याश्रित कवियों के मुख से निकली काव्य-धाराओं के संगम से विलास-सरिता में जो बाढ़ उस काल में

आई. उसमें न तो धर्म का पता लगा, न रीति-नीति का। सदाचार और नैतिकता भी तिनके की भाँति उस प्रवाह में बही फिरी। 'गोरस-लिप्सु नरेशों ने भयंकर मगरों की भाँति उस सरिता को आद्यान्त मथा और जन-जीवन को अपना भक्ष बनाया। उस काव्य-सरिता में दुर्गति-प्राप्त क्षत-विक्षत नारीत्व आज भी समाज के ऊपर अभिशाप की ज्वालाएँ उगल रहा है। इसलिए प्रगतिशील काव्य और कवि का यदि उस युग में अभाव रहा तो यह स्वाभाविक ही है।

### प्रगतिवाद और उसका दर्शन

यह आज सन्देह का विषय नहीं है कि हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवाद के नाम से प्रख्यात काव्य-युग अपने पूर्व युगों का सहज परिणाम नहीं है, अपितु विश्व-संघर्ष के मंथन से प्राप्त पश्चिम से आया हुआ अमृत है। जर्मनी का कार्ल मार्क्स इसका जन्मदाता है। कार्ल मार्क्स ने संसार और उसके आर्थिक चक्र का आँखें खोल कर अध्ययन किया और उसने देखा कि विश्व की व्यापक भुखमरी, कराल अकाल, कुरूपता, अनाचार, अत्याचार किसी अव्यक्त ईश्वर की देन नहीं, अपितु उसके कुछ भक्तों की कृति है। अपने क्रान्तिकारी ग्रन्थ 'कैपीटल' में कार्ल मार्क्स ने विश्व के आर्थिक षड्यंत्र का भण्डाफोड़ किया। उसने बताया कि धन की असंख्य राशि किस प्रकार चक्कर काट कर कुछ व्यक्तियों के हाथ में पहुँच जाती है और वे कुछ व्यक्ति ही फिर उस धनराशि के बल पर संसार को अपने संकेतों पर नचाते हैं। आधुनिक प्रगतिवाद ने मार्क्सवाद को अपना प्रेरणास्रोत बनाया और विश्व की अशान्ति, युद्ध, भुखमरी, बेरोजगारी आदि का कारण पूँजीवाद को ठहराया। पूँजीवाद, श्रम और अधिकार शोषण का ही दूसरा नाम है। श्रम कोई करे और उससे लाभ कोई उठाये। वस्तु का उत्पादन कोई करे, उसका उपभोग बिना उचित मूल्य दिये कोई करे। मोटे रूप में पूँजीवाद के यही वे दो दृढ स्तम्भ हैं जिन पर बैठकर भी वह इन्द्र की भाँति सदैव जीवन-रक्षा के विषय में शंकालु एवं चंचल है। किन्तु केवल आर्थिक दृष्टिकोण ही प्रगतिवाद हो, यह बात नहीं है। भौतिकवादी आधार उसकी दूसरी विशेषता है।

### द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या ऐतिहासिक भौतिकवाद

मार्क्स के अनुसार सृष्टि में मूलत: दो तत्व हैं—Positive ( स्वीकारात्मक ) तथा Negative (नकारात्मक)। इन्हीं दोनों तत्वों के संघर्ष का नाम जीवन है। ये दोनों तत्व Matter (वस्तु) चेतना नहीं, किन्तु दोनों के संयोग से चेतना उत्पन्न होती है (Development is the struggle of opposite—Lenin)। मार्क्सवाद भूतों (Matter) को ही चेतना का आधार मानता है। वह चेतना की स्वतन्त्र सत्ता में विश्वास नहीं रखता। चेतना को द्वन्द्व का अनिवार्य परिणाम मानता है, इसीलिये इसे द्वन्द्वात्मक (द्वन्द्व के कारण) भौतिकवाद (भूत ही सृष्टि का आधार है) कहते हैं। इसी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को ऐतिहासिक क्रम में प्रतिफलित देखना ऐतिहासिक भौतिकवाद है। लेनिन, मार्क्स के भौतिकवादी-दर्शन की व्याख्या करता हुआ कहता है—

"Materialism in general recognises objectivity real being (Matter) as independent of consciousness, sensation, experience .......... Consciousness is only the reflection of being, at best an approximately true (adequate, ideally exact) reflection of it."

इस कथन के अनुसार फिर भूतों के मूल में न तो किसी चेतन-तत्व के मानने की आवश्यकता रहती है और न विश्व के नियामक रूप में किसी अदृष्ट सत्ता (ईश्वर) के मानने की।

ईश्वर में विश्वास रखने वाले दर्शन ह्रासवादी होने के लिए बाध्य हैं। उनके अनुसार विश्व का विकसितम ज्ञान ईश्वर (अल्लाह, खुदा) ने सृष्टि के प्रारम्भ में स्वयं ही वेद, इञ्जील या कुरान के रूप में कह दिया है, अतः अब तो विश्व में ज्ञान धीरे-धीरे कम हो रहा है और विश्व तेजी से प्रलय (कयामत) की ओर बढ़ रहा है।

प्रगतिवादी दृष्टिकोण

'मार्क्सवाद' एक विज्ञान है, अतः उसका विश्वास बिल्कुल उल्टा है। वह मानता है कि सृष्टि जिस क्षण से अस्तित्व में आई, उसी क्षण से वह निरन्तर विकास-मान है। सृष्टि के मूल में व्याप्त प्रगतिवादी और प्रतिक्रियावादी तत्व निरन्तर संघर्ष कर रहे हैं और प्रगतिवादी तत्वों की विजय के साथ-साथ विश्व का विकास निरन्तर हो रहा है (यद्यपि अबाध नहीं)।

प्रगतिवादी काव्य का दृष्टिकोण मार्क्सवादी है। मार्क्सवादी प्राचीन संस्कृति को सामन्तशाही एवं पूंजीवादी व्यवस्था का दुष्परिणाम समझता है। संसार को देखने का उसका अपना दृष्टिकोण है। उसके समक्ष दो बातें हैं—

(१) पुरानी सड़ी-गली संस्कृति (सामन्तवादी पूंजीवादी) का मूलोच्छेदन ;

(२) कला का जीवन के लिए उपयोग।

मार्क्सवादी साहित्य का उपयोग अस्त्र के रूप में ही करते हैं। वे साहित्य के द्वारा जनता पर नये विचारों की छाप डालना चाहते हैं तो दूसरी ओर जन-मन में व्याप्त सामन्तवादी पूंजीवादी संस्कारों को समाप्त करना चाहते हैं। स्पष्ट ही मार्क्स-वादी कला का एक विशिष्ट उद्देश्य मानते हैं। वे उसे शाश्वत, नियमों से परे और अलौकिक नहीं मानते। मार्क्सवाद के दो मोर्चे हैं, जो पूंजीवाद को जड़ से नष्ट करने के लिए बने हैं।

(१) राजनैतिक मोर्चा—रूस एवं उसके मित्र मार्क्सवादी समाजवादी अवस्था में ही विश्व का कल्याण देखते हैं। अतः उन्होंने राजनैतिक रूप से इस अवस्था एवं व्यवस्था को स्वीकार कर लिया। अब तो चीन का विस्तृत भूभाग भी इसी मार्क्सवादी व्यवस्था का समर्थक बन गया है। विश्व के अन्यान्य देशों में भी मार्क्सवादी पार्टियाँ अपने निश्चित मार्क्सवादी उद्देश्य की प्राप्ति की ओर राजनैतिक रूप से सक्रिय हैं।

(२) सांस्कृतिक मोर्चा—यहाँ मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को साहित्य के आवरण

में प्रतिष्ठित कर उसे जनमत के निकट पहुँचाया जाता है। उनके साहित्य का एक निश्चित उद्देश्य रहता है। वे अपने साहित्य को देश और समाज से निरपेक्ष रखना उचित नहीं समझते। उनके साहित्य में पूँजीवाद सामन्तवाद के कारण समाज में उत्पन्न हुई असंगतियों एवं विकृतियों का तर्कपूर्ण वर्णन एवं खण्डन रहता है और मार्क्सवादी (साम्यवादी) समाज की सुख-शान्ति का तर्कसंगत चित्र। विश्व के पाठक इस विचार-धारा से प्रभावित हुए हैं और प्रभावित हो रहे हैं। बिना युद्ध के, बिना रक्तपात के यह मार्क्सवादी सांस्कृतिक मोर्चा पूँजीवादी व्यवस्था के लिए एक भयंकर आसन्न-संकट बन गया है।

## प्रगतिवाद और यथार्थवाद

कुछ लोगों ने यथार्थवाद को ठीक तरह समझने की चेष्टा नहीं की है और उसका अर्थ लिया है कि समाज में जो जैसा होता है या हृदय में जो जैसी बातें उठती हैं, बिना समाज के कल्याण की चिन्ता के उन्हें यथावत् व्यक्त कर दिया जाय। यह तो मार्क्सवादी सांस्कृतिक मोर्चे के विपरीत पड़ता है। वास्तव में मार्क्सवादी साहित्य को याथार्थवादी इसलिये कहा जाता है कि उसका आधार यथार्थ [भूत (Matter)] है, कल्पना (Idea) नहीं ; इसलिये नहीं कि उसमें व्यक्तभाव यथार्थ हों जो नैतिकता-अनैतिकता का बन्धन स्वीकार नहीं करते। बात वास्तव में यह है कि प्रेम की नियन्त्रणहीन अभिव्यक्ति प्रगतिवाद के नाम पर हुई है जिससे समाज और प्रगतिवाद दोनों का अकल्याण हुआ है। मार्क्सवादी दर्शन का सर्वोपरि नारा है—'कला जीवन के लिए है, कला-कला के लिए नहीं।' व्यक्तिगत आत्मसन्तोष सामाजिक सन्तोष के विपरीत होना ही नहीं चाहिए। यदि वह हो तो हमें उसका बलिदान समाज के कल्याण के लिए करना ही पड़ेगा। गुप्तजी ने लिखा है—

"हम हों समष्टि के लिए व्यष्टि बलिदानी।"

## प्रगतिवाद फ्रॉयडवाद

जिस प्रकार मार्क्स का मूल सिद्धान्त आर्थिक है और विश्व के परिवर्तन के कारण, रूप में वह अर्थ को देखता है, उसी प्रकार फ्रॉयड विश्व-परिवर्तन के मूल में काम-भावना को देखता है। काम-भावना चूँकि भौतिक भावना है, अतः कुछ मनचले कवियों ने उसे मार्क्सवाद का सहायक समझा। फॉयडवाद एक व्यक्तिवादी दर्शन है और उसमें भी बहुत कुछ कल्पना पर निर्भर करता है। अतः दो कठिनाइयाँ हैं जिनसे मार्क्सवाद से वह दूर जा पड़ता है—

(१) व्यक्तिवादी दर्शन है ;

(२) वह काल्पनिक अधिक है, विज्ञान नहीं है।

मार्क्सवाद एक विज्ञान है, अतः कल्पित सिद्धान्तों की संगति उसके साथ बैठती नहीं है। लेखकों ने प्रगतिवाद के नाम पर अपनी रुद्ध काम-वासना का अबाध-स्रोत प्रगतिवादी कविता के नाम से साहित्य में बहाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने

समझा कि साम्यवादी समाज वर्गहीन होता है। इसलिए शायद भावों पर भी कोई प्रतिबन्ध न हो। हमारा समाज अनेक प्रकार की कुरीतियों एवं रूढ़ियों से जर्जर हो गया है। इसलिए स्वस्थ प्रेम या प्रेम का समुचित विकास भी यहाँ सम्भव कैसे हो सकता है ? अनेकों युवक-युवतियाँ प्रति दिन संकीर्ण समाज में अपने-अपने जीवन-विकास का समुचित अवकाश न देख स्वमेव अपनी जीवन-लीला समाप्त कर लेते हैं। विश्व में प्रेम से अधिक प्रगतिशील भावना दूसरी नहीं हो सकती। प्रेम तो विश्व में व्यवस्था तथा मधुरता का जनक है, फिर वह प्रगति-विरोधी नहीं हो सकता। किन्तु प्रेम को महिमान्वित किया जाना चाहिए—उसके सामाजिक रूप में, न कि व्यक्तिगत रूप में। प्रगतिशील लेखकों को अपनी कृतियों द्वारा स्वस्थ प्रेम का चित्रण व्यापकरूप से करना चाहिए जिससे समाज का कल्याण हो सके। पूँजीवादी संस्कृति म प्रेम अर्थहीन शब्दमात्र है। एक गरीब पिता को अपनी पुत्री की शादी धनाभाव में एक अवांछनीय व्यक्ति से करनी पड़ती है। वृद्ध धनिकों को भी षोडसी पत्नियों का अभाव नहीं। जहाँ धन से जन-क्रय किये जा सकते हों, वहाँ प्रेम जीवित रह सके तो यही आश्चर्य की बात है। हमारे देश का वेश्या-समाज पूँजीवादी संस्कृति की ही देन है। रूस और चीन या वे देश, जहाँ आज साम्यवादी व्यवस्था है, समाज के मुख का यह कलंक सदैव के लिए पुछ गया है किन्तु विश्व के सभी पूँजीवादी देशों में वेश्याओं का वर्ग सदैव सतत् वर्द्धमान है। पूँजीवादी व्यवस्था ने समाज को जीर्ण-शीर्ण कर दिया है। उसका प्रत्येक जोड़ खुल गया है और पूँजीवादी समाज का ढाँचा आज चरमरा रहा है। जहाँ भूख है, वहाँ क्या नैतिकता होगी ? जहाँ गरीबी है, वहाँ सदाचार कहाँ से आयेगा ? प्रेम के इस भाव को लेखकों ने ठीक से न समझ सकने के कारण अपनी व्यक्तिगत प्रेम-कुण्ठाओं को साहित्यिक अभिव्यक्ति देना आरम्भ कर दिया। एक बात यह थी कि छायावादीकाल में वासना को स्थूलरूप से अभिव्यक्त करने की सुविधा नहीं थी जो यथार्थवाद के नाम पर यहाँ उन्होंने उस सुविधा की प्राप्ति को स्वयं-सिद्ध समझ लिया। वासना की उस अतृप्त आकांक्षा का अकल्याणकारी विस्फोट छायावादी युग के पश्चात् हुआ। प्रगति-विरोधी लोगों ने उसी को प्रगतिशील काव्य बताकर प्रगतिवाद को बदनाम करने का प्रयत्न किया और इसमें उन्हें यत्किंचित सफलता भी मिली। प्रश्न यह है कि वे कवि जिन्होंने अश्लील कविताएँ लिखी हैं, क्या माने हुए प्रगतिवादी कवि हैं ? या गन्दी रचनाओं को इकट्ठी कर उन्हें प्रगतिवादी घोषित कर दिया गया है और उनके लेखकों को प्रगतिवादी कवि। यहाँ कुछ उन अप्रगतिशील रचनाओं के उद्धरण दिये जाते हैं जिनको अनायास ही प्रगतिवादी रचना घोषित कर दिया गया है—

"—और वह दृढ़ पैर मेरा है,<br>
गुरु, स्थिर, स्थाणुसा गड़ा हुआ<br>
तेरी प्राण-पीठिका पे लिंगसा खड़ा हुआ।" —'अज्ञेय'

× × ×

"—घिर गया नभ उमड़ आये मेघ काले।
भूमि के कल्पित उरोजों पर झुकासा……
आह मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार—
प्यार है अभिशप्त—
तुम कहाँ हो नारी ?"

—'अज्ञेय'

× × ×

"—वह आयेगी
मेरा ढाँप लेगी नङ्ग
अपनी देह से
बहते स्नेह से।"

—'अज्ञेय'

× × ×

"—कच्चे-दूध-सरीखी गोरी-गोरी नग्न भुजाएँ
जिनकी मोम मृदुलता
स्निग्ध गठित मांसलता
रूपसि इनमें कसलो मुझको, उर धड़कन रुक जाये।"

—'गुलाब'

"—हाथ मटर के दानों पर जा
जगा देते हैं एक सनसनी,
बिजली दौड़ जाती है
एक झनझनी।
शरीर में—
शरीर के रोम-रोम में
एक कनकनी।"

—'रमण'

× × ×

"—इसीलिए तो पुरुष से
होता है सम्बन्ध नारी का
अपने एकाकीपन से—
नहीं पूर्ण होने वाले आनन्द को,
पूरा करे नारी किसी पुरुष के संग हो।"

—'रमण'

उपरोक्त कवि माने हुए प्रगतिशील कवि नहीं हैं। यों अपने आप तो संसार के सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी लोग भी प्रगतिशील बनते हैं। वे कवि अपने आपको क्या समझते हैं—यह एक बात है और दूसरे उन्हें क्या समझते हैं, यह दूसरी। लोक-कल्याण, सामाजिकता जिस काव्य का आधार नहीं, वह प्रगतिशील काव्य नहीं हो

सकता, फिर चाहे कुछ भी हो। वैयक्तिक काम-प्रलापों को प्रगतिवादी काव्य की संज्ञा देना प्रगतिवाद का नहीं, अपना ही अपमान है।

## प्रगतिवाद और ग्रात्सकीवाद

आजकल प्रगतिवाद के साथ त्रात्स्कीवाद का नाम अधिक सुनाई पड़ता है। जिस वस्तु का बाह्याकारमात्र देखकर लोग उसे प्रगतिवादी बना देते हैं और उसका विषय-वस्तु की परीक्षा नहीं करते, वे वास्तव में त्रात्स्कीवाद के शिकार होते हैं। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में त्रात्स्कीवाद की परिभाषा है—"जिसमें वामपक्षी लफ्फाजी हो और भावभूमि प्रतिक्रियावादी हो, अर्थात् त्रात्स्कीवादी रचना में भाषा तो उग्र मिलेगी, लेकिन वह रचना पाठक को क्रान्ति से विरत करने वाली होगी, उसमें सहयोग की प्रेरणा देने वाली नहीं। वामपक्षी भाषा में शेखचिल्ली के स्वप्न होंगे। उसकी भावभूमि या तो क्रान्ति-विरोधी होगी या क्रान्ति में बाधा डालने वाली, विलम्ब करने वाली होगी। प्रगतिवादी लेखक को सैद्धान्तिक रूप से इन बातों से बचते रहना होगा और विशुद्ध मार्क्सवादी विचारधारा को सुन्दरम् में आवेष्ठित करके रखना होगा। डॉ० रामविलास शर्मा इसीलिए प्रगतिवादी काव्य के निश्चित सैद्धान्तिक आधार के पक्ष में है। वे लिखते हैं— "जो लेखक पूँजीवादी व्यवस्था से लोहा लेने लगे हैं और शोषण-व्यापार खत्म करके समाजवाद लाना चाहते हैं; अगर वे साहित्य की तरफ अराजनैतिक और सिद्धान्तहीन दृष्टिकोण अपनाते हैं, यानी अपनी कला पर राजनैतिक सिद्धान्तों का अंकुश नहीं मानते तो वे शुद्ध प्रतिक्रियावादी की हिमायत नहीं करते तो और क्या करते हैं।"

## प्रगतिवाद : एक अवस्था

सृष्टि के इतिहास में मानव संस्कृति का आरम्भ लगभग पशु-चारणकाल से माना जाता है। उसके पश्चात् मनुष्य ने प्रगति की और उसने खेती करना प्रारम्भ कर दिया। उसने पालित पशुओं से अपने कार्य में सहायता ली और वह एक जगह बसकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कृतप्रयत्न हुआ। इसे इतिहास कृषि युग के नाम से पुकारता है। कृषि युग में जनसंख्या कुछ विशिष्ट स्थानों पर केन्द्रित होने लगी थी और व्यवसाय की उन्नति बड़े-बड़े नगरों को जन्म दे रही थी। कुछ लुटेरे व्यक्तियों ने अपना गिरोह बनाकर लोगों को आतंकित करना प्रारम्भ किया और उनका नेता एक दिन राजा बन बैठा। निरंकुश शासन का धीरे-धीरे विकास हुआ। (कुछ विद्वानों का मत है कि कृषि युग और निरंकुश शासन के बीच में प्रजातन्त्रवाद का काल रह चुका है, किन्तु इतिहास का विकासक्रम देखते हुए यह अस्वाभाविक प्रतीत होता है।) इसके पश्चात् सामन्तवाद का युग आया और देश अनेक छोटे-छोटे राजाओं में बँटे, तत्पश्चात् पूँजीवाद का युग आया और श्रम के विस्तार के कारण एकसा व्यवसाय करने वाले लोग एक ही स्थान पर केन्द्रित होने लगे और उनकी समान समस्याएँ तथा

हित बन गये, इस प्रकार वर्गों का उदय हुआ। यह ध्यान में अवश्य रखना चाहिए कि ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार प्रत्येक परवर्तितवाद अपने पूर्ववर्तीवाद से अधिक प्रगतिशील था। पूँजीवाद अपने सभी पूर्ववर्ती अवस्थाओं में अधिक प्रगतिशील अवस्था है, किन्तु आज विश्व में समाजवादी अवस्था पूँजीवाद की समाप्ति की दुंदुभी बजा चुकी है और निश्चित रूप से आने वाले समय में पूँजीवाद एक अतीत की वस्तुमात्र ऐतिहासिक वस्तु रह जायगा। समाजवाद सृष्टि की—मानव संस्कृति की विकसिततम अवस्था है। अतः वह अपनी पूर्ववर्ती अवस्थाओं से सबसे अधिक प्रगतिशील और युगानुकूल है। प्रगतिवादी साहित्य उसी समाजवादी अवस्था की साहित्यिक वाणी है।

## प्रगतिवादी कलाकार कौन ?

समाज में परिवर्तन अवश्य होता है, किन्तु समाज में दो प्रकार के तत्व सदैव रहते हैं—(१) प्रगतिवादी ; (२) प्रतिक्रियावादी (ये दोनों तत्व मार्क्सवाद के अनुसार सृष्टि के मूल में भी रहते हैं)। कुछ व्यक्ति होते हैं जिनका दृष्टिकोण अतीत के प्रति—अतीत की सभी वस्तुओं के प्रति—ममतामय होता है, कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनका दृष्टिकोण अतीत की उन वस्तुओं के प्रति जो युगानुकूल नहीं होती निर्ममतायुक्त होता है। प्राचीनता व प्राचीन व्यवस्थाओं से विना सोच-विचार के मोह रखने वाले व्यक्ति प्रतिक्रियावादी होते हैं और नवीन युग की मांग पर प्राचीनता की बलि देने को तत्पर तथा युगानुकूल तथ्यों का स्वागत करने वाले व्यक्ति प्रगतिवादी कहलाते हैं।

प्रतिक्रियावादी व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं—

(१) वे व्यक्ति जो अज्ञान के कारण नवीन चेतना का विरोध करते हैं। प्राचीनता का अन्ध मोह उन्हें ऐसा करने के लिए विवश करता है।

(२) वे व्यक्ति जो जानबूझकर प्राचीनता के उन तत्वों का प्रचार छद्मरूप में करते हैं जिनसे उनके स्वार्थों, हितों का पोषण होता है ; चाहे वे तत्व लोक-कल्याण में कितने ही बाधक हों।

जब दो प्रकार की विचारधारा ही समाज में होती है तो कलाकारों में भी उसका अस्तित्व स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए, पूँजीवादी संस्कृति आज एक मरणोन्मुख संस्कृति है। आज का सजग कलाकार उसका विरोधी है, किन्तु कुछ कलाकार आज भी ऐसे हैं जो शाश्वत कला, शाश्वत विचार, विचारों का स्वतन्त्र अस्तित्व, आदर्श (Ideal) मनुष्य से बड़ा है। 'कला कला के लिए' आदि का असंयत प्रचार करते हैं और इस प्रकार प्रगतिवादीधारा का विरोध कभी तो अनजाने करते हैं और कभी जानबूझकर (जैसे जैनेन्द्रजी)।

मार्क्सवादी चिन्तन पुरातन का अन्ध विनाश नहीं चाहता उसके अनुसार तो प्राचीनता नवीनता में संरक्षण—पाती है और नवीनता का जन्म भी प्राचीनता में से

ही होता है। अपने 'प्रगतिवाद—एक दर्शन' लेख में श्रीयुत् शशिभूषण शर्मा ने इस भाव को बड़ी स्पष्टता से व्यक्त किया है। वे लिखते हैं—

"—आज के तथाकथित प्रगतिशील साहित्य को पढ़ कर साधारण लोगों के मन में यह धारणा बँध गयी है कि विप्लवी साहित्यिक केवल जलती मशाल, हड़ताल, किसान, मजदूर, लाल झण्डा, बाढ़, दुर्भिक्ष आदि वस्तुओं को लक्ष्य करके ही साहित्य-निर्माण करते हैं तथा प्रेम, प्रकृति आदि सनातन विषयों को जहर की तरह छोड़ देते हैं। प्रगति के अर्थ को नहीं जानने के कारण ही ऐसी गलत धारणा फैली हुई है। प्रगतिवादी दर्शन राजनीति के बीच ही सीमित नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानवता को घेर कर छा जाने वाली एक सकलगर्भित दृष्टि है। इसलिए प्रगतिवादी दर्शन के साथ यदि कलाकार का आन्तरिक योग होगा तो जिस विषय को वह छू देगा, वही प्रगतिवादी हो जायगा। प्रतिक्रियागामी कलाकृति से उसकी रचना का मौलिक पार्थक्य सहज ही झलक जायगा।"

× × ×

"—प्रगतिवादी दर्शन का कहना है कि नूतन ही पुरातन की रक्षा कर सकता है। नूतन के बीच पुरातन बचा रहता है और पुरातन के बीच नूतन साँसें लेता है। पुरातन वृक्ष, जो प्रति दिन नूतन पत्ते, फूल और डालें उत्पन्न करता है, उसका कारण वृक्ष का जीवन है। जिस दिन नूतन पुरातन को ग्रहण नहीं कर सकेगा, उसी दिन उसकी मृत्यु हो जायगी। नूतन और पुरातन के बीच विच्छेद का अर्थ है—जीवन का अवसान। जिस दिन हम यह देखने लगें कि धरती पर नये कवि उत्पन्न नहीं हो रहे हैं, उसी दिन हमें समझ लेना चाहिए कि पुरातन कवियों की शायद पहले ही मृत्यु हो गयी है। प्राचीन कला की योग-रक्षा कौन कर रहा है? आज का कलाकार। यदि नई कविता सूख गयी तो हम किस स्रोत में बह कर पुरातन के बीच पहुँच सकेंगे? आज की नई हिन्दी कविता हमारे और सूर-तुलसी के बीच के दीर्घ व्यवधान को निरन्तर दूर कर रही है।"

प्रतिक्रियावादी लोगों का प्रगतिवादी दर्शन के विरुद्ध एक बड़ा मिथ्या प्रचार यह भी है कि प्रगतिवादी लोग देश की प्राचीन संस्कृति के शत्रु होते हैं। ऊपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि वास्तव में प्रगतिवादी दर्शन में ऐसी कोई बात नहीं है जो प्राचीनता या संस्कृति (यदि वह नवीन संस्कृति नवीन विचारों के मार्ग में बाधक नहीं है) के लिए भयावह हो।

अतः संक्षेप में प्रगतिवादी कलाकार की विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

(१) प्रगतिशील दर्शन को जिसने जीवन में रमा लिया हो और उसका प्रत्येक शब्द उसे अभिव्यक्त करता हो।

(२) जो साहित्य में सामाजिक चेतना को वाणी देता हो, व्यक्तिगत धारणाओं को नहीं।

(३) जनकल्याण जिसके साहित्य की भाव-भूमि हो।

(४) समाजवादी—समाज-व्यवस्था में जिसका साहित्य योग देता हो।

(५) सामन्तवादी, पूँजीवादी व आत्सकीवादी विचारधारा की बुराइयों से जो परिचित हो और जिसके साहित्य की प्रत्येक पंक्ति उपरोक्त विचारधाराओं के मूल पर कुठाराघात के सदृश् हो।

(६) जिसका साहित्य जनवादी शक्तियों को संयुक्त होने की प्रेरणा देता हो।

(७) जिसका साहित्य प्रगतिशील एवं वैज्ञानिक मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरणा ग्रहण करता हो।

(८) जो कला को कला के लिए नहीं वल्कि जीवन के लिए समझता हो और युग के अनुकूल साहित्य-सृजन करता हो।

(९) जो प्रतिक्रियावादी तथ्यों के समन्वय की बात न कह कर उनके विनाश की बात कहता हो।

(१०) जो फ्रॉयडवादी आदि वैयक्तिक एवं कल्पित विचारों को असामाजिक समझता हो।

(११) जो सर्वहारा वर्ग की समस्याओं को ही अपने काव्य का शृंगार समझता हो और पूँजीवादी जाल से वचने के लिए उनकी चेतना को प्रबुद्ध करता हो, आदि।

## हिन्दी का प्रगतिशील काव्य एवं कवि

प्रगतिवाद के आरम्भ का काल राजनैतिक उथल-पुथल का काल था। विश्व के पराधीन देश, विदेशी शासकों के जुए को उतार कर फेंक देने के लिए बेचैन थे और विश्व का एकमात्र समाजवादी तथा जनवादी व्यवस्था का देश रूस किसी देश के लिए आकर्षण, किसी के लिए आश्चर्य और किसी के लिए प्रेरणा का विषय बना हुआ था। अंग्रेजों के विरुद्ध बात कहने वाले को भारतवासी अपना भाई समझते थे। रूस भारत में अंग्रेजी प्रभुत्व के विरुद्ध था। अत: भारत के शिक्षित वर्ग में रूस की व्यवस्था के प्रति प्रशंसा और उस देश के लिए यदि आदर का दृष्टिकोण था तो कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। अपने देश को प्रेम करने वाले कवियों का हृदय अंग्रेजों की दासता के अपमान से तिलमिला रहा था। अत: वे अपने काव्य में दो बातों की माँग कर रहे थे कि या तो हमारा देश स्वतन्त्र हो जाये (माखनलाल चतुर्वेदी) या फिर यह सारा संसार ही नष्ट हो जाय और रह जाये नाश ! केवल महानाश !!

"—नियम और उपनियमों के बन्धन टूक-टूक हो जायें।
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जायें॥
नाश ! नाश ! हा महानाश !! की प्रलयकारी आँख खुल जाये।
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ...................।" —'नवीन'

इसलिए प्रारम्भिक काल के तथाकथित प्रगतिवाद की विशेषताएँ समझ लेनी चाहिए—

(१) कवि किसी अलौकिक उपाय द्वारा पराधीनता से मुक्ति चाहता है।

(२) नाश ! और महानाश !! का आह्वान करते समय उसके समक्ष भ्रम एवं किंकर्त्तव्यविमूढ़ता अधिक है, कोई राजनैतिक कार्यक्रम कम।

(३) इस काल के अधिकांश कवि मूलतः गाँधीवादी हैं जो प्रगतिवाद को दर्शन के रूप में नहीं अपना पाये। गाँधी के सत्य और अहिंसा उनके हृदय को आश्वस्त नहीं कर सके, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उन कवियों का विशृंखल काव्य-चीत्कार है। जिस बात का वे राजनैतिक रूप से विरोध नहीं कर सके, उसको अपने काव्य में उन्होंने अस्पष्ट किन्तु उग्र अभिव्यक्ति दी। क्रान्ति के आह्वान करने वाले कवियों में प्रधान थे—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सोहनलाल द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, 'दिनकर' आदि। किन्तु यह स्मरणीय है कि इनमें से प्रत्येक कवि व्यक्तिगत रूप से गाँधीवादी था। इन कवियों के समक्ष जीवन या राजनीति के प्रति कोई वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं था, केवल भावात्मक दृष्टिकोण था जिसने लक्ष्य-प्राप्ति में सहायता से अधिक भ्रम का सृजन किया। स्वयं गाँधीजी का नेतृत्व इस भावात्मक एवं अवैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। गाँधीजी का राजनीति के प्रति वही दृष्टिकोण था जो छायावादी कवियों का जीवन के प्रति था। एक ने राजनीति में लक्ष्य को कम महत्व दिया, साधन को अधिक ; दूसरे ने जीवन को कम महत्व दिया, जीवन की छाया (भ्रम) को अधिक। इसीलिए राजनैतिक असफलताओं ने गाँधीजी को नियतिवादी होने के लिए विवश कर दिया और छायावादी कवियों को पलायनवादी होने के लिए। अपने "छायावाद जिन्दा है" नामक लेख में कामेश्वर शर्मा इस पर प्रकाश डालते हैं—

"—जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण न तो गाँधीवाद ने अपनाया था, न छायावाद ने ; दोनों ही हृदय की भावना पर अधिक विश्वास रखते थे, मस्तिष्क के चिन्तन पर कम। दोनों में ही तर्क का अभाव था ; दोनों ही उच्च-मध्य वर्ग की छाया में पल रहे थे। एक की प्रतिनिधि संस्था ताता-बिड़ला के आश्रय में कार्य कर रही थी, दूसरे के प्रतिनिधि कवि कालाकांकर के राजमहल और महादेवप्रसाद के प्रकाशन-गृह में जीवनयापन कर रहे थे।"

गाँधीवादी भावना से ओतप्रोत ये क्रान्तिकारी कविताएँ एक सीमा तक ही प्रगतिशील थीं। कुछ लोगों का कथन है कि "बहुत से लोग 'प्रगतिवाद' को फैशन समझ कर कविता करने लगे थे, हृदय के उद्रेक से नहीं।" फिर यह फैशन का आरोप किस युग पर नहीं लगाया जा सकता? एकसी कविताओं की जहाँ प्रचुरता दीखे, वहीं यह आरोप लगाया जा सकता है—वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल सभी पर। परन्तु यह एक गलत तथ्य है—एक भ्रमपूर्ण निष्कर्ष है।

इस प्रकार की रचनाओं से केवल एक ही उचित निष्कर्ष निकलता है। कवि अपने युग की उपेक्षा नहीं कर सकता। वह अपने युग का प्रतिनिधि होता है। प्रगतिवाद का काल राजनैतिक एवं सामाजिक रूप से ऐसा काल था कि कोई भी कवि प्रगतिवाद के अतिरिक्त असामयिक विषयों पर लेखनी चला कर अपने आपको समाज के समक्ष हीन चेतना के रूप में उद्घाटित नहीं करना चाहता था। यह ठीक है कि कुछ कवि प्रगतिवाद से पलायन कर गये, किन्तु यह प्रगतिवाद का दोष न होकर उन्हीं का अपना बुद्धि-चांचल्य है। राजनीति में भी ऐसे अवसरवादी व्यक्तियों की कमी नहीं है, किन्तु अवसरवादिता के लिए व्यक्ति-विशेष ही दोषी ठहराये जाते हैं, विचारधारा नहीं। गांधीजी की प्रतिमा को हृदय में धारण कर जो कवि युग व 'प्रगति' के संघर्ष-क्षेत्र में उतरे थे, उनको दो टूक हो जाने से झुक जाना अच्छा लगता था, वे समन्वय-वाद के समर्थक रहे। गांधीवाद समन्वयवाद है। पन्त का नाम इस प्रसंग में लिया जा सकता है।

कवि पन्त

इसमें सन्देह नहीं कि प्रगतिवादी विचारधारा का पन्त ने हिन्दी में सर्वप्रथम बौद्धिक स्पर्श किया। विश्व-व्यवस्था में चूड़ान्त परिवर्तन करने वाले इस वैज्ञानिक दर्शन ने पन्तजी को विस्मयविमुग्ध कर लिया और इस महान् विचारधारा के वाहक कार्ल मार्क्स का शिवरूप में दर्शन कर वे कृतकृत्य हो उठे। उनका स्फुति-पटु कण्ठ उनके विराट रूप का स्तुतिगान करने लगा—

"—धन्य मार्क्स चिरतमाच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर।
तुम त्रिनेत्र के ज्ञानचक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर।"

और उन्हें लगा कि साम्यवाद के साथ तो इस दुःखी संसार में स्वर्ण युग पदार्पण कर रहा है।

"—साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग करता मधुर पदार्पण।
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन॥"

मार्क्सवादी विचारधारा के पवित्र स्पर्श से उनकी सभी मान्यताएँ भ्रमरहित हो गयीं और वे मानने लगे कि सभ्यता, शिष्टता, संस्कृति, धर्म और नीति सभी थोथे शब्द हैं, यदि उनका आधार जनहित नहीं है।

"—सभ्य शिष्ट औ' संस्कृत लगते मन को केवल कुत्सित।
धर्म, नीति औ' सदाचार का मूल्यांकन है जनहित॥"

इतना ही नहीं, पन्तजी को मार्क्सवाद का भौतिकवादी आधार भी उचित जँचा और वे मान गये कि भौतिक परिवर्तन ही आत्मिक परिवर्तन के कारण हैं—

"—कहता भौतिकवाद वस्तु जग का कर तत्वान्वेषण।
भौतिक भव ही एकमात्र मानव का अन्तर्दर्पण॥

स्थूल सत्य आधार सूक्ष्म आधेय हमारा जो मन।
बाह्य विवर्तन से होता युगपत् अन्तर परिवर्तन ।।

मार्क्सवाद के पारस स्पर्श से उनके सभी जड़भाव जैसे स्वर्ण में परिणत हो गये। वे मानव को विश्व की सर्वश्रेष्ठ कृति समझने लगे—

"—सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव तुम सबसे सुन्दरतम्।
निर्मित सबकी मधु-सुषमा से,
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम।"

अब तक की परम्परा के विरुद्ध उन्होंने 'ताज' नामक कविता लिखी और 'ताज' को एक सामन्तवादी अवशेष के रूप में देखने का साहस भी किया—

"—संग सौध में शृङ्गार मरण का शोभन।
नग्न क्षुधातुर वासविहीन रहें जीवित जन ।।
मानव ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति।
आत्मा का अपमान प्रेत औ' छाया से रति।।"

पन्तजी ने समाज में नारी की दयनीय स्थिति का बौद्धिक अनुभव किया और समाजवादी व्यवस्था के अनुकूल नारी-स्वातन्त्र्य की मांग भी उन्होंने अपने काव्य में की—

"—सदाचार की सीमा जिसके तन से है निर्धारित।
पूत योनि वह मूल्य चर्म पर जिसका केवल अंकित ।।
योनि नहीं है रे नारी वह भी मानवी प्रतिष्ठित।
उसे पूर्ण स्वाधीन करो वह रहे न नर पर अवसित।"

मैथिलीशरणजी गुप्त के 'अहा, ग्राम्य जीवन भी क्या है" की तुलना में गाँव की स्थिति का अधिक यथार्थ और सच्चा चित्र पन्तजी ने दिया। उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि सामन्तवादी-पूँजीवादी व्यवस्था ने मकड़ी की भाँति जाल में मक्षिकावत् फँसे इन ग्रामों का जीवन-शोषण कर लिया है और आज वे निर्जीव शवमात्र रह गये हैं—

"—यह तो मानव लोक नहीं रे! यह है नरक अपरिचित।
यह भारत का ग्राम सभ्यता-संस्कृति से निर्वासित ।।
मानव की दुर्गति की गाथा से ओतप्रोत मर्मान्तक।
सदियों के अत्याचारों की यह सूची रोमांचक ।।"

किन्तु कोमल-तन, कोमल-मन पन्त इस उग्रतप्त प्रगतिवादी धारा को अधिक समय तक सहन नहीं कर पाये और वे शीघ्र ही इससे बाहर निकल आये। जन-जीवन व जन-संघर्ष से दूर रहस्यवादी होने में ही उनको अपने जीवन की परम सार्थकता दिखाई दी। राजनीति के पलायनवादी सैनिक-धर्म या दर्शन-क्षेत्र के सिद्ध (?) सन्त अरविन्द का जीवन उन्हें आदर्श लगा। वे पश्चिम के जीवन-वैभव और पूर्व के जीवन-

दर्शन के समन्वय के स्वप्न लेने लगे। जो पन्त कभी कहते थे—"है नहीं यन्त्र जड़ मानवकृत", वे ही पन्त फिर विज्ञान-विरोधी हो गये। पश्चिम के जीवन-वैभव की ईप्सा तथा विज्ञान-विरोध के द्वारा विरोधी वस्तुओं के विचित्र समन्वय के द्वारा उन्होंने अपनी मानसिक आरोग्यता प्रकट की। पन्तजी के विचित्र विचारों के कुछ उद्धरण अप्रासंगिक न होंगे—

"—मैं मार्क्सवाद का जनतन्त्र (आर्थिक दृष्टि से वर्ग-सन्तुलित जनतन्त्र) तथा भारतीय जीवन-दर्शन को विश्व-शान्ति तथा लोक-कल्याण के लिए आदर्श संयोग मानता हूँ।

× × ×

"—मार्क्सवाद का आकर्षण उसके खोखले दर्शन-पक्ष में नहीं—उसके वैज्ञानिक (लोकतन्त्र के रूप में मूर्त्त) आदर्शवाद में है, जो जनहित अथवा सर्वहारा का पक्ष है किन्तु उसे वर्गक्रान्ति का रूप देना अनिवार्य नहीं।"

× × ×

"—ऐसा नहीं समझना चाहिए कि स्थूल के संगठन से सूक्ष्म अपने आप संगठित हो जायगा जैसा आज का भौतिक दर्शन या मार्क्सवादी कहता है; अथवा सूक्ष्म में सामंजस्य स्थापित कर लेने से स्थूल में अपने आप सन्तुलन आ जायगा जैसा मध्य-युगीन विचारक कहता आया है। ये दोनों दृष्टिकोण अति वैयक्तिकता और अति सामाजिकता के दुराग्रहमात्र हैं।"

× × ×

स्तुतिपटुता—"मैंने अपने समकालीन लेखकों तथा विशिष्ट व्यक्तियों पर समय-समय पर स्तुतिज्ञान लिखने में सुख अनुभव किया है।"

× × ×

"—इसमें सन्देह नहीं कि अरविन्द के दिव्य जीवन-दर्शन से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हूँ। श्री अरविन्द आश्रम के योगयुक्त (अंत:संगठित) वातावरण के प्रभाव से, ऊर्ध्व मान्यताओं सम्बन्धी मेरी अनेक शंकाएँ दूर हुई हैं।"

× × ×

"—मैं अरविन्द को इस युग की अत्यन्त महान् तथा अतुलनीय विभूति मानता हूँ। उनके जीवन-दर्शन से मुझे पूर्ण संतोष प्राप्त हुआ। उनसे अधिक व्यापक, ऊर्ध्व तथा अतलस्पर्शी व्यक्तित्व, जिनके जीवन-दर्शन में आध्यात्म का सूक्ष्म, बुद्धि अग्राह्य सत्य, नवीन ऐश्वर्य तथा महिमा से मण्डित हो उठा है, मुझे दूसरा कहीं देखने को नहीं मिला। विश्व-कल्याण के लिए मैं श्री अरविन्द की देन को इतिहास की सबसे बड़ी देन मानता हूँ। उनके सामने इस युग के वैज्ञानिकों की अणुशक्ति की देन भी अत्यन्त तुच्छ है।"

गाँधीस्तुति (साथ में यन्त्र युग का विरोध भी)

"—तुम मांसहीन तुम रक्तहीन
हे अस्थि शेष ! तुम अस्थिहीन ।
तुम शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण ! हे चिर नवीन !
तुम पूर्ण इकाई जीवन की
जिसमें असार भव शून्य लीन ।
"जड़वाद जर्जरित जग में तुम,
अवतरित हुए आत्मा महान् ।
यन्त्राभिभूत युग में करने
मानव जीवन का परित्राण ।।"

× ×

"आये तुम मुक्त पुरुष कहने,
मिथ्या जड़ बन्धन सत्यराम ।
नानृतं जयति सत्यं माभैः,
जय ज्ञान-ज्योति तुमको प्रणाम ।।"

× ×

यन्त्र (विज्ञान) का समर्थन

"—वह्नि बाढ़ उल्का झंझा की भीषण भू पर,
कैसे रह सकता है कोमल मनुज कलेवर ।
निष्ठुर है जड़ प्रकृति सहज भंगुर जीवित जन,
मानव को चाहिए यहाँ मनुजोचित साधन ।"

× × ×

"—मानव जीवन प्रकृति संचलन में विरोध है निश्चित,
विजित प्रकृति को कर मानव ने की विश्व सभ्यता स्थापित ।"

× × ×

"—दर्शन बौद्धिक-आनन्द भले देता हो किन्तु चित्त को अस्थिर कर देता है। भारतीय दर्शन ने मेरे मन को अस्थिर कर दिया ।"

× × ×

आने वाला युग मनुष्य-समाज का वैज्ञानिक ढंग से पुनर्निर्माण करना चाहता है । ज्ञान को सदैव विज्ञान ने वास्तविकता प्रदान की है—

"—आओ हे दुर्धर्ष वर्ष लाओ विनाश के साथ सृजन,
विंश शताब्दी का महान् विज्ञान ज्ञान ले उतर गोवन ।।'

आश्चर्य अज्ञान का पुत्र है । पन्तजी आश्चर्यमय हैं, अतः वे रहस्यवादी हैं ।

अतः यदि असंगतियाँ उनके साहित्य का आधार हैं तो वे क्षम्य हैं। वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि वे अपनी किसी कृति से सन्तुष्ट नहीं हैं, फिर दूसरों से तो वे आशा ही क्या कर सकते हैं।

**'निराला'**

निराला' अपने समय के सबसे अधिक विद्रोही कवियों में से हैं। वे कवि रूप में भी विद्रोही हैं। व्यक्ति के रूप में भी उन्होंने छन्द, भाषा, भाव—सभी के विरुद्ध क्रान्ति की और जनसाधारण की ओर भी उनकी दृष्टि जाने से रुकी नहीं। 'निराला' की 'भिखारी' कविता एक प्रगतिवादी कविता है—

"—वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक।
चल रहा लुकटिया टेक।
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को।
मुँह फटी-पुरानी झोली को फैलाता।
वह आता दो टूक कलेजे के करता ......।"

× × ×

"चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए।
और झपट लेने को उनमे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।"

'निराला' का जीवन स्वयं शोषण की एक लम्बी और करुण कहानी है। समाज की जो व्यवस्था इतनी महान् प्रतिभा के अन्न-वस्त्र का भी प्रबन्ध नहीं कर सकी, जिसके कारण वह महान् कलाकार विक्षिप्त हो गया, ऐसी व्यवस्था का अस्तित्व किसी भी देश की संस्कृति के मुख पर एक बड़ा कलंक है।

इसके पश्चात् प्रगतिशील कवियों का वह दल आता है जिसने प्रगतिवाद को एक दर्शन के रूप में अपनाया और उसे अपनी कृतियों का सैद्धान्तिक आधार बनाया। इनमें प्रधान लेखक हैं—शंकर, शैलेन्द्र, केदारनाथ, नागार्जुन, अलीसरदार जाफरी आदि। इन सभी कवियों की कविता के उद्धरण देना यहाँ स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है।

आज प्रगतिशील साहित्य का सृजन उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध तथा आलोचना आदि सभी रूपों में हो रहा है।

प्रमुख उपन्यासकार—राहुल सांकृत्यायन, 'निराला', डॉ० रांगेय राघव, यशपाल, कृष्णचन्द्र।

प्रमुख आलोचक—डॉ० रामविलास शर्मा, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय।

प्रमुख कहानीकार—डॉ० रांगेय राघव, यशपाल, कृष्णचन्द्र, गिरीश अस्थाना।

प्रमुख निबन्धकार—डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० रांगेय राघव, यशपाल, भगवतशरण उपाध्याय।

---

अध्याय ९

# लोकनायक तुलसी

"विश्व की महान् विभूतियाँ काल-प्रसूत होती हैं"—यह एक विश्वविश्रुत सत्य है। जब थोथी रूढ़ियाँ, व्यर्थ के वाह्याडम्बर तथा समाज-विरोधी तत्त्व अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं, तब समाज की सुख, शान्ति और व्यवस्था की रक्षा करने किसी न किसी महापुरुष का आविर्भाव होता है। यह ऐतिहासिक सत्य भी है। भगवान बुद्ध तथा शंकराचार्य ऐसे ही काल-पुरुष हैं। उनके आविर्भाव का कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ ही थीं। कर्मकाण्ड अपनी चरम सीमा को पहुँच गया था। समाज भीत, त्रस्त तथा विक्षुब्ध था। वह अपने किसी अज्ञात उद्धारक की बाट जोह रहा था। इसी समय भगवान बुद्ध अपनी करुणा की पताका फहराते हुए आये और सारा देश उनके पीछे हो लिया। विश्व में महात्मा बुद्ध के सदृश लोकप्रिय व्यक्ति सम्भवतः दूसरा नहीं हुआ। उनके समय में ब्राह्मणों के पारमार्थिक नियम एवं धर्म की क्लिष्ट तथा अव्यावहारिक साधनाएँ जन-जीवन से दूर जा रही थीं। भगवान बुद्ध ने धर्म का सम्बन्ध जीवन से जोड़ा और प्राणिमात्र के लिए अपने धर्म के द्वार उन्मुक्त कर दिये। 'आत्मवत् सर्वभूतपु' को देखने के सिद्धान्त को शताब्दियों बाद व्यावहारिक रूप देने वाले वे प्रथम महान् पुरुष थे। भगवान बुद्ध के उपदेशों में एक ओर तो ब्राह्मणवाद की कटु आलोचना है, दूसरी ओर समाज-हित के लिए समयानुकूल नवीन कार्यक्रम। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है—"लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके क्योंकि भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्परविरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएं, जातियाँ, आचार-निष्ठा और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे। गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।" यह सत्य है कि समाज अपने संस्कारों को बिलकुल ही तो नहीं छोड़ सकता। लोकनायक सदैव जनता के प्राचीन संस्कारों का अधिकतम तथा उचिततम उपयोग करता है और नवीन बातों का सम्मिश्रण इस प्रकार करता है कि समाज उसे विदेशी या संस्कार-वाह्य न समझे। समाज का मनोविज्ञान ठीक-ठीक समझे बिना कोई व्यक्ति लोकनायक नहीं हो सकता, लोकशासक भले ही हो जाय। तलवार के बल पर विश्व-

शासन की कल्पना करने वाले, दम्भ भरने वाले, लोकशासक कभी लोकनायक नहीं रहे। वे तो घृणा की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित रहते हैं, जनता उन्हें अपने हृदय में स्थान कदापि नहीं देती और उचित अवसर मिलने पर वह ऐसे भारस्वरूप शासकों को अपने ही पैरों से कुचल देती है। लोकशासक होने में बाहुबल तथा भौतिक शक्ति-संचय प्राथमिक आवश्यकता है किन्तु लोकनायक होना इसके विरुद्ध है। लोकनायक तो अपने आपको समाज का तुच्छ सेवक समझता है, किन्तु समाज उसके एक इंगित पर अपने प्राणों की आहुति देने को सदैव तत्पर रहता है। लोकनायक त्याग के द्वारा समाज के हृदय में स्थान प्राप्त करता है। समाज-प्रेम तथा श्रद्धा के सिद्धान्त पर उसे सादर बिठाना है। तैमूर, नादिरशाह आदि लोकशासक कहे जा सकते हैं, लोक-नायक नहीं। अकबर भी इन्हीं लोकशासकों की परम्परा में था। अकबर जिस काल का महान् लोकशासक था, तुलसी उस काल के महानतम लोकनायक थे। भारतीय इतिहास ने बुद्ध के पश्चात् सम्भवतः इतना महान् लोकनायक नहीं देखा।

अब इस युग पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है, जिसमें तुलसी ने जन्म लिया। हिन्दी-साहित्य में वह काल भक्तिकाल के आरम्भ के काल के नाम से समझा जा सकता है। इस समय तक सम्पूर्ण देश ने विदेशियों के समक्ष पूर्णतः आत्मसमर्पण कर दिया था। अब तो पराजय की एक मादक तन्द्रा, नैराश्य तथा विस्मृति के अतल-गर्भ में ले जाकर उसके विनाश का मार्ग प्रशस्त कर रही थी। जब तुलसी ने अपने जीवन के रंगमंच पर पैर रखा तब परिस्थितियाँ जटिलतम थीं, तुलसी के समय का समाज आदर्शहीन था। हिन्दू-समाज तो बल वैभवविहीन था और मुसलमान समाज विलास-जर्जरित। विलासिता का विष समाज की शिराओं में फैलकर उसे हतप्रभ तथा निर्जीव बना रहा था। समाज में श्मशान जैसी शान्ति थी जो मृत्यु का प्रतीक थी। समाज का अधिकांश दरिद्र और अशिक्षित था। समाज को जैसे दिग्भ्रम हो गया था। मार्गदर्शक कोई था नहीं। निराशा चढ़ती नदी की भाँति समाज में बढ़ रही थी। आशा के कूल दृष्टि से ओझल थे। कष्ट, दरिद्रता तथा भुखमरी के उस भीषण प्रवाह में जन-जीवन ऊबडूब रहा था। उसका मन-मस्तिष्क अवसन्न था और शरीर निर्जीव। गृहस्थधर्म का पालन करना असम्भव देख लोग सिर मुँड़ा-मुँड़ा कर सन्यासी हो रहे थे और इन घुटमुंड सन्यासियों से देश एक बार भर उठा था। उनकी संख्या की अधिकता समाज के लिए एक चिन्ता का विषय बन गयी थी।

महान् मूर्ख और निरक्षर व्यक्ति वेदशास्त्रों को चुनौती देने लगे। वेदशास्त्रों की बातों को विकृतरूप में रख कर वे समाज पर छा जाने की चेष्टा करने लगे। असंख्य मत बरसाती दादुरों की भाँति उत्पन्न होकर ऐसी टर्र-टर्र करने लगे कि जनकल्याण की बातें स्वप्न हो गयीं। समाज विशृंखल, लक्ष्यहीन तथा पतित हो रहा था। किन्तु ऐसी विषम परिस्थितियों में भी एक युवा साधक समाज की गतिविधि के निरीक्षण में व्यस्त था। वह एक योग्य चिकित्सक की भाँति रुग्ण समाज की नाड़ी-परीक्षा आशा-

न्वित हृदय से कर रहा था। उसका स्वयं का हृदय कराह रहा था, किन्तु उसकी आँखों में अश्रु न थे और न हृदय में निराशा। वह अपना सर्वस्व त्याग कर समाज की सांस्कृतिक सम्पत्ति की रक्षा करने निकल पड़ा था। यही युवक 'जनगण-भाग्य-विधाता' हिन्दी कविता का अमर और गौरवपूर्ण इतिहास का तरुण लोकनायक कवि तुलसी था।

किन्तु कब समाज ने अपने ही उपकारी महापुरुषों को प्रथम दृष्टि में पहचाना है? उसने किस युगनिर्माता का विद्रूप नहीं किया, उसकी अग्नि-परीक्षा नहीं ली? तुलसी भी उसके अपवाद नहीं थे।

रूढ़ियों के विरोधी प्रत्येक महापुरुष को मुग्धमति जनता का कोपभाजन बनना पड़ता है—बनना पड़ा है और अधिकांश की तो इस गर्वमूढ़ जनता ने बलि तक ले ली; कृष्ण, ईसा, महर्षि दयानन्द, महात्मा गाँधी आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। तुलसीदास को भी अपने विरोधियों का सामना करना पड़ा था और विरोधियों के हाथों पर्याप्त शारीरिक और मानसिक कष्ट भी मिले थे। तुलसी ने एक ही धर्म के अन्दर विषवाहक स्नायुओं की भाँति फैले इस साम्प्रदायिक नाड़ी-चक्र को देखा था, समझा था। शिव के भक्त राम के शत्रु और राम के भक्त शैवों के घोर शत्रु। तुलसी से अज्ञान का यह निर्मम खेल नहीं देखा गया। कबीर की वाणियों में भी यह शैव-वैष्णव संघर्ष उभर कर आया है। उन्होंने लिखा है—"वैष्णव का छपरी भली नासाकत का बड़ गाँव" तथा "साकत काली कामरी भावै तहाँ बिछाइ।" इससे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि शक्त विशेषरूप से घोर असहिष्णु थे। तुलसी ने घबरा कर इस विषमता और संघर्ष से मुख नहीं फेर लिया, असमर्थ की भाँति पलायन नहीं कर गये, अपितु मानसिक एवं शारीरिक कष्टों की लहालेह वर्षा में भी जीवन का मोह त्याग कर सच्चे लोकनायक की भाँति वे इस चौड़ी साम्प्रदायिक खाई को पाटने का सतत् प्रयत्न करते रहे। अपने 'रामचरितमानस' में, जो विभिन्न विरोधों का समन्वय ग्रन्थ है, उन्होंने राम तथा शिव को निकट लाने का अभूतपूर्व प्रयत्न किया। उन्होंने दोनों शक्तियों में अभेद की स्थापना की—"शिवद्रोही मम दास कहावा, सो नर सपनेहु मोहि न भावा" लिख कर तुलसी ने कितना महान् आश्चर्यजनक काम किया, उसकी सहज ही कल्पना नहीं की जा सकती। राम के मुँह से शिव की प्रशंसा सुन कर असहिष्णु तथा घोर संकीर्ण हृदय शैवों के मस्तक भी लज्जा से एक बार झुक गये। अपने समय का महानतम रामभक्त तुलसी राम के मुँह से शिवजी की प्रसंशा करा सकता है—बिना यह सोचे हुए कि राम इस प्रकार महत्वहीन हो जाएंगे—यह उनके (शैवों) के लिए कल्पनातीत और अश्रुतपूर्ण बात थी। केवल एक वाक्य ने—अक्षरों की एक छोटी सी धारा ने शतश: वर्ष पुरातन वैमनस्य की भयंकर अग्नि को क्षण भर में शान्त कर दिया। इस एक पंक्ति का ही महत्व लाखों श्रेष्ठ ग्रन्थों से अधिक है और इसके लेखक का""""। केवल एक पंक्ति ने ही दो विरोधी शक्तियों को मित्रता और प्रेम को मधुर पाश में बाँध दिया।

उसी तुलसी की लोक-कल्याणकारी कविता-धारा को जब कुछ लोग केवल स्वान्त:सुखाय के संकीर्ण कूलों में बाँधना चाहते हैं तब पता नहीं वे करना क्या चाहते हैं। ऐसे ही कुछ उर्वरबुद्धि विद्वान् 'कला—कला के लिए' को तुलसी काव्य-प्रासाद का आधार बताते हैं। जिस भावना के विरोध के लिए तुलसी ने अपना जीवन लगा दिया, उसी भावना को तुलसी काव्य का आधार बना कर वे तुलसी के साथ न्याय करने का ढोंग भी करते हैं। उनके भ्रम का आधार तुलसी का निम्नांकित वाक्य है—"स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा, भाषा निबन्ध मतियजुल मातनोति।" किन्तु उपरोक्त वाक्य लिखने का तुलसी का वास्तविक उद्देश्य क्या था, इस पर उन्होंने कभी विचार नहीं किया।

तुलसी के समय में ऐसे कवियों की कमी नहीं थी जो अकर्मण्य, पापागार एवं नीच राजाओं की प्रशंसा में आकाश-पाताल एक किया करते थे। बदले में उन्हें मिलते थे चाँदी के कुछ टुकड़े और राजा साहब द्वारा प्रशंसा के दो शुष्क शब्द। तुलसी से यह सब कुछ नहीं सहा गया, उनकी स्वाभिमानी आत्मा तिलमिला उठी। जो सरस्वती को जनता की थाती समझता हो, वह उसका दुरुपयोग उन नर्क-कीटों की प्रशंसा करके कैसे करता? इस क्रान्तिकारी कवि के हृदय पर अपने समकालीन तथाकथित कवियों के इस आचरण से जो ठेस लगी होगी, उसकी कराह इस पंक्ति से आज भी फूट रही है—

"—कीन्हे प्राकृत जनगुनगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।"

उपरोक्त पंक्ति तुलसी के इस विचार को स्पष्टरूप से व्यक्त कर रही है कि जनवाणी किसी व्यक्ति-विशेष के गुणगान में नहीं लगती, वह तो जन-समाज के लिए मंगल का विधान करती है। क्या तुलसी की वाणी ने यह नहीं किया? 'स्वान्त:सुखाय' से उनका स्पष्ट अभिप्राय है—जो किसी व्यक्ति-विशेष के लिए नहीं लिखी गयी, बल्कि जो सब जनहिताय, सब जनसुखाय है। तुलसी का अपना व्यक्तिगत सुख क्या था? वह क्या वस्तु थी जिसके लिए वह अपने व्यक्तिगत सुखों की होली जला आये थे? क्या वह समाज से भिन्न और कोई वस्तु थी? अगर भिन्न वस्तु थी तो उनकी कविता में लोककल्याण की भावना सजल मेघों की भाँति इतनी घनीभूत क्यों है? अपने को तुच्छातितुच्छ मानने वाला यह निराभिमानी युगान्तरकारी लोककवि पूरी रामायण अपने मानसिक विलास के लिए लिखता! इतना बड़ा पाखण्ड उससे कैसे बन पड़ता?

यही नहीं, तुलसी ने अपनी इस बात को आगे और भी स्पष्ट कर दिया है, उन्होंने कह दिया है कि कविता का न अपने आप में कोई महत्व है न मूल्य; वह तो समाज-सापेक्ष्य है। समाज के अभाव में कविता की कल्पना नितान्त हास्यास्पद नहीं तो और क्या है? कविता के उद्देश्य और उसके कार्य-क्षेत्र के विषय में तुलसी से भी अधिक ज्ञान किसका होगा, जिसने लिखा है—

"—मणि मारिणक मुकता छवि जैसी।
अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुणी तन पाई।
लहइ सकल सोभा अधिकाई।
तैसइ सुकवि कवित बुध कहई।
उपजहिं अनत अनत छवि लहई॥"

इतना ही नहीं, वे स्पष्ट लिखते हैं—

"—कीरति भणिति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई॥"

दम्भ और अहं से जो कवि कोसों दूर था, जनभाषा हिन्दी के लिए जिसने संस्कृत-पाण्डित्य-प्रदर्शन की सुविधा को ठुकरा दिया—उस निराभिमानी, लोक-सेवक कवि को व्यक्तिवादी बताना उसके साथ कठोर अन्याय करना है।

तुलसी ने समाज के जर्जर ढाँचे के प्रत्येक जोड़ को बड़े ध्यान से देखा था। उन्हें विश्वास था कि वे इसमें यथेष्ट सुधार कर सकेंगे। समाज की समस्याएँ बहुमुखी थीं, उनका समाधान कविता में वे कैसे करें ? पता नहीं, इस सोच-विचार में उन्होंने कितने दिन बिता दिये होंगे ? अचानक उनके मन-मस्तिष्क में कौंधा—राम का आदर्श चरित्र, लोकसंग्रही चरित्र, जो जीवन की अधिकाधिक समस्याओं तथा विविधताओं को अपने चरित्र-वृत्त की परिधि में सहज ही ढंक सकता था। तुलसी का हृदय हर्ष-विभोर हो उठा। तुलसी ने अपने मन-मस्तिष्क की विशदता से समाज को मर्यादित कर उसे अपने हृदय-रस से इतना सींचा कि वह धन्य हो गया। उनके हृदय की भावुकता की अजस्र-धारा में जो जनकल्याण के लिए प्रवाहित हुई थी, उनके मस्तिष्क-बाँध ने गन्दा जल मिलने से बचा लिया। जो भावुकता अपनी स्वच्छंदता में सीमाहीन होकर कभी-कभी समाज को विलास-मदिरा पिला कर जर्जर कर देती है, उसी को बुद्धि और विवेक की आँच पर तपा कर तुलसी ने जो काव्य-रसायन तैयार किया, वह समाज की निर्जीव शिराओं में नवीन रक्त का संचार कर उसे स्वस्थ्य बनाने वाला था। तुलसी-साहित्य की एक भी पंक्ति जन-कल्याण से बेसुध और शिथिल नहीं मिलती।

तुलसी ने समाज की सर्वाङ्गीण परीक्षा करके उसके रोग का उचित निदान किया। तुलसी ने कृष्णभक्त कवियों की भाँति कृष्ण के सुदर्शन का दर्शन-पक्ष ही नहीं लिया, अपितु कोटि-कोटि कामदेवों को भी लज्जित करने वाले कुसुमादपि कोमल राम के हाथों में समाज की रक्षा के लिए वज्र से भी कठोर धनुष दे दिया। तुलसी के राम इस प्रकार जहाँ कुसुमादपि कोमल हैं, वहाँ वज्रादपि कठोर भी। किन्तु समाज के समक्ष आचरण की मर्यादा का उदाहरण कौन रखेगा ? इसलिए राम शील के भी अवतार हैं। राम का चरित्र तो स्वयं काव्य तो है किन्तु इसमें तुलसी के कवि-

कर्म की कठोर परीक्षा हो गयी है । एक पंक्ति भी व्यर्थ होने पर उनके काव्य में कुरूपता का कलंक उत्पन्न कर सकती थीं, किन्तु वे न तो समाज में कुरूपता देखना चाहते थे और न अपने काव्य में ही। शील, शक्ति, सौंदर्य समन्वित लोकसंग्रही राम का चरित्र उन्होंने मार्मिक कलापूर्ण भाषा में खींचा है। तुलसी की कल्पना ने राम के चरित्र को इतना सजीव और पूर्ण बना दिया है कि विश्व-साहित्य के श्रेष्ठतम चरित्र उसकी ओर ईर्ष्या भरी दृष्टि से देख सकते हैं।

तुलसी दार्शनिक थे, समाज-सुधारक थे और इन सबसे अधिक एक मनुष्य थे। कबीर आदि कवियों ने समाज के रोगगलित अंगों की चीर-फाड़ तो निष्ठुर हाथों से की, किन्तु वे उस पर मरहम नहीं लगा सके। तुलसी का काव्य समाज को चिढ़ाता नहीं, उसे शान्ति देता है। यह तो ठीक है कि सन्त-साहित्य में ऐसा दूसरा व्यक्ति कबीर को छोड़ कर नहीं है जिसका अनुभव इतना परिपक्व हो और अन्तर्दृष्टि इतनी गहरी, किन्तु कबीर के "ढाई आँखर" की ओट में कुछ दुरात्मा अपना स्वार्थ-साधन करना चाहते थे। "अलख, अनख" की बाँग लगाने वाले ये निरक्षर सवाधू संख्या में भी कम नहीं थे। इनके समाज-विरोधी रूप को तुलसी ने कुछ ही शब्दों में स्पष्ट कर दिया है—

"—नारिमुई घर सम्पत्ति नासी।
मूँड़ मुड़ाइ भए सन्यासी ॥"

इन कनफटे जोगियों की समाज-विरोधी बातें सुनते-सुनते तुलसी का हृदय पक गया था। 'अधिक', 'अलख', 'अलख' सुनना उनके लिए असह्य हो उठा। वे रोष में कह उठे—

"—हम लखि हमहिं हमार लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखै राम नाम जपु नीच ॥"

अभी तक समाज में भक्तिप्रधान, ज्ञानप्रधान, कर्मप्रधान आदि भक्ति पद्धतियाँ प्रचलित थीं, किन्तु सबमें अलग-अलग एकांगिता थी। कोई भी मार्ग इतना विस्तृत नहीं था कि उसे लोकधर्म कहा जा सकता। तुलसी ने ज्ञानभक्ति और कर्म के उचित सम्मिश्रण से कल्याण का एक ऐसा राजमार्ग तैयार किया जिस पर लोकधर्म का रथ सरलतापूर्वक चल सकता था। उन्होंने ज्ञान और भक्ति का उचित समन्वय करते हुए कहा—

"—ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कुछ भेदा।
उभय हरहिं भवसम्भव खेदा ॥"

तुलसी समाज-हित के सजग प्रहरी थे। वे जानते थे कि समाज पर किस बात का प्रभाव पड़ता है? अतः उनके पूरे साहित्य में एक भी ऐसी पंक्ति नहीं मिलेगी जो लोक-विरोधी हो। श्रृंगार का जितना मर्यादित और लोकहितकारी रूप तुलसी में मिलता

है, सम्भवतः विश्व-साहित्य में वह अभूतपूर्व है। वे सीता को राम का दर्शन अँगूठी के नग में कराते हैं—आमने-सामने नहीं। इसी प्रकार जब ग्राम-वधुएँ सीता से पूछती हैं कि "साँवरे से सखि रावरे को हैं" क्योंकि ये "चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं," तब "तुमतौं" ने एक घटना होने से बचा ली, नहीं तो मर्यादा की सीमाएं टूट जाती और समाज पर एक संकट उपस्थित हो जाता। "हमतौं" अगर "तुमतौं" के स्थान पर होता तो अश्लीलता की गंध उसमें से आने लगती, परन्तु तुलसी ऐसा करते कैसे? वे समाज-हित के प्रति उदासीन तो थे नहीं, वे समाज के सुधारक थे, रक्षक थे। तुलसी से पूर्व कृष्णभक्त कवियों ने कृष्ण का जो रूप प्रस्तुत किया था, उसमें कृष्ण के एक-मात्र रूप की आराधना थी और न तो वह संयत ही था और न मर्यादित ही। सूर जैसे प्रसिद्ध कवि के कुछ पद तो घोर अश्लील तक मिलते हैं, जैसे—

"—झूठे मोहि लगावति ग्वारी।
खेलत ते मोहि बोलि लियो है दोनों भुज भरि दीनी अकवारी।
अपने कुच मेरे कर धारत आप ही चोली फारी॥"

तथा

"—नीवी ललित गही यदुराई
जबहि सरोज धरयो श्रीफल पर तब यशुमति तहँ आई।"

तुलसी ऐसी पंक्तियों को कब सहन कर सकते थे। वे जानते थे कि समाज में पहुँचते-पहुँचते इन पंक्तियों पर से भक्ति का आवरण हट जायगा, वे रह जायंगी एकमात्र अश्लील, समाज के लिए घातक। तुलसी का काव्य मानस और मस्तिष्क के समन्वय का सुपरिणाम है; वह भावुकता से ओत-प्रोत भी है और मस्तिष्क से संयमित भी। इसीलिए तो वह समाज के लिए बौद्धिक तीर्थ बन गया है। तुलसी शृंगार से बचे हैं—यह कहना अपने ही अज्ञान का प्रदर्शन करना होगा। शृंगार के दोनों पक्षों, संयोग-शृंगार एवं वियोग-शृंगार का जितना मार्मिक वर्णन तुलसी ने किया, उसे जितनी पूर्णता तक उन्होंने पहुँचाया है, पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि अन्य कवि इस दिशा में उनके समक्ष बौने जैसे लगते हैं। वास्तव में, हिन्दी में तुलसी का आविर्भाव एक सुखद आश्चर्यमयी घटना है। उनके व्यक्तित्व के समक्ष, अतीत और वर्तमान के सभी कवि निष्प्रभ हो जाते हैं। तुलसी ने भाव और भावाभिव्यक्ति की कला निर्जीव पुस्तकों से ग्रहण नहीं की थी अपितु प्रकृति के विशाल प्रांगण में खड़े होकर जन-जीवन से ग्रहण की थी, इसीलिये तो तुलसी-साहित्य की प्रत्येक पंक्ति पाठक के मर्म को स्पर्श करती है। सीता के वियोग में राम की विवेकहीनता, वन के वृक्ष, लताओं तथा मधुकर-श्रेणी से सीता का पता पूछने की भावना न तो राम की दुर्बलता है और न कोई काव्यात्मक अस्वाभाविकता ही। परन्तु उस मानवीय दुर्बलता के पारस स्पर्श ने 'रामचरित' का अंग-प्रत्यंग स्वर्ण की तरह चमका दिया है, उसे जन-मन के निकट ला दिया है। अगर राम का चरित्र पूर्णतः एक दैवी शक्ति का प्रकाश

मात्र होता तो वह जन-मन के लिए केवल आश्चर्य का विषय हो सकता था, प्रेम, श्रद्धा और भक्ति का नहीं, जैसा वह आज है। शृंगार के अतिरिक्त अन्य सब रसों को भी तुलसी ने पूर्णता तक पहुँचा दिया।

तुलसी ने राम के चरित्र का ऐसा पूर्ण रूप समाज के समक्ष रखा कि वह लोक-धर्म का विधायक तो था ही, साथ ही समाज की कोमल वृत्तियों का भी सहज ही में आलम्बन हो सका। वह कृष्ण की रूप-ज्वाला की भाँति केवल उत्तेजक ही नहीं था, अपितु अपने सौन्दर्य की शीतलता से जन-मन को शीतल करने वाला और भावनाओं का परिष्कारक भी था।

—"तुलसी ने जिन परिस्थितियों में जन्म लिया था, उनमें वे अपना कोई एक संदेश दे सकते, यह सम्भव नहीं था। ऐसी हठधर्मी उन्होंने की भी नहीं। उनका तो उद्देश्य था—समाज में फैली असंख्य विरोधी बातों का सुन्दर समन्वय। तुलसी ने समाज की व्यवस्था पर प्रहार भी किया है, किन्तु उनकी प्रहारक भुजा कबीर की भाँति निर्मम और केवल विध्वंसक नहीं है, अपितु निर्माण का कठिन कार्य भी उसी ने किया है। विरोधी बातों का समन्वय कोई सरल काम नहीं है, उसमें व्यक्ति की प्रतिभा, व्यावहारिक बुद्धि और नैतिक शक्ति की अग्नि-परीक्षा एक साथ हो जाती है। दुर्बल स्नायुयों का व्यक्ति इतनी परस्पर-विरोधी बातों का भार एक साथ वहन नहीं कर सकता, किन्तु जनकल्याण के लिए उन्होंने उस पाप-पर्वत को अपने मस्तक पर धारण किया, लोककल्याण के लिए जीवन-कष्टों के विष को वे शंकर की भाँति पान कर गये, किन्तु समाज को उन्होंने बदले में अमृत ही दिया। कितनी विरोधी बातों का तुलसी ने समन्वय किया है, यह देख कर उनकी शक्ति पर आश्चर्य होता है। तुलसी का सम्पूर्ण जीवन और काव्य-समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय, भाषा (हिन्दी) और संस्कृत का समन्वय, ज्ञान और भक्ति का समन्वय, प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय, इस प्रकार उनका 'रामचरितमानस' आद्यांत एक समन्वयकाव्य ही है। यही कारण है कि 'रामचरितमानस' केवल काव्य-ग्रन्थ ही नहीं अपितु धार्मिक ग्रन्थ भी है। जनता का साधारण व्यक्ति भी, जो साहित्य विशिष्टताओं—रस, छंद, अलंकार आदि से अनभिज्ञ होता है, इसका पाठ करता और काव्य के उच्च कोटि के प्रेमी तथा साहित्य-शास्त्र के उद्भट विद्वान् भी इस अगाध मानस में आकंठ मग्न होते हैं और उसकी थाह नहीं पाते। इतना सरल, साथ ही इतना गम्भीर ग्रन्थ शायद ही विश्व-साहित्य में इसके जोड़ का निकले। इसीलिए तो श्रद्धावनत समाज तुलसी की दैवी काव्य-शक्ति पर मुग्ध होकर उन्हें असाधारण ज्ञान-गुण-सम्पन्न लोकोत्तर मानव या देवता समझता है। किन्तु जैसा प्रसादजी ने लिखा है कि 'देवत्व पूर्ण मनुष्यत्व ही है', इसके अनुसार तुलसी भी पूर्ण मनुष्य ही थे। तुलसी का 'रामचरितमानस' आज भी धर्म और युग के बीच की कड़ी है। तुलसी ने मानस में परिस्थितियों का सार्वदेशिक

श्रौर सार्वकालिक हल रख दिया है। 'मानस' भावुकता का श्रगाध सागर भी है श्रौर सामाजिक समस्याश्रों का श्रद्भुत कोष भी।

कुछ शब्द तुलसी की भाषा के विषय में लिखना विषयान्तर न होगा। तुलसी भावों के श्रगाध सागर थे श्रौर भाषा के प्रकाण्ड पण्डित। श्रपने समय में प्रचलित व्रज श्रौर श्रवधी दोनों भाषाश्रों में उन्होंने काव्य-प्रणयन किया श्रौर इस प्रकार दोनों भाषाश्रों का चरम उत्कर्ष प्रकट किया। तुलसी-साहित्य का यदि गम्भीर श्रध्ययन किया जाय तो श्रनायास ही यह पता लग जायगा कि श्रवधी में 'रामचरितमानस' लिखने के लिए उन्हें कितने पाखण्डी पंडितों श्रौर रूढ़ि-रोगग्रस्त जीर्णबुद्धि विद्वानों से लोहा लेना पड़ा था। युग की पुकार को तुलसी के कानों ने सुना था, फिर युग-वाणी में उसे मूर्तरूप देने से उन्हें कौन रोक सकता था? श्रसंख्य बाधाश्रों श्रौर श्रापत्तियों की श्रवहेलना करते हुए तुलसी ने श्रपना सन्देश युगवाणी में दिया। तुलसी का यह क्रान्तिकारी कार्य है। उनकी यह भावना जनता के प्रति उनके श्रदम्य प्रेम को प्रकाश में लाती है, नहीं तो कौन इस बात को श्रस्वीकार करेगा कि तुलसी श्रपना 'रामचरितमानस' संस्कृत में भी लिख सकते थे? परन्तु उन्होंने ऐसा किया नहीं। क्यों? संक्षिप्त उत्तर है—जन-कल्याण श्रौर जन-प्रेमवश। तुलसी ने काव्यारम्भ से पूर्व बीस वर्ष भाषा की श्रविराम साधना में व्यतीत किये थे। सरस्वती को श्रपने कंठ में योग्य श्रासन देने के लिए उन्होंने कितनी कठिन तपस्या की होगी, श्राज हम इसकी केवल कल्पना कर सकते हैं, परन्तु इतना सब जानते हैं कि इस विरक्त, सर्वत्यागी, लोकसंग्रही कवि की सरस्वती एक दिन प्रेमचेरी हो गयी श्रौर तुलसी कवियों की उस श्रग्रणी पंक्ति में श्रा बैठे जिनके विषय में प्रसिद्ध है—

"—वचन बस जासु सरस्वती करत काज मनो निज भामिनी।"

श्रपने समय में प्रचलित सभी काव्य-पद्धतियों—(१) वीरगाथाकाल की छप्पय-पद्धति; (२) कबीर की दोहा-पद्धति; (३) जायसी की दोहा-चौपाई-पद्धति; (४) विद्यापति तथा सूरदास की गीत-पद्धति; (५) गंग श्रादि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति) में सफलतापूर्वक रचना करके तुलसी ने श्रपने श्रद्वितीय भाषाधिकार का श्रपूर्व परिचय दिया। तुलसी उन महाकवियों में से हैं, जिनके काव्य-ग्रन्थ लक्षण-ग्रन्थों के श्राधार बनते हैं। श्रतः लक्षण-ग्रन्थों के श्राधार पर उनके काव्य में गुणदोष खोजना कम हास्यास्पद नहीं है। भावानुकूल भाषा तो तुलसी-काव्य की श्राधारभूमि ही है श्रौर उदात्त भावनाश्रों के श्रबाध नृत्य के लिए तुलसी-काव्य श्रपूर्व क्रीड़ाभूमि है। तुलसी-काव्य-कल्पतरु की छाया में श्रान्त श्रौर व्यथित हिन्दी भाषा-भाषियों को क्या नहीं मिला? यदि हिन्दी में केवल तुलसी होते श्रौर तुलसी का भी केवल 'रामचरित-मानस' ही होता तब भी हिन्दी श्रन्य समृद्ध भाषाश्रों के लिए श्राशीर्वाद का हाथ ऊँचा कर सकती थी। वे तुलसी निश्चय ही कवि-समाज के भव्य किरीट हैं जिन्होंने हिन्दी के मस्तक को ऊँचा किया है।

'निराला' ने थोड़े से शब्दों में महान् कवि तुलसी के व्यक्तित्व को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—

"—देश काल के शर से बिंध कर
यह जागा कवि अशेष छविधर
इसका स्वर भर भारती मुखर होयेंगी;
निश्चेतन निज तन मिला विकल
छलका शत-शत कल्मष के छल
बहती जो, वे रागिनी सकल सोयेंगी।"

हुआ भी ऐसा ही। इतिहास इस बात का साक्षी है कि तुलसी के कल्याण-राग के समक्ष उस समय की सम्पूर्ण कल्मष रागिनियाँ अचानक स्तब्ध हो गयीं।

## अध्याय १०

# कलाओं का वर्गीकरण

### कला का मूल

आदि मानव क्या जानता था कि जिस वस्तु से उसका परिचय तक न था, उसकी भावी सन्तति कालान्तर में उसी वस्तु को जीवन में प्राप्त सफलताओं की सूची में शीर्ष स्थान देगी। प्रारम्भ में मनुष्य प्रकृति के सुरम्य वातावरण को देख कर आश्चर्यचकित हुआ होगा। "छाया और प्रकाश के नवरूप-रंग उसके मानसपटल पर भी अंकित होते रहे होंगे। मानव प्रारम्भ में प्रकृति के इन आश्चर्यमय व्यापारों को देख कर इनके विषय में सोचने के लिए भी विवश हुआ होगा और जाने किन अस्फुट शब्दों में, किस अस्पष्ट भाषा में उसने अपने उन आश्चर्यों को व्यक्त किया होगा? मनुष्य की आदिभाषा चाहे आज उसकी सन्तति के लिए उतनी महत्वपूर्ण न हो किन्तु भाषा के क्रमिक विकास में उसका ऐतिहासिक महत्व अवश्य है। सृष्टि में सर्वप्रथम भाषा का उदभव कैसे हुआ, विज्ञान इस विषय में लगभग मूक है। जो बातें कही जाती हैं, वे तर्कपूर्ण कम हैं, विवादास्पद अधिक। मनुष्य ने हार कर भाषा को दैवी वरदान मान लिया। सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक मनुष्य भाषा की अनवरत साधना करता आ रहा है। आज तो वह सूक्ष्म, अव्यक्त एवं मानसिक भावनाओं को भी सफलता-पूर्वक व्यक्त कर लेता है, किन्तु एक समय था जब ये बातें उसके लिए स्वप्नवत् थीं। किन्तु मानव-हृदय के भाव-प्रभंजन ने एक दिन भाषा का मार्ग ग्रहण किया और तब से आज तक वह इसी मार्ग से बह रहा है। मनुष्य इस व्यापक प्रकृति की गोद में दुःख-सुख आदि अनेक भावों का अनुभव करता है और उसे वह व्यक्त भी करना चाहता है। यह एक मनोवैज्ञानिक बात है कि मनुष्य जो कुछ अनुभव करता है, उस पर मनन करता है और जो कुछ मनन करता है, उसे वाणी का रूप देना चाहता है।

मनोभावों को व्यक्त करने की यही अदम्य भावना कलाओं की जननी है।

कुछ संस्कृत होने पर मनुष्य अपनी भावनाओं को विविध रूप में व्यक्त करने लगा, कभी गाकर, कभी चित्र बनाकर, कभी मनोरंजन के लिये मिट्टी या पत्थर को

कोई विशिष्ट सार्थक रूप देकर। कालान्तर में भावों को व्यक्त करने के ये विविध प्रकार भिन्न-भिन्न कलाओं के नाम से अभिहित हुए।

### कला क्या है ?

श्री मैथिलीशरण गुप्त ने कला की परिभाषा देते हुए लिखा है—"अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही है कला"। वास्तव में कुशलतापूर्वक जो बात व्यक्त की जाती है, वही कला है। जहाँ व्यक्त करने में कुशलता का जितना अभाव होगा, कला का भी उतना अभाव होगा। मनुष्य प्रतिदिन जिस भाषा में बात करता है, जो बात करता है, वह सब कला नहीं कही जायगी क्योंकि अभिव्यक्ति की कुशलता का वहाँ सर्वथा अभाव रहता है। लकड़ी का एक लट्ठा, रंगों का एक ढेर, अनगढ़ पत्थरों का एक समूह ये सब 'कला' नहीं है क्योंकि उपरोक्त वस्तुएँ 'कौशलहीन' हैं। बढ़ई, लट्ठे को छाँटकर, साफ कर तथा उसका निरन्तर परिष्कार कर अपनी कुशलता से उसे किसी भव्य एवं विचित्र वस्तु के रूप में बदल देता है। इसी प्रकार शिल्पकार अनगढ़ पत्थरों को अपने अथक परिश्रम और आश्चर्यजनक कौशल द्वारा विचित्र सुन्दर सार्थक रूपों में बदल देता है—ठीक इसी प्रकार मनुष्य की दैनिक व्यवहार की भाषा अक्षरों का एक अनगढ़ ढेर है, कवि उन्हीं अक्षरों को परिष्कृत एवं संस्कृत करके तथा अपने कौशल द्वारा उन्हें विचित्र क्रम से सजा कर उन्हें विचित्र और आश्चर्यजनक भाव व्यक्त करने में समर्थ बना देता है—यही उसकी कला है। वास्तव में निरन्तर परिष्कार और सुन्दर संगठन का नाम ही कला है। अब प्रश्न उठ सकता है कि शब्दों में व्यक्त की गयी प्रत्येक बात, अक्षरों में लिखा गया प्रत्येक विषय कला है ? उत्तर स्पष्ट है—नहीं ! जहाँ परिष्कार और कौशलयुक्त संगठन नहीं, वहाँ कला नहीं। इसी कसौटी पर कसने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन, विज्ञान, भूगोल, रेखागणित, गणित आदि कला के अन्तर्गत नहीं आते क्योंकि ये वस्तुएँ विश्लेषणप्रधान होती हैं। नियम-निर्धारण या वस्तुओं का वर्गीकरण इनका लक्ष्य रहता है। उपरोक्त वस्तुएँ बात तो कहना चाहती हैं पर बात कहने में कुशलता को महत्व नहीं देतीं, अर्थात् कुशल अभिव्यक्ति इनका विषय नहीं होता। कला और विज्ञान में वही अन्तर है जो एक कलाकार और वैज्ञानिक में है। कलाकार अपने हृदय पर पड़े किसी वस्तु के सम्मिलित तथा समग्र प्रभाव को कुशलता से व्यक्त करता है जबकि वैज्ञानिक खण्ड-खण्ड करके उसका निरीक्षण करता है और इस प्रक्रिया का अंकन निश्चित संकेत बना कर अपने समझने के लिए कर लेता है। कुशलता का तो उसमें अभाव रहता ही है, साथ ही वह समाज को ध्यान में रखकर समाज के हितार्थ भी उसे नहीं लिखता। जहाँ अभिव्यक्ति में कुशलता नहीं है, वहाँ कला नहीं है। इसलिये अभिव्यक्ति-मात्र, अर्थात् अभिव्यंजना की सभी सम्भव प्रणालियाँ तो कला नहीं हैं। हाँ, अभिव्यंजना जहाँ 'कौशल' के आलिङ्गन में आबद्ध है, वहाँ वह 'कला' अवश्य है।

### कलाओं के वर्गीकरण का आधार

अब प्रश्न उठ सकता है कि जब अभिव्यंजना के विविध प्रकार हैं अर्थात्

कला अनेकों रूपों में व्यक्त होती है तो क्या कला का वर्गीकरण सम्भव है ? क्या हम कला को अलग-अलग भागों में बाँट सकते हैं ?

वास्तव में कला तो एक अखण्ड अभिव्यक्ति है । कलाकार के हृदय में जो भाव-लहरियाँ उठती हैं, उनका विभाजन असम्भव है । इसलिये तात्विक दृष्टि से से कला का विभाजन सम्भव ही नहीं है । प्रसिद्ध कलाशास्त्री क्रोचे का भी यही कथन है कि न तो दार्शनिक दृष्टि से, न तात्विक दृष्टि से और न कला की दृष्टि से कला का विभाजन सम्भव है । कला का विभाजन करने का जो प्रयत्न किया गया है, वह व्यावहारिक दृष्टि से अर्थात् अभिव्यंजना के विभिन्न प्रकारों के आधार पर है । सभी कलाकार किसी भी वस्तु के प्रभाव को अपने हृदय में एक ही प्रकार से ग्रहण करते हैं, अर्थात् प्रभाव पड़ने के तो अनेक ढंग नहीं हैं । हाँ, हृदय पर पड़े प्रभाव को व्यक्त करने के विभिन्न ढंग हैं । व्यक्त करने के उन प्रकारों के आधार पर कलाओं का व्यावहारिक वर्गीकरण किया जा सकता है । कोई कलाकार अपने हृदयस्थ भाव को एक चित्र के रूप में व्यक्त करता है, कोई कविता के रूप में तो कोई गाकर, इत्यादि । कलाओं का वर्गीकरण लोगों ने विभिन्न प्रकार से करने का प्रयत्न किया है, लेकिन इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ये वर्गीकरण तात्विक नहीं हैं, केवल व्यावहारिक हैं और इस प्रकार के वर्गीकरण का आधार है—कला के वे अनिवार्य उपकरण (चित्र, काव्य, संगीत आदि) जिनके माध्यम से कलाकार अपने हृदयोद्गारों को मूर्तरूप देता है ।

### वर्गीकरण के विभिन्न रूप

कुछ लोगों ने कला का विभाजन इस प्रकार किया है—

(१) कलापक्ष और (२) अनुभूतिपक्ष ।

कलापक्ष के अन्तर्गत वे भौतिक उपकरण आते हैं जिनके द्वारा अनुभूति को मूर्तरूप देने का प्रयत्न किया गया है । इसे कला का रूपपक्ष भी कह सकते हैं ।

अनुभूतिपक्ष के अन्तर्गत वह अनुभूति या भाव आते हैं जिनको कलाकार ने अपने हृदय में अनुभव किया है और उन भावों को दर्शक या पाठकों को तद्वत (ठीक उसी तरह, जैसा उसने स्वयं अनुभव किया है) अनुभव कराना चाहता है और यहाँ वह कलापक्ष का या रूपपक्ष का सहारा लेता है, अर्थात् अपने हृदयस्थ भावों को यथाशक्ति प्रभावात्मक रूप में व्यक्त करने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त और श्रेष्ठतम मार्ग (श्रेष्ठतम भौतिक साधन या उपकरण) ढूंढ़ता है ।

दूसरे लोग इसी विभाजन को इस प्रकार रखते हैं—

(१) कला की सफल अभिव्यंजना और (२) कला की असफल अभिव्यंजना ।

अर्थात् कुछ कलाकृतियाँ तो ऐसी हैं जो कलाकार के हृदयस्थ भाव को तद्वत व्यक्त करने में और पाठक या द्रष्टा के हृदय पर वही प्रभाव उतना ही डालने में

समर्थ हैं जैसा श्रौर जितना कलाकार ने अनुभव किया था। ऐसी कृतियाँ कला की सफल अभिव्यंजना के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं।

कुछ कलाकृतियाँ ऐसी हैं जो पाठक या दर्शक को अभिभूत करने में समर्थ नहीं हैं, अर्थात् कलाकार अपने भावों को किसी कमी के कारण (चाहे वह कमी उसकी अनुभूतिपक्ष की हो या रूपपक्ष की, अर्थात् भौतिक उपकरण सम्बन्धी) तद्वत व्यक्त करने में समर्थ नहीं हुआ है। ऐसी कलाकृतियाँ कला की असफल अभि-व्यंजना के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं (लेकिन यह स्पष्ट है कि यह वर्गीकरण भी कला का नहीं है बल्कि उसके भौतिक उपकरणों का है जिनके माध्यम से कला मूर्तरूप ग्रहण करती है)।

आरम्भ में मनुष्य के अन्तर में किसी वस्तु का अनुभव एक बार में होता था और मनुष्य उसको व्यक्त दूसरी बार में करता था, अर्थात् अनुभव करने और व्यक्त करने की दो प्रक्रियाएँ अलग-अलग होती थीं, किन्तु कालान्तर में मनुष्य इस विषय में इतना अधिक सिद्धहस्त हो गया कि उसने अनुभव करने और व्यक्त करने से सम्बन्धित दूरी को मिटा लिया और वह इन दोनों प्रक्रियाओं को अब अलग-अलग नहीं अनुभव करता। मनुष्य के किसी भाव को अनुभव करने और व्यक्त करने के सम्बन्ध में मनुष्य की यही कितनी महान् प्रगति है, यह आज ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता। धीरे-धीरे मनुष्य ने अपनी अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति को चरम सीमा पर पहुँचा दिया और वह इस बात में समर्थ हो गया कि साधारण सी अनुभूति को भी वह साधारण एवं चमत्कारयुक्त रूप में व्यक्त करने लगा और इस प्रकार कला में रूपपक्ष का असाधारण उत्कर्ष हुआ। हिन्दी-साहित्य इसका बहुत अच्छा उदाहरण है। कुछ कवि तो ऐसे मिलते हैं जिनका अनुभूतिपक्ष ( भावपक्ष ) अत्यन्त उत्कृष्ट तथा असाधारण है। किन्तु रूपपक्ष (कलापक्ष) अपेक्षाकृत निर्बल। कबीर और जायसी इसके अच्छे उदाहरण हैं, विशेषरूप से कबीर। वे आध्यात्मिक साधना की गहराइयों को वाणी देना चाहते हैं किन्तु उनकी 'बानी' अटपटी हो गयी है। वे अपने भावावेश को भाषा के बन्धन में सफलतापूर्वक नहीं बाँध सके हैं और उन्होंने यह कह कर सन्तोष कर लिया, "गूँगे केरी सर्करा खाये और मुसकाइ"। हिन्दी में कुछ कवि इसके विपरीत ऐसे भी मिलेंगे जिनका अनुभूतिपक्ष अत्यन्त कमजोर था और अपनी इस कमी को ऐसे कवियों ने अपने रूपपक्ष के द्वारा छिपाने का प्रयत्न किया। महापण्डित केशव ऐसे कवियों में प्रधान हैं। आधुनिक युग में पन्त का नाम ऐसे कवियों में लिया जा सकता है। इन लोगों के पास कहने को कुछ नहीं है, किन्तु भाषा की असाधारण साधना में वे अपनी अनुभूतिपक्ष की कमी को छिपा लेते हैं। उदाहरणार्थ, पता नहीं पन्तजी निम्नांकित पंक्तियों में भाषा के आडम्बर में क्या उत्कृष्ट भाव व्यक्त करना चाहते हैं—

"—हों कर्म निरत जन राग विरत
रति विरति व्यतिक्रम भ्रम ममता
प्रतिक्रिया क्रिया साधन अवयव
है सत्यसिद्धि गति यति क्षमता।"

यदि केवल पन्तजी ही इसका भाष्य कर सकें तो फिर इन पंक्तियों के लिखने का प्रयोजन ही क्या है?

हिन्दी में कुछ ऐसे कवि भी हैं जिनका अनुभूतिपक्ष और कलापक्ष समान रूप से पुष्ट है। 'तुलसी' और 'सूर' ऐसे ही महान् कवियों में से हैं। वे अपने हृदयोद्गारों को उत्कृष्ट और चमत्कारपूर्ण भाषा में व्यक्त कर सके हैं। रीतकालीन (और कुछ छायावादी) कवियों की भाँति उन्होंने भाषा का खिलवाड़ अपना विषय नहीं बनाया। वे सूक्ष्म मानवीय भावनाओं को भाषा के धरातल पर मूर्तरूप देने में सफल हो सके। आधुनिक कवियों में 'प्रसाद' का नाम अविस्मरणीय है। अमूर्त मानवीय भावनाओं को असाधारण रूप से सशक्त भाषा के आवरण में वे मूर्त कर सके और उनका उत्कर्ष इस दृष्टि से मानव इतिहास में भाषा और भाव के चरम उत्कर्ष का सीमान्त चिन्ह है। अव्यक्त एवं अमूर्त चिन्ता की भावना को 'प्रसादजी' ने किस प्रकार भाषा के कोमल पाश में कस कर उसके रूप को सबके लिए सुलभ कर दिया है—

"—ओ चिन्ता की पहली रेखा
अरी विश्व वन की व्याली
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण
प्रथम कंप सी मतवाली
हे अभाव की चपल बालिके
री ललाट की खल लेखा!
हरी-भरी सी दौड़-धूप ओ!
जल-माया की चल रेखा!
इस ग्रह-कक्षा की हलचल री
तरल-गरल की लघु लहरी
जरा अमर जीवन की और न,
कुछ सुनने वाली बहरी!
अरी व्याधि की सूत्रधारिणी!
अरी आधि, मधुमय अभिशाप
हृदय गगन में धूमकेतु सी
पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप।"

इसी प्रकार काम तथा आशा आदि जैसी अमूर्त भावनाओं को वे अपनी भाषा द्वारा मूर्तरूप दे सके हैं।

कुछ कलाकार ऐसे भी हैं जिनका न तो अनुभूतिपक्ष पुष्ट है और न रूपपक्ष। ऐसे कलाकारों को कलाकार ही कैसे कहा जाय ?

इस प्रकार कलाकृतियों के विभिन्न अंगों के पुष्ट-अपुष्ट होने की दृष्टि से उनको निम्नांकित भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) अनुभूतिपक्ष पुष्ट पर रूपपक्ष अपुष्ट ;

(२) रूपपक्ष अपुष्ट अनुभूतिपक्ष पुष्ट ;

(३) अनुभूतिपक्ष, रूपपक्ष दोनों पुष्ट ;

(४) अनुभूतिपक्ष, रूपपक्ष दोनों दुर्बल।

इसी प्रकार कलाओं का वर्गीकरण— (१) धार्मिक कला तथा (२) लौकिक कलाओं के रूप में भी किया जाता है। इस वर्गीकरण का समाज पर कोई स्वस्थ प्रभाव नहीं पड़ता। कला को धार्मिक रूप देने के कारण लोगों का दृष्टिकोण कला के प्रति श्रद्धा का हो जाता है। कलाकृतियाँ उनके लिए पूज्य हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, कुछ देवताओं की सुन्दर मूर्तियाँ ली जा सकती हैं। समाज श्रद्धा या पूज्यभाव के कारण इस प्रकार की मूर्तियों के कलात्मक महत्व को हृदयंगम नहीं कर पाता। इसी प्रकार काव्यकला की कुछ उत्कृष्ट पुस्तकें आज एकमात्र धार्मिक ग्रन्थों के रूप में बदल गयी हैं ; उदाहरणार्थ, रामायण तथा महाभारत। जो व्यक्ति रामायण तथा महाभारत की काव्यकला से परिचित तक नहीं हैं, वे उसका मनमाना भाष्य करके धर्मान्ध समाज से अपनी जीविका कमाते हैं। इस प्रकार श्रद्धा या पूजा का भाव कृतियों के कलात्मक सौन्दर्य पर एक आवरण डालकर उनके वास्तविक सौन्दर्य को कम ही करता है। भारतवर्ष में सामाजिक पर्वों पर अभी तक हर गृह में कुछ न कुछ चित्र बनाने का प्रचलन है। आरम्भ में इसका मूल रूप चित्रकला का रहा होगा और सम्भव है, कलाप्रिय लोगों ने समाज में सामूहिक रूप से चित्रकला का स्तर अत्यन्त ऊँचा उठा दिया हो, किन्तु हुआ अन्त में यह कि लोगों का दृष्टिकोण उन चित्रों के प्रति पूजा का हो गया और उनका ध्यान उन चित्रों के कलात्मक सौन्दर्य से हट कर उनकी धार्मिक महत्ता पर केन्द्रित हो गया। फल यह हुआ कि चित्रों में जो कभी कलात्मक सौन्दर्य रहा होगा, वह धीरे-धीरे कम होने लगा और अन्त में उनके विकास की दुर्भाग्यपूर्ण समाप्ति हुई—भोंड़े-भोंड़े चित्रों के रूप में, जो आज केवल पूजा या उपासना के प्रतीक भर रह गये हैं। कलात्मक वस्तुओं का प्रणयन सामाजिक स्तर पर हो, कलात्मक वस्तुएँ पूरे समाज के लिए बोधगम्य और सहज सुलभ हों, यह तो अत्यन्त अच्छा है किन्तु कला में अलौकिकता के तत्व का मिश्रण करके कला के प्रति दृष्टिकोण को विकृत कर लिया जाय, यह शुभ नहीं।

इसी प्रकार कलाओं का एक वर्गीकरण प्राचीन कला तथा आधुनिक कला के रूप में भी किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी कलाओं का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया गया है, परन्तु सच तो यह है कि ये सभी वर्गीकरण किसी भी दृष्टि से

निर्दोष नहीं हैं। कलाओं का तात्विक वर्गीकरण तो सम्भव ही नहीं है। कारण, कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है। हाँ, उसकी अभिव्यक्ति के वाह्य उपकरणों के पारस्परिक अन्तर को लेकर भले ही उसका वर्गीकरण किया जाय।

इस दृष्टि से किये गये वर्गीकरणों में कलाओं का निम्नांकित वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक एवं उपयुक्त प्रतीत होता है—

(१) उपयोगी कला ; और

(२) ललितकला।

ललितकला पाँच भागों में विभक्त है—

(१) वास्तुकला ; (२) मूर्तिकला ; (३) चित्रकला ; (४) संगीतकला; (५) काव्यकला।

यह वर्गीकरण भी अनूभूति को आधार मान कर नहीं किया गया है, अपितु वाह्य उपकरणों को ही आधार मानकर किया गया है।

ललितकलाओं को भी सुविधा के लिए दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(१) दृश्य—अर्थात् वे कलाकृतियाँ जिनका सौन्दर्य देखते ही दर्शक हृदयंगम करता है। वास्तुकला, मूर्तिकला तथा चित्रकला इसके अन्तर्गत रखी जा सकती हैं।

(२) श्रव्य—जिन कलाकृतियों के चरम सौन्दर्य को सुनकर हृदयंगम किया जा सके। इसके अन्तर्गत संगीतकला तथा काव्यकला ली जा सकती हैं।

[विशेष—काव्य के जो दो भेद दृश्य और श्रव्य हैं, यहाँ उनसे प्रयोजन नहीं है।]

उपयोगी कलाएँ वे कलाएँ हैं जिनका वास्तविक उद्देश्य सौन्दर्य की सृष्टि करना नहीं, अपितु भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति भर है। परन्तु चूँकि आज मानव इतना संस्कृत एवं सभ्य हो चुका है कि वह प्रत्येक वस्तु सौन्दर्य के माध्यम से ही ग्रहण करना चाहता है, इसलिए वह अपने उपयोग की वस्तुओं, जैसे मेज, कुर्सी, जूता, वस्त्र, तलवार, चाकू, चम्मच, सवारियाँ, इन सभी को केवल उपयोगी ही नहीं अपितु यथेष्ट सुन्दर भी देखना चाहता है। किन्तु उपयोगी कलाएँ उस मानसिक एवं सूक्ष्म सौन्दर्य-भावना से रहित हैं जो ललितकलाओं में पाई जाती हैं। यह वर्गीकरण भी व्यावहारिक ही है, तात्विक नहीं क्योंकि ललितकलाएँ भी उपयोगी हो सकती हैं और उपयोगी कलाओं को भी अधिकाधिक लालित्ययुक्त किया जा सकता है।

———

अध्याय ११

# सर्वोत्कृष्ट कला—काव्यकला

## भूमिका

कला मनुष्य के संस्कृत मन-मस्तिष्क की उपज है। वे जातियाँ जो आज तक असभ्य हैं और जिन्होंने समय के साथ प्रगति नहीं की है, उनके लिए—विश्व के लिए 'वरदान-स्वरूप' 'कला' शब्द आज तक अज्ञात है। जब कला मनुष्य के मानसिक एवं भौतिक वैभव को प्रकट करती है तो उसकी उत्कृष्टता तो स्वयंसिद्ध है। सभी कलाएँ इस दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। परन्तु प्रश्न उठ सकता है कि उत्कृष्ट कलाओं में भी सर्वोत्कृष्ट कला कौन-सी है ?

## कलाओं के आधार

मनोभावों को व्यक्त करने की अदम्य लालासा ही कलाओं की जननी है और जिन भौतिक उपकरणों के माध्यम से ये मनोभाव व्यक्त होते हैं, वे विशिष्टरूप में परिणत भौतिक उपकरण ही विभिन्न कलाओं के नाम से अभिहित होते हैं। प्रत्येक कला कुछ न कुछ भौतिक उपकरणों की अपेक्षा करती है। बिना भौतिक उपकरणों के कला मूर्तरूप ग्रहण नहीं कर सकती। वास्तव में ये भौतिक उपकरण ही, जो कला के आधार हैं, उसकी उत्कृष्टता अथवा सर्वोत्कृष्टता के निर्णय में सहायक होंगे।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है। कला का मूल, अनुभूति भी अखण्ड है। कलाकार अपनी कलाकृति द्वारा अपने मानसिक जगत् को प्रत्यक्ष (साकार) कर देना चाहता है। लेकिन वह अपने मानसिक सूक्ष्म भावों को व्यक्त करने के लिए स्थूल एवं भौतिक वस्तुओं को आवश्यकता का अनुभव करता है। जितने कम भौतिक उपकरणों से वह काम चला सके, स्पष्ट है, उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही अधिक प्रभावशालिनी एवं मार्मिक होगी। जितने ही अधिक भौतिक उप-करणों का आश्रय कलाकार लेगा, अधिक समय लगने के कारण उसकी मानसिक अनुभूति भी कुण्ठित हो जायगी। परिणामस्वरूप, उसकी कलाकृति भी इतनी प्रभाव-

शालिनी एवं मार्मिक नहीं होगी जितनी उत्कृष्ट और तीव्र उसकी अनुभूति थी। वास्तव में, संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि मानसिक अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति में जितना ही कम अन्तर होगा, कलाकृति उतनी ही उत्कृष्ट होगी।

जहाँ भौतिक उपकरण कला के लिए अपरिहार्य (अनिवार्य) हैं, वहाँ उनकी न्यूनतम आवश्यकता ही कला को उत्कृष्ट बनाने का कारण बनती है। जिस कलाकृति में भौतिक उपकरणों की जितनी ही कम आवश्यकता होगी, कलाकृति उतनी ही उत्कृष्ट होगी।

उत्कृष्टता की कसौटी

विद्वानों ने कला की उत्कृष्टता के परीक्षण के लिए यही कसौटी दी है कि भौतिक उपकरण जिस कला में जितने कम हों, वह कला उतनी ही उत्कृष्ट है। उसी कसौटी पर कलाओं को कस कर हम उनके उत्कृष्ट होने के निर्णय करेंगे।

एक बात और स्पष्ट हो जानी चाहिए कि मनुष्य ने आदिकाल से लेकर आज तक जो उन्नति की है, उसको पन्तजी के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है—

"—पशुता का पंकज बना दिया तुमने मानवता का सरोज।"

मनुष्य ने अपनी पाशविक भावनाओं पर विजय पाने का बराबर प्रयत्न किया है और अपने अन्तर में उदात्त मानसिक भावनाओं का निरन्तर विकास किया है। सौन्दर्य को समझने और उसकी प्रशंसा करने की योग्यता उसने प्राप्त की है। सौन्दर्यप्रियता की यह भावना मनुष्य को जहाँ पशुओं से पृथक् करती है, वहाँ सृष्टि में उसकी उच्चता का माप भी बताती है। सच तो यह है कि सौन्दर्यप्रियता और सुविधा की दो मुख्य प्रवृत्तियों ने ही आदमी को पशुता की पंक से निकाल कर निरन्तर प्रवाहमान मानवता की पवित्र गंगा के किनारे लाकर खड़ा कर दिया है और आज वह मनुष्य है। कलाएँ मनुष्य के मानसिक सौन्दर्य को ही प्रत्यक्ष करती हैं। सुविधा के लिए सौन्दर्य को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—

(१) भौतिक सौन्दर्य ; और

(२) मानसिक सौन्दर्य।

मनुष्य के पारस-स्पर्श ने विश्व की अनगढ़ और कुरूप धातुओं को सौन्दर्य के स्वर्ण में परिणत कर दिया है। सुन्दरता से रहित वस्तुएँ मनुष्य को आज ग्राह्य नहीं, इसलिए अपनी दैनिक उपयोग की वस्तुओं से भी मनुष्य आज असुन्दरता मिटाने के लिए तुल गया है। प्रकृति के इस महान् प्राणी (मनुष्य) ने विश्व में असुन्दरता के प्रति अपनी शैशवावस्था से ही जिस महान् आन्दोलन का आरम्भ किया था, वह एक दिन विश्व-मुख से कुरूपता को समाप्त करके ही रहेगा। विश्व के मुख से कुरूपता के कलंक को मनुष्य के अतिरिक्त और धोयेगा भी कौन ? मनुष्य की इस सौन्दर्यप्रियता का सम्बन्ध ललित और उपयोगी कलाओं से घनिष्ठ है।

सर्वप्रथम उपयोगी कलाओं पर ही विचार किया जाय।

हमारे दैनिक उपयोग की वस्तुएँ ही जब सुन्दर और आकर्षक बना दी जाँय तो वे उपयोगी कलाएँ कहलायेंगी। उदाहरण के लिए, हम जिस शैय्या पर सोते हैं, जिस मेज पर बैठ कर लिखते हैं या खाते हैं, जिस कप में चाय पीते हैं, जिन पात्रों में खाना खाते या पानी पीते हैं, जो वस्त्र हम शरीर-रक्षा के लिए पहनते हैं, वे जब सुन्दरता के माध्यम से ग्रहण किये जाते हैं तो 'कला' नाम से अभिहित होते हैं। पलंग के पाये लकड़ी के सादे डंडे भी हो सकते हैं और सुन्दर चित्रकारी द्वारा अंकित भी, इसी प्रकार कप, चीनी मिट्टी का सादा बर्तन भी हो सकता है (जो बिना पॉलिश के भी हो) और उसके ऊपर सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों का अंकन भी सम्भव है। परन्तु एक बात ध्यान देने को यह है कि ये दैनिक उपयोग की वस्तुएँ हमारे हृदय की भावनाओं को न तो उद्‌बुद्ध करती हैं और न तीव्र—उनसे तो केवल हमारी वाह्य सौन्दर्यवृत्ति-मात्र चरितार्थ होती है। उपयोगी कलाएँ मानसिक सौन्दर्य से हीन होती हैं, अतः उनका हृदय या आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है, सम्बन्ध है—केवल हमारे चर्म-चक्षुओं से। इसके अतिरिक्त भौतिक साधनों (उपकरणों) की आवश्यकता उपयोगी कलाओं में सबसे अधिक होती है, इसलिये ये कलाएँ निकृष्ट (नीची) कोटि की कलाएँ मानी जाती हैं।

ललितकलाएँ स्थूल उपकरणों से बिलकुल ही रहित हों, ऐसी बात नहीं है। वास्तुकला जैसी ललितकला में तो स्थूल (भौतिक) उपकरण किसी भी उपयोगी कला से अधिक होंगे; किन्तु दोनों में मुख्य अन्तर यही है कि उपयोगी कलाओं की चरम सार्थकता उनके उपयोग में है और ललितकलाओं की चरम सार्थकता उनके सौन्दर्य, विशेषरूप से मानसिक सौन्दर्य में है। कोई भी कितनी ही सुन्दर मेज कभी भी केवल देखने का विषय नहीं बनती। वह तो उपयोग की वस्तु पहले होती है, सुन्दरता की बाद में। इसी प्रकार ललितकला सुन्दरता की वस्तु पहले होती है और हो सकता है, उसकी भौतिक उपादेयता बिलकुल ही न हो।

अब ललितकलाओं में भी इसी आधार पर उनके उत्कृष्ट एवं निकृष्ट होने का निर्णय किया जायगा।

यहाँ कुछ उन सामान्य बातों का उल्लेख किया जाता है जो सभी कलाओं के मूल में विद्यमान हैं।

(१) सभी कलाओं के लिए किसी न किसी प्रकार के भौतिक आधार की आवश्यकता होती है।

(२) सामाजिक नेत्र और कानों के माध्यम से कलाकृतियों के सौन्दर्य को ग्रहण किया जाता है।

(३) कलाकार अपने हृदय की अनुभूति को तद्वत व्यक्त करने के लिए और दर्शक या पाठक के हृदय में वही भाव उतने ही तीव्र रूप में जागृत करने के लिए,

जितने उसके हृदय में थे, कुछ भौतिक उपकरणों की सहायता लेता है। इन भौतिक उपकरणों के अभाव में भौतिक आधार व्यर्थ हो जायेंगे; उदाहरण के लिए, एक मूर्तिकार के लिए भौतिक आधार पत्थर के अतिरिक्त भौतिक उपकरण हथौड़ा और छेनी की भी आवश्यकता है, जिसके अभाव में पत्थर मूर्ति में कभी भी परिणत नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार एक चित्रकार बिना तूलिका एवं रंगों आदि के भौतिक उपकरणों के वस्त्र या कागज के भौतिक आधार का उपयोग नहीं कर सकेगा। सामान्यरूप से यही बात सभी ललित तथा उपयोगी कलाओं के साथ है। सबसे पहले आवश्यकता होती है एक भौतिक आधार की, फिर भौतिक उपकरणों की जिनके द्वारा भौतिक आधार को कला में परिणत किया जाता है। अतः कला के उत्कृष्ट एवं निकृष्ट होने में निम्नांकित बातों का ज्ञान ही निर्णायक सिद्ध होता है।

(१) कला का भौतिक आधार क्या है?

(२) वे भौतिक उपकरण क्या हैं जिनकी सहायता से कलाकार भौतिक आधार को कला का रूप देता है?

(३) कलाकार अपनी कला में किस अनुभूति को मूर्त करना चाहता है?

(४) वह अनुभूति व्यक्त होने पर, कलाकृति का रूप ग्रहण करने पर, पाठक के हृदय पर कितना प्रभाव डालने में समर्थ होती है?

उपरोक्त बातों का ध्यान रखते हुए अब ललितकलाओं, अर्थात् वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला तथा काव्यकला पर विस्तार में विचार किया जाय। विचार करने का यह क्रम अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है कि निकृष्ट कला से उत्कृष्ट कला की ओर चला जाय क्योंकि निकृष्ट कला के भौतिक उपकरणों की प्रचुरता उत्कृष्टतर कलाओं में उत्तरोत्तर कम होती चली जायेगी और इस प्रकार उनका आपस का अन्तर अधिक स्पष्ट और व्याख्या अधिक सुबोध हो जायेगी।

सर्वप्रथम वास्तुकला को लिया जाय।

### वास्तुकला

(१) वास्तुकला के भौतिक आधार तथा भौतिक उपकरण क्या हैं? ललितकलाओं में सबसे अधिक भौतिक आधार एवं भौतिक उपकरणों की आवश्यकता यदि कहीं पड़ती है तो वास्तुकला में। ईंट, चूना, गारा, सैकड़ों मजदूर, भारी-भारी पत्थर, पत्थरों को तोड़ने-फोड़ने, उन्हें उठाने, जमाने आदि के विभिन्न यंत्र ( भौतिक उपकरण )।

(२) कलाकार ईंट, पत्थर और चूने के ढेर के द्वारा क्या भाव व्यक्त करना चाहता है? प्रत्येक देश की एक भिन्न संस्कृति होती है, भिन्न धार्मिक और सामाजिक मान्यताएँ होती हैं। कला इनसे तटस्थ नहीं रह सकती। तो इन ईंट, पत्थर और चूने के ढेर को एक विशिष्ट क्रम से सजाने भर से ही किसी देश की संस्कृति मूर्त हो उठती है। उदाहरण के लिए, भारतीय मन्दिर, मुसलमानी मस्जिद और ईसाइयों के गिर्जाघर

को बिना नाम बताये हुए भी कोई भी दर्शक उनमें अन्तर कर लेगा और मन्दिर, मस्जिद एवं गिर्जाघर की सुगठित आकृतियाँ दर्शक के मन पर से भिन्न-भिन्न प्रभावों की सृष्टि करती हैं।

(३) दर्शक के हृदय पर क्या प्रभाव पड़ता है और कितना? यही प्रश्न वास्तुकला के महत्व का निर्णय करता है। पहली बात तो यह है कि जिस कलाकार के हृदय में मन्दिर, मस्जिद या गिर्जाघर का प्रथमत: जन्म होता है और उस भावना को मूर्तरूप देकर उसमें वह कुछ मानसिक भावनाओं की प्रतिष्ठापना भी करना चाहता है। वास्तुकला में उसके लिए बहुत कम अवकाश इसलिए है कि कलाकार स्वयं मन्दिर, मस्जिद या गिर्जाघर का निर्माण नहीं कर सकता। उसे ऐसे व्यक्तियों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है जो उसके हृदयस्थ भावों या अनुभूति से बिलकुल अपरिचित हैं। अतः कलाकार में हृदय की अनुभूति भौतिक साधन एवं काल के अति विस्तार के कारण एकरस नहीं रह पाती। दूसरी बात यह है कि मजदूर, राज आदि कलाकार की भावनाओं को मूर्तरूप दे कैसे सकते हैं? हो सकता है मजदूर अपने घर के कष्ट से पीड़ित हो, राज किसी कारणवश उदासीन हो। कहने का सारांश यह है कि वहाँ कार्य करने वाले किन्हीं दो व्यक्तियों की भावनाएँ भी एक-सी नहीं हैं, फिर इतनी बड़ी इमारत में मानसिक भाव इतनी बाधाओं के होने पर मूर्त कैसे हों?

इसमें तो सन्देह नहीं कि मन्दिर, मस्जिद, गिर्जाघर, भवन, कुटिया आदि के कहने से विभिन्न चित्र मस्तिष्क में आते हैं, किन्तु कभी-कभी विभिन्न देशों की वास्तुकला का एक ही भवन में मिश्रण रहता है। उसे केवल वास्तुकला के विशेषज्ञ ही समझ सकते हैं, साधारण व्यक्ति नहीं। (वास्तुकला में विभिन्न देशों की कला के मिश्रण के उदाहरण भारत में सहज उपलब्ध हैं। हमारे यहाँ प्राचीन काल में यूनानी-भारतीय कला का मिश्रण वास्तुकला में मिलेगा। मुगलकाल में, फारसी, अरबी तथा भारतीय कला का मिश्रण मिलेगा। आजकल पाश्चात्य वास्तुकला का मिश्रण यहाँ की वास्तुकला में मिलेगा।)

लेकिन फिर भी मन्दिरों के गगनचुम्बी कलश, मस्जिदों के उन्नत बुर्ज आदि दर्शक के हृदय पर एक विशिष्ट प्रभाव डालते हैं। ईंट, पत्थर के ढेर को एक भव्य-भवन के रूप में परिणत होते देख किसे आनन्द न होगा? तो यह स्पष्ट है कि आनन्द का गुण तो वास्तुकला में भी होता है। उसमें मानसिकता भी होती है किन्तु भौतिक साधनों की प्रचुरता के कारण वह अन्य ललितकलाओं से निकृष्ट है क्योंकि दर्शक के हृदय में भवन को देख कर भाव इतने उद्बुद्ध और तीव्र नहीं होते जितने अन्य ललितकला-कृतियों को देख कर।

## मूर्तिकला

(१) पत्थर, मिट्टी, धातु या लकड़ी के टुकड़ों को एक विशिष्ट मूर्ति में

परिवर्तित कर देना ही मूर्तिकला का विषय है। इसमें तो सन्देह नहीं कि छेनी, हथौड़ा आदि अनेक भौतिक उपकरणों की आवश्यकता उपरोक्त वस्तुओं को मूर्ति में परिणत करने में होती है। किन्तु वास्तुकला में प्रयुक्त भौतिक उपकरणों की तुलना में ये भौतिक उपकरण बहुत कम होते हैं, इसलिए मूर्तिकला में वास्तुकला की अपेक्षा कम भौतिक आधार तथा उपकरणों की आवश्यकता होती है।

(२) मूर्ति में कलाकार कभी केवल सौन्दर्य, कभी मानसिक आह्लाद, कभी करुणा आदि को ही उभारना चाहता है। इस विषय में यह बात स्मरणीय है कि विभिन्न देशों की विशिष्ट संस्कृतियाँ मूर्तियों के गठन और उनके समग्र प्रभाव में अन्तर उत्पन्न कर देती हैं। उदाहरणार्थ, भौतिक शारीरिक गठन (अपने सुन्दरतम रूप में) यूनानी प्रतिमाओं में देखने को मिलती है। शरीर के विभिन्न अंगों के उचित अनुपात के साथ वे प्रतिमाएँ शारीरिक स्वास्थ्य का उत्कृष्टतम उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। संक्षेप में, भौतिक आकार एवं गठन में विश्व में वे अद्वितीय हैं। किन्तु शारीरिक गठन के अतिरिक्त कोई मानसिक प्रभाव वे द्रष्टा पर नहीं छोड़तीं। किन्तु भारतीय मूर्तियों की यह विशेषता है कि यहाँ के कलाकारों ने मूर्तियों में शारीरिक गठन के प्रदर्शन से अधिक मानसिक भावों के प्रस्फुटन का ही ध्यान अधिक रखा है। फलतः भारतीय मूर्तियाँ जहाँ शारीरिक स्वास्थ्य का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत नहीं करतीं, वहाँ वे मानसिक भावों को स्पष्ट करने में अवश्य अत्यन्त सफल हुई हैं। उदाहरणार्थ, भगवान बुद्ध की जितनी भी मूर्तियाँ मिलेंगी, उन सबमें उंगलियाँ वक्राकार, नेत्र अर्द्धोन्मीलित तथा शारीरिक अवयव बाह्य सौन्दर्य को स्पष्ट करने वाले नहीं होंगे; किन्तु पत्थर की मूर्ति में से भी उनके मुख से एक आभा निकलती दिखाई देगी, एक आह्लाद और आत्म-संतोष का सौन्दर्य उनके मुख के चारों ओर विकीर्ण होता दिखाई देगा। यह विशेषता भारत की अपनी है और इस दशा में कोई भी देश उसकी प्रतिद्वन्द्विता नहीं कर सकता। मानसिक सौन्दर्य या आह्लाद का कलाओं के माध्यम से प्रस्फुटन, यह तो सभी भारतीय कलाओं की सामान्य विशेषता है।

(३) मूर्तिकला वास्तुकला से कहीं अधिक मानसिक भावों को व्यक्त करने में समर्थ है। बात यह है कि मूर्तिकार, जो किसी निश्चित भाव या अनुभूति को मूर्ति के माध्यम से व्यक्त करना चाहता है, स्वयं ही मूर्ति को गढ़ने का कार्य करता है। इसमें वास्तुकला की भाँति ऐसे श्रमिकों की आवश्यकता नहीं पड़ती जो स्वयं उस अनुभूति से शून्य हैं जिसका अनुभव कलाकार कर रहा है।

प्रतीकात्मकता भारतीय मूर्तिकला की बहुत बड़ी विशेषता है। उदाहरणार्थ, यहाँ मूर्तिकार उंगलियों को कमल की पंखुड़ियों की भाँति बना देगा तथा आँखें भी अर्द्ध-प्रस्फुटित कमल की भाँति लगेंगी। वास्तव में ये प्रतीक दर्शक के हृदय पर एक गहरा प्रभाव डालते हैं, ऐसा प्रभाव जो शारीरिक गठन के प्रभाव से भिन्न, अधिक ऊँचे स्तर का तथा अधिक गहरा होता है। कमल कोमलता का प्रतीक

है। पत्थर जैसी वस्तु में कोमलता दिखाने का और कोई उपाय नहीं है। कल्पना की जाय कि कोई मूर्तिकार एक सुन्दर रमणी गढ़ता है। रमणी का प्रत्येक अवयव वह पत्थर या धातु आदि में गढ़ेगा, परन्तु ये वस्तुएं तो स्वयं इतनी कड़ी और परुष होती हैं कि पुरुषोचित कठोरता भले ही उनके द्वारा व्यक्त की जा सके, नारीसहज कोमलता उसके द्वारा व्यक्त करना कठिन है। यह कमी इस प्रतीक-पद्धति से पूरी हो जाती है। धातु या प्रस्तर की वक्र उंगली पाठक की दृष्टि के समक्ष कमल का चित्र प्रस्तुत कर देती है क्योंकि कमल कोमलता का प्रतीक है। अतः द्रष्टा सरलतापूर्वक उन कठोर प्रस्तर-प्रतिमाओं में भी कमल की कोमलता का दर्शन कर सकता है, किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि मूर्ति बनाने में समय, धैर्य और शारीरिक परिश्रम की आवश्यकता है। इन बाधाओं के कारण कलाकार की हृदयस्थ अनुभूति एकरस रह सके, यह सम्भव नहीं है। इसलिये मूर्तिकला उन कलाओं से कम प्रभावशालिनी होती है जिनमें भौतिक आधार एवं उपकरणों की अपेक्षाकृत कम आवश्यकता होती है।

## चित्रकला

(१) चित्र—वस्त्र, कागज या दीवालों पर बनाये जा सकते हैं। इनके बनाने के लिए ब्रुश, तूलिका एवं रंगों आदि की आवश्यकता होती है। इन्हीं उपकरणों के द्वारा चित्रकार अपनी एक नई सृष्टि रचता है और अपने हृदयस्थ भावों को व्यक्त करता है।

(२) चित्रकार किसी भी मार्मिक भाव या अनुभूति को चित्र के द्वारा व्यक्त करना चाहता है, वह अनुभूति रति-सम्बन्धी हो सकती है, करुणा-सम्बन्धी, क्रोध-सम्बन्धी या वीरता-सम्बन्धी भी। चित्रकार के भौतिक आधार एवं उपकरण मूर्तिकार से कम ही होते हैं। एक कागज पर खींची दो रेखाएं ही किसी भाव को व्यक्त कर सकती हैं। चित्रकार की साधना यही है कि वह कम से कम रेखाओं में अधिक से अधिक भाव व्यक्त कर सके। आधुनिक चित्रकला इसी दिशा में प्रगति कर रही है। चार या पाँच सरल और वक्र रेखाएं हो "बैठकर अपने बच्चे को स्तनपान कराती हुई, भाव-विभोर माँ को चित्र के रूप में प्रत्यक्ष कर सकती है।" इसी प्रकार कुछ ही रेखाओं में "पनघट पर पानी खींचती हुई या दधि बिलोती हुई स्त्री का चित्र खींचा जा सकता है।" चित्र के द्वारा मानसिक भाव भी पूर्ण सफलता के साथ व्यक्त किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, मृत्यु, आह्लाद, करुणा आदि। चित्रकार इन अव्यक्त भावनाओं को अपनी तूलिका से चित्रपट पर साकार कर सकता है, किन्तु चित्रकला की अपनी जहाँ विशेषताएं हैं, वहाँ सीमाएं (कमियाँ) भी। चित्रकार किसी भी भाव या वस्तु के एक क्षण के रूप को ही चित्रित कर सकता है, अर्थात् यदि वह किसी ऐसी रमणी का चित्र प्रस्तुत करना चाहता है जो भाग कर किसी पालित हरिण को पकड़ना चाहती है तो वह कोई एक क्षण अंकित कर सकता है—या तो भागने के प्रयास का या

पकड़ने का। पूरा व्यापार अंकित करने में वह असमर्थ है। किन्तु जितना क्षण वह चित्रकला के कलापाश में बाँध लेगा, सम्भवतः उससे अधिक भावपूर्ण एवं कलात्मक रूप की कल्पना नहीं की जा सकती।

(३) यह स्पष्ट है कि चित्रकार किसी भाव या व्यापार का क्षणिक रूप ही अंकित कर सकता है क्योंकि चित्र गतिरहित होते हैं, उनमें एक निर्जीवता होती है, लेकिन चित्रकार एक क्षण के व्यापार को अवश्य ही सजीव रूप में अंकित कर सकता है। अजंता एवं एलोरा की गुफाओं में बने चित्र कलाकार की अनुभूति को इतने सहज-रूप में व्यक्त कर सके हैं कि दर्शक उन चित्रों को देखकर उस अनुभूति को उसी रूप में अनुभव कर सकता है, जितनी कलाकार ने की होगी। यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है, किन्तु गतिहीनता एवं अन्य भौतिक उपकरणों की प्रचुरता, चित्रकला को उन कलाओं से निम्नतर बना देती है जिनमें प्रवाह एवं गति भी है तथा जिनमें अपेक्षाकृत कम भौतिक साधनों की आवश्यकता है। वैसे, चित्रकला मानसिक अनुभूतियों को व्यक्त करने का अत्यन्त सफल माध्यम है।

**संगीतकला**

(१) संगीत का आधार नाद है और कण्ठ के द्वारा यह उत्पन्न किया जाता है। संगीत उन सर्वश्रेष्ठ कलाओं में से है जिसमें भौतिक आधार और भौतिक उपकरण नाममात्र को हैं। कुछ विद्वान् तो संगीत को इतना श्रेष्ठ मानते हैं कि काव्यकला को इसके बाद स्थान देते हैं। वास्तव में यदि देखें तो ज्ञात होता है कि काव्य का मूल भी नाद ही है। अन्तर इतना ही है कि नाद जब संगीतप्रधान अधिक हो तो वह संगीत और भावप्रधान अधिक हो तो काव्य का आधार बनता है। परन्तु यह कहना ठीक न होगा कि संगीत भावशून्य होता है और काव्य संगीतरहित। वास्तव में संगीत और काव्य में इतनी घनिष्टता है कि इनको पृथक्-पृथक् करना बड़ा ही कठिन है। पन्तजी संगीत और काव्य की अभिन्नता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

"—वियोगी होगा पहला कवि विरह से उपजा होगा गान।
निकल कर आँखों से चुपचाप वही होगी कविता अनजान।।"

इसी प्रकार संस्कृत-साहित्य में भी संगीत और काव्य की अभिन्नता को व्यक्त करने वाले कितने ही रूपक मिलते हैं। एक स्थान पर संगीत और काव्य को सरस्वती के 'स्तनद्वय' कहा गया है। सरस्वती दोनों की आधिष्ठात्री देवी है। संगीतज्ञ भी उसे अपनी इष्टदेवी समझते हैं और कवि भी।

(२) चूँकि संगीत का आधार और उसमें प्रयुक्त भौतिक उपकरण अत्यन्त सूक्ष्म हैं इसलिए संगीत गायक की हृदयस्थ अनुभूति को तद्वत (जैसा का तैसा) प्रकट करने में समर्थ है। संगीत के लिए वाद्यों की आवश्यकता अपरिहार्य (अनिवार्य) नहीं है। वाद्य-संगीत एक अलग वस्तु है। संगीत गले से नाद के द्वारा उत्पन्न किया

जाता है। वास्तव में संगीत की साधना कण्ठ की साधना है । कण्ठ एक भौतिक वस्तु है—कविता का आधार तो इससे भी सूक्ष्म है, वह तो केवल भाव और भाषा की साधना है। लेकिन इतना अवश्य है कि संगीत भी श्रोता पर मनोवांछित प्रभाव डालने में समर्थ है। संगीत भावों को उद्‌बुद्ध भी करता है और तीव्र भी। संगीत का प्रभाव तो वन्यपशुओं पर भी प्रसिद्ध है। गले से उत्पन्न विशिष्ट तरल स्वर-लहरियाँ श्रोता के हृदय में प्रेम, घृणा तथा उत्तेजना—किसी भाव को भी उद्‌बुद्ध कर सकती है। बिना भाषा का संगीत (आलाप) भी आकर्षक हो सकता है और भावोद्‌बोधक भी। इन सप्तस्वरों में पूरा संगीतशास्त्र बंधा हुआ है—सा रे ग म प ध नि। संगीतशास्त्र साहित्य के शास्त्र से बिलकुल भिन्न है। संगीत में स्वरों के उतराव-चढ़ाव (अवरोविरोह) के द्वारा ही भाव उद्‌बुद्ध किये जाते हैं जबकि काव्य में वर्णों का अधिक महत्व है।

लेकिन संगीत सर्वगुणसम्पन्न तभी माना जायगा जब वह भावपूर्ण भी हो और काव्य सर्वगुणसम्पन्न तभी माना जायगा जब वह संगीतमय भी हो। (हिन्दी-साहित्य में छायावादी कवियों की यह विशेषता उन्हें बहुत ऊँचा उठा देती है। उनका काव्य संगीतमय भी है।)

काव्यकला

(१) आधुनिक युग में काव्य का आधार कागज और भौतिक उपकरण पेंसिल या लेखनी मानी जा सकती है, परन्तु वास्तव में काव्य के लिए ये वस्तुएं अप-रिहार्य 'अनिवार्य नहीं हैं'। काव्य का वास्तविक आधार अक्षर है जो भाषा का भी मूल आधार है—यों नाद इन सब का मूल है। सार्थक नाद ही भाषा है। भाषा भावों की प्रतीक है, भाषा के अभाव में भाव चाहे अस्तित्वहीन न हों, परन्तु अभि-व्यक्तिहीन अवश्य हो जायेंगे। इसलिए कविता (काव्य) की साधना वास्तव में भाषा (भाषा में भाव व्यक्त रहता है) की साधना ही है।

(२) कवि जिन बातों का अनुभव अपने हृदय में करता है, उनको भाषा के माध्यम से व्यक्त करना चाहता है। कवि सामाजिक प्राणी है। समाज में जो कुछ होता है, उन बातों से उसका सम्बन्ध है, इसलिए दूसरे शब्दों में कहें कि कवि भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति करता है। यह अभिव्यक्ति इतनी मार्मिक और तीव्र होती है कि पाठक या श्रोता भी भावविभोर हो जाता है और जो कुछ कवि ने जितना अनुभव किया है, वह भी वैसा ही और उतना ही अनुभव करने लगता है। अनुभूतियाँ असंख्य हैं, इसलिये काव्य भी सदैव नवीन रहता है, वह कभी प्राचीन नहीं होता। जीवन में एक गति होती है, साहित्य में भी एक गति होती है।

प्रभाव डालने की कला में संगीतकला अद्वितीय मानी जाती है, किन्तु इस दिशा में भी वह काव्यकला की गरिमा और महत्ता स्वीकार करती है। काव्य के कुछ शब्द कभी-कभी मनुष्य के जीवन को ही परिवर्तित कर देते हैं—

"—मिर्जा राजा जयशाह अपने अन्तःपुर में रंगरेलियों में मस्त हैं। शासन पतन के गर्त की ओर धीरे-धीरे बढ़ रहा है। मंत्री, सरदार आदि सब उपाय करके थक चुके हैं। देखने के लिए राजा की आँखें बन्द हैं और सुनने के लिए कान। वास्तव में कोई भी आदमी अपनी बात इस अनोखे ढंग से कह ही नहीं पाता कि राजा सुनकर चमत्कृत और प्रभावित हो जाय। जयशाह की अनुरक्ति-आसक्ति का यह रोग असाध्य हो गया है। इसी समय भावों का एक नवयुवक चिकित्सक दरबार में आता है— लोगों से स्थिति को समझता है और तब राजा के लिए एक आदर्श ओषधि भेजता है। औषधि आयुर्वेदिक नहीं है और न चिकित्सक वैद्य। वह चिकित्सक है महान् काव्य-कार बिहारी और ओषधि है कुछ शब्दों का सार्थक समुच्चय (ढेर) एक दोहा।"

"नहिं पराग नहिं मधुर-मधुर नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों विध्यो आगे कौन हवाल।"

जब परागहीन कली पर भौंरा अपने प्राणों को न्योछावर किये दे रहा है तो जब कली परागयुक्त होगी तो उसका उपभोग कौन करेगा ? इस अन्योक्ति ने राजा की आँखें खोल दीं। दो पंक्तियों के दोहे के द्वारा बिहारी ने वह काम कर दिखाया जिसको कदाचित् संसार के सब साधन मिल कर भी न कर पाते। यह काव्य का चमत्कार है जिसके अभाव में दूसरी कलाएँ उसके समक्ष खड़ी नहीं हो सकतीं।

काव्य के आकर्षक इतिहास में ऐसे विस्मयकारी उदाहरणों की कमी नहीं है। 'कत्लेआम' कराने वाले नादिरशाह को इस जघन्य कार्य से किसने विरत किया था ? किसने रोका था ? संसार की कोई शक्ति उसकी तलवार को म्यान में लौटा नहीं सकती थी, किन्तु एक कवि की दो पंक्तियों ने उसे शान्त कर म्यान में रखवा दिया।

संगीत के अतिरिक्त और कलाओं में गति नहीं है। उनमें जड़ता अधिक है, लेकिन काव्य में संगीत से भी अधिक गति है। काव्य का एक-एक अक्षर एक चित्र उपस्थित कर सकता है, जैसे—

"संध्या का झुटपुट, बाँसों का झुरमुट,
चिड़ियाँ करतीं टी वी टी टुट टुट।" —पन्त

उपरोक्त शब्दों के द्वारा संध्याकाल का एक धुँधला चित्र स्पष्ट रूप में आँखों के समक्ष घूम जाता है।

काव्य की कुछ ही पंक्तियाँ चलते हुए हाथी का चित्र एवं उसके बजते हुए घंटे की ध्वनि का आभास तक हमें करा सकती हैं—

"रनित भृंग घटावली झरत दान मद नीर।"
मंद मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर। —बिहारी।

कभी-कभी काव्य की पंक्तियाँ अत्यधिक संगीतमय हो जाती हैं—

"कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि" —तुलसी

तथा

"नंदक नंद कदंबक तरुतर धिरधिर मुरली बजाव।"

ये तो काव्य की साधारण विशेषताएं हुईं। सबसे बड़ी विशेषता तो काव्य की यह है कि वह श्रोता या पाठक के भावों को उत्तेजित कर उसे स्वर्गीय आनन्द का अनुभव कराता है। इसीलिये तो काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। काव्य जहाँ स्वर्गीय आनन्द का स्रष्टा हो सकता है, वहाँ महान् क्रान्ति का जनक भी। काव्य-कला भौतिक आधार और भौतिक उपकरणों की सहायता अन्य कलाओं की तुलना में सबसे कम लेती है, लेकिन सूक्ष्म होने के कारण उसकी प्रभाव-परिधि का विस्तार भी अन्य कलाओं से कहीं अधिक है। काव्य का एक-एक अक्षर एक दृश्य प्रस्तुत कर सकता है, एक-एक शब्द एक-एक चित्र प्रस्तुत कर सकता है। मन्दिर, मस्जिद, पर्वत, नदी, निर्झर, समुद्र आदि को काव्य केवल शब्दों की सहायता से साकार कर देता है। दौड़ते हुए घोड़े, लड़ते हुए योद्धा, सजीव रूप में कोई भी कला चित्रित नहीं कर सकती—कर सकती है तो केवल काव्यकला। इसलिये सभी दृष्टियों से—आधार एवं उपकरणों की दृष्टि से, अनुभूति की दृष्टि से, अनुभूति को प्रकट करने के कौशल की दृष्टि से—काव्यकला ही सर्वोत्कृष्ट ठहरती है।

———

## अध्याय १२

# कला—कला के लिए

यदि मनुष्य की आज तक की संस्कृति के दीर्घकालीन इतिहास को एक शब्द में व्यक्त करने के लिए कहा जाय तो हम कहेंगे 'कला'। कला शब्द के पीछे मनुष्य की आदिकालीन अवस्था, उसका प्रकृति से संघर्ष, सौन्दर्य की भावना, सामाजिकता की भावना आदि के पृथक्-पृथक् स्वर स्पष्ट सुनाई देते हैं।

कला मनुष्य के संस्कृत मन-मस्तिष्क की उपज है। आज भी पशुओं की कोई संस्कृति नहीं है, इसलिए कोई कला नहीं। जो जंगली जातियाँ आज भी आदि मानव का जीवन व्यतीत कर रही हैं, वे सौन्दर्य की भावना से रहित होने के कारण कलाओं से भी अपरिचित हैं। सौन्दर्य की भावना ने ही मनुष्य को पशु से मनुष्य बनाया है, उसमें मानवीय सद्भावनाओं का विकास किया है। सुविधा की प्रवृत्ति भी मनुष्य में सौन्दर्य-प्रवृत्ति की भाँति पुरानी है। इस सुविधा की प्रवृत्ति ने व्यवस्था को जन्म दिया और व्यवस्था ने समाज को। मनुष्य ज्यों-ज्यों सभ्य होता गया, वह समाज में व्यवस्था को अधिक महत्व देने लगा और इस प्रकार वह विवेकप्रधान बना। उसके हृदय के असीम आनन्द ने उसकी सौन्दर्य-भावनाओं को जीवित रखा और उसके विवेक ने उसके द्वारा स्थापित समाज को मर्यादित। कलाएँ असभ्य या अर्द्ध-सभ्य मनुष्य का अनर्गल प्रलाप नहीं हैं अपितु सामाजिक (सभ्य) मनुष्य के आनन्द तथा सौन्दर्य-भावना की विवेकसंयत अभिव्यक्ति हैं।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति समाज का प्रतिबिम्ब भी है। अतः मनुष्य की कोई भी कृति न तो काल-निरपेक्ष हो सकती है और न समाज-निरपेक्ष। कृति पर काल और समाज का प्रभाव अनिवार्य है। एक लेखक का कथन है कि "सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य में भले-बुरे का ज्ञान दृढ़ हुआ और इस प्रकार आचार मनुष्य-प्रकृति का एक अभिन्न बन गया।" इसलिए कला आचार से तटस्थ नहीं रह सकती।

किसी भाव को अभिव्यक्त करना आसान कार्य नहीं है और कौशल के साथ अभिव्यक्त करना तो और भी कठिन है। कलाकार साधारण व्यक्ति से दो बातों में अधिक समर्थ होता है—एक तो किसी भाव को अधिक गहराई से अनुभव करने में और दूसरे, उस भाव को एक साधारण व्यक्ति से कहीं अधिक उचित रूप में अभिव्यक्त करने में। इसलिए अधिक सस्कृत और अनुभूतशील होने के कारण कलाकार की कृति में लोकहित की भावना अपने सुन्दरतम रूप में व्यक्त होगी, यह बहुत स्वाभाविक है।

अन्य फैशनों की भाँति एक साहित्यिक फैशन भी यूरोप से भारतवर्ष में आया और वह था 'कला—कला के लिए'। भारतवर्ष में इससे पूर्व इसकी चर्चा नहीं मिलती। कवि जो कुछ अपने काव्य में व्यक्त करता था, वह जीवन से भिन्न वस्तु नहीं होती थी। भारतीय साहित्य का रस-सिद्धान्त तो जीवन के और भी निकट पड़ता है जिसके अनुसार साहित्य में 'निराली अनुभूतियों' के लिए कोई स्थान नहीं है। साहित्य में वे ही भाव व्यक्त किये जाते थे, उन्हीं घटनाओं का वर्णन होता था, जिनसे जनसाधारण के हृदय का तादात्म्य हो सके। इसलिए भारतीय साहित्य शास्त्र-रस के रूप में जीवन को ही अपना आधार बनाता है। कवि अपनी कृतियों में केवल जीवन को अभिव्यक्ति ही नहीं देता अपितु समाज को उचित दिशा-निर्देश भी करता है। साहित्य इस बात का प्रमाण है कि महान् कलाकार समाज को उचित मानसिक भोजन देते हैं और इस प्रकार समाज को मानसिक रूप से स्वस्थ रखते हैं। इसलिए 'कला—कला के लिए' जैसा अर्थहीन नारा यहाँ के साहित्यिकों ने कभी नहीं लगाया और काव्य को जीवन से बिलकुल पृथक् वस्तु घोषित करने की अदूरदर्शिता भी उन्होंने कभी नहीं की।

### इतिहास

यूरोप में इस सिद्धान्त के जन्म और विकास पर एक दृष्टि डालना अनुचित न होगा।

नवसंस्कृत यूरोप के लिए यूनान ही संस्कृति का मूल स्रोत रहा है। यूरोप में केवल यूनान ही अपनी संस्कृति की प्राचीनता के लिए गर्व कर सकता है। अरस्तू यूनानी ज्ञान-वैभव का आदि-पुरुष प्रतीत होता है। यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि संस्कृति के उस उषाकाल में ही अरस्तू यूनान को ज्ञान का इतना तीव्र प्रकाश दे गया कि शताब्दियों तक पूरा यूरोप उस ज्ञानपुंज के समक्ष विस्मय-विमुग्ध तथा नतमस्तक रहा।

संस्कृत-साहित्य में जैसे भरत मुनि के वाक्य विद्वानों के लिए बौद्धिक व्यायाम का क्षेत्र बने, उसी प्रकार अरस्तू के वाक्यों को लेकर परवर्ती यूनानी विद्वानों ने ज्ञान-क्रीड़ा की। इतनी शताब्दियों पूर्व यूरोप का यह बौद्धिक पिता इतने अधिक विषयों पर

सम्यक् विचार कैसे कर सका, यह सचमुच आश्चर्य का विषय है। अरस्तू ने कला के विषय में भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। वह कला को जीवन की प्रतिकृति मानता है, अर्थात् कला और जीवन में वह कोई भेद नहीं करता। कला, उसके शब्दों में, जीवन को अभिव्यक्त ही नहीं करती, प्रत्यक्ष भी करती है। अरस्तू प्रतिकृति द्वारा कला का सम्बन्ध जीवन से इतना घनिष्ठ कर देता है कि उसके अनुसार तो कला न जीवन की आलोचना है न व्याख्या बल्कि साक्षात् जीवन ही है। लेकिन जिस प्रकार भरत मुनि के रसनिष्पत्ति सम्बन्धी "विभावानुभाव व्यभिचारिभाव संयोगादसनिष्पत्ति" वाक्य को लेकर अनेक आचार्यों ने अनेक अर्थ किये, उसी प्रकार अरस्तू के 'कला जीवन की प्रतिकृति है' वाक्य को लेकर परवर्ती विद्वानों ने उसके अनेक अर्थ किये।

अरस्तू के जगत-प्रसिद्ध शिष्य प्लेटो ने अरस्तू के सूत्र का भाष्य किया कि साहित्य जीवन की प्रतिकृति नहीं हो सकता, वह केवल अनुकृति हो सकता है, अर्थात् कलाएँ जीवन का आभासमात्र दे सकती हैं, वे साक्षात् जीवन नहीं हैं। जिस प्रकार किसी भी व्यक्ति का बनाया गया चित्र उस व्यक्ति की प्रतिकृति न होकर अनुकृति (अनुकरणमात्र) भर है। उसी प्रकार जीवन के विषय में उपस्थित की गयी कोई भी कलाकृति जीवन की अनुकृतिमात्र है।

उपरोक्त दोनों आचार्य क्रमशः 'कला जीवन के लिए है' तथा 'कला—कला के लिए है' के सिद्धान्त के आदिपुरुष समझे जाते हैं।

फ्रांस यूरोप में विलास की प्रख्यात लीलाभूमि है। फ्रांस जीवन से पृथक् केवल काल्पनिक सिद्धान्तों के जन्म देने तथा उनका पालन-पोषण करने के लिए प्रसिद्ध है। 'कला—कला के लिए है' के इस नवजात यूनानी सिद्धान्त-शिशु को फ्रांस ने ही पालपोस कर बड़ा किया और बाद में उसके भावी उचित विकास के लिए उसे इंगलैंड भेज दिया गया। इसमें सन्देह नहीं कि यह सिद्धान्त अपने चरम विकास पर इंगलैंड में ही पहुँचा, किन्तु इंगलैंड में इस विदेशी सिद्धान्त-युवक का जहाँ स्वागत हुआ, वहाँ विरोध भी हुआ। एक दल ऐसा था जो इस सिद्धान्त का हार्दिक समर्थन करता था, दूसरा ऐसा दल था जो उसका घोर विरोधी था और अपने देश की सुकुमार कला को इस विदेशी जीवन-रसरहित कृशकाय स्वप्नदर्शी, पलायनवादी युवक के हाथों सौंपना घोर अकल्याणकारी समझता था।

**दो दल**

(१) इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थकों में वाल्टर पेटर, ऑस्कर वॉइल्ड, ब्रेडले तथा प्रो० क्विलरकोच का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

(२) इस सिद्धान्त के प्रमुख विरोधी व्यक्ति हैं—रस्किन, मैथ्यू आर्नल्ड, आई० ए० रिचार्ड्स तथा अम्बर क्रॉम्बी।

किन्तु इस सिद्धान्त के भाग्य में अभी समुद्रसंतरण तथा द्वीपान्तरवास बदा

था। अंग्रेज अपने विश्वव्यापी साम्राज्य मे भारतवर्ष को ही सबसे अच्छा स्थान समझते थे, जहाँ सब प्रकार की बीमारियों को इकट्ठा किया जा सकता था। भारत में तब जागरण की कविताएँ लिखी जाने लगी थीं। अंग्रेजों के विरुद्ध जनता का स्वर और कवियों की लेखनी संयुक्त हो गयी थी। जनता के स्वर को साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध उग्रतर करने का श्रेय भी कवियों को ही था। अतः उन्होंने इस पलायनवादी काव्य-सिद्धान्त को भारत में भेज दिया। उनका प्रयत्न व्यर्थ गया, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि भारत की पृथ्वी पर भी ऐसे कवि उगने लगे जो कविता में (कलाओं में) जीवन को अभिव्यक्त करने के विरोधी थे। उनके मत में कला को जीवन के संतापों की आँच से दूर ही रखना चाहिए। हम गुलाम हैं, हम भूखे हैं, इन बातों को कविता में स्थान देने की क्या आवश्यकता है ? उनके विचार से कलाओं का सर्वोत्तम प्रयोग भौतिक आवश्यकता की अग्नि से जले मनुष्य को सुलाने के लिए मरहम के रूप में होना चाहिए था। जागरण के लिए कला के प्रयोग को वे अश्लीलता, असभ्यता और न जाने क्या-क्या समझते थे ! किन्तु भरसक प्रयत्न करने पर भी 'भारतवासियों' के समक्ष इस विदेशी सिद्धान्त का वास्तविक रूप स्पष्ट हो गया और उन्होंने इस सिद्धान्त के रूप में एक 'श्वेताङ्ग सिद्धान्त' के दर्शन किये।

यूरोप में 'कला—कला के लिए' का व्यापक प्रचार-प्रसार कैसे सम्भव हो सका, इसके कारणों पर भी संक्षेप में विचार कर लेना अनुचित न होगा।

जिस काल में यह सिद्धान्त इंगलैंड पहुँचा, उस समय वहाँ के चिन्तन-क्षेत्र में अनेक विचारधाराएँ प्रवाहित हो रही थीं। उनमें से फ्रॉयड का स्वप्नवाद एवं यथार्थवाद तथा क्रोचे का अभिव्यंजनावाद—ये मुख्य तीन विचारधाराएँ हैं जो 'कला—कला के लिए' सिद्धान्त के सिञ्चन, अंकुरित एवं पल्लवित होने के लिए विशेषरूप से उत्तरदायी हैं।

(१) फ्रॉयड का स्वप्न-सिद्धान्त

फ्रॉयड का कथन है कि मनुष्य कुछ विशिष्ट सामाजिक एवं नैतिक नियम-प्रतिबन्धों के कारण अपने मन की वासनाओं को तृप्त नहीं कर पाता। मनुष्य की वे अतृप्त कामनाएँ उसकी उपचेतना में संचित रहती हैं और मनुष्य उनकी पूर्ति स्वप्न में करता है। चूँकि साहित्य का मूलस्रोत भी कल्पना ही है इसलिए साहित्य में मनुष्य अपनी अतृप्त कामनाओं को ही छद्मरूप में व्यक्त करता है। फ्रॉयड साहित्य में शृंगार के प्राचुर्य को अपने सिद्धान्त के प्रमाणस्वरूप उपस्थित करता है। फ्रॉयड के सिद्धान्त का तो स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि सामाजिकता और सामाजिक समस्याओं का काव्य या कला से कोई सम्बन्ध नहीं है। कलाएँ तो केवल मानव की अतृप्त आकांक्षाओं को ही व्यक्त करती हैं। परन्तु यह बात सत्य से बहुत दूर है। साहित्य किसी व्यक्ति के मानसिक विलास के लिए नहीं है, साहित्य तो युगचेतना को वाणी देता है। साहित्य किसी व्यक्ति-विशेष की मानसिक कुंठाओं की सूची नहीं है, वह

तो सामाजिक प्रगति का सजीव इतिहास है। इसलिए साहित्य के मूल में वास्तव में व्यक्ति नहीं, समाज होता है। साहित्य में व्यक्ति का ढूंढ़ने का प्रयत्न भी ठीक नहीं है। फ्रॉयड के अनुसार तो यदि कोई कवि किसी रमणी पर काव्य-रचना करता है, या कोई चित्रकार या शिल्पकार नारी का चित्र या मूर्ति बनाता है तो कलाकार अपनी अतृप्त कामनाओं को ही अभिव्यक्ति दे रहा है, लेकिन वास्तव में नारी का चित्रण करने वाले विभिन्न कलाकार, आवश्यक नहीं कि इस प्रकार के मानसिक रोग से पीड़ित हों हीं।

किन्तु इस सिद्धान्त ने यूरोप में 'कला—कला के लिए' सिद्धान्त के प्रसार में बड़ी सहायता पहुँचाई। लोगों ने समझा कि साहित्य जीवन का चित्रण करने के लिए नहीं है अपितु अतृप्त एवं गोपनीय वासनाओं को प्रकट करने का उपयुक्ततम स्थल है। उन्होंने समझा कि जब मनुष्य की कल्पना ही इन अभावों से पीड़ित है तो वह कलाओं में इन अभावों की पूर्ति क्यों नहीं करेगी ? इसलिए उन्होंने कलाओं को जीवन के सिद्धान्त और नियमों के आधार पर न परख कर कला की पृथक कसौटी बनादी जो जीवननिरपेक्ष थी। उनके मतानुसार कला की सृष्टि कला के लिए ही होती है, जीवन के लिए नहीं। उनके शब्दों में कला अतृप्त कामनाओं की अभिव्यक्ति भर है, जीवन को व्यक्त करने वाली शक्ति नहीं।

(२) क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

साहित्य के मूलतः दो पक्ष माने जाते हैं—(१) भावपक्ष ; (२) कलापक्ष। साहित्य वास्तव में भाव और भाषा की युगपद् (एक साथ) साधना है। जिस साहित्य के ये दोनों पक्ष पुष्ट हैं, वह उत्कृष्ट कोटि का साहित्य है, लेकिन जिसमें भाव या भाषा-सम्बन्धी कोई भी कमी आ जायगी तो उससे सर्वांगीण सौन्दर्य में उतनी ही कमी आ जायगी। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को यदि और भी उपयुक्त नाम दिया जाय तो 'अभिव्यक्तिवाद' ठीक होगा क्योंकि उसका कथन है—Expression is Art. ( अभिव्यक्ति ही कला है )। ऐसा कहते समय स्पष्ट है कि क्रोचे विषय-वस्तु को किंचित् भी महत्व नहीं देता। 'अभिव्यक्ति—अभिव्यक्ति के लिए की जाय' यह बात तो बहुत कुछ निरर्थक प्रतीत होती है। जब कोई बात (Matter) ही नहीं है तो व्यक्त क्या किया जायगा ? भारतीय अभिव्यंजनावाद और क्रोचे के इस अभिव्यक्तिवाद में मौलिक अन्तर है। भारतीय अभिव्यंजनावाद में अभिव्यक्ति को अधिक महत्व अवश्य दिया गया है, किन्तु विषय-वस्तु (भावपक्ष) की भी उपेक्षा नहीं की गयी है। भारतीय काव्य-शास्त्र के सभी आचार्य भावपक्ष को अत्यधिक महत्व देते हैं और इसीलिए रस (भावपक्ष) को वे काव्य की आत्मा मानते हैं। कलापक्ष के अन्तर्गत शब्द शक्तियाँ (अभिधा, लक्षणा, व्यंजना ; भाषा, गुण ( प्रसाद, ओज, माधुर्य, ) एवं अलंकार आदि सभी आते हैं, किन्तु ये तो वे वाह्य वस्त्राभरण हैं जिनसे सजीव काव्य की शोभा

बढ़ती है। यदि किसी मृत व्यक्ति को सुन्दर वस्त्राभरण पहना दिये जाँय तो सम्भवतः ग्रौर भी कुरूप लगने लगेगा। इसी प्रकार जिस काव्य का भावपक्ष पुष्ट नहीं, उसमें ग्रलंकारादि बाह्य ग्रावरण शोभावर्द्धक नहीं ग्रपितु भारस्वरूप जान पड़ते हैं। इस साधारण सी बात को लेकर यूरोप के तथाकथित काव्यशास्त्रियों में व्यर्थ का वाग्युद्ध हुग्रा है परन्तु फिर भी वे किसी निश्चित एवं निर्विवाद परिणाम पर पहुँचते हुए प्रतीत नहीं होते। उदाहरण के लिए, क्रोचे के ग्रभिव्यंजनावाद द्वारा काव्यशास्त्र में कोई नई बात प्रकाश में ग्राई नहीं हो, उससे ग्रनावश्यक भ्रमों का सृजन ग्रवश्य हुग्रा है। उसके मतानुसार कलाग्रों में भावपक्ष या ग्रनुभूतिपक्ष नगण्य हैं। उसके बिना भी केवल ग्रभिव्यक्ति के बल पर कलाकृतियों का सृजन किया जा सकता है। इसका स्पष्ट ग्रर्थ यही हुग्रा कि संसार तथा जीवन की बातों को कलाकृतियों में स्थान मिले, यह ग्रावश्यक नहीं। संक्षेप में, क्रोचे 'बिना बात की बात' कहने में विश्वास करता है जिसका जीवन में कुछ भी सम्बन्ध न हो। 'कला—कला के लिए' ग्रान्दोलन को क्रोचे के ग्रभिव्यंजनावाद से सहायता मिलती, यह स्वाभाविक ही था।

(३) यथार्थवाद

फ्रॉयड ग्रपने चिन्तन के ग्रनुसार कलाग्रों में शृंगार-प्राचुर्य को स्वाभाविक मानता है। एक प्रकार से यूरोपीय यथार्थवाद भी इसी मान्यता पर ग्रपनी स्वीकृति को मुहर लगाता है। यथार्थवाद के ग्रनुसार भय, मैथुन ग्रौर निद्रा—ये प्राणियों की मूल प्रवृत्तियाँ हैं। उसकी शेष उदात्त प्रवृत्तियाँ सभ्यता-प्रसूत हैं, इसलिये ग्रस्थायी हैं ग्रौर महत्वपूर्ण भी नहीं हैं। ग्रतः कलाग्रों में इन प्राकृतिक प्रवृत्तियों का स्फुरण ग्रत्यन्त स्वाभाविक है। मनुष्य या समाज के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाली बातें यथार्थवाद के ग्रनुसार गौण (ग्रप्रधान) प्रवृत्तियाँ हैं। ग्रतः वे कलाग्रों का ग्राधार नहीं बन सकतीं, परन्तु सच तो यह है कि पशुता से ही मनुष्यता का जन्म हुग्रा है, जैसे पंक (कीचड़) से पंकज की उत्पत्ति होती है। कीचड़ कितनी बीभत्स ग्रौर कुरूप होती है। कमल कितना वांछनीय कितना सुन्दर ! किन्तु यह कहना ग्रयुक्तियुक्त होगा कि कीचड़ के संस्कार भी कमल पर होने ही चाहिए। उसी प्रकार यह भी ग्रावश्यक नहीं कि ग्राज के सभ्य मनुष्य में वे पाशविक वृत्तियाँ (भय, निद्रा, मैथुन, ग्राहार) ग्रभी तक पूर्ववत नग्न हैं। पशुता की कीचड़ से जो मनुष्यता का कमल निकला है, वह भ्रम नहीं है, एक यथार्थता है ग्रौर जितनी ही जल्दी इस सत्य को हृदयंगम कर लिया जायगा, संसार का ग्रकल्याण उतना ही कम होगा। महादेवी वर्मा इसी बात को इस प्रकार स्पष्ट करती हैं—

"—विकासक्रम में पशुता हमारा जन्माधिकार है ग्रौर मनुष्यता हमारे युग-युग के ग्रनवरत ग्रध्यवसाय से ग्रर्जित ग्रमूल्य निधि ; इसी से हम ग्रपने पूर्ण स्वप्न के लिए, सामंजस्यपूर्ण ग्रादर्श के लिए ग्रौर उदात्त भावनाग्रों के लिए प्राणों की बाजी लगाते रहे हैं। जब हममें ऐसा करने की शक्ति शेष नहीं रहती, तब हम एक

मिथ्या दम्भ के साथ पशुता की ओर लौट चलते हैं क्योंकि वहाँ पहुँचने के लिए न किसी पराक्रम की आवश्यकता है और न साधन की ।"

इस प्रकार के अविवेकपूर्ण और पाशविक आधार पर खड़े तथाकथित यथार्थवाद के विरुद्ध महादेवीजी लिखती हैं—

"—संसार में सबसे अधिक दण्डनीय वह व्यक्ति है जिसने यथार्थ के कुत्सित पक्ष को एकत्र कर नरक का आविष्कार कर डाला क्योंकि उस चित्र ने मनुष्य की सारी बर्बरता को चुन-चुन कर ऐसे ब्यौरेवार प्रदर्शित किया कि जीवन के कोने-कोने में नरक गढ़ा जाने लगा ।"

सच तो यही है कि इस प्रकार का साहित्य, जो जीवन की उदात्त भावनाओं की उपेक्षा करता है, समाज की सामयिक समस्याओं और कमियों को दूर करने की ओर प्रयत्नशील नहीं होता, पाशविक भावनाओं को ही अपना आधार बनाता है, इस लोक को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न न करके किसी ऐसे लोक की बातें करता है जिसका वास्तविक अस्तित्व कहीं है ही नहीं । वह इस संसार में नरक की ही सृष्टि करता है ।

इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि 'कला—कला के लिए' का सिद्धान्त एक वायवी सिद्धान्त है जिसका इस धरती और धरती की बातों से कोई सम्बन्ध नहीं ।

भारतवर्ष में इस सिद्धान्त के समर्थक अपने कथन के समर्थन के लिए तुलसी के निम्नांकित वाक्य की ओट लेते हैं—"स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा, भाषा निवन्धमति मंजुल मातनोति ।" कविता व्यक्तिगत आनन्द के लिए लिखी जाती है अतः अपनी 'निराली' (वैयक्तिक) विचित्र, देश-कालनिरपेक्ष तथा वायवी (हवाई) बातें उसमें व्यक्त करने का कवि को पूरा अधिकार है । इस प्रकार का असंगत एवं तथ्य-विहीन अर्थ तथाकथित कलावादियों ने तुलसी के उपरोक्त वाक्य का लिया और इस प्रकार भारत के सर्वमान्य सर्वोत्कृष्ट कवि तुलसीदास की ओट लेकर उन्होंने साहित्य को अपनी विलासरुग्ण भावनाओं एवं कुत्सित वृत्तियों का अखाड़ा बनाने का भयंकर षड्यन्त्र किया और उन्होंने अपने ही बुद्धि-विकार के कारण तुलसी के रामबाण ओषधि के समान कल्याणकारी उन सुन्दर वाक्यों का तिरस्कार कर दिया जो कला के वास्तविक उद्देश्य को स्पष्ट कर राष्ट्र के भयंकर मानसिक रोगों का 'निदान' करने वाले हैं । उन पंक्तियों में तुलसी ने स्पष्ट कर दिया है कि कविता किसी व्यक्ति के मानसिक विलास की क्रीडास्थली नहीं है, अपितु वह तो भवतापदग्ध व्यक्तियों के लिए अनुपम स्वास्थ्य-स्थली है । कलाकार उसकी (कविता की) सृष्टि अपने लिए नहीं करता, उसका आस्वादन तो और लोग ही करते हैं । कविता तो गंगा की निर्मल और कल्याणमयी धारा के समान है जिसमें स्नान कर सामाजिक भवतापों (सांसारिक कष्टों) से मुक्त होते हैं । ऐसी कविता तो साक्षात जीवन (जल) है, वह जीवन से दूर कैसे हो सकती है ? तुलसी की ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"—मणि माणिक मुक्ता छवि जैसी।
अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी ॥
नृप किरीट तरुणी तन पाई।
लहइ सकल सोभा अधिकाई ॥
तैसेइ सुकवि कवित बुध कहई।
उपजहि अनत, अनत सुख लहई ॥"

इतना ही नहीं, तुलसी केवल उसी वस्तु को अच्छी कहते हैं जो जनकल्याण-कारी हो—

"—कीरति मणित भूति भल सोई
सुरसरि सम सब कर हित होई।"

विश्व की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए मनुष्य ने अपने सतत परिश्रम और अव्यय धैर्य से विज्ञान, दर्शन, कलादि (साहित्यादि) का आविष्कार किया है। उपदेश शब्द में ही कल्याण का भाव अन्तर्निहित रहता है। भारतीय विचारकों ने ज्ञान को ही तीन भागों में वर्गीकृत कर दिया है—

(१) गुरुसम्मित उपदेश ; (२) मित्र सम्मित उपदेश ; (३) कान्तासम्मित उपदेश।

(१) गुरु आज्ञा देता है। उसका पालन विवशता द्वारा शासित रहता है, अर्थात गुरु की आज्ञा का पालन कर्त्तव्य माना गया है, किन्तु देखा यह जाता है कि कर्त्तव्यपालन में हृदय के उत्साह की भावना सदैव नहीं रहती। अतः अधिकांश आज्ञाएं अत्यन्त शुष्क प्रतीत होती हैं; उदाहरणार्थ, धर्म का आचरण करो, सत्य बोलो (धर्मं चर सत्यं वद) आदि उपदेश अत्यन्त शुष्क हैं और आज्ञा के रूप में हैं। इसलिए हृदय पर असर करने वाले और मार्मिक नहीं हैं। वेद इसी प्रकार की आज्ञा देते हैं, अतः वेद-साहित्य गुरुसम्मित उपदेश के अन्तर्गत आता है।

(२) मित्र भी उपदेश देता है, किन्तु उसकी पद्धति कुछ कम शुष्क होती है। 'सत्य बोलना चाहिए', 'धर्म का आचरण करना चाहिए' जैसे वाक्य इस प्रकार के उपदेश के उदाहरण हैं। स्मृतियाँ इसी प्रकार का उपदेश देती हैं। इसलिए स्मृति-साहित्य मित्रसम्मित उपदेश के अन्तर्गत आता है। यह तो स्पष्ट ही है कि ऊपर उद्धृत वाक्य कल्याण की भावना से युक्त हैं किन्तु वे आकर्षक नहीं हैं। इन वाक्यों का हृदय पर अधिक और स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता है।

(३) साहित्य का उद्देश्य भी उपरोक्त दोनों प्रकार के उपदेशों की पद्धतियों से भिन्न नहीं है। जो बात वेद कहता है, जो बातें स्मृतियाँ कहती हैं, साहित्य भी वही बात कहता है, किन्तु उसका स्वर उपरोक्त उपदेशों से भिन्न है। वह शुष्क न होकर सरस, सरल और मार्मिक है। वह मनुष्य की कर्त्तव्य-भावना को मस्तिष्क

के माध्यम से जागृत नहीं करता, अपितु हृदय के माध्यम से जागृत करता है। इसलिए कल्याण की भावना उपरोक्त दोनों उपदेश-पद्धतियों की भाँति साहित्य का भी आधार है। किन्तु साहित्य किसी सत्य को कहता नहीं, अभिव्यंजित करता है और इसलिए उसका प्रभाव भी तीव्र, अधिक गहरा और स्थायी होता है। उदाहरण के लिए, सत्य बोलो (वेद) सत्य बोलना चाहिए (स्मृति) को साहित्य विचित्र रूप से व्यक्त करेगा। इसका सर्वोत्तम उदाहरण 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक है जिसमें कहीं भी एक भी बार यह नहीं कहा गया कि सत्य बोलो या सत्य बोलना चाहिए, परन्तु उसके प्रत्येक वाक्य से यही ध्वनि निकलती है। श्रोता या दर्शक पर जितना उसका प्रभाव पड़ता, उतना न तो वेद-वाक्य का और न स्मृति-वाक्य का।

इस प्रकार यह तो स्पष्ट ही है कि भारतीय विचारक जब साहित्य को कान्ता-सम्मित उपदेश करते हैं तो किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करते। 'साहित्य निष्क्रिय' मानसिक विलास का संकीर्ण और प्रवाहहीन सरोवर नहीं है, वह तो जनकल्याण की 'सतत् प्रवाहमान' स्वास्थ्यप्रद चिन्तनधारा है जो शुष्क व जीवनहीन सिकता-संसार में नेत्र-रंजक वारिधारा के समान मानव संस्कृति के जल को वहन कर बहती है। सत्य मानव जीवन का मेरुदण्ड है। साहित्य सत्य को आकर्षक रूप में व्यक्त करता है। साहित्य हित की भावना सहित अभिव्यक्ति है। जीवन से दूर साहित्य का कुछ अर्थ नहीं। साहित्य जीवन के लिए ही लिखा जाता है, जनकल्याण ही उसका मूलाधार है। सामाजिक हित की भावना से रहित पशुओं का कोई साहित्य नहीं होता। साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है, किन्तु यथावत् नहीं अपितु आदर्शमय। साहित्य जीवन का आदर्श रूप उपस्थित करता है। प्रेमचन्दजी लिखते हैं—

"—साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और सुन्दर बनाता है। दूसरे शब्दों में उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है, यही उसका मुख्य उद्देश्य है।"

साहित्य में महान् शक्ति निहित है। समाज के मानसिक स्वास्थ्य की इससे बढ़कर कल्याणकारी औषधि दूसरी नहीं, किन्तु सत्साहित्य ही कल्याणकारी होता है। अश्लील साहित्य तो समाज के मानसिक स्वास्थ्य के लिए विष के समान है। साहित्य समाज का कल्याण कर उसे आदर्श भी बना सकता है और उसे भ्रष्ट कर उसका विनाश भी उपस्थित कर सकता है। इसलिए साहित्य जीवन के लिए, जीवन के कल्याण के लिए रचा जाना चाहिए। 'साहित्य—साहित्य के लिए' का नारा तो एक अर्थहीन प्रलाप है।

आज के युग में साहित्य का उचित मूल्य मार्क्सवादी लोगों ने आँका है। वे तो साहित्य को अपने जन-संघर्ष का सबसे सबल अस्त्र मानते हैं। समाज में साहित्य ही जागृति उत्पन्न कर सकता है। किन्तु साहित्य शुष्क उपदेशों के संग्रह का नाम नहीं है बल्कि वह तो कल्याण की आकर्षक अभिव्यक्ति है। प्रसिद्ध विचारक एंजिल्स का मत है कि साहित्य में जो कुछ भी कहा जाय, वह सुन्दरम् के आवरण में आवेष्टित

होना चाहिए। साहित्यकार की साधना की चरम सीमा वह है, जहाँ उसकी रचना जितनी ही सुन्दरम् हो, उतनी ही सत्य भी।

इसलिए 'कला—कला के लिए' आन्दोलन 'सत्य एवं कल्याण' से दूर वास्तव में एक भ्रम-प्रसार आन्दोलन है। इसका अधिक से अधिक अर्थ यह लिया जा सकता है कि कला के अपने नियम होते हैं, दर्शन और विज्ञान के अपने। दर्शन और विज्ञान की कसौटी पर साहित्य को नहीं कसना चाहिए। यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु यह कहना कि जीवन की कठोरता, अभाव एवं पीड़ा से साहित्य का कोई सम्बन्ध नहीं, वह तो केवल काल्पनिक है, सत्य से तटस्थ। ऐसा कहना कला का अपमान करना होगा क्योंकि कला तो मानव मस्तिष्क द्वारा प्रसूत सम्पूर्ण आविष्कारों में सर्वाधिक सत्य, आकर्षक और कल्याणप्रद है।

अत: कला जीवन के लिए ही है, जीवन से पृथक् न तो उसका अस्तित्व है, न महत्व ही।

———

अध्याय १३

# काव्य के दोष

काव्य की साधना भाव और भाषा की साधना है। इसलिए उसकी उत्कृष्टता भी भाव और भाषा की उत्कृष्टता है तथा निकृष्टता भाव और भाषा की निकृष्टता। काव्य के गुण उसकी भाषा तथा भाव के गुण होते हैं और दोष भी भाव तथा भाषा के दोष होते हैं। काव्य-कृतियों के अध्ययन से प्राय: यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी का तो भावपक्ष दोषपूर्ण है और किसी का कलापक्ष। ऐसी तो बहुत कम कृतियाँ मिलेंगी जो भावपक्ष और कलापक्ष—दोनों की दृष्टि से उत्कृष्ट हों और ऐसी कृति की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती जो भाव-भाषा सम्बन्धी दोषों से नितान्त रहित हो।

## दोष क्या है ?

वास्तव में जो काव्यसृष्टा है, वही दोषसृष्टा भी है। कवि की अपनी अक्षमता ही दोषों की जननी है। कवि का मुख्य कार्य है—पाठकों के हृदय में भी उन्हीं भावों को जागृत कर देना जिनका अनुभव स्वयं उसने किया। इस कार्य की पूर्ति के लिए वह भाषा का आश्रय लेता है। भाषा के मूल में अक्षर होते हैं, अक्षरों से शब्द और शब्दों से वाक्य बनते हैं। वाक्य सार्थक होते हैं। इसलिए कवि जब किसी भाव को व्यक्त करता है और पाठक या श्रोता को तद्वत अनुभव कराना चाहता है तो वह शब्दों तथा वाक्यों का समुचित प्रयोग करता है किन्तु जब शब्दों या वाक्यों में कोई कमी रह जाती है तो पाठकों की भावानुभूति में बाधा पड़ती है। यही बाधा वास्तव में दोष है। यह कभी-कभी शब्दों और कभी भावों के कारण उत्पन्न होती है और रसानुभूति में बाधक होती है। इसलिए दोषों को तीन भागों में विभक्त कर लेना युक्तिसंगत होगा—

## काव्य-दोषों का वर्गीकरण

१. शब्ददोष ; २. अर्थदोष ; ३. रसदोष काव्य। दोषों के यही मुख्य रूप हो सकते हैं। इन दोषों के उत्पन्न होने के तीन मुख्य कारण हैं—

(१) वे कारण जो काव्य-रसास्वादन में अवरोध उत्पन्न करते हैं।

(२) वे कारण जो काव्य के उत्कर्ष को नष्ट करते हों।

(३) वे कारण जो काव्य के रसास्वादन में विलम्ब उत्पन्न करते हों।

उपरोक्त दोषों से बचना कवियों के लिए जहाँ आवश्यक है, वहीं कठिन भी है। आचार्य दण्डी तो तिलवत काव्य-दोष को भी अक्षम्य समझते हैं क्योंकि कुष्ठ-धब्बे के समान वह काव्य-सौन्दर्य को नष्ट कर देता है—

"—तदल्यमति नोपेक्ष्यं काव्ये दृष्टं कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम।"

दोषों का परिहार काव्यशास्त्र में इतना आवश्यक माना गया कि काव्य की परिभाषा में दोषों की अनुपस्थिति को ही गुण मान लिया गया है। काव्य-प्रकाश-कार आचार्य मम्मट अपनी काव्य की परिभाषा में ही दोष की अनुपस्थिति पर विशेष बल देते हैं—

"—तद्दोषौ शब्दार्थौसगुणावलकृति पुनः कापि।

(वे ही शब्द और अर्थकाव्य कहलाते हैं जो दोषों से रहित तथा गुणों से युक्त हों फिर चाहे अलंकार उसमें कभी-कभी न भी हों।)

यहाँ दोषों की चर्चा करते समय हिन्दी-साहित्य को ही विशेषरूप से ध्यान में रखना आवश्यक है क्योंकि कितने ही ऐसे दोष हैं जिनका सम्बन्ध केवल संस्कृत साहित्य से है। काव्य-प्रकाशकार मम्मट ने ७० प्रकार के दोषों के नाम गिनाये हैं जिनमें ३७ शब्द, २३ अर्थ तथा १० रस के दोष हैं। यहाँ केवल उन्हीं दोषों का उल्लेख किया जायगा जो प्रमुख हैं और हिन्दी-साहित्य से जिनका विशेष सम्बन्ध है।

## शब्ददोष

### (१) च्युतसंस्कृति-दोष

काव्य में व्याकरण-विरुद्ध शब्दों के प्रयोग को दोष माना जाता है। यह दोष पाँच प्रकार का माना गया है—(१) लिंगदोष ; (२) वचनदोष, (३) कारक-दोष ; (४) सन्धिदोष ; (५) प्रत्ययदोष। जहाँ काव्य में शब्द व्याकरणसम्मत नहीं होते, वहाँ शुद्ध भाषा पढ़ने के अभ्यासी पाठक का ध्यान काव्य से हट कर उन शब्दों की ओर चला जाता है और कवि की भाषा-विषयक अक्षमता से उसे ग्लानि सी होने लगती है और इस प्रकार पाठक के काव्यानन्द में भी बाधा पड़ती है। इस दोष को ही साहित्यशास्त्र में 'च्युतसंस्कृति-दोष' नाम दिया गया है।

उदाहरण

(१) मेरो प्राण रहो थी मुझमें उनका दर्शन पाने को।

(२) एक सजीव तपस्या जैसे पतझड़ में कर वास रहा।

(३) "मर्म वचन जब सीता बोला।
हरि प्रेरित लक्षमन मन डोला॥"

प्रथम दो उदाहरणों में 'प्राण' शब्द स्त्रीलिंग के रूप में तथा 'तपस्वी' शब्द पुलिंग के रूप में प्रयुक्त हुआ है। तीसरे उदाहरण में 'सीता बोला' शब्द व्याकरण-विरुद्ध है।

(२) अक्रमत्व-दोष

काव्य में कुछ शब्दों की क्रमहीनता इस दोष का कारण होती है, अर्थात् जिस क्रम से शब्दों का प्रयोग होना चाहिए, जब उस क्रम से नहीं होता तो अक्रमत्व-दोष माना जाता है। निम्नांकित उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

उदाहरण— 'विश्व में लीला निरन्तर कर रहे वे मानवी।'

'लीला' शब्द यहाँ मानवी शब्द से बहुत दूर जा पड़ा है, किन्तु इसे होना चाहिए था उसके निकट क्योंकि यह 'मानवी' शब्द का विशेष्य है और 'मानवी' शब्द विशेषण है।

(३) अप्रीतत्व-दोष

जब काव्य में कुछ शब्द अपने साधारण अर्थ में प्रयुक्त न होकर अपने किसी विशिष्ट शास्त्रीय अर्थ में प्रयुक्त होते हैं तो यह दोष माना जाता है। कारण, ऐसे शब्द साधारण पाठक की समझ से परे और उसके काव्यानन्द में बाधा उत्पन्न करने वाले होते हैं।

उदाहरण— "हैं प्रधान के तीनि गुण व्याप्त विश्व में जौन।
हो स्वतन्त्र इनसे रहे मस जग जन्मा कौन।"

यहाँ 'प्रधान' शब्द अपने प्रचलित अर्थ में प्रयुक्त न होकर एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ 'प्रधान' शब्द सांख्यशास्त्र के एक पारिभाषिक शब्द के रूप प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है—'प्रकृति'

(१) न्यूनपदत्व-दोष

जब काव्य में कोई स्थल ऐसा आ जाता है जिसका अर्थ कुछ शब्दों के अभाव के कारण स्पष्ट नहीं होता तो यह दोष माना जाता है। ऐसे समय पाठक को अर्थ पूरा करने के लिए कुछ शब्द बाहर से मिलाने पड़ते हैं और व्यर्थ की इस माथापच्ची के कारण उसके काव्यानन्द में बाधा पड़ती है। तुलसी का निम्नांकित दोहा इस दोष का प्रसिद्ध उदाहरण है।

उदाहरण— "उत्तम मध्यम नीच गति पाहनसिकता पानि।
प्रीति परिच्छा तिहुँन की बैर व्यतिक्रम जानि।।"

इसमें 'रेखा' शब्द के अभाव में अर्थ बिलकुल स्पष्ट नहीं होता। जब पाठक अपनी ओर से 'रेखा' शब्द जोड़ लेता है, तब अर्थ स्पष्ट होता है।

(५) अधिकपदत्व-दोष

जहाँ काव्य में कुछ अनावश्यक शब्दों को निकाल देने पर भी काव्यार्थ में अन्तर न पड़े, बल्कि उन शब्दों की उपस्थिति से उसमें बाधा ही और पड़ती हो तो इस दोष को अधिकपदत्व-दोष कहते हैं।

उदाहरण— "लपटी पुहुप पराग पट सनी स्वेद मकरन्द,
आवति नारि नवोढ़ लौं सुखद वायुगति मन्द।"

उपरोक्त दोहे में 'पुहुप' शब्द का प्रयोग अनावश्यक है क्योंकि पराग कहने से ही पुष्प-पराग का बोध हो जाता है। इसलिए 'पुहुप' शब्द अधिक होने से यहाँ अधिक-पदत्व-दोष हुआ।

(६) अश्लीलत्व-दोष

अश्लील शब्द का प्रचलित अर्थ है—गन्दा। इसमें तीन भावों का समावेश है—(१) जिससे लज्जा उत्पन्न हो ; (२) जिससे घृणा उत्पन्न हो ; (३) जिससे अशुभ या अमंगल की सूचना मिले। यह दोष शब्द और वाक्यार्थ दोनों में सम्भव है। लज्जाजनक उदाहरण प्रायः वे ही देखे जाते हैं, जहाँ स्त्री-पुरुषों के गुप्तांगों का नाम-निर्देश या विशेष वर्णन पाया जाता है। घृणास्पद उदाहरण प्रायः वे ही होते हैं, जहाँ मल-मूत्र, वमन, थूक, अधोवायु आदि का वर्णन रहता है (वीभत्स रस का वर्णन जहाँ हो रहा होगा, वहाँ यह दोष नहीं माना जायगा।) जहाँ मृत्यु तथा अमंगलसूचक शब्दों का प्रयोग हो, वहाँ यह दोष माना जाता है (करुण रस के प्रसंग में यह दोष नहीं माना जायगा)।

उदाहरण

लज्जाजनक

पर-उपकार त्याग का सच्चा
तरुवर पाठ पढ़ाते हैं।
दन्ड-प्रहार चून (आम) में करके।
सुन्दर फल सब पाते हैं।

घृणाजनक

मदिरा पीना आपने समझ लिया था पाप।
लगे थूक कर चाटने इतनी जल्दी आप॥

अमंगलजनक

हत्यारी है चितवन प्यारी तुम्हारी।
इसी ने तो है मेरा खून किया॥

उपरोक्त उदाहरणों में रेखांकित शब्द अश्लीलत्व-दोष को प्रकट करते हैं।

(७) निहित-दोष

जहाँ किसी शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग हो।

उदाहरण— "विषमय यह गोदावरी अमृत के फल देति।
केसव जीवनहार के दुःख असेस हरि लेति।"

यहाँ विष और जीवन शब्द का प्रयोग जल के अर्थ में हुआ है जो अधिक प्रसिद्ध नहीं है (लेकिन यदि काव्य में प्रसंग ही ऐसा हो कि किसी को कोई बात छिपा कर कहनी हो तो वहाँ यह दोष गुण हो जायगा)।

संदिग्धत्व-दोष

यह दोष वहाँ होता है, जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ हो जो वांछित और अवांछित दोनों प्रकार के अर्थ देता हो।

उदाहरण— 'या गिरि पर सुग्रीव नृप ता सँग मन्त्री चारि।
बानर लई छिड़ाइ तिय लीन्हों बालि निकारि ॥"

यहाँ शब्दों से ऐसा अवांछित अर्थ भी निकलता है कि किसी बन्दर ने स्त्री को छीन लिया और बालि को निकाल दिया।

(९) क्लिष्टत्व-दोष

यह दोष वहाँ माना जाता है, जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया हो जिनका अर्थ बड़ी कठिनता से खुले।

उदाहरण वेद नखत गृह जोरि अरध करि सोई बनत अब खात"—सूर।
वेद—४ + नखत—२७ + गृह—९ = ४० ÷ २ = २० (बीस) = विष।

गोपियाँ कहती हैं कि कृष्ण के विरह में अब हम विष खाती हैं, किन्तु कितनी कठिनता से यह अर्थ निकलता है।

(१०) ग्राम्यत्व-दोष

जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग काव्य में किया जाय जो सभ्य व्यक्तियों के व्यवहार में नहीं आते और जिनका प्रयोग केवल अशिक्षित या ग्रामीण पुरुष ही करते हैं, वहाँ यह दोष होता है। साहित्य में निरन्तर प्रयोग होते रहने पर इनका ग्रामीणपन धुल भी जाता है।

उदाहरण— "पड़े झटोले पै रहे नींद न आई राति।

रेखांकित शब्द ग्राम्य-प्रयोग है। इसका अर्थ है—टूटी खाट। इसी प्रकार यदि काव्य में 'गाल' शब्द का प्रयोग किया जाय तो वह भी ग्राम्यत्व-दोष के अन्तर्गत आयेगा। साहित्य में 'गाल' के लिए 'कपोल' शब्द का व्यवहार होता है।

(११) श्रुतिकटुत्व-दोष

जहाँ श्रृंगारादि कोमल रसों में कानों को अप्रिय लगने वाले परुष वर्णों का प्रयोग किया गया हो, वहाँ श्रुतिकटुत्व-दोष माना जाता है।

उदाहरण— "कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता।
पर क्या न विषयोत्कृष्टता लाती विचारोत्कृष्टता।।

उपरोक्त उदाहरण में रेखांकित शब्द कर्णकटु हैं। (रौद्र या वीर रस के वर्णन में ऐसे शब्द दोष नहीं माने जायेंगे।)

(११) समाप्त पुनरात्तता

जहाँ वाक्य समाप्त हुआ सा लगे, किन्तु उसके बाद में भी छूटे हुए विशेषणादि रख कर वाक्य को पुनः बढ़ाने की चेष्टा की जाय, वहाँ यह दोष माना जाता है।

उदाहरण— "ब्रह्मादि देव जब विनय कीन्ह।
तट छीर सिन्धु के परम दीन॥"

वाक्य 'सिन्धु के' पर समाप्त हुआ सा लगता है, किन्तु 'परम दीन' द्वारा वाक्य को आगे बढ़ाया गया है।

## अर्थदोष

(१) पुनरुक्ति-दोष

जहाँ भिन्न-भिन्न शब्दों या वाक्यों द्वारा एक हो अर्थ की प्रतीति हो, वहाँ यह दोष माना जाता है। यह दोष अर्थगत है क्योंकि एक से दो शब्द देख कर ही हम यह दोष नहीं बता सकते जब तक यह विश्वास न हो जाय कि दोनों शब्दों का अर्थ भी एक ही हो।

उदाहरण— "जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना।
जहँ कुमति तहँ विपति निदाना॥"

चूँकि पहली पंक्ति दूसरी पंक्ति का भी अर्थ देती है। इसलिए दूसरी पंक्ति व्यर्थ है।

(२) दुष्क्रमत्व-दोष

सांसारिक या शास्त्रीय नियमों के अनुसार कार्यों का जो क्रम मान्य होता है एवं जहाँ काव्य में उसका उल्लंघन मिले, वहाँ यह दोष होता है।

उदाहरण— "मारुत नन्दन मारुत को मन को खगराज को वेग लजाओ।"
—'तुलसी'

यहाँ शब्द गति के उत्तरोत्तर उत्कर्ष को व्यक्त नहीं करते, उसमें व्यतिक्रम हो गया है। वास्तव में उचित क्रम इस प्रकार होगा—खगराज, मारुत, मन। परन्तु यहाँ क्रम अशुद्ध और लोक तथा शास्त्र-विरुद्ध है; यथा, मारुत, मन, खगराज। गरुड़ चूँकि मन से अधिक तीव्रगामी नहीं होता, अतः उसे मन से पहले आना चाहिए था।

(३) व्याहत-दोष

जिसका महत्व वर्णित किया गया है, उसी का यदि तिरस्कार दिखाया जाय तो व्याहत-दोष माना जायेगा। इसी प्रकार तिरस्कृत का सम्मान दिखाना ही दोष है।

उदाहरण— "दानी दुनिया में बड़े, देत न धन जन-हेत।"

यहाँ पहले दानियों की प्रशंसा और फिर बुराई है।

(४) प्रसिद्धिविरुद्ध-दोष

जो वस्तु लोक में जिस रूप में प्रसिद्ध हो, उसके विरुद्ध वर्णन करने से यह दोष माना जायेगा।

उदाहरण— "हरि दौड़े रण में लिए कर में धन्वा बाण।"

लोक में प्रसिद्ध है कि कृष्ण चक्र धारण करते हैं, बाण नहीं। अतः यहाँ यह दोष है।

## रसदोष

(१) स्वशब्द वाच्यत्व-दोष

वह काव्य उत्कृष्ट कोटि का माना जाता है, जहाँ भाव व्यंग्य होते हैं, लिखित नहीं। जहाँ वर्णन के द्वारा भाव-उद्‌बोधन करके उसका नाम ही लिख दिया जाय, वहाँ यह दोष होता है।

उदाहरण-- "कौशल्या क्या करती थी, क्या कुछ धीरज धरती थी।'

यहाँ धीरज संचारीभाव व्यंग्य नहीं है बल्कि उसका नामोल्लेख कर दिया गया है।

(२) अकाण्ड कथन

जहाँ प्रस्तुत को छोड़ कर अप्रस्तुत रस का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाय, वहाँ यह दोष माना जाता है।

(३) अंग-वर्णन

जहाँ किसी ऐसे रस का वर्णन किया जाय जिससे प्रधान रस को कुछ लाभ न हो, वहाँ यह दोष माना जाता है। (उपरोक्त दोष नं० २ और ३ का प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत होना ही सम्भव है।)

---

## अध्याय १४

# हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण

सृष्टि के उषाकाल में जब मानव ने सर्वप्रथम अपनी आँखें खोली होंगी तब उसने अपने आपको प्रकृति की वैभवपूर्ण गोद में पाया होगा। अपने चतुर्दिक प्रकृति के इस महान् और अक्षय वैभव को देखकर मानव सभ्यता के शैशव में अपनी तुतली भाषा में मनुष्य ने जो विस्मय प्रकट किया है, उसे आज भी सामवेद अपने अन्तर में सुरक्षित रखे हुए है। प्रकृति के सूर्य, चन्द्र, पुष्प, पादप, सर, गिरि, सरिता, वर्षा, इन्द्रधनुष, चन्द्रमा और उसकी शीतल चन्द्रिका मनुष्य के उसके जीवनारम्भ से साथी रहे हैं। अपरिचित अवस्था में जहाँ उसने इन्हें देखकर आश्चर्य प्रकट किया, उसकी वाणी जिज्ञासात्मक रही है। वहाँ परिचित होने पर उसने प्रकृति से प्रेम भी किया है। प्रकृति तो उसके जीवन के अणु-परमाणुओं में रम गयी है—उसकी आत्मा में गहरी होकर बैठ गयी है। साहित्य मनुष्य की आत्मा की अभिव्यक्ति ही है, अतः वह प्रकृति से अछूता कैसे रह सकता है? प्रसन्नता की अवस्था में मनुष्य प्रकृति को हँसता हुआ और दुःख की अवस्था में उदास देखता है। प्रकृति मनुष्य को कभी-कभी अपनी ही भाँति सजीव लगने लगती है, जैसा प्रसादजी 'कामायनी' में एक स्थान पर कहते हैं—

"—मांसल सी आज हुई थी हिमवती प्रकृति पाषाणी।"

इतना ही नहीं, मनुष्य प्रकृति से अपने जीवन के लिए उपदेश भी ग्रहण करता है और अधिक सभ्य होने पर प्रकृति में सजीवता के साथ-साथ एक असीम सत्ता या असीम चेतना का प्रतिबिम्ब भी देखता है। इसके अतिरिक्त सुन्दरता के लिए प्रकृति से कवि उपमान भी लेता है। यदि काव्य से प्रकृति को अलग कर दिया जाय तो उसका सौंदर्य-कोष लगभग रिक्त ही हो जायगा। मनुष्य प्रकृति से सौंदर्य ही नहीं, सौन्दर्य की भावना भी ग्रहण करता है। वह उससे प्रेरणा भी ग्रहण कर सकता है। पन्तजी तो स्पष्टतः यह स्वीकार करते हैं कि काव्य-प्रेरणा के लिए वे प्रकृति के ऋणी हैं। एक स्थान पर वे लिखते हैं—

"—कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है,

जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घन्टों एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक सौंदर्य का जाल बुन कर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँख मूँद कर लेटता था तो वह दृश्यपट चुपचाप मेरी आँखों के सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज में दूर तक फैली, एक के ऊपर एक उठी, ये हरित नील धूमिल कूर्माचल की छायांकित पर्वत-श्रेणियाँ, जो अपने शिखरों पर रजतमुकुट हिमाचल को धारण किये हुई हैं और अपनी ऊँचाई से आकाश की अवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाये हुए हैं, किसी मनुष्य को अपनी महान् नीरव सम्मोहन के आश्चर्य में डुबा कर कुछ काल के लिए भुला सकती हैं।''

पन्तजी यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रकृति केवल काव्य-प्रेरणा ही नहीं, काव्य के विषय भी देती है।

प्राचीन हिन्दी-साहित्य तथा संस्कृत-साहित्य में भी अधिकांश प्रकृति का का वर्णन उद्दीपनरूप में ही मिलता है, आलम्बनरूप में नहीं। वाल्मीकि और कालिदास उपरोक्त कथन के अपवाद हो सकते हैं।

काव्य का अन्तिम उद्देश्य है—रस-निष्पत्ति। इसलिए शास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रकृति रतिभाव का आलम्बन नहीं हो सकती। वह केवल दो व्यक्तियों की प्रेम-भावनाओं को उद्दीप्तमात्र कर सकती हैं और इस प्रकार उन्हें रस की कोटि तक पहुँचाने में सहायकमात्र हो सकती है। इसी विशेष दृष्टिकोण के कारण प्राचीन समय के साहित्य में प्रकृति का चित्रण उद्दीपनरूप में ही अधिक मिलेगा। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल प्रकृति को आलम्बनरूप में चित्रित करने के बड़े समर्थक थे। वे केवल उद्दीपन-रूप में प्रकृति-चित्रण को हृदयहीनता कहते हैं। शुक्लजी तो इतने भावुक व्यक्ति थे कि वे ऊसर या पटपर में भी कविता देखते थे।

हिन्दी काव्य में कितने रूपों में प्रकृति का चित्रण हुआ है, यहाँ इसके वर्गीकरण का प्रयत्न किया जायगा। हिन्दी प्रकृति-चित्रण मुख्यतः दो रूपों में मिलता है--

(१) प्रस्तुत रूप में ; (२) अप्रस्तुत रूप में।

आचार्य शुक्ल के अनुसार प्रस्तुत रूप में भी प्रकृति-चित्रण दो प्रकार का मिलता है—

(१) अर्थग्रहणमात्र ; (२) बिम्बग्रहणमात्र ;

इसी प्रकार अर्थग्रहणमात्र को दो रूपों में बाँटा जा सकता है—

(१) नाम परिगणनात्मक ; (२) शुद्ध प्रकृति-चित्रण।

बिम्बग्रहण रूप में प्रकृति-चित्रण के चार रूप मिलते हैं—

(१) शुद्ध प्रकृति-वर्णन ;

(२) पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति-चित्रण ;

(३) मानवीकरण के रूप में प्रकृति-चित्रण ;

(४) अलंकृतरूप में प्रकृति-चित्रण ।

प्रकृति-चित्रण का अप्रस्तुत भेद भी चार भागों में विभाज्य है—

(१) उद्दीपनरूप में प्रकृति-चित्रण ;

(२) रहस्यवाद के रूप में प्रकृति-चित्रण ;

(३) अलंकाररूप में प्रकृति-चित्रण ;

(४) उपदेश के रूप में प्रकृति-चित्रण ।

प्रतीकरूप एवं दूतरूप में भी प्रकृति का चित्रण हिन्दी में मिलता है।

अब प्रत्येक भेद को उदाहरण देकर स्पष्ट करना उचित होगा ।

### (अ) प्रस्तुत रूप में प्रकृति-चित्रण

जैसा पहले कहा जा चुका है कि आलम्बन या प्रस्तुत रूप में प्रकृति का चित्रण प्राचीन समय में नहीं मिलता । हिन्दी के प्रचीन कवियों में 'सेनापति' में अवश्य प्रकृति के प्रति कुछ ममत्व दिखाई देता है । यद्यपि यह भी सत्य है कि 'सेनापति' रीतिकालीन बन्धनों से मुक्त भी नहीं हैं । प्रकृति का चित्रण उन्होंने भी प्रायः उद्दीपन-रूप में ही किया है, किन्तु उनके प्रकृति-चित्रण से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—

(१) 'सेनापति' का प्रकृति-निरीक्षण अन्य रीतिकालीन कवियों की तुलना में अधिक विस्तृत और गम्भीर है ।

(२) रीतिकालीन बन्धनों में से भी सेनापति के हृदय में प्रकृति-चित्रण का प्रेम स्पष्ट प्रकट हो जाता है ।

निम्नांकित उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

सेनापति द्वारा क्वार के बादलों का सुन्दर चित्रण—

"— रजत से राजत हैं पूरब कौं भाजत हैं,
गग-गग गाजत हैं, गगन घन क्वार के ।"

इसी प्रकार शरद ऋतु का सुन्दर वर्णन—

"—पाउस निकास, ताते पायो अवकास,
भयो जोन्ह को प्रकास सोभा अति रमनीय कौं ।
विमल अकास होत वारिज विकास,
सेनापति फूले काम हित हंसन के हिय कौं ।
छिति न गरद मानो रंगे हैं हरद,
सालि सोहत जरद को मिलावै हरि पीय कौं ।
मत्त है दुरद मिट्यो खंजन दरद,
ऋतु आई है सरद सुखदाई सब जीय कौं ।"

'को मिलावै हरि पिय कौं' वाक्य ध्यान देने योग्य है । यदि यह वाक्य उपर्युक्त कवित्त में न होता तो यह कवित्त आलम्बनरूप में प्रकृति-चित्रण का सुन्दर उदाहरण

हो सकता था। केवल इस पंक्ति के कारण शास्त्रीयरूप से यह उद्दीपन रूप में ही प्रकृति-चित्रण माना जायगा, किन्तु उपरोक्त कवित्त प्रस्तुत रूप में प्रकृति-चित्रण के उदाहरण-स्वरूप इसलिए रखा गया है क्योंकि उपरोक्त कवित्त में रेखांकित पंक्ति किसी महत्व-पूर्ण भाव को व्यक्त नहीं करती, वह 'रीति' का पालन भर है। कवि का हृदय वास्तव में उपरोक्त रेखांकित पंक्ति के साथ न होकर प्रकृति के ही साथ है।

## विम्बग्रहणमात्र

### (१) शुद्ध प्रकृति-वर्णन

शुद्ध प्रकृति-वर्णन वहाँ माना जायगा जहाँ कवि इतिवृत्तात्मक प्रणाली में प्रकृति-वर्णन करता है। ऐसे प्रकृति-वर्णन में कवि तटस्थ होकर प्रकृति का वर्णनमात्र कर देता है—

"—स्वर्णशालियों की कलमें थीं दूर दूर तक फैल रहीं।
शरद इन्दिरा के मन्दिर की मानो कोई गैल रही॥"

—'प्रसाद'

तथा

"—सायंकाल गिरे दिनेश कर की लाली मनमोहिनी,
होती है तब दिव्य वारिनिधि की क्या ही छटा सोहिनी,
झागों से विशदाभ रक्त छवि पा ऊँची तरंगावली,
आती है अति दूर से फिर वहीं जाती वहाँ है चली।"

इसी प्रकार 'प्रियप्रवास' के आरम्भ में किया गया प्रकृति-चित्रण भी शुद्ध प्रकृति-चित्रण का उदाहरण कहा जा सकता है—

"—दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला,
तरुशिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा।
विपिन बीच विहंगम वृंद का,
कल निनाद विवर्धित था हुआ,
ध्वनिमयी विविधा विहंगावली,
उड़ रही नभमंडल मध्य थी।
अधिक और हुई नभ लालिमा,
दश दिशा अनुरंजित हो गई,
सकल पादप पुंज हरीतिमा,
अरुणिमा विनमज्जित सी हुई।
अचल के शिखरों पर जा चढ़ी,
किरण पादप शीश विहारिणी,

तरणि बिम्ब तिरोहित हो चला,
गगनमंडल मध्य शनैः शनैः ।"

—'हरिऔध'

(२) पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति-चित्रण

विशुद्ध रूप में किये गये प्रकृति-चित्रण और पृष्ठभूमि के रूप में किये गये प्रकृति-चित्रण में अन्तर केवल इतना ही है कि विशुद्ध रूप में किये गये प्रकृति-चित्रण का कोई विशिष्ट प्रयोजन न होकर प्रकृति-चित्रण ही प्रयोजन होता है, किन्तु पृष्ठभूमि के रूप में किया गया प्रकृति-चित्रण सप्रयोजन तथा सार्थक होता है। वह आगे आने वाली घटनाओं की पृष्ठभूमि तैयार करता है, इसलिए वह शुद्ध न होकर मानवीय भावों की छाया से युक्त रहता है।

'वैदेही वनवास' में ऐसा ही प्रकृति-चित्रण वहाँ मिलता है, जहाँ राम और सीता सानन्द दिखाये गये हैं, लेकिन सीता के वन-प्रवास की घटना घटित होने को है, उससे पूर्व शान्त प्रकृति में अचानक अप्रत्याशित परिवर्तन दिखाई देता है और अमंगल की छाया प्रकृति-चित्रण के रूप में स्पष्ट और घनीभूत होने लगती है—

"—थी सब ओर शान्ति दिखलाती, प्रकृति नटी नर्तनरत थी।
फूली फिरती थी प्रफुल्लता उत्सुकताति तरंगित थी॥
उसी समय बढ़ गया वायु का वेग क्षितिज पर दिखलाया।
एक लघु जलद खण्ड पूर्व में जो बढ़ वारिद बन पाया॥" —'हरिऔध'

'कामायनी' के प्रारम्भ में किया गया प्रकृति-चित्रण भी शुद्ध न मानकर पृष्ठ-भूमि के रूप में ही माना जायगा क्योंकि वहाँ प्रकृति-चित्रण का एक विशिष्ट उद्देश्य है और उसके द्वारा मनु की आन्तरिक दशा (मनोव्यथा) को स्पष्ट करने का प्रयत्न भी स्पष्ट परिलक्षित होता है।

मनु का हृदय उदास है और प्रकृति के चित्रण के द्वारा 'प्रसादजी' उसे स्पष्ट करते हैं—

"—हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय प्रवाह।
नीचे जल था ऊपर हिम था,
एक तरल था एक सघन;
एक तत्व ही की प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन।
दूर-दूर तक विस्तृत था हिम,
स्तब्ध उसी के हृदय समान;

नीरवता-सी शिला चरण से,
टकराता फिरता पवमान।

× × ×

उसी तपस्वी से लम्बे थे
देवदारु दो-चार खड़े;
हुए हिमधवल जैसे पत्थर
बनकर ठिठुरे रहे अड़े।"

अन्त में जब हृदय से निराशा दूर हो जाती है और वे 'नभ के शाश्वत गानों' में जीवित रहना चाहते हैं तो वे उनके इस हृदय-परिवर्तन का आभास पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति-चित्रण द्वारा पहले से ही दे देते हैं—

"—ऊषा सुनहले तीर बरसती
जयलक्ष्मी सी उदित हुई;
उधर पराजित काल रात्रि भी
जल में अन्तर्निहित हुई।
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का
आज लगा हँसने फिर से;
वर्षा बीती हुआ सृष्टि में
शरद विकास नये सिर से।

× × ×

धीरे-धीरे हिम आच्छादन
हटने लगा धरातल से!
जगी वनस्पतियाँ अलसाई
मुख धोती शीतल जल से।
नेत्र निमीलन करती मानो
प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने;
जलधि लहरियों की अँगड़ाई
बार-बार जाती सोने।"

### (३) मानवीकरण के रूप में प्रकृति-चित्रण

मानवीकरण के रूप में प्रकृति-चित्रण छायावादी युग की विशेषता है जिसमें प्रकृति में भी मानवीय भावनाओं का आरोप कर लिया जाता है।

पन्तजी छाया को देखकर उससे मानवी की भाँति बातें करने लगते हैं—

"—अरे कौन तुम दमयन्ती-सी हो तरु के नीचे सोई?
हाय! तुम्हें क्या छोड़ गया अलि नल-सा निष्ठुर कोई।"

'प्रसादजी' द्वारा 'कामायनी' में रात्रि का मानवी के रूप में प्रस्तुत किया गया रूप भी मानवीकरण के रूप में प्रकृति-चित्रण का सुन्दर उदाहरण है—

मनु रात्रि से पूछते हैं—

"—किस दिगंत रेखा में इतनी
संचित कर सिसकी-सी साँस,
यों समीर मिस हाँफ रही-सी
चली जारही किसके पास ?
विकल खिलखिलाती क्यों तू ?
इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर;
तुहिन कणों, फेनिल लहरों में,
मच जावेगा फिर अंधेर;
घूँघट उठा देख मुस्क्याती
किसे, ठिठकती-सी आती;
विजन गगन में किसी भूल सी,
किसको स्मृति-पथ में लाती।"

मनु रात्रि को उसकी अबोधता और असावधानता के लिए सचेत करते हैं—

"—पगली हाँ संभाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल;
देख बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली !
देख अकिंचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली भाली।"

—'प्रसाद'

'निराला' द्वारा प्रस्तुत संध्या का यह मानवीकृत रूप भी मानवीकरण का सुन्दर उदाहरण है—

"—दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या सुन्दरी परी-सी
धीरे, धीरे, धीरे,
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर—
किन्तु जरा गम्भीर—नहीं है उसमें हास-विलास

हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले बालों से,
हृदय राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।
अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली,
सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह
छाँह सी अम्बर-पथ से चली।
नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग आलाप
नूपुरों में भी रुनझुन-रुनझुन नहीं;
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप, चुप, चुप !"
है गूँज रहा सब कहीं—
व्योम मंडल में जगती तल में।"

—'निराला'

पन्तजी द्वारा प्रस्तुत गंगा का मानवीकृत रूप—

"—सैकत शैया पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रान्त क्लान्त निश्चल।
तापस बाला-सी गंगा कल, शशिमुख से दीपित मृदु करतल,
लहरें उर पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी है वर्तुल मृदुल लहर।"

—पन्त

इसी प्रकार 'निरालाजी' की 'जुही की कली' हिन्दी में मानवीकरण के रूप में प्रकृति-चित्रण का उत्कृष्ट उदाहरण है—

"—विजन-वन-वल्लरी पर सोती थी सुहाग भरी
स्नेह-स्वप्नमग्न कोमल-तन-तरुणी जुही की कली
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में।"

मानवीकरण के रूप में प्रकृति-चित्रण के द्वारा तो छायावादी साहित्य भरा पड़ा है।

### (४) संवेदनात्मक रूप में प्रकृति-चित्रण

जहाँ व्यक्ति प्रकृति को अपने दुःख से दुःखी और अपने सुख से सुखी देखता है, उस प्रकृति-चित्रण को संवेदनात्मक रूप में प्रकृति-चित्रण ही माना जायेगा।

कामायिनी (श्रद्धा) का हृदय दुःख से भरा है, इसलिए उसे प्रकृति भी दुःखपूर्ण तथा निरानन्द प्रतीत होती है—

"—आज सुनूँ केवल चुप होकर कोकिल चाहे जो कहले।
अब न परागों की वैसी है, चहल-पहल जो थी पहले॥
इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की सन्ध्या।
कामायिनि तू हृदय कड़ा कर, धीरे-धीरे सब सहले॥" —'प्रसाद'

इसी प्रकार 'प्रियप्रवास' में एक बाला के मुख से कहलायी गयी निम्नांकित पंक्तियाँ सम्वेदनात्मक रूप में प्रकृति-चित्रण का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं—

"—आके जूही निकट फिर यों बालिका व्यग्र बोली
मेरी बातें तनक न सुनी पातकी पाटलों ने,
पीड़ा नारी हृदय तल की नारि ही जानती है
जूही! तू है विकच-वदना शान्ति तू ही मुझे दे।" —'हरिऔध'

अर्थग्रहणमात्र

### (५) नाम परिगणनात्मक रूप में प्रकृति-चित्रण

जहाँ प्रकृति की वस्तुओं के नाममात्र गिना दिये जाँय, वहाँ नाम परिगणनात्मक प्रकृति-चित्रण मानना चाहिए।

केशव की निम्नांकित पंक्तियाँ नाम परिगणनात्मक प्रकृति-चित्रण के उदाहरण-स्वरूप रखी जा सकती हैं क्योंकि इनमें केवल वृक्षों के नाम भर गिना दिये गये हैं—

"—तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर।"

× × ×

"—ऐला लता लवंग संग पुंगी फल सोहें।"

इसी प्रकार जायसी द्वारा लिखे निम्नांकित दोहे को भी नाम परिगणनात्मक प्रकृति-चित्रण के उदाहरण के रूप में रखा जा सकता है—

"—लवंग सुपारी जायफल, सब फर फिरे अपूर।
आसपास घन ईमली, औ घन तार खजूर"

'हरिऔध' द्वारा लिखित 'प्रियप्रवास' का नवम् सर्ग इसी पद्धति पर है। उसमें फलों, वृक्षों आदि के नाम भर गिनाये गये हैं।

### (आ) अप्रस्तुत रूप में प्रकृति-चित्रण :

### (१) उद्दीपनरूप में प्रकृति-चित्रण

प्रकृति में भावों को उद्दीप्त करने की भी प्रबल शक्ति है। काव्य में उद्दीपनरूप में प्रकृति-चित्रण को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) जहाँ संयोगावस्था में प्रकृति प्रेमी-प्रेमिकाओं के आनन्द की भावना को उदीप्त करने में सहायक होती है तथा (२) जहाँ प्रकृति विरहावस्था में विरहियों की विरह-भावना को उद्दीप्त करती है—

"—घन घमण्ड नभ गरजत घोरा,
प्रियाहीन डरपत मन मोरा ।"

—'तुलसी'

'सूर' की गोपिकाओं को प्रकृति की वे वस्तुएँ, जो कभी आनन्द देनेवाली थीं, अब जलाने वाली लगती हैं—

"—बिन गुपाल बैरिनि भईं कुंजें।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुंजें,
वृथा बहति जमुना खग बोलत वृथा कमल फूले अलि गुंजें,
पवन पानि घनसार सजीवन दधिसुत किरन भानु भईं भुंजें ।

—'सूर'

इसी प्रकार 'ग्वाल' कवि की एक नायिका प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं से देखिये कितनी परेशान हो गयी है—

"— मेरे मनभावन न आए सखी सावन में,
तावन लगी है लता लरजि लरजि कें।
बूंदें कभूँ रूदें, कभूँ धारें हिय फारें देया।
बीजुरीहू हारें हारी बरजि-बरजि कें ।
'ग्वाल' कवि चातकी परम पातकी सों मिलि,
मोरहू करत सोर तरजि-तरजि कें ।
गरजि गए जे घन गरजि गये है भला,
फिरि ये कसाई आए गरजि-गरजि कें।"

—'ग्वाल'

"—तिय तरसौंहे मन किए, करि सरसौंहें नेह।
धर परसौंहैं ह्वै रहे, भर बरसौंहें मेह।" —'बिहारी'

(२) अलंकाररूप में प्रकृति-चित्रण

जहाँ काव्य में उपमेय के सौन्दर्यवर्द्धन के लिए प्रकृति से उपमान लिये जाते हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा तथा रूपक आदि अलंकारों के रूपक में प्रकृति का चित्रण इसमें रहता है।

'कामायनी' में प्रसादजी द्वारा किया गया 'श्रद्धा' का रूप-वर्णन इस पद्धति का उत्कृष्ट उदाहरण है—

"—नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।

आह वह मुख ! पश्चिम के व्योम,
बीच जब घिरते हों घनश्याम,
अरुण रवि-मण्डल उनको भेद,
दिखाई देता हो छवि धाम।
या कि नव इन्द्रनील लघु शृंग,
फोड़कर धधक रही हो कान्त,
एक लघु ज्वालामुखी अचेत,
माधवी रजनी में अश्रान्त।
घिर रहे थे घुँघराले बाल,
अंस अवलम्बित मुख के पास।
नील घन शावक से सुकुमार,
सुधा भरने को विधु के पास।
और उस मुख पर वह मुसक्यान,
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुणा की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।"

उत्प्रेक्षा के द्वारा बिहारी प्रकृति का कैसा सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हैं—

"—सोहत ओढ़े पीतपट स्याम सलौने गात।
मनहु नीलमणि सैल पर आतप पर्यो प्रभात ॥"

रूपक अलंकार के द्वारा 'बिहारी' प्रकृति के कितने सुन्दर चित्र उपस्थित करते हैं—

"—रनित भृंग घटावली झरतदान मद नीर।
मन्द मन्द आवत चल्यो कुजरु कुंज समीर ॥
चुवत स्वेद मकरन्द कन तरु तरु तर विरमाय।
आवत दक्खिन देसते थक्यो बटोही बाइ ॥
रुक्यो साँकरे कुंज मग करत झाँझि झुकरातु।
मन्द-मन्द मारुत तुरंगु खूँदतु आवतु जातु ॥"

शरद् ऋतु में सुन्दरी नायिका का रूपक देखिये। यहाँ शरद की चन्द्र, चन्द्रिका, कुन्दकलिका, खंजन और कमल आदि में मुख, पटीर, पंक (चन्दन), दन्त, नेत्र, हाथ और चरण आदि स्त्री के अंगों का आरोप किया गया है—

"—आनन अमल चन्द्र चन्द्रिका पटीर पंक,
दसन अमन्द कुन्द कलिका सुढंग की।
खन्जन नयन, पदपानि मृदु कंजनि के,
मन्जुल मराल चाल चलत उमंग की।

कवि 'जयदेव' नग नखत समेत सोई,
ओढ़े चारु चूनरि नवीन नील रंग की,
लाज भरी आज वृजराज के रिझाइवे कों,
सुन्दरी सरद सिधाई सुचि अंग की ॥"
—'जयदेव'

(३) उपदेश के रूप में प्रकृति-चित्रण

मनुष्य जहाँ प्रकृति के असीम सौन्दर्य को निर्निमेष नेत्रों से देखता रहना चाहता है, वहाँ वह प्रकृति से शिक्षा भी ग्रहण करता है। तुलसी, श्रीधर पाठक, मैथलीशरण गुप्त आदि में उपदेश के रूप में प्रकृति-चित्रण भी मिलता है। रामचरितमानस तो इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण से भरा पड़ा है। एक उदाहरण लीजिये—

"—हरित भूमि तृण संकुलित, समुझि परै नहिं पंथ।
ज्यों पाखंड विवादतें लुप्त होंइ सद्ग्रन्थ ॥
महावृष्टि चलि फूटि कियारी। जिमि स्वतन्त्र होई विगरै नारी ॥
छुद्र नदी भरि चलि उतराई। ज्यों थोरेउ धन खल बौराई ॥
दामिनि दमकि रहीं घन माहीं। खल की प्रीति यथा थिर नाहीं ॥"

(४) रहस्यवाद के रूप में प्रकृति-चित्रण

मनुष्य कभी-कभी आनन्द-विभोर होकर प्रकृति के कण-कण में उस असीम और अनन्त सत्ता का आभास पाने लगता है। रहस्यवाद के रूप में प्रकृति-चित्रण प्राचीन कवियों में जायसी तथा आधुनिक कवियों में 'प्रसाद', 'पन्त', 'निराला', महादेवी वर्मा, राजकुमार वर्मा, आदि में मिलता है।

जायसी निम्नांकित पंक्तियों में प्रकृति-चित्रण के माध्यम से रहस्य की सृष्टि करते हैं—

"—देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा।
गा अँधियार रैन मसि छूटी। भा भिनसार किरन रवि फूटी।
अस्ति अस्ति सब साथी बोले। अन्ध जो अहे नैन विधि खोले।'

प्रसाद जी प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं में रहस्य का आभास पाते हैं—

"—विश्वदेव, सविता या पूषा
सोम, मरुत, चंचल पवमान;
वरुण आदि सब घूम रहे हैं,
किसके शासन में अम्लान ?
किसका था भ्रू भंग प्रलय-सा
जिसमें ये सब विकल रहे;

अरे प्रकृति के शक्ति चिह्न ये,
फिर भी कितने निबल रहे।

× × ×

महानील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह नक्षत्र और विद्युत कण
किसका करते से संधान।
छिप जाते हैं और निकलते,
आकर्षण में खिचे हुए;
तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए ?"

पन्तजी भी प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं में उस असीम उल्लास की प्रतिच्छाया देखते हैं—

"—एक ही तोषणीय उल्लास !
विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जल निधि में हरित विलास,
शान्त अम्बर में नील विकास,
वही उर-उर में प्रेमोच्छ्वास
काव्य में रस कुसुमों में बास;
प्रबल तारक पलकों में हास,
लोल लहरों में लास।"

पन्तजी की 'मौन निमंत्रण' कविता भी इस पद्धति की उत्कृष्ट रचना है—

"न जाने नक्षत्रों मिस कौन, निमंत्रण मुझको देता मौन।"

आज के युग की महादेवी वर्मा सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादिनी कवियित्री हैं। अतः रहस्यवाद के रूप में प्रकृति-चित्रण के उनकी रचनाओं से कितने ही सुन्दर उदाहरण दिये जा सकते हैं—

कवियित्री प्रकृति की वस्तुओं में उस अनन्त सत्ता (परम तत्व) के दर्शन करती हैं—

"—शून्य नभ में उमड़ जब दुःखभार-सी,
नैशतम में सघन छा जाती घटा,
बिखर जाती जुगनुओं की पाँति भी,
जब सुनहले आँसुओं के हार-सी,
तब चमक जो लोचनों को मूँदता
तड़ित की मुसकान में वह कौन है ?"

नक्षत्र और लहरें भी कवियित्री को पारलौकिक संकेत करते हैं—

"—कहते हैं नक्षत्र पड़ी हम पर उस माया की झाँई।
कह जाते ये मेघ हमीं करुणा की उनकी परछाई॥
वे मंथर सी लोल हिलोर फैला अपने अंचल छोर।
कह जातीं "उस पार बुलाता है हमको तेरा चित चोर॥"

प्रकृति के मादक वातावरण में कवियित्री उस असीम से संगीत सीखती है—

"—निशा को धो देता राकेश
चाँदनी में जब अलकें खोल;
कली से कहता था मधुमास
बतादे मधु मदिरा का मोल।
भटक जाता था पागल बात
धूल में तुहिन कणों के हार,
सिखाने जीवन का संगीत
तभी तुम आये थे इस पार।"

(इ) प्रतीक के रूप में प्रकृति-चित्रण

प्रतीकों का प्रयोग तो कबीर ने भी किया है और जायसी ने भी, किन्तु कबीर के प्रतीक प्राकृतिक वस्तुएँ नहीं हैं और जायसी के प्रतीक इतने निश्चित और मार्मिक नहीं हैं जितने आधुनिक छायावादी कविता में। प्रतीकात्मकता तो छायावाद की मुख्य विशेषताओं में से एक है। कुछ प्रसिद्ध प्रतीक जो छायावादी कविता में अत्यधिक प्रयोग होते हैं—

| | |
|---|---|
| अन्धकार | निराशा का प्रतीक |
| प्रकाश | आशा का प्रतीक। |
| उषा | आह्लाद और आशा का प्रतीक |
| दीपक | साधना का प्रतीक। |
| शलभ | प्रेमी का प्रतीक या व्याकुलता का प्रतीक। |
| बदली | करुणा की प्रतीक |

पं० रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि ये प्रतीक भावसाम्य के आधार पर निश्चित किये गये हैं।

महादेवी वर्मा की निम्नांकित पंक्तियों में देखिये कि प्राकृतिक पदार्थों का प्रतीकरूप में कैसा सुन्दर प्रयोग हुआ है—

"—नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ,

फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूं ।
एक होकर दूर तन से छांह वह चल हूं,
दूर तुम से हूं अखण्ड सुहागिनी भी हूं।"

इसी प्रकार नीचे बदली को करुणा के प्रतीक के रूप में महादेवी प्रयोग करती हैं—

"—मैं नीर भरी दु:ख की बदली
विस्तृत नभ का कोना कोना
कोई न कभी अपना होना ।"
× × ×
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली ।"

(ई) विशुद्ध आलम्बन के रूप में प्रकृति-चित्रण

विशुद्ध आलम्बन के रूप में प्रकृति-चित्रण आधुनिक युग (छायावादी युग) की ही विशेषता है। इस युग में प्रकृति के विभिन्न पदार्थों को आलम्बन मानकर कवियों ने स्वतन्त्र और सुन्दर रचनाएँ की हैं। प्राचीन समय में तो प्रकृति का वर्णन उद्दीपनरूप में केवल भावनाओं को उद्दीप्त करने के लिए किया जाता था। । ऐसा प्रतीत होता है कि तब उसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही कवि नहीं मानते थे।

'पन्तजी' आज के प्रमुख प्रकृति-प्रेमी कवि कहे जाते हैं। प्रकृति को आलम्बन मानकर लिखी गयी उनकी निम्नांकित कविता में प्रकृति का सुन्दर चित्र देखिये—

"—अब हुआ सांध्य स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण वस्तु से विश्वहीन ।
गंगा के चल जल में निर्मल
कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूंद चुका अपने मृदु दल।
लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर,
पड़ गई नील ज्यों अधरों पर ।
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर।
तरु शिखरों से वह स्वर्ण-विहंग,
उड़ गया खोल निज पंख सुभग।
किस गुहानीड़ में रे किस मग,
मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अंचल
नव नील-नील कोमल-कोमल
छाया तरुवन में तम श्यामल ।"

बादल को ही आलम्बन मानकर लिखी गयी पन्तजी की कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

"—सुरपति के हम ही हैं अनुचर
जगत्प्राण के भी सहचर,
मेघदूत की सजल कल्पना
चातक के चिर जीवनधर,
मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर
सुभग स्वाति के मुक्ताकर,
विहग वर्ग के गर्भ विधायक
कृषक बालिका के जलधर।

× × ×

स्वर्ण भृंग तारावलि वेष्टित,
गुंजित, पुंजित, तरल रसाल
मधु गृह से हम गगन पटल में,
लटके रहते विपुल विशाल।

× × ×

व्योम विपिन में जब वसन्त-सा
खिलता नव पल्लवित प्रभात,
बहते हम तब अनिल स्रोत में
गिर तमाल तम के से पात।

× × ×

हम सागर के धवल हास हैं
जल के धूम गगन की धूल,
अनिल फेन, ऊषा के पल्लव
वारि वसन वसुधा के मूल।
नभ में अवनि, अवनि में अम्बर
सलिल भस्म मारुत के फूल,
हम ही जल में थल, थल में जल
दिन के तम पावक के तूल।

× × ×

धूम धुंआरे काजर कारे
हम ही विकरारे बादर,
मदनराज के वीर बहादुर
पावस के उड़ते फणिधर,

चमक-झमक मय मंत्र वशीकर
छहर-घहर मय विष सीकर,
स्वर्ग सेतु से इन्द्रधनुष धर
कामरूप घन श्याम अमर।"

वादल को आलम्बन मानकर लिखी गयी युगप्रवर्तक कवि 'निराला'की निम्नांकित कविता पन्तजी की कविता की तुलना में देखिये—

"—झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर,
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर।
झर-झर-झर निर्झर-गिरि-सर में,
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में।
सरित-तड़ित-गति-चकित पवन में,
मन में, विजन-गहन कानन में—
आनन्द आनन में रव घोर कठोर—
राग अमर अम्बर में भर जिन रोर।"

"—अरे वर्ष के हर्ष
वरस तू वरस सरस रसधार।
पार ले चल तू मुझको,
वहा, दिखा मुझको भी निज
गर्जर भैरव संसार
उथल-पुथल कर हृदय—
मचा हलचल—
चल रे चल—
मेरे पागल वादल !
धँसता दलदल
हँसता है नद खल-खल
वहता, कहता कुलकुल, कलकल-कलकल
देख-देख नाचता हृदय
वहने को महाविकल-वेकल
इसी मरोर से इसी शोर से—
सघन घोर गुरु गहन रोर से
मुझे गगन का दिखा सघन वह छोर,
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर।"

प्रकृति का जो वैभव छायावादी काव्य में मिलता है, केवल इसी एक कारण से छायावादी काव्य अपनी पूर्व परम्परा के समक्ष गर्व से अपना सिर ऊँचा कर सकता

है। प्रकृति की ओर आज के युग के कवियों का ध्यान अधिक गया है और फलतः आलम्बनरूप में प्रकृति-चित्रण से आधुनिक काव्य भरा पड़ा है।

(उ) दूतरूप में प्रकृति-चित्रण

प्राचीन काल से प्रकृति के पदार्थों को कवि दूत के रूप में संदेश भेजने का कार्य करने के लिए प्रयुक्त करते रहे हैं। कविश्रेष्ठ कालिदास का 'मेघदूत' काव्य भी इसी आधार पर लिखा गया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी कवियों में 'सूर', 'नन्ददास' तथा 'सत्यनारायण' आदि ने भ्रमर को दूत के रूप में प्रयुक्त किया है। 'जायसी' की 'नागमती' ने भी एक परेवा के द्वारा अपना संदेश रत्नसिंह के पास भेजा था।

आधुनिक युग में 'प्रियप्रवास' में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने पवन से दूत का कार्य लिया है। इस प्रकार उनका यह पवनदूत, दूत के रूप में प्रकृति-चित्रण का सुन्दर उदाहरण है। राधा पवन के द्वारा अपना संदेश कृष्ण के पास भेजती हैं। उनके संदेश की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना असंगत न होगा। राधा पवन को सब बातें समझाती हुई कहती हैं—

"—ज्योंही मेरा भवन तज तू अल्प आगे बढ़ेगी।
शोभावाली अमित कितनी कुंज पुंजें मिलेंगी।
प्यारी छाया मृदुल स्वर से मोह लेंगी तुझे वे।
तो भी मेरा दुख लख वहाँ तू न विश्राम लेना।।
थोड़ा आगे सरस रव का धाम सत्पुष्प वाला।
लोने-लोने बहु द्रुम लतावान सौन्दर्यशाली।
प्यारा वृन्दाविपिन मन को मुग्धकारी मिलेगा।
आना जाना इस विपिन से मुह्यमाना न होना।।

× × ×

संलग्ना हो सुखद जल के श्रान्ति हारी कणों से।
ले के नाना कुसुमकुल का गंध आमोदकारी।
निर्धूली हो गमन करना उद्धता भी न होना।
आते-जाते पथिक जिससे पंथ में शान्ति पावें।।

× × ×

जो पुष्पों के मधुर रस को साथ आनंद बैठे।
पीते होवें भ्रमर-भ्रमरी सौम्यता तो दिखाना।
थोड़ा-सा भी न कुसुम हिले और न उद्विग्न वे हों।
क्रीड़ा होवे नहिं कलुषिता केलि में हो न बाधा।।"

यह तो नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति-चित्रण के और भेद होना अब सम्भव नहीं है किन्तु प्रकृति-चित्रण के उपरोक्त भेद अत्यन्त प्रमुख हैं। वैसे तो प्रकृति-चित्रण

की प्रणालियाँ इतनी अधिक हैं कि उनको भेदोपभेदों में सफलतापूर्वक बाँटना एक सरल कार्य नहीं है।

आधुनिक युग प्रकृति-चित्रण का स्वर्ण युग कहा जा सकता है क्योंकि आज आलम्बन के रूप में ही प्रकृति-चित्रण होता है। आज प्रकृति की एक स्वतन्त्र सत्ता मान ली गयी है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत पहले अपनी आलोचनाओं के द्वारा लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था कि प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण आलम्बन के रूप में होना चाहिए।

---

अध्याय १५

# शुक्लजी— निबन्धकार और आलोचक के रूप में

## शुक्लजी आलोचक के रूप में

हिन्दी में शुक्लजी का ऐतिहासिक महत्व भी है और साहित्यिक महत्व भी। ऐतिहासिक महत्व तो इसलिए कि जिस समय शुक्लजी ने लिखना प्रारम्भ किया उस समय तक हिन्दी में आलोचना और निबन्ध-साहित्य गर्व करने योग्य तो दूर, सन्तोष-जनक तक न था। शुक्लजी अपने ढंग के निबन्ध और आलोचना लिखने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति थे। साहित्यिक महत्व इसलिए कि उनकी रचनाएँ आज भी उसी मान और स्थान की अधिकारिणी हैं जिसकी वे अपने जन्म के समय थीं। समय के प्रभाव ने उनके रूप-रंग को धोकर फीका नहीं किया अपितु और भी उज्ज्वल किया है। शुक्लजी आज भी अपने विषय (निबन्ध आलोचना) के सर्वश्रेष्ठ लेखक माने जाते हैं। निबन्धकार और आलोचक के नाते शुक्लजी की विशेषताएँ केवल रूप-विषयक ही नहीं, वस्तु-विषयक भी हैं। शुक्लजी ने अपने गहन अध्ययन और मनन के के पश्चात् कुछ निश्चित सिद्धान्तों को जन्म दिया और अपने साहित्य में व्यावहारिक रूप में उनकी सर्वांगीण पुष्टि भी की। शुक्लजी का महत्व दो बातों में है—एक तो उन्होंने साहित्य की प्राचीन परम्परा को ग्रहण तो किया ही, उसे विकसित और प्रगतिशील भी बनाया। दूसरी बात उन्होंने अपने साहित्य में युगानुकूल तत्वों का सोत्साह सम्मिश्रण किया। शुक्लजी की भावपक्ष विषयक विशेषता को स्पष्ट करने के लिए प्रसिद्ध आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी के शुक्लजी विषयक कुछ वाक्यों को उद्धृत करना असंगत न होगा—

"—परन्तु इस युग की समीक्षा का पूर्ण परिपाक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यिक व्यक्तित्व में दिखाई पड़ा। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती समीक्षकों के समीक्षा-कार्यों का पूर्ण समाहार करके एक नये समीक्षादर्श का निर्माण किया, जिसमें युगानुरूप व्यापकता थी। नामावली या शब्द-संकेत उन्होंने पुरानी समीक्षा से ही लिये थे, पर व्याख्या करने में वे पूर्णत. नवीन थे।"

शुक्लजी के महत्वपूर्ण कार्य और उनकी असाधारण विद्वत्ता के विषय में वाजपेयीजी आगे लिखते हैं—

"—एक प्रकार से वे तुलसीदास के नये व्याख्याता सिद्ध हुए और इसी आधार पर उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र की भी नई ही रूपरेखा प्रस्तुत की। अर्थहीन और प्राणहीन शब्द-संकेतों को नया जीवन प्रदान किया और सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का अभिनव आकलन उपस्थित करके नई युग-चेतना को जन्म दिया। शुक्लजी अपने विस्तृत साहित्यिक अध्ययन के कारण संस्कृत कवियों की स्वच्छतर काव्य-भूमि पर भी गये थे। उन्होंने वाल्मीकि तथा कालिदास से काव्य-सौन्दर्य और विशेषत: उनके प्रकृति-वर्णन-सौन्दर्य की विस्तृत चर्चा की है। इस क्षेत्र में वे तुलसीदास के अनुयायी नहीं हैं। इसी प्रकार सैद्धान्तिक समीक्षा के नये पहलुओं का उद्घाटन भी शुक्लजी ने अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा किया है जो परम्परागत साहित्य-विवेचन से मेल नहीं खाता। उदाहरण के लिए, 'साधारणीकरण' की उनकी व्याख्या और काव्य में अभिधेयार्थ और व्यंग्यार्थ के सापेक्षिक महत्व पर उनके वक्तव्य द्रष्टव्य हैं। अँग्रेजी साहित्य के नये सैद्धान्तिक विवेचनों और परीक्षा-विधियों से वे परिचित थे और विभिन्न अवसरों पर उसका उल्लेख भी करते गये हैं। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि अंग्रेजी-साहित्य के उन्हीं समीक्षकों की उन्होंने चर्चा की है जो उनके पूर्व निरूपित आदर्शों के अनुरूप थे। × × × कहा जा सकता है कि शुक्लजी ने अपनी महान् उद्भावना-शक्ति और असंदिग्ध आचार्यत्व के अनुरूप जहाँ कहीं से जो कुछ भी साहित्यिक मर्म या तथ्य प्राप्त हो सका, उसका स्वच्छन्दतापूर्वक उपयोग किया।"

शुक्लजी का आलोचकरूप उनके हिन्दी-साहित्य के इतिहास, सूर, तुलसी तथा जायसी विषयक विस्तृत निबन्धों से स्पष्ट हो जाता है। शुक्लजी के सफल आलोचक होने में उनकी अन्य विशेषताओं का भी बहुत कुछ हाथ है। अत: उन पर विचार करना भी आवश्यक है—

(१) शुक्लजी की एक बड़ी विशेषता है—उनकी आलोचना का व्यवस्थित होना। शुक्लजी आलोच्य-विषय को कुछ निश्चित भागों में बाँट लेते हैं और फिर क्रमश: उन्हें अपनी आलोचना में स्पष्ट करते चले जाते हैं। उदाहरण के लिए, उनकी 'भ्रमर-गीत-सार' पर लिखी आलोचना देखी जा सकती है। इसमें उन्होंने विषय को दो भागों में विभाजित कर दिया है—(१) भावपक्ष ; (२) कलापक्ष। शुक्लजी सर्वप्रथम आलोच्य विषय के सामान्य पक्ष पर प्रकाश डालते हैं, तत्पश्चात् उसके विशिष्ट पक्ष पर। उदाहरण के लिए, उनकी 'पद्मावत' की भूमिका को लिया जा सकता है जिसमें प्रथम तो प्रेम की सामान्य पद्धतियों का उल्लेख किया और फिर मसनवी शैली की विशिष्टता को स्पष्ट किया है और साथ ही नागमती और पद्मिनी के प्रेम के विशिष्ट प्रकार पर भी प्रकाश डाला है।

(२) शुक्लजी की पैठ (Insight) बड़ी गहरी है, उनका मनन गम्भीर और विचार परिपक्व हैं। इसलिए किसी विषय की तह तक पहुँचने में उन्हें देर नहीं लगती। शुक्ल विषय की क्रमशः व्याख्या करते हैं और क्रमशः किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। शुक्लजी का निष्कर्ष उनकी स्पष्ट एवं विशद व्याख्या का स्वाभाविक परिणाम होता है, अचानक थोपा हुआ निर्णय नहीं।

(३) शुक्लजी की आलोचाएँ प्रायः विश्लेषण-प्रधान होती हैं, उसका मुख्य कारण यह है कि शुक्लजी लेखक के माध्यम से कृति तक नहीं पहुँचते अपितु कृति के माध्यम से लेखक तक पहुँचते हैं। शुक्लजी की आलोचना में न तो किसी की एकान्त प्रशंसा और न बुराई ही मिलेगी। उनकी आलोचना में गुण-दोषों का सम्यक् विवेचन मिलेगा।

(४) शुक्लजी अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं एवं धारणाओं के माध्यम से साहित्य को देखते हैं और इसी आधार पर किसी कृति का खण्डन या मण्डन करते हैं।

(५) शुक्लजी लोकधर्म के बड़े समर्थक थे। जो वस्तु लोकोपयोगी नहीं, चाहे फिर वह कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, शुक्लजी की दृष्टि में वह कुरूप ही रहेगी। शुक्लजी सुन्दरता के साथ दो बातें और पसन्द करते हैं—शील और शक्ति। शुक्लजी की दृष्टि में केवल वही चरित्रपूर्ण तथा अनुकरणीय है जो सौन्दर्य, शील एवं शक्तिसमन्वित हो। शक्ति तो राक्षसों में भी होती है किन्तु केवल शक्ति के कारण वे पूज्य एवं अनुकरणीय नहीं हैं। इसी प्रकार सौन्दर्य और शील भी शक्ति के अभाव में व्यर्थ हैं। यही कारण है कि तुलसी द्वारा कल्पित राम का शील, शक्ति तथा सौन्दर्यसमन्वित रूप शुक्लजी को सर्वाधिक पसन्द है। संक्षेप में, शुक्लजी की आलोचना का केन्द्र-बिन्दु है—लोकधर्म और उनकी आलोचना की परिधि जो शील, शक्ति और सौन्दर्य का स्पर्श करती हुई चलती है। शुक्लजी से पूर्व आलोचना-साहित्य में लोककल्याण के प्रति इतना सचेत कोई आलोचक नहीं रहा। साहित्य को जीवन से पृथक् निरपेक्ष रूप में देखने की परम्परा को शुक्लजी ने समाप्त कर दिया। जो कला लोककल्याणकारी नहीं, जीवन को उठाने वाली नहीं, उसे वे कला नहीं कहते। 'कला—कला के लिए' के अनुयायियों के लिए शुक्लजी सदैव एक 'मुँहतोड़ उत्तर' के रूप में हिन्दी-जगत में अमर रहेंगे।

(६) शुक्लजी ने स्वयं ही साहित्यिक सिद्धान्त स्थिर किये हैं और स्वयं ही व्यावहारिक आलोचनाएँ भी प्रस्तुत की हैं। उदाहरणार्थ, 'साधारणीकरण' के विषय में शुक्लजी का अपना मत था तथा रहस्यवाद के विषय में उनकी अपनी धारणा थी। शुक्लजी का विश्वास था कि अज्ञात के प्रति उत्सुकता तो हो सकती है पर प्रणयानुभूति नहीं और इसीलिए आज की रहस्यवादी एवं छायावादी कविताओं को वे पाखंड ही समझते रहे क्योंकि इनके विचार से वे कविताएँ अनुभूति-शून्य तथा केवल काल्पनिक

थीं। आध्यात्मिक सच्चाई का उनमें नितान्त अभाव था। लोकसंग्रही भावनाओं के अभाव के कारण वे इन कविताओं को भाव की दृष्टि से भी ऊँचा स्थान नहीं देते थे क्योंकि ये कविताएँ जीवन की वास्तविकता एवं विविधता से दूर केवल कल्पना-वैभव में पली तथा फलीफूली थीं। वे जीवन की धरती से अपना रस ग्रहण नहीं करती थीं अपितु कल्पना के आकाश में केवल वायु का (अव्यक्त तथा सूक्ष्म) सेवन कर ही किसी प्रकार अपना अस्तित्व बनाये रखने में प्रयत्नशील थीं। शुक्लजी साहित्य को चित्र-विचित्र कल्पनाओं का विचित्रालय (अजायबघर) नहीं मानते थे। वे तो उसे लोकधर्म का शिक्षालय मानते थे। इसलिए साहित्य में असामाजिक जीवन की कठोरता से दूर ये वायवी तत्व कभी-कभी उनके लिए असह्य हो जाते थे और वे क्रुद्ध होकर पाखण्ड-उदघाटन के लिए कभी-कभी इन पर कठोर व्यंग्य-वाण-वर्षा भी करते थे।

हिन्दी-साहित्य में शुक्लजी न केवल एक आलोचक अपितु आचार्य के रूप में भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। आलोचना के नये (स्वयं के) सिद्धान्त स्थिर कर उन्हें व्यावहारिक रूप उन्होंने दिया ही, इसके साथ-साथ युग-युग से स्वच्छंद बढ़ी चली आती भ्रांत धारणाओं पर भी उन्होंने तर्क-कुठार चलाया। शुक्लजी अलंकारों के सौन्दर्यहीन विस्तार और नायिका-भेद के समाज-विघातक प्रति-प्रसार को देखकर भी क्षुब्ध होते थे। शुक्लजी को उन लोगों पर हँसी आती थी जो स्वभावोक्ति को भी अलंकार मानते हैं। हर बात को अलंकार का नाम देना उन्हें पसन्द न था। 'अलंकार—अलंकार के लिए' के वे विरोधी थे, वे रस को ही काव्य की आत्मा मानते थे। कविता-कामिनी को रसरहित कर अलंकारों के भार से दबा देने के वे विरोधी थे। शुक्लजी ने जायसी, तुलसी एवं सूर की विस्तृत आलोचना करके इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि अलंकारों का उपयोग काव्य-सौन्दर्य के बढ़ाने के लिए किया जाना चाहिए। अलंकार स्वयं सौन्दर्य नहीं है—इस भ्रम को उन्होंने स्पष्ट कर दिया है। रसरहित काव्य में अलंकारों की भरमार को उन्होंने शव की शृंगार-सज्जा कहा है।

(७) साहित्यिक आलोचना ऐतिहासिक आधार पर करने का सूत्रपात सर्वप्रथम शुक्लजी ने ही किया। अब तक आलोचक 'तुलसी और बिहारी, 'केशव और तुलसी', 'सूर और केशव' आदि की तुलनात्मक आलोचना करके एक साहित्यिक भूल करते थे। विभिन्न काल की तुलना साहित्यिक न्याय कही भी नहीं जा सकती। शुक्लजी दो विभिन्न काल के कवियों की तुलना के विरोधी हैं। शुक्लजी का कथन है कि प्रत्येक कवि अपने युग से प्रभावित होता है। अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है; इसलिए यदि उसके साथ वास्तव में न्याय करना है तो उसके रचनाकाल की सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक एवं व्यक्तिगत परिस्थितियों का पूर्ण अध्ययन करना अत्यावश्यक है क्योंकि कवि सामाजिक प्राणी है। वह अपनी परम्पराओं और अपने वर्तमान दोनों से प्रभावित होता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। भक्ति के पद

तुलसी ने लिखे हैं, सूर ने लिखे हैं और भक्ति के पद सेनापति के भी मिलते हैं। भक्ति के दोहे बिहारी ने भी लिखे हैं तो क्या उपरोक्त सभी कवियों की तुलना सम्भव है। उत्तर स्पष्ट है—नहीं।

बिहारी के भक्ति-सम्बन्धी कुछ दोहों को लिया जाय—

"—कहो कुवत जग कुटिलता, तजौं न दीनदयाल।
दुखी होउगे सरल हिय बसत त्रिभंगी लाल॥
मोहि तुम्हें बाढ़ी बहस को जीतैं यदुराज।
अपने-अपने बिरद की दुहुन निबाहन लाज॥
जो अनेक पतितनु दयौ मोहूँ दीजै मोषु।
तो बाँधो अपने गुननु जो बाँधौ हो तोपु॥
जम करि मुख तरहरि परो यह धरि हरि चितलाय।
विषय तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुनगाय।"

यदि उपरोक्त दोहों की तुलना तुलसी के निम्नांकित दोहों से कर डाली जाय—

"—एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास।
एक राम-घनस्याम हित चातक 'तुलसीदास'॥
उपल बरसि गरजत तरज डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥
सुनि रे 'तुलसीदास' प्यास पपीहहिं प्रेम की।
परिहरि चारउ मास जो अँचवै जल स्वाति की॥"

तो यह तुलना उचित नहीं है और इसे साहित्यिक न्याय भी नहीं कहा जा सकता। उपरोक्त दोहों के आधार पर हम बिहारी और तुलसी की तुलना केवल इसलिये नहीं कर सकते कि यद्यपि दोहे दोनों ने लिखे हैं परन्तु बिहारी के काल की परिस्थितियों तथा तुलसी के युग की परिस्थितियों में आकाश-पाताल का अन्तर है। बिहारी की व्यक्तिगत जीवन-सम्बन्धी परिस्थितियाँ भी तुलसी से नितान्त भिन्न थीं। बिहारी अपने आश्रयदाता की आज्ञानुसार उसके मनोरंजन के लिए और उसके परिणामस्वरूप प्राप्त धन के लोभ से लिखते थे, परन्तु तुलसी से उनकी क्या समानता जिनका कविता के विषय में यह विचार था—

"—कीन्हें प्राकृत गुन गन गाना।
सिर धुन गिरा लागि पछिताना॥"

इसी प्रकार सेनापति की भक्ति-सम्बन्धी निम्नांकित पंक्तियों को देखकर उन्हें भक्त घोषित कर देना और उनकी तुलना किसी भक्त कवि से करना कहाँ तक उचित और न्यायसंगत होगा?

"—करम-करम करि करमन करि,
पाप करम न करि मूढ़ सीस भयो सेत है।"
तथा
"—आपने गुननि होंही निवहोंगो तो
होंही करतार—करतार तुम काहे को।"

बिहारी और सेनापति की पंक्तियाँ उनके वाग्वैचित्र्य को ही स्पष्ट करती हैं, भक्ति की भावना को नहीं। ये तो 'बात की करामात' दिखाने वाले कवि थे, शांतरस के गम्भीर सरोवर में आकंठमग्न होने वाले कवि नहीं।

शुक्लजी ने अपने से पूर्व की तुलना की इस अनुचित परम्परा को रोका और किसी कवि के वास्तविक महत्व प्रतिपादित करने के तर्क-सम्मत साहित्यिक मार्ग को खोजकर उसे प्रशस्त और परिष्कृत किया। शुक्लजी का कहना है कि एक ही समय की समान परिस्थितियों में उत्पन्न एवं एक ही वातावरण में रहने वाले दो कवियों की तुलना सम्भव है और ऊँच-नीच का निर्णय भी उनके विषय में दिया जा सकता है, परन्तु उपरोक्त बातों के असमान और भिन्न होने पर न तो तुलना ही सम्भव है और न युक्तियुक्त निर्णय ही।

(८) बुद्धि और हृदय का सुन्दर सामञ्जस्य शुक्लजी की रचनाओं में सदैव और सर्वत्र मिलता है। इसलिए शुक्लजी की आलोचना कभी भी स्तुतिमात्र नहीं होती है अपितु सदैव विश्लेषण तथा विवेचनप्रधान होती है। शुक्लजी लोककल्याण के लिए हृदय और बुद्धि का सामञ्जस्य साहित्य में आवश्यक समझते हैं क्योंकि यदि भाव बुद्धि द्वारा नियन्त्रित नहीं होंगे तो साहित्य एक अनर्गल प्रलाप हो जायगा और यदि बुद्धि हृदय के साथ असहयोग करके चलेगी तो साहित्य निष्प्राण और नीरस हो जायगा। अपनी पुस्तक 'चिन्तामणि' की भूमिका में शुक्लजी ने बुद्धि-हृदय-संयोग की बात स्पष्ट कर दी है। स्वयं शुक्लजी की आलोचना में जहाँ भावुकता का पुट मिलता है, वहाँ विषय को विभिन्न भागों में बाँट लेने की तथा वर्गीकरण की बौद्धिक प्रवृत्ति भी मिलती है। इसलिए शुक्लजी की आलोचना जहाँ स्पष्ट, व्याख्यात्मक एवं वैज्ञानिक होती है, वहाँ सरस और रोचक भी।

(९) शुक्लजी को साहित्य और साहित्य-शास्त्र के अतिरिक्त और कितने ही विषयों का अच्छा ज्ञान है—विशेषरूप से दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञानशास्त्र तथा संगीत-शास्त्र आदि का। इसीलिए साहित्य में इन शास्त्रों सम्बन्धी दोषों की ओर वे सदैव संकेत कर देते हैं और कहीं उनके (शास्त्रों के) द्वारा विशेष सौन्दर्य की सृष्टि होने पर उनकी प्रशंसा भी कर देते हैं। यदि पूछा जाय कि वह दूसरा विषय कौनसा है जिस पर शुक्लजी का अधिकार साहित्य के अतिरिक्त सबसे अधिक है तो इसका उत्तर होगा—दर्शनशास्त्र।

(१०) मार्मिक व्यंग्य शुक्लजी की आलोचना की बड़ी विशेषता है। शुक्लजी

व्यंग्य का प्रयोग अपनी आलोचनाओं में मुख्यतः दो रूपों में करते हैं—एक तो विशुद्ध हास्य के लिए, दूसरे विरोधी पर प्रहार करने के लिए। शुक्लजी के ये व्यंग्य उनकी सरलता, सहृदयता और विद्वत्ता के ही परिचायक हैं। शुक्लजी के व्यंग्य का एक उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा जहाँ शुक्लजी पक्के गानेवालों की शिष्ट खिल्ली उड़ाते हैं—

"—जब वे अपना मुख वृत्ताकार फाड़कर आ-आ करके विकल होते हैं तो बड़े बड़े आलसियों का भी धैर्य विचलित हो जाता है।"

इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है कि शुक्लजी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ समालोचक हैं। शुक्लजी हिन्दी समालोचना-साहित्य के लिए एक अमर वरदान के सदृश हैं।

अब शुक्लजी के निबन्धकाररूप पर भी कुछ विचार किया जाय। शुक्लजी जहाँ हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं, वहाँ निबन्धकार के नाते उनका नाम सर्वप्रमुख एवं सर्वप्रधान है। शुक्लजी से पूर्व हिन्दी में निबन्धों की उज्ज्वल परम्परा तो थी परन्तु वास्तव में निबन्ध-कला का समुचित विकास शुक्लजी से पूर्व नहीं हुआ था। इसलिए ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दोनों ही दृष्टियों से शुक्लजी का महत्व असाधारण है। 'हिन्दी का निबन्ध साहित्य—एक सर्वेक्षण' नामक निबन्ध मे श्री विजयशंकर मल्ल शुक्लजी के विषय में लिखते हैं—

"—द्विवेदी युग में विषय के वैविध्य के साथ ही विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ, लेखक और निबन्धकार साहित्य के क्षेत्र में आये। साहित्य को अपना विशेष क्षेत्र चुनने वाले तो बहुत हुए, पर उनके लेखों में अर्जित ज्ञान की पुनरावृत्ति तथा उपदेश की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के असंगृहीत आरम्भिक निबन्ध भी ऐसे ही हैं, पर बाद के निबन्धों में उनके अन्तःप्रयास से निकली विचारधारा है जो पाठकों को एक नवीन उपलब्धि के रूप में दिखाई पड़ी। साहित्य के क्षेत्र में इन्होंने लोकमंगल की भावना की प्रतिष्ठा नवीन और प्रभावपूर्ण ढंग से की। साहित्य ही पर नहीं, उसमें निहित विचारों और उन विचारों की प्रेरक सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों पर भी अपने ढंग से विचार किया। नैतिकता को शुक्लजी ने व्यावहारिक बनाया। रूढ़िवादी धार्मिक नैतिकता का खण्डन करके इन्होंने 'भावयोग' का महत्व दिखाया। यह कार्य स्वतन्त्र मस्तिष्क और भावुक हृदय के योग से ही सम्भव हुआ। इस प्रकार शुक्लजी ने अपने व्यक्तिगत प्रयास से मानव जीवन की उच्चता और उसमें छिपी नई सम्भावनाओं को दिखाया। उनके निबन्धों का सबसे अधिक महत्व इसी बात में है। श्री प्रतापनारायण मिश्र, भट्टजी और द्विवेदीजी सभी ने नैतिक उपदेश देने वाले शिक्षात्मक लेख भी लिखे। अन्तिम दो ने मनोविकारों पर भी लिखा, पर विचार की दृष्टि से उनमें वह वैयक्तिक प्रयास नहीं जिसके द्वारा पाठक को कोई नूतन उपलब्धि हो। 'लोभ' और 'क्रोध' पर द्विवेदीजी ने लिखा अवश्य, पर लिखा इसलिए कि लोग इनके अवगुणों से परिचित हो जाँय और इनसे

बचें। वही इन्द्रिय-निग्रह वाली पुरानी निषेधात्मक धार्मिक नैतिकता पर शुक्लजी कहते हैं कि 'मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में ही है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोवेगों को दूर करने का उपदेश घोर पाखण्ड है।' 'क्रोध' से बराबर बचने का उपदेश वे नहीं देते। उनके विचार से तो 'सामाजिक जीवन के लिए क्रोध की बड़ी आवश्यकता है।' उन्होंने 'लोभ' की आवश्यकता और उपयोगिता भी दिखाई है। 'लोभ' से बराबर बचने वाला तो जड़ हो जायगा। जन्मभूमि प्रेम के मूल में 'लोभ' ही है। इस तरह की बातें कह कर शुक्लजी एक व्यावहारिक दर्शन का साहित्य और जीवन से सुन्दर सामंजस्य स्थापित करना चाहते हैं। उनके मनोविकार सम्बन्धी और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना वाले निबन्धों में यह प्रवृत्ति सामान्य रूप से पाई जाती है। उनके निबन्धों की वास्तविक विशेषता यही है जो व्यक्ति-प्रधान निबन्धों की नहीं, विषय-प्रधान निबन्धों की विशेषता है।

उनके निबन्धों में गहन विचार-वीथियों के बीच-बीच में सरस भाव-स्रोत मिलते हैं। 'लोभ और प्रीत', 'करुणा' तथा 'श्रद्धा-भक्ति' जैसे निबन्धों में जगह-जगह उनकी तन्मयता देखने ही योग्य है। वैयक्तिकता प्रदर्शक संस्मरणात्मक संकेत, व्यंग्य विनोद के छींटे और कहीं-कहीं विषयान्तर भी उनके निबन्धों में मिलते हैं, पर प्रतिपाद्य विषय को वास्तव में वे कभी भूलते नहीं। उनकी विचारधारा निरन्तर प्रतिपाद्य विषय से नियन्त्रित होती है।

"—द्विवेदी युग की शास्त्रीय गद्य-शैली को एक नया रूप देकर शुक्लजी ने उसे बहुत ऊँचा उठा दिया। विषय के विश्लेषण और पर्यावलोचन की दृष्टि से इनमें वैज्ञानिक की सूक्ष्मता और सतर्कता दिखाई देती है और भावों को प्रेरित करने के विचार से पूरी सहृदयता के दर्शन होते हैं। इनके घनीभूत वाक्यों की ध्वनि दूर तक जाती है।"

उपरोक्त पंक्तियों में विद्वान् लेखक ने शुक्लजी के निबन्धकार रूप की भावपक्ष एवं कलापक्ष विषयक विशेषताओं को संक्षेप ही में व्यक्त करने का सफल प्रयास किया है।

अपनी निबन्ध-पुस्तक 'चिंतामणि' की भूमिका में शुक्लजी ने स्वयं स्पष्ट कर दिया है कि उनके निबन्ध हृदय और मस्तिष्क के समन्वय से प्रसूत हैं इसलिए शुक्लजी के निबन्धों का गठन वैज्ञानिक तथा प्रतिपादन भावुकतापूर्ण है। हिन्दी में मनोवैज्ञानिक विषयों, जैसे 'लोभ और प्रीत', 'श्रद्धा-भक्ति' तथा 'करुणा' आदि का गम्भीर विवेचन करने वाले शुक्लजी पहले लेखक हैं।

शुक्लजी ने केवल मनोवैज्ञानिक लेख ही नहीं लिखे हैं, विषय-प्रतिपादन की शैली की दृष्टि से शुक्लजी के निबन्धों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) आत्मव्यंजक निबन्ध;
(२) वर्णनात्मक निबन्ध;

(३) विचारात्मक निबन्ध और

(४) कथात्मक निबन्ध।

शुक्लजी के कथात्मक निबन्धों को भी दो भागों में बांट देना सम्भव है—

(१) विषयप्रधान निबन्ध और

(२) व्यक्तिप्रधान निबन्ध।

यद्यपि हिन्दी में शुक्लजी विचारप्रधान निबन्ध-लेखक के ही रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं किन्तु उनके 'व्यक्ति' की छाप उनके निबन्धों पर सर्वत्र मिलती है। वैसे तो शुक्लजी के निबन्ध विषयप्रधान ही अधिक हैं किन्तु कहीं-कहीं उनका 'व्यक्ति' विषय से अधिक प्रामुख्य पा जाता है। इस विषय में एक उदाहरण उनकी रचना से देना अप्रासंगिक न होगा—

"—रात्रि में विशेषतः वर्षा की रात्रि में भींगुरों और झिल्लियों की झंकार-मिश्रित चीत्कार का बँधा तार सुनकर मैं यही समझता था कि रात बोल रही है।"

इतना अवश्य है कि इस प्रकार के उदाहरणों की शुक्लजी में प्रचुरता नहीं है। जहां कहीं उनका हृदय भावशवलित हो जाता है, वहाँ शुक्लजी का 'व्यक्ति' विषय की अपेक्षा अधिक उभर उठता है।

प्रत्येक लेखक अपनी पूर्ण परम्परा का विकसित रूप होता है, अर्थात् वह अवश्य ही अपने पूर्ववर्ती लेखकों से प्रभावित होता है। भारतेन्दु युग निबन्धों का ही युग माना जाता है और उस काल के निबन्धों या निबन्धकारों की सबसे बड़ी विशेषता है—उनका तीखा व्यंग्य। शुक्लजी ने भारतेन्दुयुगीन व्यंग्य की परम्परा को अधिक विकसित एवं प्रखर किया है। व्यंग्य साहित्य में सजीवता का प्रतीक है और अपने जनक (लेखक) की सहृदयता एवं सजीवता का भी अनायास उद्घाटन कराते हैं। शुक्लजी की रचनाओं में व्यंग्य प्रायः दो रूपों में मिलता है—

(१) जहां वे शुद्ध हास्य की सृष्टि करना चाहते हैं और

(२) जहां वे अपने विरोधी को नीचा दिखाने के लिये उसकी बुद्धि का मजाक उड़ाना चाहते हैं।

यह स्मरणीय है कि विनोद की सृष्टि के लिए शुक्लजी उर्दू के शब्दों का प्रयोग निस्संकोच करते हैं। वे इन शब्दों को हास्य-सृष्टि के लिए आवश्यक तक समझते हैं। इस विषय में शुक्लजी का मंतव्य द्रष्टव्य है—

"—हँसी-मजाक के लिए कुछ अरबी-फारसी के चलते शब्द कभी-कभी कितना अच्छा काम देते हैं, यह हम लोग बराबर देखते हैं।"

इसीलिए संस्कृतगर्भित भाषा में लिखते हुए भी शुक्लजी का दृष्टिकोण अरबी-फारसी के प्रति बहिष्कार का नहीं है। भाषा की भाव-व्यंजकता बढ़ाने के लिए वे

विदेशी शब्दों का भी सहर्ष स्वागत करते हैं। इस विषय में डॉ० श्यामसुन्दरदास और शुक्लजी का मतैक्य है।

अब शुक्लजी की व्यंग्य-विषयक विशेषता को लिया जाय।

(१) शुद्ध हास्य की दृष्टि से व्यंग्य का प्रयोग

"—कम से कम मैंने इतना तो अवश्य सिद्ध कर दिया कि मेरा इस परिषद् का सभापति चुना जाना कला की दृष्टि से अनुपयुक्त हुआ।"

इसी प्रकार आज के वाग्वीरों का मजाक उड़ाते हुए शुक्लजी एक स्थान पर लिखते हैं—

"—वाग्वीर आजकल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों से लेकर स्त्रियों के उठाये हुए पारिवारिक प्रपचों तक में पाये जाते हैं और काफी तादाद में।"

विरोधियों पर प्रहार करने के लिए शुक्लजी अस्त्र के रूप में भी व्यंग्य का प्रयोग कहीं-कहीं करते हैं, जैसे —

"—जो कोई यह कहे कि अव्यक्त और अनन्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्य-क्षेत्र से निकल मतवालों ( साम्प्रदायिकों ) के बीच अपना हावभाव और नृत्य दिखलाना चाहिए।"

शुक्लजी के निबन्धों में मस्तिष्क के कठोर शासन में भी कभी-कभी उनकी भावुकता का विस्फोट हो उठता है। शुक्लजी की भावुकता का एक उदाहरण देना अनुचित न होगा—

"—मोटे आदमियों! तुम जरा सा दुबले हो जाते, अपने अंदेशे से ही सही तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।"

शुक्लजी के निबन्धों में भाषा का चमत्कारपूर्ण एवं अलंकारिक प्रयोग भी खूब मिलता है। विरोधाभास का एक उदाहरण देना उचित होगा—

"—वात्सल्य और शृंगार का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आंखों से किया, उतना किसी अन्य कवि ने नहीं।"

कहीं-कहीं तुकयुक्त वाक्य भी शुक्लजी की भाषा में मिल जाते हैं, जैसे—

"—इधर हम हाथ जोड़ेंगे, उधर वे हाथ छोड़ेंगे।"

शुक्लजी की शैली निगमन शैली है। शुक्लजी अपनी बात आरम्भ में सूत्ररूप में कह देते हैं और फिर उसकी व्याख्या करते चले जाते हैं। उनकी 'श्रद्धा-भक्ति' नामक निबन्ध की आरम्भिक पंक्तियाँ हमारी बात की पुष्टि करेंगी—

"—किसी मनुष्य में जनसाधारण से विशेष गुण या शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द-पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है, उसे 'श्रद्धा' कहते हैं। 'श्रद्धा' महत्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है।"

पूरे 'श्रद्धा-भक्ति' लेख का प्रतिपाद्य विषय वास्तव में उपरोक्त कुछ ही पंक्तियों

में सीमित है, किन्तु इसी बात को अपने पूरे निबन्ध में विस्तार के साथ शुक्लजी ने भिन्न-भिन्न शब्दों में स्पष्ट किया है। किन्तु इस विषय में एक बात ध्यान रखने की है कि पाठक एक ही बात की बार-बार आवृत्ति देखकर भी शुक्लजी पर पिष्टपेषण का दोष नहीं लगाना चाहता। उसका एक कारण है कि शुक्लजी अपनी सूत्ररूप में कही गई बात को फिर उदाहरण दे देकर स्पष्ट करते हैं—उससे दो बातें होती हैं। एक तो शुक्लजी के निबन्धों में कथा का सा आनन्द आने लगता है, दूसरे, निबन्ध का प्रतिपाद्य विषय पाठक के निकट उत्तरोत्तर स्पष्ट भी होता चला जाता है। डॉ० श्यामसुन्दरदास की पद्धति ठीक उसके विपरीत है। श्यामसुन्दरदासजी शुक्लजी की पद्धति को दोषपूर्ण मानते हैं। श्यामसुन्दरदासजी पहले अपनी बात का विश्लेषण करते हैं और अंत में सूत्ररूप में उसे रख देते हैं।

शुक्लजी का निबन्ध वास्तव में बँधा और इतना गठा होता है कि उसमें से 'है' तथा 'कि' जैसे शब्द निकालने पर ही उनके वाक्यों का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। शुक्लजी के वाक्यों में अनुच्छेदों ( पैराग्राफ ) में उनका विचार अन्तसूत्र की भाँति सर्वव्याप्त रहता है।

आचार्य शुक्ल के अगाध पाण्डित्य व उनके महान् आचार्यत्व से हिन्दी-साहित्य कृतकृत्य हुआ है और उनकी मधुर, विषयानुकूल संस्कृतगर्भित एवं तर्कपूर्ण शैली से हिन्दी भाषा गौरवान्वित हुई है।

---

## अध्याय १९

# काव्य में अलंकारों का स्थान

काव्य की साधना भाव और भाषा की साधना है। सभ्यता के उषाकाल से मनुष्य अपने भावों को प्रौढ़ और वाणी को माँजने का प्रयत्न करता रहा है। भाषा काव्य का मूल स्रोत है। आरम्भ में मनुष्य कम भाव की अभिव्यक्ति के लिए अधिक शब्दों का अपव्यय करता रहा होगा, किन्तु धीरे-धीरे उसने कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भाव व्यक्त करने की सामर्थ्य प्राप्त कर ली। मनुष्य की यह भाषा-विषयक साधना ही काव्य के क्षेत्र में अलंकारों की जननी है।

मनुष्य जब कोई असाधारण वस्तु देखता है तो उसे व्यक्त करने की उसकी इच्छा जहाँ अत्यन्त बलवती-वेगवती होती है, वहाँ वह अत्यन्त स्वाभाविक भी है। किन्तु वह दृष्टि वस्तु का यथावत् वर्णन किस प्रकार करे, यही मनोवैज्ञानिक भावना काव्य के अलंकारों का भी रहस्योद्घाटन कर सकती है।

कल्पना की जाय कि किसी व्यक्ति ने असाधारण रूप मे तीव्र दौड़ते हुए किसी अश्व को देखा और वह अब उस भाव को यथावत् व्यक्त करना चाहता है तो वह कथन की किसी ऐसी प्रणाली को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनायेगा जिससे उसका श्रोता चमत्कृत हो जाय और वर्णित भाव को वह उसी रूप में अनुभव कर सके जिस रूप में वक्ता ने अनुभव किया है। अगर वक्ता केवल इतना ही कहे कि 'मैंने एक अत्यधिक तीव्रगामी अश्व देखा है' तो इस कथन से श्रोता के हृदय पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ेगा और श्रोता इसी बात को यदि इस प्रकार कहे कि उसने 'एक अश्व तीर के समान तेज दौड़ते देखा है' तो श्रोता के मस्तिष्क में तुरन्त तीर की तेजी कौंध जायगी और इस प्रकार वह अश्व की असाधारण गति की उचित कल्पना कर सकेगा।

तुलसी ने 'कवितावली' के लंकाकांड में पर्वत धारण करके जाते हुए हनुमानजी का एक चित्र दिया है। उत्प्रेक्षा अलंकार के कारण उस चित्र में कितनी सजीवता आ गयी है। यहाँ अलंकार भावानुभूति में सहायक होकर आया है—

"—लीन्यौ उखारि पहार विसाल,
चल्यौ तेहि का विलम्ब न लायौ।

मारुतनन्दन मारुत को,
मन को खगराज को वेग लजायो ।।
तीखी तुरा तुलसी कहतो,
पै हिये उपमा को समाउ न आयो ।
मनो प्रतच्छ परब्बत की,
नभ लीक लसी कपियों धुकि धायो ।।

अब प्रश्न उठता है कि अलंकार कहते किसे हैं ? काव्य से इनका क्या सम्बन्ध है और काव्य में इनका स्थान क्या है ?

अलंकार शब्द का अर्थ है—आभूषण। अलंकार (आभूषण) जिस प्रकार की शरीर की शोभा को द्विगुणित कर देते हैं, उसी प्रकार अलंकार काव्य की शोभा बढ़ाने वाला धर्म है ("काव्य शोभाकरान् धर्मान्लंकारान् प्रचक्षते"—दंडी)।

अधिकांश आचार्य अलंकार को काव्य में गौरण स्थान देते हैं। उनका कथन है—"अलंकारों के अभाव में भी काव्यरचना सम्भव है।" काव्य प्रकाशकार 'मम्मट' का कथन है कि दोषरहित "शब्द और अर्थ ही काव्य हैं", फिर अलंकार चाहे उसमें न भी हों (तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन: क्वापि)। रस सम्प्रदाय के आचार्य विश्वनाथ रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं और अलंकारों को दूसरा स्थान देते हैं किन्तु अलंकारों को ही काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्यों की संस्कृत में कमी नहीं है। इसलिये एक दृष्टि संस्कृत-साहित्य के इन विभिन्न काव्य-सम्प्रदायों पर डाल लेना अनुचित न होगा।

## प्रसिद्ध सम्प्रदाय और उनके आचार्य

(१) अलंकार सम्प्रदाय—आचार्य दण्डी, मम्मट, उद्भट, आदि।
(२) वक्रोक्ति सम्प्रदाय—आचार्य कुन्तल।
(३) रीति सम्प्रदाय—आचार्य वामन।
(४) ध्वनि सम्प्रदाय—आचार्य ध्वनिकार और आनन्दवर्द्धन।
(५) रस सम्प्रदाय—आचार्य भरतमुनि, विश्वनाथ।

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि संस्कृत-साहित्य में अलंकारों को प्राथमिकता देने वाले आचार्यों की संख्या भी कम नहीं है।

आचार्य दण्डी अलंकारों के प्रमुख समर्थकों में हैं। वे अलंकार को काव्य की शोभा बढ़ाने वाला धर्म मानते हैं।

जयदेव पीयूष वर्ष ( चन्द्रालोककार ) तो अलंकारों को इतना अधिक महत्व देते हैं कि वे अलंकार के अभाव में काव्य का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते और ऐसे लोगों की बुद्धि पर वे खेद और शंका प्रकट करते हैं जो काव्य का अस्तित्व अलंकारों के अभाव में भी मानते हैं। उनका कथन है कि—

"—अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ॥"

(अर्थात् जो तथाकथित विद्वान् अलंकारहीन शब्दार्थ को काव्य मानने के लिए उद्यत हैं वे अग्नि को उष्णताहीन क्यों नहीं मानते ?)

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशव भी इसी अलंकारवादी परम्परा में ही थे। उनका कहना है कि स्त्री और काव्य की शोभा अलंकारों के अभाव में कैसे हो सकती है—

"—जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषण बिना न सोहई कविता बनिता मित्त ।'

महर्षि वेदव्यास तो अलंकारहीन सरस्वती ( कविता ) को विधवा के समान बताते हैं। "—अर्थालङ्कार रहिता विधवेव सरस्वती ।"

—अग्निपुराण ।

(२) वक्रोक्ति सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के आचार्य कुन्तल वक्रोक्ति को बड़े व्यापक अर्थ में लेते हैं। कुन्तल वक्रोक्ति के विषय में लिखते हैं—

"—वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य भंगी भणितिरुच्यते" (अर्थात् कवि-कौशल द्वारा प्रयुक्त विचित्रता ही वक्रोक्ति है)।

कुन्तल तो उस वाक्य को ही साहित्य के अन्तर्गत नहीं मानेंगें जिसमें कुछ विचित्रता न हो। कुन्तल रस, अलङ्कार, ध्वनि आदि सबको वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही मानते हैं। स्पष्ट है कि यह सम्प्रदाय भी अलंकारवादियों की भाँति काव्य के कला-पक्ष को ही अधिक महत्व देता है।

(३) रीति सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के आचार्य वामन रीति को काव्य की आत्मा मानने हैं ("रीतिरात्मा काव्यस्य"—वामन) शब्दों के नियमित और संगठित प्रयोग को रीति कहते हैं। इस सम्प्रदाय में माधुर्य, प्रसाद, ओज आदि गुणों को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है। इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने विभिन्न रसों के उपयुक्त गुणों का निर्देश भी किया है, जैसे माधुर्यगुण शृंगार के लिए उपयुक्त है, ओजगुण वीर-रस के लिए उपयुक्त है, आदि। शब्दों के प्रयोग के अनुसार तीन रीतियाँ भी मानी गयी हैं—वैदर्भी, गौणी, पंचाली। यह सम्प्रदाय लगता तो है रस सम्प्रदाय के निकट का, पर वास्तव में है नहीं क्योंकि इसमें भी रस से अधिक शब्दों पर जोर दिया गया है (शब्दों के नियमित और संगठित प्रयोग को रीति कहते हैं) इसलिए यह सम्प्रदाय भी भाषा के कलापक्ष से अधिक सम्बन्ध रखता है, भावपक्ष से कम।

(३) ध्वनि सम्प्रदाय—यह सम्प्रदाय वास्तव में रस सम्प्रदाय का ही व्यावहारिक रूप है। यह सम्प्रदाय अलंकारों, रीतियों, गुणों आदि को उनके उचित स्थान पर रखता है। ध्वनिकार के विचार से अलंकार रस के सहायक हैं और उनके मत से वे ही अलंकार सार्थक हैं जो रस-परिपाक में सहायक हों—

"रसभावादितात्पर्यमाश्रत्य विनिवेशनम् ।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ।।

(अर्थात् अलंकार तो साधन हैं, उनकी सार्थकता तभी है जब वे रस तथा भाव का आश्रय लेकर चलें ।)

किन्तु ध्वनि सम्प्रदाय रस सम्प्रदाय से इसलिए अलग समझा गया कि रस-निष्पत्ति का प्रश्न तो केवल प्रबन्ध-काव्य के साथ ही उठ सकता था, अर्थात् कथात्मक नाटकों के तो वह (रस सम्प्रदाय) उपयुक्त था किन्तु छोटे-छोटे दोहे (छंद) आदि में वह व्यर्थ। अतः ध्वनि सम्प्रदाय विशेषरूप से मुक्तक काव्य के लिए ही था ।

इसके अनुसार काव्य में व्यंग्य अर्थ ही मुख्य होता है । ध्वनिकार स्पष्ट शब्दों में रस की महत्ता स्वीकार करता है और अलंकार आदि गुणों को रस का सहायक भर मानकर उन्हें गौण स्थान देता है । अतः यह सम्प्रदाय रस सम्प्रदाय के बहुत निकट है ।

(५) रस सम्प्रदाय—भरत मुनि इस सम्प्रदाय के आदि आचार्य हैं । भरत मुनि काव्य में रस को सर्वप्रमुख स्थान देते है । इसी परम्परा में आगे चलकर आचार्य विश्वनाथ हुए जिन्होंने रस को काव्य की आत्मा घोषित किया । हिन्दी-साहित्य में भी काव्य की जो धारा बही, रस सम्प्रदाय ही उसका मूल श्रोत रहा, अलंकार सम्प्रदाय नहीं । रीतिकाल में केशव इसके अपवाद हैं । वे अलंकारवादी हैं ।

उपरोक्त वर्णन से एक बात स्पष्ट है कि कुछ आचार्य भाषा पर अधिक बल देते रहे और कुछ भावों पर । वास्तव में काव्य के व्यावहारिक दृष्टि से दो भाग किये जा सकते हैं—

(१) भावपक्ष और
(२) कलापक्ष ।

वैसे तो ये दोनों पक्ष एक-दूसरे के पूरक हैं, किन्तु विवेचना के लिए इन दोनों का पृथक् वर्णन किया जाता है और इस प्रकार एक-दूसरे के महत्व के उचित मूल्यांकन का प्रयत्न किया जाता है ।

डॉ० श्यामसुन्दरदास भावपक्ष को अपेक्षाकृत अधिक महत्व देते हुए लिखते हैं—

"—साहित्य के इन दोनों अंगों में से उसके भावात्मक अंग को अपेक्षाकृत प्रधानता मानी जाती है और कलापक्ष को गौण स्थान दिया जाता है । सच तो यह है कि साहित्य में भावपक्ष ही सब कुछ है, कलापक्ष उसका सहायक तथा उत्कर्षवर्द्धक-मात्र है ।"

कलापक्ष का भी महत्व कम नहीं है । मैथिलीशरण गुप्त एक स्थान पर लिखते हैं—"अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही है, कला !" दस आदमी एक ही बात

कहते हैं लेकिन किसी की बात लोगों को प्रसन्न कर देती है और किसी की अप्रसन्न इस अन्तर का रहस्य अभिव्यक्ति-कौशल में ही छिपा है। अलंकार अभिव्यक्ति-कौशल की वर्गीकृत प्रणालियाँ ही हैं। अलंकार केवल चमत्कार उत्पन्न ही नहीं करते अपितु भावानुभूति को तीव्र करने में भी सहायक होते हैं।

अलंकारों को मुख्यरूप से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) शब्दालंकार और

(२) अर्थालंकार।

शब्दालंकारों का सम्बन्ध चूंकि शब्दों भर से होता है, इसलिए ये केवल चमत्कार ही उत्पन्न करते हैं, भावानुभूति को तीव्र नहीं करते। अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि ऐसे ही अलंकार हैं जिनसे चमत्कारपूर्ण अनुरंजन तो होता है किन्तु भाव-सौन्दर्य के उत्कर्ष में ये विशेष सहायक नहीं होते। उदाहरण के लिए, निम्नांकित दोहा यमक अलंकार के शाब्दिक चमत्कार के अतिरिक्त और क्या है ?

"—तो पर वारौं उरवसी सुनि राधिके सुजान।<br>तू मोहन के उरवसी ह्वै उरवसी समान।।

किन्तु अर्थालंकार का सम्बन्ध तो सीधा भावपक्ष से होता है। कुछ अलंकार तो भावपक्ष की विशेषताओं के साथ ऐसे मिल जाते हैं कि भिन्न प्रतीत ही नहीं होते। ऐसे अलंकार काव्य का कलात्मक सौन्दर्य तो निखारते ही हैं, साथ ही भावोत्कर्ष में भी अत्यन्त सहायक होते हैं। अलंकारों की सहायता से थोड़े से शब्दों में इतनी अधिक बात कही जा सकती है कि 'गागर में सागर भरने' की कहावत चरितार्थ होती है। देखिये बिहारी थोड़े शब्दों में ही अर्थ की कितनी व्यंजना करते हैं—

(१) "—डारे ठोड़ी गाढ़ गहि नैन बटोही मार।<br>चिलक चौंध में रूप ठग हाँसी फाँसी डारि।।

(२) खौरि-पनिच भृकुटी धनुष बाधिक समरु तजि धानि।<br>हनतु तरुन मृग तिलक सर सुरक-भाल भरि तानि।।

(३) कोड़ा आँसू बूंद करि साँकर बरुनी सजल।<br>कीन्हें बदन निमूंद दृग मलंग डारे रहत।।

(४) जोग जुगुति सिखए सबै मनो महामुनि मैन।<br>चाहत पिय अद्वैता कानन सेवत नैन।।"

रूपक अलंकार के द्वारा बिहारी उपरोक्त दोहों में भाव और भाषा दोनों में चमत्कार उत्पन्न कर सके हैं। रूपक के कारण भावोत्कर्ष में भी सहायता मिल रही है। देखिये, रूपक एवं उपमा की सहायता से बिहारी कितने थोड़े शब्दों में कितना बड़ा कार्य-व्यापार चित्रित कर सके हैं।

"—डीठि-बरत बाँधी अटनु, चढ़ि धावत न डरात।
इतहि उतहि चित दुहुन के नट लौं आवत जात।"

इसी प्रकार 'प्रसादजी' उपमा, उत्प्रेक्षा, संदेह तथा रूपक आदि के द्वारा भावों को तीव्र करने में पूर्ण सफल हुए हैं। उनके श्रद्धा के रूप-वर्णन में से कुछ उदाहरण देना असंगत न होगा—

"—नीला परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदु अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ वन बीच गुलाबी रंग॥
आह! वह मुख, पश्चिम के व्योम
बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि मंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छवि धाम।
या कि नव इन्द्र नील लघु शृंग
फोड़ कर धधक रही हो कांत;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रान्त।
घिर रहे थे घुंघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास
नील घन शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।
और उस मुख पर वह मुसक्यान
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।"

उपरोक्त पंक्तियों में भावपक्ष जितना पुष्ट है, कलापक्ष उससे भी अधिक। इसलिये दोनों के उचित समन्वय से ये पंक्तियाँ साहित्य में अमर बनी रहेंगी। यहाँ अलंकार काव्य-सौंदर्य को तो द्विगुणित कर ही रहे हैं, वे भावों के चरम उत्कर्ष में भी सहायक हो रहे हैं।

किन्तु यह कहना तर्कसंगत न होगा कि अलंकार सदैव काव्य-सौंदर्य को बढ़ाते ही हैं। कभी-कभी तो वे काव्य को कुरूप तक कर देते हैं। जहाँ भाव-सौन्दर्य न होगा, वहाँ अलंकार शव-शृंगार के समान लगते हैं। निम्नांकित अलंकारपीड़ित पंक्तियों को 'प्रसादजी' की पंक्तियों से मिला कर देखिये—भेद स्पष्ट हो जायगा—

यमक अलंकार के भार से पीड़ित कुछ शुष्क पंक्तियाँ—

"—नीकी मति लेह, रमनी की मति लेह मति
सेनापति चेत कछु पाहन अचेत है।
करम करम करि करमन करि, पाप—
करम न करि मूढ़ सीस भयो सेत है।
आवै बनि जतन ज्यों रहै बनि जतनन
पुन्न के बनिज तन मन क्यों न देत है।
आवंत निराम बैस बीती अभिराम तातें
करि बिसराम भजि रामै किन लेत है।" —सेनापति

तुकांत यमक तथा अनुप्रास से अलंकृत शोभाहीन काव्य का उदाहरण लीजिये—

"—अमल कमल जहाँ सीतल सलिल लागी,
आसपास पाटिन सबनि ताल जाति है।
तहाँ नव वारी पंचवान बैस वारो महा,
मत्त प्रेम रस आस बनि ताल जाति है।
सेनापति मानो रति नीकी निरखति अति,
देखिकै जिन्हें सुरेस बनिता लजाति है।" —सेनापति

अलंकार वास्तव में ऐसे होने चाहिये जो वर्ण्य-विषय के सौन्दर्य को बढ़ावे। इस विषय में आचार्य शुक्ल का विचार इस प्रकार है—

"—अप्रस्तुत भी उसी प्रकार के भाव के उत्तेजक हों, प्रस्तुत जिस भाव का उत्तेजक हो। किसी पात्र के लिए जो उपमान लाया जाय, वह उस भाव के अनुरूप हो जो कवि ने उस पात्र के सम्बन्ध में अपने हृदय में प्रतिष्ठित किया है और पाठक के हृदय में भी प्रतिष्ठित करना चाहता है।"

अलंकार वास्तव में कथन की प्रणालियाँ हैं और ये असंख्य हैं।

शुक्लजी के कथनानुसार—"जो प्रसिद्ध कवि होते हैं, उनकी रचनाओं में ऐसे भाव और अलंकार मिल जाते हैं जिनका आज तक नामकरण भी नहीं हुआ। सूर, तुलसी आदि ऐसे ही समर्थ कवि हैं जिनकी वक्रतायुक्त तथा चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ आज तक विद्वानों के द्वारा वर्गीकृत नहीं हो पाई हैं।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि काव्य में अलंकारों का स्थान गौण है। रस काव्य की आत्मा हैं। अलंकार काव्य की शोभा बढ़ा सकते हैं, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा नहीं कर सकते। ऐसी कविताओं की कमी नहीं है जो अलंकारों के अभाव में भी कम आकर्षक नहीं हैं। ऐसी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना असंगत न होगा—

"—ऐसे बिहाल बिवाइन सों पग कंटक जाल लगे पुनि जोए।
हाय महादुख पायो सखा तुम आए इतै न कितै दिन खोए॥

देख सुदामा की दीन दसा करुना करिके करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं नैनन के जल सों पग धोए ॥"

—नरोत्तमदास

तथा

"—सखि हौं तो गई जमुना जल कों सो कहा कहौं वीर विपत्ति परी।
घहराइ कै कारी घटा उनई इतनेई मैं गागरि सीस धरी॥
रपट्यो पग घाट चढ्यो न गयो कवि 'मंडन' ह्वै कि बिहाल गिरी।
चिरजीवहु नंद को वारो ग्ररी गहि बाँह गरीब न ठाढ़ी धरी॥"

—मंडन

तथा

"—'मा', फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी।
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी॥
लुटरी खुली ग्रलक रज-धूसर बाहें ग्राकर लिपट गईं।
निशा तापसी के जलने को धधक उठी बुझती धूनी॥"

—प्रसाद

स्पष्ट है कि बिना ग्रलंकारों के भावपूर्ण कविता लिखी जा सकती है ग्रौर ग्रलंकारों द्वारा तो कविता-कामिनी का सौन्दर्य शतगुणित हो उठता है। ग्रलंकार भाषा से पृथक् कोई वस्तु नहीं है ग्रौर भाषा भावों की प्रतीक है इसलिए ग्रलंकार भाव ग्रौर भाषा दोनों के ही शृंगार हैं। ग्रलंकारों के विषय में पन्तजी लिखते हैं—

"ग्रलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की ग्रभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए व राग की परिपूर्णता के लिए ग्रावश्यक उपादान हैं। वे वाणी के ग्राचार, व्यवहार ग्रौर रीति-नीति हैं—पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप भिन्न ग्रवस्थाग्रों के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झंकारें विशेष घटना से टकरा कर जैसे फेनाकार हो गयी हों, विशेष भावों के झोंके खाकर बाल लहरियाँ तरुण तरंगों में फूट गयी हों, कल्पना के विशेष बहाव में पड़ ग्रावर्तों में नृत्य करने लगी हों, वे वाणी के हास, ग्रश्रु, स्वप्न, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल ग्रलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता, शब्दों की कृपण जड़ता में बंधकर सेनापति के दाता ग्रौर सूम की तरह इकसार हो जाती है।"

कुछ विशिष्ट एवं प्रमुख ग्रलंकारों की संक्षेप में चर्चा करना विषयान्तर न होगा—

## कुछ प्रमुख अलंकार

### शब्दालंकार

(१) ग्रनुप्रास—जहाँ एक ही प्रकार के वर्णों की ग्रनेक बार ग्रावृत्ति हो।

उदाहरण— "—रससिंगार मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु नैन।"

उपरोक्त दोहे में 'ज' और 'न' की अनेक बार आवृत्ति हुई है। इसके पांच भेद होते हैं—(१) छेकानुप्रास ; (२) वृत्यानुप्रास ; (३) श्रुत्यानुप्रास ; (४) लाटानुप्रास तथा (५) अंत्यानुप्रास। (छेक, वृत्ति, श्रुति, लाट अरू, अंत्य पांच विस्तार)।

(२) यमक—जहाँ निरर्थक या सार्थक वर्णों की दो बार या अधिक बार आवृत्ति हो किन्तु भिन्न अर्थ के साथ, वहाँ यमक अलंकार होता है।

उदाहरण— "—तो पर वारों उरबसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी समान॥

यहाँ सार्थक वर्णों (उरबसी) की कई बार आवृति हुई किन्तु प्रत्येक स्थान पर उन वर्णों के अर्थ भिन्न हैं।

(एक शब्द पुनि पुनि परै अर्थ और ही और।)

(३) श्लेष—जहाँ कोई शब्द एक से अधिक अर्थ देता हो, वहाँ श्लेष अलंकार होता है।

उदाहरण— (१) "—अज्यों तरयोना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसरि लह्यो बसि मुकतनु के संग॥
(२) चिर जीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के वीर॥"

उपरोक्त दोहे में रेखांकित शब्द एक से अधिक अर्थ देते हैं।

(४) वक्रोक्ति—जहाँ कहनेवाला अपनी बात किसी और आशय से कहे और श्रोता उसका कुछ और ही अर्थ लगाये, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण— (१) "—खोलौ जू किवार, को है ऐतो बार ?
हरि नाम है हमारो बसो कानन पहार में॥"

कृष्ण राधा को अपना नाम (हरि) बताते हैं पर राधा उसका कुछ और ही अर्थ (बन्दर या शेर) लेती हैं और कृष्ण से जंगल में जाकर बसने को कहती हैं।

(२) प्यारी काहे आज तुम बामा ह्वै बतरात।
हम तो बामा हैं सदा की अचरज की बात॥"

नायक के द्वारा प्रयुक्त बामा शब्द का अर्थ है 'टेढ़ी' या 'रुष्ट' किन्तु नायिका बामा शब्द का 'स्त्री' अर्थ ग्रहण करके उत्तर देती है।

अर्थालंकार

(५) उपमा—जहाँ उपमान-उपमेय भाव से दो पदार्थों के समान धर्म (समानता) का कथन किया गया हो, वहाँ उपमालंकार होता है।

उपमा के चार अंगों को जान लेना आवश्यक है—

(१) उपमेय (प्रस्तुत, जो वर्ण्य-विषय है अर्थात् जो वर्णन का मुख्य विषय है, जैसे मुख)।

(२) उपमान (अप्रस्तुत, जो वर्ण्य-विषय से समानता दिखाने के लिए बाहर से लाया जाय, जैसे कमल, चन्द्र आदि)।

(३) धर्म (वह गुण जो उपमेय और उपमान दोनों में समान रूप से प्राप्त है, जैसे मुख और चन्द्रमा में समान धर्म (गुण) है, सुन्दरता)।

(४) वाचक (वे शब्द जो समान धर्म को प्रकट करते हैं। जैसे "हरिपद कोमल कमल से" में 'से' वाचक है)।

उपमा के दो भेद होते हैं—(१) पूर्णोपमा और (२) लुप्तोपमा। इनके भी अनेक भेद मिलते हैं।

(६) पूर्णोपमा—जहाँ मान, उपमेय, धर्म और वाचक—ये चारों अंग शब्द द्वारा कहे जाते हैं, वहाँ पूर्णोपमा होती है।

उदाहरण— (१) सीता का मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है।

(१) सीता का मुख—उपमेय (प्रस्तुत, वर्ण्य-विषय)।
(२) चन्द्रमा—उपमान (अप्रस्तुत, जो बाहर से लाया गया है)।
(३) सुन्दर है—धर्म (जो दोनों में समान है)।
(४) के समान—वाचक (वे शब्द जो समानता को व्यक्त कर रहे हैं)।

(२) "—चूमता था भूमि को अर्द्ध विधु-सा भाल।
विछ रहे थे प्रेम के दृग जाल बन कर बाल॥
छत्र-सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ।
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ॥"

(१) भाल (मस्तक) और हाथ = उपमेय (वर्ण्य-विषय)।
(२) विधु (चन्द्र) और छत्र = उपमान (अप्रस्तुत)।
(३) 'चूमता था', 'उठा था' = धर्म (जो उपमेय और उपमान दोनों में समान धर्म है)।
(४) सा = वाचक (जो समानता को प्रकट कर रही है)।

(७) लुप्तोपमा—जहाँ उपमान, उपमेय, धर्म तथा वाचक इनमें से एक दो या तीनों का लोप हो, वहाँ लुप्तोपमा होती है।

उदाहरण— (अ) "—नील-सरोरुह श्याम तरुन अरुन वारिज नयन,
करौ सो मम उर धाम सदा छीर सागर सयन।"

(१) शरीर और नयन = उपमेय (प्रस्तुत)।

(२) नील सरोरुह (कमल) तथा तरुण वारिज = उपमान (अप्रस्तुत)।

(३) अरुण और श्याम = धर्म (जो दोनों में समान धर्म है)

(४) × = वाचक (वे शब्द जो समान धर्म का कथन करते हैं—नहीं हैं।)

इसलिए यह वाचक लुप्तोपमा का उदाहरण हुआ।

उदाहरण— (आ) "—यद्यपि जग में बहुत हैं, सुख साधक सामान।
तदपि कहूँ कोई नहीं, काव्यानन्द समान।।"

(१) काव्यानन्द = उपमेय (प्रस्तुत)।

(२) × = उपमान (नहीं है)।

(३) × = धर्म (नहीं है)।

(४) समान = वाचक।

उपरोक्त दोहे में न उपमान है, न धर्मवाची शब्द; इसलिए यह धर्मोपमानलुप्त उपमा का उदाहरण है।

(८) मालोपमा

जहाँ पर एक उपमेय के लिए अनेक उपमान लाये जायँ, वहाँ मालोपमा होती है।

उदाहरण— "—इन्द्र जिमि जंभ पर बाड़व सुअंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल राज हैं।
पौन बारिवाह पर संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहसबाहु पर राम द्विजराज हैं।
दावा द्रुम दंड पर चीता मृग झुण्ड पर,
भूषन वितुंड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम अंश पर कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज हैं।"

(१) सिवराज = उपमेय;

(२) इन्द्र;
(३) बाड़व (अग्नि);
(४) पौन (हवा);
(५) संभु;
(६) दावा (अग्नि);
(७) चीता;
(८) मृगराज;
(९) तेज;
(१०) कान्ह (कृष्ण)।
} उपमान।

यहाँ उपमेय तो एक है 'सिवराज' और उसके लिए उपरोक्त ९ उपमान लग गये हैं, अतः मालोपमा है।

(९) प्रतीप—प्रतीप का अर्थ है उल्टा। इसमें उपमेय (प्रस्तुत) का कथन उपमान के रूप में तथा उपमान (अप्रस्तुत) का कथन उपमेय के रूप में रहता है। जैसे

'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' न कहा जाकर इसका उल्टा कहा जायेगा, अर्थात् 'चन्द्रमा मुख के समान सुन्दर है'।

अर्थात् प्रतीप उपमा अलंकार का उल्टा होता है।

उदाहरण— "—दृग के सम नील सरोरुह थे उनको जल राशि डुबा दिया हा,
तव आननतुल्य प्रिये शशि को अब मेघ घटा में छिपा दिया हा।"

यहाँ 'दृग' उपमान है और सरोरुह (कमल) उपमेय। इसी प्रकार यहाँ 'शशि' उपमान है और 'आनन' (मुख) उपमेय।

इस प्रकार प्रसिद्ध उपमान यहाँ उपमेय बन गये हैं और उपमेय उपमान बन गये हैं। यह उपमा का उल्टा क्रम है, अतः यहाँ प्रतीक अलंकार है।

(१०) रूपक—जहाँ उपमेय में उपमान का अभेद रूप से आरोप किया जाता है, अर्थात् जहाँ उपमेय और उपमान में कोई अन्तर नहीं रहता, वहाँ रूपक अलंकार होता है। इसमें उपमा की तरह यह न कहा जाकर 'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' यह कहा जायगा कि 'मुख चन्द्र है।'

उदाहरण —(१) "—रनित भृंग घंटावली झरत दान मधुनीर।
मन्द-मन्द आवत चल्यो कुंजर कुंज समीर॥"

यहाँ 'कुंज समीर' में हाथी का आरोप किया गया है और कुंज समीर की विभिन्न वस्तुओं, जैसे भृंग और मकरन्द में हाथी, घण्टे तथा दान (मदजल) का आरोप किया गया है।

(२) "—या भव पारावार कों उलंघि पार को जाइ।
तियछवि छायाग्राहिनी ग्रसै बीच ही आइ॥"

यहाँ तियछवि (स्त्री की शोभा) में छायाग्राहिनी (एक राक्षसी) का आरोप किया गया है तथा भव (संसार) में पारावार (समुद्र) का आरोप किया गया है, अतः यहाँ रूपक अलंकार है।

(११) उल्लेख—जहाँ एक ही वर्णनीय वस्तु का निमित्त-भेद से ज्ञाताओं के भेद के कारण अथवा विषय के भेद के कारण अनेक प्रकार से उल्लेख या वर्णन किया गया हो, वहाँ उल्लेख अलंकार होता है।

उदाहरण—
(१) "—घन घोष समझ मयूर लगे कूकने, समझी गजेन्द्र ने दहाड़ मृगराज की।
सागर ने समझी प्रभंजन की गर्जना, पर्वतों ने समझी कड़क महावज्र की।
गंगाधर चौंके जयघोष को समझ के, गंगा आ रही हैं ब्रह्मलोक से गरजती।"

यहाँ वर्ण्य-वस्तु एक ही है, 'जयघोष', किन्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों (ज्ञाताओं) ने उसे भिन्न-भिन्न रूप से समझा है। इसलिये एक ही वर्ण्य-वस्तु का अनेक रूपों में वर्णन किया गया है।

उदाहरण—(२) "—बिन्दु में थीं तुम सिन्धु अनन्त, एक सुर में समस्त संगीत।
एक कलिका से अखिल वसन्त धरा पर थीं तुम स्वर्ग पुनीत।"

यहाँ वर्ण्य-विषय है, 'प्रिया' और वह एक ही है किन्तु एक ही व्यक्ति (प्रेमी) उसे विभिन्न रूपों में देखता है।

(१२) स्मरण—अपनी किसी पूर्व परिचित वस्तु की अनुपस्थिति में यदि उसी के समान किसी अन्य वस्तु को देखकर उसका स्मरण आ जाय और उसका (पूर्व-परिचित वस्तु का) कथन किया जाय, वहाँ स्मरण अलंकार होता है। जैसे चन्द्रमा को देखकर प्रिया के मुख की याद आ जाय।

उदाहरण— "—सघन कुंज छाया सुखद, सरसिज सुरभि समीर
मन ह्वै जात अजों वहे उहि जमुना के तीर॥"

यहाँ वातावरण ने कृष्ण की याद को जाग्रत कर दिया है।

(१३) भ्रान्तिमान—जहाँ किसी वस्तु में किसी दूसरी वस्तु के होने का भ्रम हो जाय, जैसे चकोर मुख को ही चन्द्रमा समझ कर भ्रम के कारण उसे देखने लगे।

उदाहरण— "—लगत सुभग शीतल किरन निसि सुख दिन अवगाहि।
माह ससी भ्रम सूर त्यौं रहित चकोरी चाहि।"

यहाँ चकोरी को सूर्य में चन्द्रमा का भ्रम हो गया है इसलिये वह सूर्य को ही देखा करती है।

(१४) सन्देह—जहाँ किसी वस्तु में उसी के समान किसी दूसरी वस्तु का सन्देह किया जाय किन्तु वह निश्चय की अवस्था तक न पहुँचे, वहाँ सन्देह अलंकार होता है। जैसे, 'यह मुख है या चन्द्रमा', यहाँ निश्चय का अभाव है।

उदाहरण— "—कै निज नायक बँध्यो विलोकत व्याल पासतें,
तारनि की सेना उरदण्ड उतरति अकासतें।
कै सुर-सुमन-समूह आनि सूर-जूह जुहारत,
हरि हरि करि हरसीस एक संगहि सब डारत।"

यहाँ कवि आती हुई गंगा की धारा को देखकर उपरोक्त सन्देह करता है।

(१५) अपह्नुति—जहाँ उपमेय ( प्रस्तुत ) का निषेध करके उपमान का स्थापन किया जाय, जैसे मुख के विषय में कहा जाय 'यह मुख नहीं चन्द्रमा है।'

उदाहरण— "—ससि में अंक कलंक को समझहु जिन सदभाय।
सुरत-श्रमित निसि सुन्दरी सोवत उर लपटाय।"

यहाँ चन्द्रमा में कलंक का निषेध करके उसकी गोद में रात्रिरूपी नायिका के सोने का आरोप किया गया है।

(१६) उत्प्रेक्षा—उपमेय (प्रस्तुत) की उपमान (अप्रस्तुत) में सम्भावना किये जाने को उत्प्रेक्षा अलंकार कहते हैं, जैसे कहा जाय कि 'मुख मानो चन्द्रमा है।'

उदाहरण— "—सोहत ओढ़ें पीतपट स्याम सलोने गात।
मनहुँ नील-मनि-शैल पर आतप पर्यो प्रभात।।"

'मानो' शब्द प्रायः उत्प्रेक्षा को व्यक्त करता है। इसके अतिरिक्त 'जनु', 'मनु' मनहु, जानहु, निश्चय, इव आदि शब्द भी प्रायः उत्प्रेक्षा के ही वाचक शब्द हैं।

यों तो उत्प्रेक्षा के कितने ही भेद-उपभेद हैं, किन्तु यहाँ उनमें से कुछ मुख्य भेदों, अर्थात् वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा की चर्चा की जायगी।

वस्तूत्प्रेक्षा—एक वस्तु की सम्भावना दूसरी वस्तु में किये जाने को वस्तूत्प्रेक्षा कहते हैं।

उदाहरण—ऊपर उत्प्रेक्षा का दिया गया उदाहरण "सोहत ओढ़ें पीतपट ···" इसका भी उदाहरण है।

यहाँ पीताम्बरधारी कृष्ण का श्याम तन उपमेय है और उसमें प्रातःकालीन सूर्यप्रभा से प्रकाशित नीलमणि के पर्वत की सम्भावना की गयी है।

हेतूत्प्रेक्षा—जहाँ अहेतु में हेतु की उत्प्रेक्षा की जाती है, वहाँ हेतूत्प्रेक्षा होती है। (वास्तव में हेतूत्प्रेक्षा में सांसारिक कारण से भिन्न कवि कल्पित कारण (किसी वस्तु के विषय में) होता है।

उदाहरण— "—क्या प्रसव वेदना से प्राची-रमणी का आनन लाल हुआ ?
धीरे-धीरे गगनस्थल में प्रकटित सुन्दर शशि बाल हुआ।।
खेलने लगा सुन्दर शशि-शिशु, मणि जटित गगन के आँगन में।
तारावलि उसकी प्रभा देख खिल गई मुदित होकर मन में।।"

संध्या समय आकाश लाल हो जाता है और तारे धीरे-धीरे निकलने लगते हैं, यह एक स्वाभाविक बात है—किन्तु यहाँ कवि, आकाश का प्रसव-वेदना से लाल होना मानता है और तारावलियों का सम्बन्ध भी शशि-शिशु से जोड़ता है, ये सब उसके (कवि के) अपने कल्पित कारण हैं।

फलोत्प्रेक्षा—वास्तव में जो फल न हो और उसमें फल की कल्पना की जाय, वहाँ फलोत्प्रेक्षा होती है।

उदाहरण— "—धीरे-धीरे पवन ढिग जा फूल वाले द्रुमों के।
शाखाओं में कुसुम-चय को थी धरा पर गिराती।।

मानो यों थी हरण करती फुल्लता पादपों की।
जो थी न प्यारी ब्रज-जग को आज न्यारी व्यथा से।"

(कुसुम हवा से झड़ता ही है किन्तु हवा इस रूप में वृक्षों की शोभा को भी नष्ट करती है, यह अफल में फल की कल्पना करता है)।

(१७) अतिशयोक्ति—जहाँ कोई बात इतनी बढ़ा-चढ़ाकर कही जाय कि वह लोक-मर्यादा (स्वाभाविकता) का उल्लंघन करने वाली हो जाय या असम्भव जैसी लगे, वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण— "—पत्रा ही तिथि पाइये वाघर के चहुँ पास।
निति प्रति पूनो ही रहति आनन ओप उजास।।
औंघाई सीसी सुलखि विरह वरनि विललात।
विच ही सूखि गुलाब गो छींटो छुई न गात।।"

(बहुत से विद्वान् अतिशयोक्ति और अत्युक्ति को दो पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं समझते क्योंकि बात को अत्यन्त बढ़ाकर कहना दोनों में समानरूप से पाया जाता है)।

(१८) दीपक—जहाँ प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) का एक ही धर्म वर्णन किया जाय, वहाँ दीपक अलंकार होता है।

उदाहरण— "—औरहू उपाय केते सहज सुढंग ऊधो!
सांस रोकिबे को कहा जोग ही कुढंग है।
कुटिल कटारी है अटारी है उतंग अति,
जमुना तरंग है तिहारो सतसंग है।।"

यहाँ उद्धव का संग तो प्रस्तुत है और 'कटारो', 'अटारी', 'यमुना-तरंग' अप्रस्तुत हैं किन्तु सबका एक धर्म मृत्युकारक (श्वास रोकना) कहा गया है।

(१९) निदर्शना—जहाँ वस्तुओं का आपस का सम्बन्ध उनके बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव को व्यक्त करता है, वहाँ निदर्शना अलकार होता है।

उदाहरण— "—पास-पास ये उभय वृक्ष देखो अहा!
फूल रहा है एक दूसरा झड़ रहा।।
है ऐसी ही दशा प्रिये नरलोक की।
कहीं हर्ष की बात कहीं पर शोक की।।"

(२०) व्यतिरेक—जहाँ उपमेय का उत्कर्ष उपमान की तुलना में अधिक दिखाया जाय, वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है।

उदाहरण— "—बर जीते सर मैन के ऐसे देखे मैंन।
हरिनी के नैनानु तें हरि नीके ए नैन।।"

यहाँ नायिका के नेत्रों (उपमेय) को कामदेव के वाणों से अधिक तीक्ष्ण और हरिणी के नेत्रों से अधिक श्रेष्ठ बतलाया गया है।

(२१) सहोक्ति—सहधर्म बोधक शब्दों (सह, संग, साथ) के द्वारा जहाँ एक ही शब्द दो अर्थों का वाचक होता है, वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण— "—निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही
अवनि से, उर से, मृगेक्षणि ने उठा,
एक पल निज शस्य श्यामल दृष्टि से,
स्निग्ध करदी दृष्टि मेरी दीप-सी।"

यहाँ 'साथ' शब्द अवनि से पलक उठाने और हृदय के व्याकुलता उठाने का अर्थ एक साथ देता है।

(२२) परिकरांकुर—जहाँ विशेष्य का साभिप्राय कथन किया जाय, वहाँ परिकरांकुर अलंकार होता है।

"—बामा भामा कामिनी, कहि बोलो प्रानेस।
प्यारी कहत लजात नहिं, पावस चलत विदेस॥"

यहाँ नायिका नायक से 'बामा', 'भामा', 'कामिनी' आदि सार्थक विशेष्यों के प्रयोग करने के लिए कहती है और 'प्यारी' शब्द (जो सार्थक नहीं है) के प्रयोग पर आपत्ति करती है।

(२३) जहाँ अप्रस्तुत (उपमान) के द्वारा प्रस्तुत अर्थ का बोध कराया जाता है, उसको अप्रस्तुत प्रशंसा कहते हैं।

उदाहरण— (१) "—दिन दस आदर पायके करिले आप बखान।
जो लगि काग सराध पख तो लगि तो सनमान॥"

(२) "—स्वारथु सुकृति न स्रम वृथा देखि विहंग विचारि।
बाज पराए पानि पर तू पच्छीनु न मार॥"

यहाँ प्रथम दोहे में कवि कौवे के रूप में दंभी या किसी नीच आदमी का वर्णन करता है। दूसरे दोहे में बाज के रूप में किसी ऐसे व्यक्ति (मिर्जा राजा जयशाह) को चेतावनी देता है जो बिना व्यक्तिगत लाभ के दूसरों के लिए हिंसा करता है।

इस अलंकार को अन्योक्ति भी कहते हैं। इसमें प्रस्तुत पक्ष (जिसका वर्णन किया गया है) अप्रधान रहता है और अप्रस्तुत पक्ष (जिसकी वास्तव में व्यंजना निकल रही है) प्रधान रहता है।

(२४) विभावना—जहाँ प्रसिद्ध कारण के अभाव में भी कार्य का होना वर्णन किया जाय, वहाँ विभावना अलंकार होता है।

"—बिनु पद चलै सुनै बिनु काना।
कर बिनु कर्म करै विधि नाना॥"

यहाँ बिना पैर के चलने, बिना कान के सुनने तथा बिना हाथ के कार्य करने का वर्णन है।

(२५) असंगति —जहाँ कार्य और कारण के भिन्न स्थान वर्णन किये गये हों, अर्थात् जहाँ कार्य और कारण का स्वाभाविक संगति का त्याग हो।

उदाहरण— "—दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥"

यहाँ कारण तो नहीं है और कार्य को ही उत्पन्न होता दिखाया गया है।

(२६) क्रमालंकार—जहाँ क्रमशः कहे गये पदार्थों का उसी क्रम से अन्वय दिखाया गया हो, वहाँ क्रमालंकार होता है।

उदाहरण— "—अमिय हलाहल मद भरे, श्याम श्वेत रतनार।
जियत, मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥"

यहाँ प्रथम पंक्ति के 'अमिय हलाहल' तथा 'मद भरे' शब्दों का सम्बन्ध दूसरी पंक्ति के 'जियत, मरत तथा झुकि-झुकि परत' से बिठाया गया है।

(२७) अर्थान्तरन्यास—जहाँ सामान्य का विशेष से या विशेष का सामान्य से समानता (साधर्म्य) या असमानता (वैधर्म्य) के द्वारा समर्थन किया जाय, वहाँ अर्थान्तर-न्यास अलंकार होता है।

उदाहरण— "रहिमन नीच कुसंग सौं लगत कलंक न काहि।
दूध कलारी कर रखै को मद जानै नाहि॥"

यहाँ पूर्वार्द्ध के सामान्य वृत्तान्त का 'दूध' और 'कलारी' के विशेष वृत्तान्त द्वारा अन्त में समर्थन किया गया है।

(२८) दृष्टान्त—उपमेय, उपमान और साधारण धर्म का जहाँ बिम्ब-प्रति-बिम्बभाव वर्णन किया हो, वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है।

उदाहरण— "—दुसह दुराज प्रजान कौं क्यों न बढ़ै दुःख द्वंद।
अधिक अँधेरो जग करत मिलि मावस रवि चंद॥"

(अर्थान्तरन्यास में सामान्य का विशेष से या विशेष का सामान्य से समर्थन किया जाता है, परन्तु दृष्टान्त में या तो दोनों ही सामान्य होंगे या फिर दोनों ही विशेष)।

(२९) तद्गुण—जहाँ एक वस्तु अपना गुण छोड़कर किसी दूसरी (निकटवर्ती) वस्तु का गुण ग्रहण कर ले।

उदाहरण— "—लै चुभकी चलि जात जित जित जल केलि अधार।
कीजति केसरी नीर से तित तित केसरि नीर॥"

यहाँ तालाब का जल अपना रंग छोड़ कर नायिका के शरीर के रंग को ग्रहण कर लेता है।

(३०) मीलित—जहाँ एक वस्तु दूसरी वस्तु से इतनी मिल जाय कि उनका अन्तर स्पष्ट न हो, वहाँ मीलित अलंकार होता है।

उदाहरण— "—पान पीक अधरान में सखी ! लखी नहिं जाइ ।
कजरारी अँखियन में कजरारी न लखाइ ।"

यहाँ नायिका के आरक्त होठों में 'पान' और सहज काली आँखों में काजल ऐसा मिल गया है कि दिखाई नहीं देता ।

(३१) उन्मीलित—जहाँ दो वस्तुओं के बिलकुल समान होने पर भी जहाँ किसी कारण-विशेष के कारण उनका भेद स्पष्ट हो जाय या खुल जाय, वहाँ उन्मीलित अलंकार होता है ।

उदाहरण— (१) "—कंचन-तन-धन-बरन बर रह्यो रंगु मिलि रंगु ।
जानी जाति सुवास ही केशर लाई अंग ।।"

(२) "—मिलि चंदन बेंदी रही गोरे मुख न लखाइ ।
ज्यों-ज्यों मद लाली चढ़ै त्यों-त्यों उघरत जाइ ।।"

पहले दोहे में केशर की गंध से भिन्नता केशर की गंध से चल जाता है । दूसरे दोहे में मद लाली के कारण चंदन की बेंदी धीरे-धीरे चमकने लगती है ।

(३२) मुद्रा—जहाँ प्रस्तुत अर्थ के पदों द्वारा सूचनीय अर्थ को सूचित किया जाय, वहाँ मुद्रा अलंकार होता है ।

उदाहरण— "—करुणे क्यों रोती है ? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई ।
मेरी विभूति है जो उसको भवभूति कहे क्यों कोई ।।"

उपरोक्त पद्य में 'करुणा' के प्राकरणिक वर्णन के प्रसंग में 'उत्तर' 'भवभूति' पद के द्वारा भवभूति द्वारा लिखित करुण रस पूर्ण 'उत्तर रामचरित नाटक' की सूचना भी दे दी गयी है ।

---

अध्याय १७

# रस-निष्पत्ति

भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार चरम आनन्द की प्राप्ति ही काव्य का वास्तविक उद्देश्य है। काव्यानन्द की यह अनुभूति लौकिक अनुभूतियों से भिन्न होती है, इसलिए इसे अलौकिक भी कहा गया है। काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर भी बताया गया है क्योंकि जो आनन्द ज्ञानियों को मधुमती भूमिका की अवस्था में प्राप्त होता है, वही आनन्द काव्य में भी पाठक व श्रोता को वर्ण्य या प्रस्तुत विषय से तादात्म्य होने पर रस की दशा में प्राप्त होता है। काव्य में इसे साधारणीकरण का नाम दिया गया है। जब पाठक या दर्शक साधारणीकरण की अवस्था तक को पहुँच जाता है तो राजस या तामस का नितान्त अभाव होकर उसमें केवल सतोगुण का ही प्राधान्य रहता है, इसलिए दुःखात्मक भाव भी सुख की अनुभूति से युक्त होकर आते हैं। डॉ० श्यामसुन्दरदास का कहना है कि—

"—जब तक सांसारिक वस्तुओं का हमें अपर प्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनन्दनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है। परन्तु जिस समय हमको वस्तुओं का पर-प्रत्यक्ष होता है, उस समय शोचनीय तथा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलम्बन बन कर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक, क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं।"

अपर-प्रत्यक्ष तथा पर-प्रत्यक्ष का अर्थ स्पष्ट किये बिना बात स्पष्ट नहीं होगी।

जहाँ शब्द, अर्थ तथा ज्ञान की भिन्न प्रतीति होती है, उसे अपर-प्रत्यक्ष कहते हैं। अपर-प्रत्यक्ष में वितर्क की भावना रहती है।

पर-प्रत्यक्ष उसे कहते हैं, जहाँ शब्द, अर्थ तथा ज्ञान आपस में एकाकार हो जाते हैं कि उनकी भिन्न-भिन्न प्रतीति नहीं होती और जहाँ वितर्क की भावना का भी सर्वथा लोप हो जाता है।

योग में इसी अवस्था को मधुमती भूमिका और रस की इसी अवस्था को साधारणीकरण कहते हैं।

लेकिन प्रश्न यह है कि काव्य में रस की इस अवस्था तक पाठक या श्रोता पहुँचता कैसे है ? उसे आनन्दातिरेक की प्रतीति होती कैसे है ? काव्यशास्त्र में आनन्द की इस अलौकिक अनुभूति के संस्पर्श को 'रस-निष्पत्ति' नाम दिया गया है। यह ध्यान में रखने की बात है कि 'रस-निष्पत्ति' शब्द का ही व्यवहार उसके लिए किया जाता है, रस उत्पत्ति का नहीं क्योंकि उत्पत्ति का अर्थ है कि कोई वस्तु उत्पत्ति से पूर्व अस्तित्व में नहीं थी किन्तु 'निष्पत्ति' का अर्थ है उस वस्तु का अस्तित्व जो निश्चित रूप से पहले से ही था किन्तु वह अब जागृत या विकसित भर हो गयी है।

प्रत्येक मनुष्य के हृदय में नौ स्थायी-भाव बीजरूप से निहित रहते हैं और उचित वातावरण के प्रस्तुत होते ही वे स्वयमेव जागृत हो जाते हैं। वस्तु-जगत में हम जिसे वातावरण कहते हैं, काव्य-जगत में उसे ही विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी-भाव का समन्वित रूप कहा गया है, जिनके कारण पाठक या श्रोता के हृदय में 'रस-निष्पत्ति' होती है।

किन्तु 'रस-निष्पत्ति' सर्वप्रथम कहाँ होती है, यह बड़े विवाद का विषय रह चुका है। विभिन्न आचार्य इस विषय में अपने भिन्न-भिन्न मत रखते हैं और विचित्र बात यह है कि सभी आचार्य अपने-अपने मत को भरत मुनि के इस वाक्य का, जो इस विवाद का मूल है, वास्तविक अर्थ बताते हैं। यह भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का प्रसिद्ध वाक्य है—

"—विभावानुभाव व्यभिचारभावसंयोगाद्रस निष्पत्तिः।"

इसी वाक्य का अपने-अपने मतानुसार अर्थ करने में विभिन्न आचार्यों ने अपना बुद्धि-वैभव दिखाया है।

भरत मुनि के इस वाक्य का अर्थ जितना सरल दिखाई देता है, वह उतना ही अस्पष्ट और विवादास्पद है।

"—भरत मुनि के इस वाक्य का अर्थ है—विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के 'संयोग' से 'रस-निष्पत्ति' होती है।"

किन्तु सारा विवाद 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' को लेकर है क्योंकि पता नहीं, भरतमुनि का इस 'संयोग' और 'निष्पत्ति' से क्या अभिप्राय था। विभिन्न आचार्यों द्वारा किया गया उपरोक्त सूत्र का भाष्य और उसका अन्तर उपरोक्त दो शब्दों—'संयोग' एवं 'निष्पत्ति' के अर्थ को लेकर है।

बाद में जो आचार्य हुए, उन्होंने उपरोक्त दो शब्दों ('संयोग' तथा 'निष्पत्ति') के आधार पर निम्नांकित विभिन्न निष्कर्ष निकाले—

(१) 'रस-निष्पत्ति' उन मूल व्यक्तियों के हृदय में होती है जिनका लेखक ने वर्णन किया है, जैसे दुष्यन्त, शकुन्तला, राम, सीता आदि।

(२) 'रस-निष्पत्ति' मूल चरित्रों के हृदय में न होकर लेखक के हृदय में होती है।

(३) 'रस-निष्पत्ति' न मूल चरित्रों के हृदय में, न लेखक के हृदय में अपितु उन अभिनेताओं के हृदय में होती है जो मूल चरित्रों का अभिनय करते हैं।

(४) 'रस-निष्पत्ति' न मूल पात्रों के हृदय में, न लेखक के हृदय में, न अभिनेताओं के हृदय में बल्कि दर्शकों के हृदय में होती है।

यह समझने से पूर्व कि स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव क्या हैं, यह समझने की आवश्यकता है कि 'रस-निष्पत्ति' का सिद्धान्त विशिष्टरूप से अपना सम्बन्ध नाटक से ही रखता है, काव्य से नहीं। इसलिए बार-बार इसमें मूल पात्र तथा अभिनेता आदि शब्दों का व्यवहार होगा। इसके अतिरिक्त काव्य में माने जाने वाले नवरस भी नाटक की दृष्टि से आठ ही रह जाते हैं क्योंकि भरत मुनि शान्तरस को अभिनेय नहीं मानते।

| स्थायीभाव | रस |
|---|---|
| १. रति | शृङ्गार |
| २. हास | हास्य |
| ३ शोक | करुण |
| ४. क्रोध | रौद्र |
| ५. उत्साह | वीर |
| ६. भय | भयानक |
| ७. जुगुप्सा | बीभत्स |
| ८. विस्मय | अद्भुत |
| ९. शम | शान्त |

स्थायीभाव—उस भाव को कहते हैं जिनकी स्थिति हृदय में अधिक स्थायी हो, अर्थात् जो हृदय में अधिक समय तक ठहरता हो और तब तक ठहरता हो जब तक वह सर्वप्रमुख और विशिष्ट बन कर रहे। शेष भाव जो हृदय में उठें, वे उसको पुष्ट करने के लिए हों। यदि रूपक में कहें तो कह सकते हैं कि स्थायीभाव की स्थिति मूर्धाभिषिक्त राजा की भाँति है। जब तक राजा सिंहासन पर बैठेगा तब तक अन्य उपस्थित लोग उसके अनुचर, आज्ञाकारी तथा चाटुकार बनकर ही रहेंगे। कुछ-कुछ यही स्थिति और सम्बन्ध स्थायीभाव एवं व्यभिचारीभावों के बीच है।

व्यभिचारीभाव—वे भाव हैं जो बहुत थोड़ी देर टिकते हैं। ये स्थायीभावों के सहायक होते हैं। इन्हें संचारीभाव भी कहते हैं। संचरण करते रहना ही इनका कार्य है। श्री कन्हैयालाल पोद्दार इनके विषय में लिखते हैं—

"—ये स्थायीभाव की तरह रस की सिद्धि तक स्थिर नहीं रहते, अर्थात् वे

अवस्था-विशेष में उत्पन्न होते हैं और प्रयोजन पूरा हो जाने पर स्थायीभाव को उचित सहायता देकर लुप्त हो जाते हैं—

"—ये तूपकर्तुमायान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम्,
उपकृत्य च गच्छन्ति ते मता व्यभिचारिणः।"

निष्कर्ष यह है कि ये जल के झाग या बुदबुदों की तरह प्रकट हो होकर शीघ्र लुप्त हो जाते हैं, जैसे बिजली की चमक चमक कर झट अदृश्य हो जाती है।" ये संचारीभाव संख्या में ३३ माने गये हैं—

(१) निर्वेद, (२) ग्लानि, (३) शंका, (४) असूया, (५) मद, (६) श्रम, (७) आलस्य, (८) दैन्य, (९) चिन्ता, (१०) मोह, (११) स्मृति, (१२) धृति, (१३) व्रीड़ा, (१४) चपलता, (१५) हर्ष, (१६) आवेग, (१७) जड़ता, (१८) गर्व, (१९) विषाद, (२०) औत्सुक्य, (२१) निद्रा, (२२) अपस्मार, (२३) सुप्त, (२४) विबोध, (२५) अमर्ष, (२६) अवहित्था, (२७) उग्रता, (२८) मति, (२९) व्याधि, (३०) उन्माद, (३१) मरण, (३२) त्रास, (३३) वितर्क।

इस प्रकार स्थायीभाव और संचारीभाव के रूप में स्थूलरूप से भावमात्र ही वर्गीकृत हो जाते हैं।

'रस-निष्पत्ति' की सामग्री पूर्ण करने के लिए अभी विभाव और अनुभाव की चर्चा करना भी आवश्यक है।

### विभाव

स्थायीभावों के उत्पन्न होने के कारणों को ही विभाव कहते हैं। यह दो प्रकार के होते हैं—

(१) आलम्बन विभाव—जहाँ स्थायीभाव आश्रय पाते हैं। आलम्बन विभाव ही स्थायीभावों के जनक हैं। इन्हीं के सहारे स्थायीभाव उत्पन्न होते हैं। शृंगार रस में नायक-नायिका ही स्थायीभावों के उत्पादक होने के कारण आलम्बन विभाव माने जाते हैं।

(२) उद्दीपन विभाव—उद्दीपन विभाव वे हैं जो जागृत स्थायीभाव को उद्दीप्त करते हैं।

### अनुभाव

वे भाव जो विभावों के बाद उत्पन्न होते हैं, अनुभाव कहलाते हैं। श्री कन्हैयालाल पोद्दार इनके विषय में लिखते हैं—

"—ये उत्पन्न हुए स्थायीभाव का अनुभव कराते हैं। "अनुभावयन्ति इति अनुभावा।" जैसे शृंगार रस में नायिका आलम्बन और चन्द्रोदयादि उद्दीपन विभावों द्वारा नायक के हृदय में रति मनोविकार उत्पन्न और उद्दीपन होता है। उसको प्रकट करने वाले जो कटाक्ष और भ्रूक्षेप एवं हस्तसंचालनादि शारीरिक चेष्टाएँ जब तक न हों, उस अनुराग का उनको परस्पर या समीपस्थ अन्य लोगों को कुछ ज्ञान नहीं हो

सकता। कहा भी गया है—"अनुभावो भावबोधक:।" इन अनुभावों द्वारा ही रति आदि स्थायीभाव, काव्य में शब्दों द्वारा और नाटक में आलम्बन विभावों की चेष्टाओं द्वारा प्रकट होते हैं। अनुभाव असंख्य हैं। अनुभाव दो प्रकार के कहे जा सकते हैं—

(१) कायिक—शारीरिक चेष्टाएं आदि। आश्रय की चेष्टाएं इसके अन्तर्गत आयेंगी।

(२) सात्विक—सात्विक भाव भी 'रस-निष्पत्ति' की मानसिक प्रक्रिया में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ये संख्या में आठ मान गये हैं—

(१) स्तंभ, (२) स्वेद, (३) रोमांच, (४) स्वरभंग, (५) वेपथु (कंप), (६) वैवर्ण्य, (७) अश्रु, (८) प्रलय।

अधिक स्पष्ट करने के लिए उपरोक्त सामग्री को एक रस में घटा कर देख लेना चाहिए कि किस प्रकार एक स्थायीभाव विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों के संयोग से रस की संज्ञा प्राप्त करता है।

उदाहरण—

श्रृंगार रस (संयोग)—

(१) आलम्बन विभाव ; नायक-नायिका।

(२) उद्दीपन विभाव—(क) प्राकृतिक दृश्य (शीतल-मंद-सुगन्धित वायु, श्यामल मेघ, रिमझिम वर्षा, मोर-पपीहा आदि के शब्द, चन्द्र, चाँदनी, भ्रमर, पराग, कोयल का मधुर गान, नदी तट, उद्यान, उपवन, एकान्त आदि)

(ख) आलम्बन की चेष्टाएं—अनुरागपूर्ण अवलोकन, भ्रकुटिभंग, भुजाक्षेप, (अंगसंचालन) रोमांच एवं स्वेद आदि सात्विक भाव।

(३) व्यभिचारी—पोद्दारजी के अनुसार श्रृंगार के संयोगपक्ष में उग्रता, मरण और जुगुप्सा के अतिरिक्त अन्य सभी व्यभिचारीभाव हो सकते हैं।

(४) अनुभाव—आश्रय की शारीरिक चेष्टाएं तथा आश्रय के सात्विक भाव।

(५) स्थायीभाव—रति।

उपरोक्त सभी बातों के उचित संयोग से स्थायीभाव रति रस की कोटि तक पहुँचेगा और तब श्रृंगार रस कहलायेगा।

## 'रस-निष्पत्ति' के विश्लेषणकर्ता विभिन्न आचार्यों के मत

### (१) भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद

भट्ट लोल्लट का मत है कि रस मूलरूप से दुष्यन्त, रामादि मूल-पात्रों में ही रहता है। नट, चूंकि मूल पात्रों के भावों का अनुकरण, वाणी, वेशभूषा और अन्य क्रियाओं के द्वारा करते हैं, इसलिए दर्शक उनके अभिनय-कौशल से चमत्कृत होकर ही आनन्द लाभ करते हैं।

(१) भट्ट लोल्लट 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' तथा 'संयोग' का अर्थ 'सम्बन्ध' करते हैं।

(२) भट्ट लोल्लट आलम्बन विभाव दुष्यन्त, रामादि को कारण और रस को कार्य मानते हैं और इस प्रकार वे 'रस-निष्पत्ति' की प्रक्रिया का विश्लेषण कार्य-कारण सम्बन्ध मानकर करते हैं।

(३) भट्ट लोल्लट की यह कार्य-कारण मानकर की गयी व्याख्या मीमांसाशास्त्र के अनुसार की गयी है।

परवर्ती आचार्यों ने भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद को सदोष बताया और उसमें कई कमियाँ बतायीं—

(१) भावों का अनुकरण करना असम्भव है। अनुकरण शारीरिक चेष्टाओं का तो किया भी जा सकता है, परन्तु अनुभूति का अनुकरण कैसे किया जा सकता है? अर्थात् यह सम्भव नहीं है कि नट (अभिनेता) मूल चरित्रों की अनुभूतियों का अनुकरण कर सकें।

(२) भट्ट लोल्लट द्वारा स्वीकृत कार्य-कारण सम्बन्ध भी तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। संसार में जिन वस्तुओं में कार्य-कारण सम्बन्ध देखा जाता है, उनमें कार्य, कारण के पश्चात् भी बना रह सकता है। उदाहरण के लिए, घड़ा कार्य है, कुम्हारादि निमित्त कारण के न रहने पर भी घड़ा बना रह सकता है। इसी प्रकार भवन आदि कार्य है और श्रमिकादि कारण, लेकिन श्रमिकों के न रहने पर भवन ज्यों के त्यों बने रहते हैं। यदि यही सम्बन्ध दुष्यन्त, रामादि विभावों तथा रसादि कार्य के बीच मानें तो दुष्यन्त, रामादि विभावों (निमित्त कारण) के न रहने पर (रंगमंच पर न रहने पर भी) भी रसादि कार्य बने रहने चाहिए। किन्तु दुष्यन्त, रामादि विभावों के जाने के साथ ही रस भी समाप्त हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि कार्य-कारण सम्बन्ध रस-प्रक्रिया में सदोष ही दिखाई देता है। फिर कार्य-कारण में जो पूर्वापर का (आगे-पीछे का) सम्बन्ध होता है, वह 'रस-निष्पत्ति' की प्रक्रिया में नहीं होता क्योंकि नाटक में विभाव-दर्शन और 'रस-निष्पत्ति' एक साथ होती है— आगे-पीछे नहीं।

(३) भट्ट लोल्लट के सिद्धान्त के अनुसार, दर्शक नटों के अभिनय-कौशल से चमत्कृत होकर आनन्द-लाभ करता है। वास्तव में रस की उत्पत्ति (निष्पत्ति) उसके हृदय में नहीं होती है। प्रश्न यह है कि जब रस की उत्पत्ति मूल पात्रों—दुष्यन्त, रामादि के हृदय में होती तो है फिर उसका दर्शक अनुभव कैसे कर सकता है? इसके अतिरिक्त मूल पात्रों के हृदय में उत्पन्न (निष्पन्न) रस लौकिक होगा और वे दुःख को दुःख और सुख को सुख समझते होंगे। उदाहरण के लिए, लक्ष्मण के शक्ति लग जाने पर राम दुःखातिरेक से विलाप करते हैं किन्तु दर्शक को तो उसमें भी आनन्द आता है, फिर ऐसा कैसे होता है कि राम दुःख का अनुभव करते हैं और दर्शक सुख का। भट्ट लोल्लट के इस सिद्धान्त के अनुसार रस की अलौकिकता प्रतिपादित नहीं होती और रस को यदि लौकिक ही मान लिया तो 'रस-निष्पत्ति' का सिद्धान्त ही समाप्त हो

जायगा क्योंकि दर्शक नाट्यगृह में रोने में भी आनन्द का अनुभव करते हैं। यदि वे भी दुःख के आलम्बनों से दुःख का अनुभव करने लगें तो फिर नाटक देखने कौन जायगा ? संसार में जिस वस्तु को हम अवांछनीय और घृणित समझते हैं (शोक एवं घृणोत्पादक दृश्य) नाटक में उन्हीं को देखकर हम आनन्द का अनुभव करते हैं, यही रस की अलौकिकता है।

(२) शुंकुक का अनुमितिवाद

शंकुक ने भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद का खण्डन अवश्य किया किन्तु अपने अनुमितिवाद द्वारा उन्होंने भी समस्या (विवाद) के वास्तविक हल की ओर कोई विशेष प्रगति नहीं की।

(१) शंकुक भी रस की मूल अवस्थिति दुष्यन्त, रामादि विभावों के हृदय में ही मानते हैं।

(२) शकुंक के अनुसार चित्र-तुरंग-न्याय (चित्र में बने तुरंग को दर्शक चित्र का घोड़ा न कह कर घोड़ा ही कहते हैं, उसी प्रकार दुष्यन्त, रामादि का वेश धारण किये नटों को भी दर्शक दुष्यन्त या राम कहते हैं) द्वारा दर्शक नटों को ही विभाव (दुष्यन्त, रामादि) मान लेते हैं और उनके अनुकरण (अभिनय) के कारण भ्रम में पड़कर वे स्थायीभाव की स्थिति नटों में ही मान लेते हैं (अनुमान कर लेते हैं) क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार अनुमान द्वारा दर्शक आनन्द लाभ करता है। इसलिए इसे अनुमाप्य-अनुमापकभाव द्वारा 'रस-निष्पत्ति' कहा जाता है।

शंकुक ने उपरोक्त मत का प्रतिपादन न्यायशास्त्र के आधार पर किया है, किन्तु इस सिद्धान्त में भी उतनी ही कमियाँ और कठिनाइयाँ हैं, जितनी भट्ट लोल्लट के सिद्धान्त में—

(१) नट मूल विभावों (दुष्यन्त, रामादि) के भावों का अनुकरण नहीं कर सकता क्योंकि भाव अनुकरणीय नहीं होते।

(२) आनन्द अनुमान से नहीं प्रत्यक्षदर्शन से ही आ सकता है, नहीं तो पानी या भोजन के अभाव में उनके अनुमानमात्र से परितुष्टि क्यों नहीं हो जाती ?

(३) जब दर्शक स्वयंभाव का अनुभव नहीं करता तो वह केवल अनुमान के बल पर चमत्कृत होकर आनन्दलाभ कैसे कर सकता है ?

(४) जब दर्शक नटों को ही मूल विभाव (दुष्यन्त, रामादि) समझ लेगा तो वह उन्हीं (मूल विभाव) के भावों का अनुभव करेगा किन्तु ऐसी अवस्था से जब दुष्यन्त, रामादि विभावों में वह दुःख का अनुमान करेगा तो उसे (दर्शक को) भी दुःख का ही अनुभव होना चाहिए, सुख का नहीं परन्तु ऐसा नहीं होता, अर्थात् दर्शक सदैव आनन्द का ही अनुभव करता है, यही रस की अलौकिकता है।

इसलिए शंकुक के दो मुख्य तर्क—(१) अनुकरण और (२) अनुमान किसी ठोस नींव पर आधारित नहीं हैं।

(३) भट्ट नायक का भुक्तिवाद

उपर्युक्त आचार्यों में भट्ट नायक पहले आचार्य हैं जो रस की अवस्थिति दर्शक या पाठक के हृदय में मानते हैं। भट्ट नायक ने रस की अलौकिकता की रक्षा तथा सामाजिक के द्वारा आनन्दानुभव करने की बात को सिद्ध करने के लिए तीन शक्तियों की कल्पना की है—

(१) अभिधा—जिसके द्वारा काव्य या नाटक के साधारण या आलंकारिक अर्थ का ज्ञान होता है।

(२) भावकत्व—इसके द्वारा काव्य या नाटक के दुष्यन्त, रामादि विभावों के भाव अपने-पराये के बंधन से मुक्त होकर साधारणीकृत हो जाते हैं और इसलिए पाठक या दर्शक के लिए वे उपभोग्य बन जाते हैं अर्थात् फिर पाठक या दर्शक यह भूल जाता है कि यह दुष्यन्त है, यह राम है। दुष्यन्त और राम साधारण पुरुषमात्र हो जाते हैं इसलिए पाठक का उनके साथ तादात्म्य हो जाता है।

(३) भोजकत्व—इसके द्वारा साधारणीकृत भाव आस्वाद्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त भोजकत्व के द्वारा पाठक या दर्शक का रजस-तामस नष्ट होकर वह सत्वगुण-प्रधान हो जाता है और ऐसी स्थिति में उसके प्रत्येक भाव की अनुभूति आनन्दमय ही होती है।

भट्ट नायक ने अपने मत का प्रतिपादन सांख्यशास्त्र के आधार पर किया है। 'निष्पत्ति' का अर्थ उन्होंने 'भोग' किया है और 'संयोग' का अर्थ उन्होंने 'भावित होना' (भोज्य-भोजकभाव) लिया है।

भट्ट नायक के मत पर अभिनव गुप्त ने एक आपत्ति की कि भट्ट नायक ने जो अभिधा, भावकत्व, भोजकत्व आदि तीन शक्तियाँ मानी हैं। इसका शास्त्रीय प्रमाण क्या है? विशेषकर जब शास्त्रों में पहले से ऐसी शक्ति विद्यमान हो जो इस सब कार्यों को पूरा भी कर दे। अभिनव गुप्त ने कहा कि व्यंजना-शक्ति इन सब कार्यों को पूर्ण कर देती है और वह शास्त्रविहित भी है।

(४) अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद

अभिनव गुप्त रति आदि स्थायीभावों का सामाजिक के हृदय में बीजरूप से निहित होना मानते हैं। नाटक में सुन्दर अभिनय तथा काव्य में विभावनुभाव संचारीभाव अभिव्यक्त (जागृत) हो उठते हैं और 'रस-निष्पत्ति' का कारण बनते हैं।

अभिनव गुप्त ने अपनी यह व्याख्या वेदान्त के अनुसार की। उन्होंने 'निष्पत्ति' का अर्थ लिया 'आनन्दरूप में प्रकाशित होना' या 'अभिव्यक्ति' तथा संयोग का अर्थ लिया 'ध्वनित या व्यंजित' होना।

अभिनव गुप्त के अनुसार भावों के भावकत्व का गुण तो सहज ही रहता है। 'काव्यार्थान् भावयंतीति भावाः' (भाव वे ही हैं जो काव्यार्थों को भावना का विषय बनावें) और रस में भी भोग का भाव स्वाभाविक रूप से रहता ही है। 'आस्वाद्य-

त्वादस:' इसलिए अभिनव गुप्त ने भट्टनायक की भाँति 'भावकत्व', 'भोजकत्व' आदि शक्तियाँ न मानकर उन सबका अन्तर्भाव व्यंजना में कर दिया।

लेकिन अभिनव गुप्त के मत से काव्यानन्द वही ले सकता है जिसके मानस में सभी भाव बीजरूप से निहित हों और उचित अवसर पर जागृत या उद्‌बुद्ध हो जाँय। ऐसे मनुष्यों की कल्पना करना कठिन नहीं, जिनके हृदय में ये स्थायीभाव बीजरूप से निहित न हों। ऐसे मनुष्य काव्य का आनन्द नहीं ले सकते।

शास्त्र के मत से तीन प्रकार से मनुष्य अपने को काव्यानन्द का भोग करने योग्य बना सकता है—

(१) सांसारिक अनुभव से ;
(२) सतत् अभ्यास से ;
(३) पूर्वजन्म के संस्कार से।

जिनमें उपरोक्त गुण नहीं, वे काव्य का रसास्वादन करनें के योग्य नहीं।

तार्किक और वैय्याकरण भी काव्य का रसास्वादन करने में असमर्थ रहते हैं।

अभिनव गुप्त का मत ही आज सर्वमान्य समझा जाता है। धनंजय नट में भी आनन्द (रस) की भावना मानते हैं, किन्तु यह सम्भव प्रतीत नहीं होता क्योंकि अभिनय के कार्य में पूर्ण चेतना की आवश्यकता होती है। भावांक्रान्त होने से अभिनेताओं की चेतना भी आक्रान्त हो जायगी और उनके संवाद अनर्गल प्रलाप और अंग-संचालन आदि क्रियाएँ मद्यपी की असंयत चेष्टाएँ बन कर रह जायेंगी। इसके अतिरिक्त यदि शत्रुओं का अभिनय करने वाले दो अभिनेता एक-दूसरे को शत्रु समझ लें तो और भी भयंकर परिणाम रंगमंच पर होने लगेंगे।

यह उचित ही प्रतीत होता है कि रस की अवस्थिति दर्शक में मानी जाय और यह तो ठीक ही है कि रस उत्पन्न नही होता, निष्पन्न होता है अर्थात् जागृत या उद्‌बुद्ध होता है, पैदा नहीं होता।

प्रसिद्ध आलोचक बाबू गुलाबराय, एम० ए० द्वारा प्रस्तुत निम्नांकित प्रणाली से रस-प्रक्रिया संक्षेप में और अधिक स्पष्ट हो जाती है—

## रस-निष्पत्ति

| ग्राचार्य | दार्शनिक मत | वाद | रस की स्थिति | संयोग का ग्रर्थ | निष्पत्ति का ग्रर्थ |
|---|---|---|---|---|---|
| (१) भट्ट लोल्लट | मीमांसक | उत्पत्तिवाद या ग्रारोपवाद | मूलरूप से ग्रनुकार्यों (दुष्यंत, रामादि) में रहता है। नटादि ग्रनुकर्त्ताग्रों में ग्रारोप होता है। गौण रूप से सामाजिकों में ग्रनुकरण के चमत्कार से। | कार्य-कारणभाव | उत्पत्ति |
| (२) श्री शंकुक | नैयायिक | ग्रनुमितिवाद | नट के ग्रनुभावादि द्वारा ग्रनुकार्यों में ग्रनुमेय, गौणरूप से सामाजिकों में ग्रनुकरण के चमत्कार से। नट ग्रौर ग्रनुकार्य का चित्र-तुरंग-न्याय से तादात्म्य मानते हैं। | गम्य-गमकभाव ग्रथवा ग्रनुमाप्य-ग्रनुयापक-भाव | ग्रनुमिति |
| (३) भट्ट नायक | सांख्यवादी | मुक्तिवाद | ग्रभिधा, भावकत्व द्वारा ग्रालम्बनादि साधारणीकृत होकर सामाजिक के भोग का विषय बनते हैं (भोजकत्व)। | भोज्य-भोजकभाव | भुक्ति (ग्रास्वाद) |
| (४) ग्रभिनव गुप्त | वेदान्ती | ग्रभिव्यक्तिवाद | व्यंजना वृत्ति द्वारा (भावकत्व ग्रौर भोजकत्व ग्रनावश्यक हैं) सहृदय सामाजिक में स्थायी भावों के संस्कारों की विभावादि के योग से ग्रभिव्यक्ति, जिस प्रकार जल के योग से मिट्टी की ग्रव्यक्त-गंध व्यक्त हो जाती है। | व्यंग्य-व्यंजकभाव | ग्रभिव्यक्ति |

अध्याय १८

# रीतिकाल

## पृष्ठभूमि

मुसलमानी दासता की शृंखलाओं में कसे हुए देश की अन्तिम विद्रोही छटपटाहट भक्तिकाल ( सन् १३७५-१७०० ) के साथ समाप्त हो जाती है। भक्तिकाल की समाप्ति के रूप में देश का सांस्कृतिक जीवनदीप निर्वाण प्राप्त कर लेता है। सूर और तुलसी उसी दीपक की निर्वाण के पूर्व की लौ ( तीव्र प्रकाश ) हैं। रीतिकाल भारतीय राजनीति की दृष्टि से अन्धकार का और सांस्कृतिक दृष्टि से तन्द्रा का युग है क्योंकि राजनीतिक एवं सांस्कृतिक चेतना की प्रतीक तलवार एवं चिन्तन दोनों का इस युग तक पराभव हो चुका था। राजपूतों के पास खड्गरहित म्यानें रह गयीं थीं और बुद्धजीवियों के पास चिन्तनरहित चेतना। पराजय के असाध्य रोग ने हिन्दुओं की आँखें बन्द कर दी थीं और विजय के मद ने मुसलमानों की दृष्टि-स्वच्छता छीन ली थी। न तो राजनीति के क्षेत्र में कोई ऐसा प्रकाशपूर्ण व्यक्तित्व था जो निराशांधकार में किंकर्तव्य-विमूढ़ हतवीर्य सामन्तों को दिव्यदृष्टि देकर उन्हें किसी महान् लक्ष्य की पूर्ति का साधन या सहायक बना पाता और न साहित्यिक क्षेत्र में कोई ऐसा कविर्मनीषी था जो हताश-भग्नाश जनता को अपनी कविता पयस्विनी में स्नान कराकर चैतन्य बना देता। भारत के शव पर नादिरशाह की गिद्ध-दृष्टि लगी हुई थी।

विलासिता का सिन्धु मर्यादाओं को डुबाकर सीमाहीन हो रहा था और आत्मविस्मृत जग-जीवन उसमें ऊब-डूब कर रहा था। देश के शासक सेज, सुराही, सुरा और प्यालों की कब्र में बैठे थे—

> "—गुलगुली गिलमें गलीचा है गुणीजन हैं,
> चाँदनी हैं, चिक हैं, चिरागन की माला हैं,
> कहैं पद्माकर त्यों गजक गिजा हैं सजी,
> सेज हैं, सुराही हैं, सुरा हैं और प्याला हैं।"
>
> —'पद्माकर'।

भारतीय नव-परिचित 'बाजियों' के अभ्यास में जीवन की बाजी लगा रहे थे। कबूतरबाजी, पतंगबाजी, नशाबाजी आदि का बोलबाला था।

कबूतरबाजी—"—ऊँचे चितै सराहियतु गिरह कबूतर लेत।"

पतंगबाजी—"—उड़ति गुड़ी लख ललन की अँगना-अँगना माह।
बौरी लौ दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह॥"

—'बिहारी

तीन विवाह करने का दशरथ को क्या भयंकर कुपरिणाम भोगना पड़ा, रीतिकालीन राजन्य-वर्ग ने इस ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। अब वे अपने शौर्य, यश तथा सम्मान का प्रसार राज्य-विस्तार से नहीं, पत्नि-संख्या-विस्तार से मानने लगे थे और इस प्रकार अनजान में ही वे अपने हाथों अपनी समाधि तैयार कर रहे थे।

पत्नियाँ संख्या में इतनी अधिक थीं कि पति बारी-बारी से ही सबके यहाँ जा सकता था—

"—लग्यो सुमन ह्वै है सफल आलप रोस निवारि।
बारी बारी आपनी सींचि सुहृदयता बारि॥
देह दुलहिया की बढ़ै ज्यों ज्यों जोबन जोति।
त्यौं त्यौं लखि सौतें सबै बदन मलिन दुति होति॥"

—'बिहारी'

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि रीतिकाल में बहुविवाह की प्रथा अपनी चरम सीमा पर थी। इस प्रथा ने उस काल के सामाजिक जीवन को कितना खोखला, कितना निर्जीव तथा विषादमय बना दिया होगा, यह सहज कल्पनीय है।

## साहित्यिक पृष्ठभूमि

रीतिकाल जिस काल का उत्तराधिकारी बनकर आया था, उसे देखते हुए उससे महान् आशाएँ की जा सकती थीं, लेकिन उत्तराधिकारी कभी जहाँ पूर्वजों का नाम उज्ज्वल करते हैं, वहाँ कभी-कभी उनके मुख पर कालिख भी पोत देते हैं। बेचारे कबीर का वंश ऐसे ही उत्तराधिकारी के कारण डूब गया था।

"डूबा बंस कबीर का उपजे पूत कमाल" —'कबीर'

रीतिकाल ऐसा ही उत्तराधिकारी है जिसने अपने पूर्वज के निष्कलंक मुख पर कालिख पोत दी। संगति का असर अवश्य पड़ता है—रीतिकाल को अच्छी संगति नहीं मिली। परिपक्व ज्ञान के अभाव में वह शीघ्र ही पथभ्रष्ट हो गया।

भक्तिकाल के महान् कवि तुलसी ने अपनी कविता का आदर्श निम्नांकित शब्दों में व्यक्त किया था—

"—कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।"

भक्तिकाल के कवि 'स्वांतः सुखाय' काव्य-रचना करते थे। इस ऊँचे आदर्श

से रीतिकालीन कवि नीचे गिर गये ; उन्होंने ठीक इसके विपरीत किया। उन्होंने प्राकृतजन (राजा आदि) के गुणगान के अतिरिक्त और कुछ किया ही नहीं। अपनी भावनाओं पर कठिन विरोध करके, जो राजन्य वर्ग चाहता था, वही लिखा।

## राज्याश्रय और कविता

'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत जितनी प्राचीन है, उतनी ही ठीक। रीतिकालीन राजा लोग कैसे थे, ऊपर इसका वर्णन किया जा चुका है, इसलिए उनके आश्रित कवियों से ही क्या आशा की जा सकती थी ? चाटुकार कवि अपने विलास-जर्जर, ज्ञानमूढ़, कामी आश्रयदाताओं को ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के रूप में चित्रित करने में भी लज्जा और संकोच का अनुभव नहीं करते थे। देखिये, बिहारी जयशाह को किन-किन रूपों में देखते हैं—

(१) दानी—"—चलत निगुनी गुनी, धनुमनि मुत्तिय माल।
भेंट होत जयशाह सौं भागु चाहियतु भाल॥"

(२) रूपवान—"—प्रतिबिंबित जयशाह-दुति, दीपति दरपन धाम।
सब जगु जीतन कौं करयौ, काव्य-व्यूह मनु काम॥"

(३) वीर—"—रहित न रन जयशाहि मुख लखि लाखनु की फौज।
जाँचि निराखरऊ चलै लै लाखनु की मौज॥

कवि किस समय क्या लिखना चाहता है ? उसके हृदय में क्या भाव उठ रहे हैं ? इन सब बातों का सम्बन्ध रीतिकालीन कवि से नहीं है क्योंकि उसकी कविता तो किसी 'माँग की पूर्ति' का परिणाम है, हृदय की सहज अभिव्यक्ति नहीं। क्या लोभ या लालच था जिसकी आशा में ये कवि महान् इतना मानसिक कष्ट ढोते थे ? चांदी के कुछ टुकडे जो राजा साहब प्रसन्न होकर अपने पालतू कवि के सामने फेंक देते थे। कुछ लोगों का कहना है कि रीतिकालीन कवि चाकर (नौकर) तो थे किन्तु सम्मानित चाकर थे। हो सकता है यह ठीक हो, किन्तु हमारी समझ में तो उनका सम्मान 'सम्मान' शब्द का तीखा मजाक है। राजा सम्मान किसका नहीं करते थे ? अवैधरूप से उनके लिए, कुलांगनाओं का प्रवन्ध करने वाली कुटनियों का नहीं ? अपने पौरुषहीन शरीर को उत्तेजक औषधियों से सींचनेवाले वैद्यजी का नहीं ? अपने वासनाम्लान 'मदछाके' नेत्रों को 'रसयुत-अनन्त गति' से तृप्त करने वाली पातुरियों (नर्तकी) का नहीं ? फिर उस बड़ी मण्डली के एक इसी सदस्य-कवि ने ही क्या बिगाड़ा था कि उसी का सम्मान न हो जबकि वह औरों से अधिक कार्य करता था ; वह तो शव में भी जीवन का संचार करने वाली अलौकिक वाणी का प्रयोग राजा साहब के मुर्दा मन में यौवन की तरंगें उत्पन्न करने में करता था। अपनी पत्नियों से विरक्त राजा को परकीयाओं के सरस वर्णन सुनाकर कवि उसकी रसिकता को मरने से बचाता था और इन सब बातों से परे वह धूर्त, 'नपुंसक' और 'कायर' होते हुए भी कवि से यह सुनता रह सकता था कि वह, सदाचार का अवतार, कामदेव से अधिक सुन्दर और

इन्द्र से अधिक प्रतापी है। इतना ही नहीं, जब वैद्यजी की गोली, सुन्दरियों की टोली और मदिरा की प्याली भी प्रभावहीन हो जाती थी तब कवि को ही बुलाया जाता था और वही फिर उत्तेजना की अन्तिम खुराक उन्हें पिलाता था। क्या फिर भी कवि का सम्मान नहीं होगा ? रीतिकालीन कवि बिके हुए कवि थे।

## रीतिकाल का प्रारम्भ और उसकी विशेषताएँ

शुक्लजी रीतिकाल का आरम्भ केशवदास से नहीं मानते क्योंकि केशवदासजी अलंकारवादी हैं। वे दण्डी भामट्ट, उद्भट आदि अलंकारवादी आचार्यों के अनुयायी हैं। 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', केशवदास के रीति (लक्षण) ग्रन्थ हैं। रीतिग्रन्थ का अर्थ ही लक्षणग्रन्थ होता है। भक्तिकाल लक्ष्यग्रन्थों का युग था इसलिये उसके कलापक्ष का निरूपण आदि करने के लिए लक्षणग्रन्थों का प्रणयन स्वाभाविक था।

शुक्लजी के अनुसार रीतिकाल का आरम्भ चिन्तामणि से होता है। चिन्तामणि 'रस सम्प्रदाय' के अनुयायी थे और रीतिकाल के अन्य कवियों ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया है। चिन्तामणि के 'पिंगल', 'रसमन्जरी' तथा 'शृंगार-मंजरी' तथा 'कवि-कुल-कल्पतरु' आदि ग्रन्थ लिखे। चिन्तामणि के परवर्ती कवि और आचार्य उनसे प्रभावित हुए हैं।

### (३) काव्य के विषय (भावपक्ष)

रीतिकालीन काव्य में जीवन की विविधता का तो घोर अभाव है। रीतिकालीन कविता को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वकीया-परकीया के झगड़े को छोड़कर उस समय और कोई काम ही करने के लिए नहीं था। अन्ध-कामुकता का वह युग था। लोग हाथ की छड़ी की भाँति स्त्रियों को लिये घूमते थे—

"—काम अन्धकारी जगत लखै न रूप कुरूप।
हाथ लिये डोलत फिरै कामिनि छरी अनूप ।।

रीतिकालीन कवियों के पास न उनका अपना दृष्टिकोण था, न कोई जीवन-दर्शन। वे अपने आश्रयदाता की आँखों से ही संसार को देखते थे, इसलिए रीतिकालीन कविता में जो दृष्टिकोण उभर कर आता है, वह सामन्तवादी दृष्टिकोण ही है। नारी उपभोग्या है. उसका महत्व उसका रूप है। वह मानवी भी है, यह बात रीतिकाल के साहित्य से स्पष्ट नही होगी।

नारी के प्रति इस सामन्तवादी दृष्टिकोण को पन्तजी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"—सदाचार की सीमा जिसके तन से है निर्धारित।
पूत योनि वह मूल्य चर्म पर केवल उसके अंकित।
योनि नहीं है रे नारी, वह है मानवी प्रतिष्ठित।
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।"

नारी उस काल में चल-सम्पत्ति ही थी, पशुओं के समान ही उसका जीवन था। पन्तजी लिखते हैं—

"—क्षुधा कामवश गत युग ने पशुबल से कर जन शासित।
जीवन के उपकरण सदृश नारी भी करली अधिकृत।"

रीतिकालीन कवियों ने स्त्री ही नहीं, भक्ति के आलम्बन राधाकृष्ण तक को इस नर्क का वासी बना दिया। भक्त-कवियों ने राधाकृष्ण को लेकर कुछ शृंगारिक उक्तियाँ कहीं अवश्य हैं किन्तु उनमें लौकिकता या एन्द्रिकता का अभाव है। किन्तु इस काल के कवियों ने तो राधाकृष्ण को साधारण नायक-नायिका बना दिया और उनकी ओट में उन्होंने जिस अश्लील साहित्य की रचना की, अश्लीलता भी उसे देखकर लज्जित हो जायगी। राधा और कृष्ण के विपरीत रति तक के वर्णन इस काल में किये गये। देखिये, इस काल के प्रतिनिधि कवि बिहारी लिखते हैं—

"—राधा हरि, हरि राधिका बनि आए संकेत।
दम्पति रति विपरीत सुख सहज सुरति हूँ लेत॥

देखिये, कृष्ण बीच मार्ग में गोपियों से भद्दी छेड़खानी करते हैं और व्यंग्यरूप में नायिका उनको इच्छित वस्तु (गोरस—इन्द्रियरस) देने का संकेत भी करती है—

"—लाज गहौं बेकाज घत घेरि रहे घर जाहिं।
गोरस चाहत फिरत हो गोरस चाहत नाहिं॥"

डॉ० नगेन्द्र का यह कथन बिलकुल ठीक है कि रीतिकालीन शृंगार का "मूलाधार ऐन्द्रिक रसिकता है, प्रेम नहीं। अतः वह उपभोगप्रधान है" तथा रीतिकालीन शृंगार में "वासना का उदात्तीकरण नहीं किया गया, वह शारीरिक भूख ही रहा।" रीतिकालीन साहित्य में गणिका व नायिका के वर्णन की कमी नहीं है तथा परकीया और खंडिताओं का रीतिकालीन साहित्य में आधिक्य क्या सामाजिक (सामूहिक) रूप में वेश्यागमत्व का द्योतक नहीं है? गणिका के लिए दूसरा शब्द है, सामान्या, अर्थात जो किसी व्यक्ति-विशेष की न हो। रीतिकालीन साहित्य में तो लगता है घर-गृहस्थी में भी ऐसी सामान्याओं की कमी नहीं है और हमारा तो विश्वास है कि रीतिकालीन कवियों ने परकीया नायिका का वर्णन जितनी रुचि और रस के साथ किया है, उतना स्वकीया का नहीं। देखिए, प्रसिद्ध साहित्यिक पं० कृष्णबिहारी मिश्र क्या कहते हैं—

"—संस्कृत और व्रजभाषा काव्य में शृंगार रस के अन्तर्गत नायिका-भेद का वर्णन बड़ी ही सुन्दरता और बारीकी से किया गया है। अनेक सज्जन शृंगार रस में स्वकीया नायिका के भेद और भेदान्तरों तक तो नायिकाभेद की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। पर इसके आगे परकीया और गणिकाओं के सम्बन्ध में होने वाले वर्णनों को वे केवल कुरुचि प्रवर्तक मानते हैं। लेखक भी परकीया और गणिका-वर्णन को

आदर की दृष्टि से नहीं देखता। पर इस विषय में प्राचीन कवियों के जो वर्णन हैं, उनमें कहीं-कहीं भाव-चमत्कार बड़े अनूठे हैं। इन वर्णनों को पढ़ कर यदि अपरिपक्व समझ और अवस्था वाले युवकों में कुरुचि का संचार होता हो, तो आश्चर्य नहीं। पर तो भी कविता-सौन्दर्य इनमें अवश्य है। एक बात और है—हिन्दी कविता में परकीया और गणिका नायिकाओं का वर्णन बुरा प्रभाव उत्पन्न करने वाला होने पर भी इतना गया-बीता नहीं है जितना बाइरन आदि कई अँग्रेज कवियों के अश्लील वर्णन।" आगे चल कर मिश्रजी और भी स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि मतिराम अच्छा कवि है और मतिराम का परकीया एवं गणिका-वर्णन अपेक्षाकृत अच्छा है—

"—'रसराज' में परकीया और गणिका वर्णन परम मनोहर हुआ है। यद्यपि मतिराम ने स्वकीया का वर्णन भी अच्छा किया है; पर सब बातों पर विचार करने के बाद यही निष्कर्ष निकलता है कि उनका गणिका और परकीया का वर्णन अधिक अच्छा है। कला-नैपुण्य की सर्वत्र प्रशंसा होनी चाहिए, परन्तु कुरुचि प्रवर्तक काव्य का कर्ता अपनी कृति के लिए समाज के प्रति उत्तरदायी अवश्य है। ऐसी कृति से कवि के चरित्र-सम्बन्ध में यदि प्रतिकूल अनुमान किया जाय तो उसे निष्कारण नहीं मानना होगा। इनके बहुत से शृंगार-वर्णनों में अश्लीलता की स्पष्ट झलक दिखलायी पड़ती है।"

यदि मिश्रजी जैसे प्रतिष्ठित आलोचक भी ऐसे वर्णनों के प्रशंसक रहेंगे तो फिर भला कवियों को ऐसी और भी कला-निपुणता दिखाने की प्रेरणा क्यों न मिलेगी?

कविवर मतिराम की कुछ गणिका-नायिकाओं की चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगी—

(१) "—बार बिलासिनी कोटि हुलास बढ़ाइकै अंग सिंगार बनायो।
प्रीतम गेह गई चलिकै 'मतिराम' तहाँ न मिल्यो मन भायो।
संग सहेली सों रोष कियो, नहिं आपुन को यह दोष लगायो।
हाय! कियो मैं मतो यह कौन जो आपने भौन बोलि पठायो।"

(२) "—साँझ ही सिंगार सजि प्रान प्यारे पास जाति
बनिता बनिक बनी बेलिसी अनंग की;
कवि 'मतिराम' कल किंकिनी की धुनि बाजै,
मन्द-मन्द चलनि बिराजति गयन्द की।
केसरि रंग्यो दुकूल हाँसी में परत फूल,
केसनि में छाई छवि फूलनि के वृन्द की।
पीछे-पीछे आवति अँधेरी-सी—भँवरभीर,
आगे-आगे फैलति उजारी मुख चन्द की।"

(३) "—मोहि पठाई कुंज में सठ आयो नहि आपु।
आली औरौ मीत को मेरो मिट्यो मिलापु ॥"

(४) "—नागर विदेस मैं बिताय बहु द्यौस आयो
नागरि के हिय में हुलासनि की खानि की ;
'कवि मतिराम' अंक भरि के मयंकमुखी
नेहै सरसाय मति कीनी सुखदानि की;
सुबरन बोलिकै बतावति है सुवरन,
हीरन बतावति है छवि मुसकानि की;
आँखिन ते आनन्द के आँसू उमगाय प्यारी
प्यारे को दिवावति सुरति मुकतान की।"

बिहारी ही भला गणिका-नायिका के वर्णन में पीछे क्यों रह जाते—

"—कहा भयो जो बीछुरे, मो मनु तो मन साथ।
उड़ी जाउ कितहू तऊ गुड़ी उड़ायक हाथ ॥"
(रत्नाकरजी इसमें गणिका-नायिका ही मानते हैं।)

हमारे विचार से तो निम्नांकित दोहे में भी नायिका गणिका ही है—

"—लखि लोने लोइननुकैं कोइनु, होइ न आजु।
कौन गरीब निवाजिबौ कित तूठ्यो रतिराजु ॥"

रीतिकालीन साहित्य गार्हस्थिक काव्य है, यह कहना युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि यदि यह काव्य सपत्नियों के वर्णन तक ही सीमित रहता तो एक बात थी, वह तो परकीया नायिकाओं की निर्लज्जता से घोर अश्लील और पंकिल हो रहा है। सच कहा जाय तो रीतिकालीन काव्य गार्हस्थिक व्यवस्था के लिए एक धमकी या चुनौती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में न तो कोई स्त्री अपने पति से सन्तुष्ट थी और न कोई पति अपनी पत्नियों से। शठ नायक का क्या अर्थ काव्यशास्त्र में होता है ? जो परस्त्रीगामी हो और इस कुकृत्य के लिए लज्जा का अनुभव भी न करे। खण्डिता नायिका क्या है ? जिसका पति परस्त्री विहार करके आया हो और उसका यह पाप किन्हीं चिह्नों से स्पष्ट हो जाय। लक्षिता नायिका क्या है ? वह स्त्री जिसका परपुरुष-विषयक प्रेम स्पष्ट हो जाय। लेकिन रीतिकालीन काव्य में ऐसे स्त्री और पुरुषों के लोकविरोधी चित्र खींचने में इस काल के कवियों ने सर्वाधिक रुचि दिखाई है जो पाप ही नहीं करते, डंके की चोट उसका प्रचार भी करते हैं।

शुक्लजी का यह कहना सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि नायिका के साढ़े तीन हाथ के शरीर में ही इस काल के कवियों ने अपनी समस्त काव्य-शक्ति खर्च कर दी।

रीतिकालीन काव्य मुख्यत: नायिका-भेद का काव्य है। इतनी नायिकाएँ और उनके भेद-उपभेद काव्य में उपस्थित कर दिये गये कि अगर 'कामसूत्र' रचयिता वात्स्यायन भी उन्हें देखते तो अपनी हार स्वीकार कर लेते। रीतिकालीन साहित्य वास्तव में

कामशास्त्र की साहित्याभिव्यक्ति के अतिरिक्त और है ही क्या ? केवल छन्दों में कोई बात कहने से उसकी अश्लीलता कम नहीं हो जाती—हाँ, तीव्रतर अवश्य हो जाती है। 'कामविज्ञान' जहाँ काम-सम्बन्धी विरोधों का स्पष्टीकरण करके, सामाजिक उपादेयता की वस्तु बन जाता है, वहाँ केवल काम को अन्धक्रान्ति करने वाला रीतिकालीन साहित्य समाज के शिवत्व के मूल में विष-सिंचन करता है। यह बात विश्वास के साथ कही जा सकती है कि रीतिकालीन कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की रुचि का ध्यान रखते हुए अपनी काव्य-शक्ति का जितना अधिक अंश परकीया-वर्णन में अपव्यय किया, उसका शतांश भी स्वकीया-वर्णन में नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुष और स्त्रियों के पास उस समय अश्लीलता के इस प्रकाण्ड ताण्डव के अतिरिक्त मन बहलाने का और कोई संस्कृत साधन ही नहीं था। कितनी कुटनियाँ, कितनी प्रकार की सखियाँ और कितनी प्रकार की दूतियाँ इस काल के काव्य-क्षेत्र में आकर एकत्र हो गयी हैं—मानो संसार में और कहीं उन्हें स्थान ही नहीं मिला। नायिकाएँ भी ऐसी अभिसारिका जो दिन में भी अभिसार करें, रात में भी, वह फिर चाहे अँधेरी हो या उजेली। रीतिकालीन साहित्य से तो ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल के सामन्तों ने व्यभिचार और दुराचार को एक अत्यन्त साधारण बात बना दिया था और उनके चाटुकार कवियों ने उसे महिमान्वित कर आकर्षक बनाने में अपने आश्रयदाताओं की जिस स्वाभिभक्ति का पालन किया, वह भारत के कवियों के इतिहास में कलंक का एक लम्बा अध्याय है। इन कवियों ने कविता की है या कोयले की दलाली, यह कहना कठिन है। रीतिकालीन कवि इस कलंक से बचते भी तो कैसे, जब उन्होंने स्वयं प्रकृति के विशाल वैभव और विश्व के उन्मुक्त जीवन की उपेक्षा कर 'काजर की कोठियों' (सामन्त महलों) में रहना अधिक श्रेयस्कर समझा। ये स्वामिभक्त कवि हाथ-पैरों से नहीं, वाणी से अपने अन्नदाताओं की विकृत रुचि के लिए उचित वातावरण उत्पन्न करने में लगे रहते थे। लोग रीतिकालीन काव्य के कलापक्ष की प्रशंसा करते नहीं थकते। इस कलापक्ष के आवरण में ही उस काल में अश्लीलता और कामुकता का घर-घर प्रवेश सरल हो गया। उस काल का कलापक्ष तो बिच्छू के डंक के समान है जो अपने स्पर्श-मात्र से पाठकों के मन-मस्तिष्क में विष का तीव्र संचार कर देता है। अगर रीतिकालीन काव्य का यह डंक ही टूटा होता तो फिर वह भय का कारण भी नहीं रहता।

रीतिकालीन कवियों के उन हाथों की सफाई देखिये जिन्होंने समाज से 'सत्य' और 'शिवं' की भी सफाई कर दी।

एक परकीया को इस बात पर अत्यन्त कष्ट है कि पराया प्रियतम कभी अपना नहीं होता। मैं तो उसके लिए बदनाम हो गयी और उसने मेरे लिए क्या किया ?

"—रावरे नेह की लाज तजी, अरु गेह के काज सबै बिसराए,
डारि दियो गुरु लोगनि को डरु, गाँव चवाय में नाम धराए।

हेत कियौ हम जो तौ कहा तुम तौ 'मतिराम' सबै बहराए,
कोऊ कितेक उपाय करो, कहूँ होत है आपने, पीऊ पराए।"

भक्तियुग में जब कृष्ण की वंशी बजती थी तो गोपियाँ कृष्ण की भक्ति में संसार की सुधि भूल बैठती थीं, किन्तु रीतियुग तक आते-आते सम्भवत: कृष्ण ने कुछ ऐसे नये राग 'देव' जी की सहायता से सीख लिये कि अब उनकी वंशी की ध्वनि सीधा काम-ज्वर उत्पन्न करती है—

"—मुरली सुनत वाम कामजुर लीन भई।
धाई धुरलीक सुनि विधी विधुरन सौं ॥
पावस न दीसी यह पावस नदी सी फिरें।
उमड़ी असंगत तरंगित उरनि सौं ॥

इतना ही नहीं, देखिये, अब गोपियां भागती भी हैं तो रीतिकालीन फैशन के अनुकूल—

"—भूषननि मूलि पैन्हे उल्टे दुकूल देव,
खुले भुजमूल प्रतिकूल विधि वंक मैं।
चूल्हे चढ़े छाँड़े, उफनात दूध भाँड़े उन,
सुत छाँड़े अंक, पति छाड़े परजंक मैं॥" —'देव'

देखिये, यह बिहारी के नायक हैं या आश्रयदाता जिन्होंने किसी अन्य स्त्री के प्रेम में अपनी अनेकों पत्नियाँ विस्मृत कर दी हैं—

"—दच्छिन पिय ह्वै वामबस बिसराई तिय आन।
एकै बासरि कै विरह लागी वरष विहान॥"

परकीया नायिकाओं का अकाण्ड ताण्डव देखिए—

(१) "—अंगुरिनु उचि भरु भीति दै उलमि चितै चख लोल।
रुचि सौं दुहूं दुहून के चूमे चारु कपोल॥ —'बिहारी'

(२) "—सुख सौं बीती सब निसा मनु सोए मिलि साथ।
मूका मेलि गहे सु छिनु हाथ न छोड़े हाथ॥" —'बिहारी'

नायिकाओं को आज तो जैनेन्द्रजी, यशपाल तथा अंचल अपने उपन्यासों में निर्वस्त्र कराते हैं किन्तु यह परम्परा तो पुरानी है और मतिराम के एक नायक इसके पूर्व पुरुष प्रतीत होते हैं—

"—हरयौ बसन प्रिय सुरत में तिय तन जोति समीप।
केलि भौन में रातिहू भए घौस के दीप॥ —'मतिराम'

देखिये, रीतिकाल का एक नायक कितना चिंतित व व्यथित है। क्यों ?—

"—हाय कहा कहौं चंचल या मन की गति में ? मति मेरी भुलानी।
हौं समुझाय कियौ रस भोग न तेऊ तऊ तिसना बिनसानी।

दाड़िम दाख रसाल, सिता, मधु, ऊख पिये श्रो' पियूष से पानी ;
पै नतऊ तरुनी तिय के अधरान के पीवे को प्यास बुझानी ।" —'देव'

महाभारत के सूत्रधार और योगीराज कृष्ण को देखिये, मतिराम ने क्या काम सौंपा है—

"—केलिकै राति अघाने नहीं दिन हूँ में लला पुनि घात लगाई ।
प्यास लगी कोई पानी दै जाउ यों भीतर बैठि के बात सुनाई ।।
जेठी पठाई गई दुलही हँसि हेरि दिए 'मतिराम' बुलाई ।
कान्ह के बोल पै कान्ह न दीनो सुगेह को देहरि पै धरि आई ।।"

स्त्री को मदिरापान कराकर उसकी लज्जा को दूर किया जाय, रीतिकाल के इस सामन्ती दृष्टिकोण ने न जाने रीतिकाल में कितनी स्त्रियों को मदिरापान के लिए विवश किया होगा—

"—निपट लजीली नवल तिय बहकि बारुनी सेइ ।
त्यौं त्यौं अति मीठी लगति, ज्यौं ज्यों ढीठ्यो देइ ।।
हँसि-हँसि देखि नवल तिय मद के मद उमदाति ।
दलकि-बलकि बोलति बचन ललकि-ललकि लपटात ।।"

—'बिहारी'

बिहारी का वश चले तो देखिए वे आदमी को कहाँ स्नान करायें—

"—तिय तिथि तरुन किशोर वय पुण्य काल सम दोनु ।
काहूँ पुण्य न पाइयतु बैस सन्धि संक्रोनु ।।"

रीतिकाल का नायक स्त्री से क्या व्यायाम कराता है—

"—अहे दँहेड़ी जिन धरै जिन तू लेहि उतारि ।
नीके है छींके छुवै ऐसे ही रहि नारि ।।"

देखिये, रीतिकाल के एक दूसरे रसिक को—

"—बढ़त निकसि कुच-कोर-रुचि कढ़त गौर भुजमूल ।
मन लुटिगो लोटनु चढ़तु, चौटत ऊँछे फूल ।।"

रीतिकाल के समाज में जो घुन लग गया था, उसने न जाने कितने परिवारों को खोखला बना दिया होगा । बिहारी की एक नायिका देवर की गन्दी छेड़खानी से परेशान है—

"—कहत न देवर की कुवत कुलतिय कलह डराति ।
पंजर गत मंजार ढिग सुक लौ सूकत जाति ।।"

किन्तु निम्नांकित दोहों में देखिए कि रीतिकाल में भाभियों और देवरों में कितने व्यापकरूप में प्रणय-व्यापार चलता था और कवि उसको आकर्षक रूप में चित्रण करके उसके क्षेत्र का विस्तार ही करता था । रीतिकाल के इस भाभी-देवर-

सम्बन्ध की रामायणकाल के भाभी-देवर-सम्बन्ध से तुलना कीजिये और फिर देखिये कि समाज ने कितनी उन्नति की है—

(१) "—देवर फूल हने जु, सु उठे हरषि अँग फूलि।
हँसो करत औषधि सीखनु देह ददोरन भूलि॥" —बिहारी

(२) "—और सबै हरषी हँसति गावति भरी उछाह।
तु ही बहू बिलखी फिरै क्यों देवर कें व्याह॥" —बिहारी

एक परकीया नायिका नायक की इस चेष्टा पर बड़ी प्रसन्न हो रही है—

"—लरिका लवे के मिसन लंगर मो ढिग आइ।
गयो अचानक आँगुरी छाती छैल छुवाइ॥" —बिहारी

बिहारी की भाँति न जाने कितने रीतिकालीन कवि नदी के घाटों आदि के पास बैठ कर काव्य (?) रचना करते होंगे। बिहारी का सूक्ष्म निरीक्षण देखिये—

(१) "—नहिं अन्हाइ नहिं जाइ घर चित चिहुँटयो तकि तीर।
परसि फुरहरी लै फिरति बिहँसति धसति न नीर॥"

(२) "—बिहँसति सकुचति सी दिये कुच आँचर बिच बाँह।
भीगे पट तट को चली न्हाइ सरोवर माँह॥"

(३) "—मुँह धोवति एड़ी घिसति हँसति अनगवति तीर।
धसति न इंदीवर नयन कालिन्दी के तीर॥"

(४) '—लै चुभकी चलि जात जित जित जलकेलि अधीर।
कीजति केसरि नीर से तित तित के सरि नीर॥" —बिहारी

कामांधता की सीमा यहीं नहीं हुई। परस्त्रीगमन का जो भयंकर कामज्वर उस समय के लोगों पर चढ़ा हुआ था, न तो वह पथ्य-अपथ्य का विचार करता था, न पात्र-अपात्र का। नायिका ने अपनी दूती नायक को लेने भेजी थी किन्तु स्वयं दूती ही नायक की कामवासना का शिकार हो गयी। रीति-चिन्हों के द्वारा इसका रहस्योद्‌घाटन होने पर नायिका दूती को फटकार रही है—

(१) "—गहयौ अबोलौ बोलिप्यौ आपुहिं पठै बसीठि।
दीठि चुराई दुहुन को लखि सकुचौंहीं दीठि॥" —बिहारी

(२) "—याही को पठाई, बड़ो काम करि आई, बड़ी
तेरी है बड़ाई, लख्यौ लोचन लजीले सों।
साँची क्यों न कहै, कछु मोको किधों आपुही को,
पाई बकसीस लाई बसन छबीले सों।
कवि 'मतिराम' मोसों कहत सँदेसोऊ न,
भरे नख सिख अंग हरख कटीले सों।
तू तों है रसीली, रस बातन बनाइ जानै,
मेरे जानि आई रस राखि के रसोले सों॥" —मतिराम

काम का यह असीम समुद्र मन्दिरों आदि पवित्र स्थानों की सीढ़ियों तक से टकराने लगा था और पूजा करने वाले पुजारी तथा कथा सुनाने वाले कथावाचक तक इसके प्रभाव से नहीं बचे थे। समाज में पवित्र एवं आदरणीय समझे जाने वाले लोगों की वास्तविक दशा क्या थी, बिहारी यह बात स्पष्ट करते हैं—

पुजारी "—मैं यह तोही मैं लखी भगति अपूरब बाल।
लहिप्रसाद मालाजु भौ तन कदंब की डाल॥"

कथावाचक "—परतिय दोष पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि।
कस करि राखी मिसुर हूँ मुँह आई मुसकान॥"

स्पष्ट है, उपरोक्त दोहों में वर्णित 'पुजारी' और 'कथावाचक' दोनों ही परस्त्रीगामी हैं। किसी परकीया नायिका को कोई स्त्री शिक्षा देती है कि पर-पुरुष से प्रेम करना अच्छा नहीं है। इसके उत्तर में नायिका जो बात कहती है, उससे रीत-कालीन समाज का सब भेद खुल जाता है। नायिका का कहना है कि मैं ही क्या, गोकुल में कोई ऐसी स्त्री ही नहीं है जिसे यह रोग न हो—

"—कितीन गोकुल कुलबधू किहिं न काहि सिख दीन।
कौने तजी न कुलबधू ह्वै मुरली सुरलीन॥" —'बिहारी'

लेकिन रीतिकाल में ऐसी सखियों का ही बाहुल्य था जो नायिकाओं को पर-पुरुषगामी होने के लिए प्रेरित किया करती थीं। देखिये, एक सखी नायिका को समझा रही है कि लोकापवाद की चिन्ता छोड़कर तू नायक को हृदय से क्यों नहीं लगा लेती—

"—आगे तो कीन्हीं लगा लगी लोयन कैसे छिपै अजहु जो छिपावति।
तू अनुराग कौ सोध कियो व्रज की वनिता सब यों ठहरावति॥
कौन संकोच रह्यो है निवाज जो तू तरसै उनहूँ तरसावति।
बावरी जो पै कलंक लग्यो तो निसंक ह्वै क्यों नहिं अंक लगावति॥"
—'निवाज'

रीतिकालीन खण्डिता नायिकाओं के रूप में उस काल के पुरुष-समाज का वास्तविक चरित्र भी अनावृत हो जाता है। खण्डिता नायिका परस्त्रीगामी पुरुष की ही स्त्री हो सकती है।

नायक कहीं अन्यत्र रात बिता कर आया है। धीरा खण्डिता नायिका रति-चिह्नों द्वारा पहचान कर उससे व्यंगपूर्ण भाषा में कहती है—

"—पलन पीक अंजन अधर धरे महावर भाल।
आए आजु भली करी भले बने हो लाल॥" —'बिहारी'

ऐसी ही कुछ अन्य खण्डिताओं की कराह निम्नांकित पंक्तियों में सुनिये—

"—भोर ही नौत गई थी तुम्हें वह गोकुल ग्राम की ग्वालिनि गोरी।
अधिक रात लौं 'बेनी प्रवीन' कहा ढिग राखि करी बरजोरी।

आवै हँसी मोहि देखत लालन भाल में दीनी महावर घोरी।
ऐते बड़े ब्रज मंडल में न मिली कहुँ माँगेहु रंचक रोरी ।।"

रीतिकाल में वही कवि श्रेष्ठ समझा जाता था जो विश्व की प्रत्येक वस्तु में नायिका की आकृति देख सके। सेनापति ने तो तलवार, पगड़ी, चौपड़ आदि में भी नायिका का आरोप किया है। इसी प्रकार यदि योग, ज्योतिष, दर्शन, गणित आदि का वर्णन भी शृंगारिक रूप में नहीं किया तो फिर क्या कवि और क्या कविता ?

जंग के रूप में खींचा गया रतिरंग का एक चित्र देखिये। संसार के सब रसों का शृंगार के अन्तर्गत वर्णन कर देना रीतिकाल की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है—

"—कंचन लता सी थहराति अंग अंग मिलि,
सीकर समूह अंग अंगनि में दरसै।
चुम्बन कपोल नैन खंजन अरध नख,
गहत पयोधर प्रचण्ड पानि परसै।
आनन्द उमंगनि में मुस्कात बाल सुत,
रात बतरात सतरात रस बरसै।
लपटनि झपटनि मसकनि अनेक अंग,
रति रंग जंग में अनंग रंग सरसै।"

युद्ध के नाम से ही डरने वाले केवल अपने कवियों के लिए ही वीर रीतिकालीन राजा अब रति-जंग वर्णन सुनना पसन्द करते थे।

## रीतिकालीन काव्य और प्रकृति

रीतिकाल में यदि प्रकृति की उपेक्षा की गयी तो वह स्वाभाविक ही था क्योंकि मुख के सामने चन्द्र किसे अच्छा लगता—

"देखै मुख मुखै कमलै न चन्दरी।" —'केशव'

इसलिए प्रकृति रीतिकाल में केवल उद्दीपन विभाव के रूप में ही चित्रित मिलती है। उसका उपयोग संयोगावस्था में नायक-नायिका के हृदय को प्रसन्न करने के लिए किया गया है और विरहावस्था में उसे जलानेवाली, दुःख देने वाली वस्तु के रूप में वर्णन करके कवियों ने अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली। इस काल में या तो कवियों ने उपमानों के लिए प्रकृति की ओर देखा है या उद्दीपन के लिए। इन दोनों बातों के लिए प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की कोई आवश्यकता न थी क्योंकि ये दोनों बातें तो कवियों ने परम्परा से ही ग्रहण की थीं।

उद्दीपनरूप में प्रकृति-चित्रण के कुछ उदाहरण देना आवश्यक है—

"—कवि बेनी नई उनई है घटा मोरवा वन बोलत कूकन री।
छहरै बिजुरी छिति मंडल छ्वै, लहरै मन मैन भभूकन री।
पहिरो चुनरी चुनिकै दुलही संग लाल के झूलहु झूकन री।
ऋतु पावस यों ही वितात हो मरि हो फिरि बावरी हूकन री।" —'बेनी'

वियोगावस्था में प्रकृति वस्तुएँ विरहिणियों को कैसी दिखलाई देती हैं, इसका एक चित्र देखिये—

"—जलभरे झूमैं मानो भू पै परसत आइ,
दसहू दिसानि घूमै दामिनि लए लए।
धूरिधार धूमरे से, धूम से धुआरे कारे,
धुरवान धारे धावैं छविसों छए छए।
श्रीपति सुकवि कहैं घेरि घेरि घहराँहि,
तकत अतन तन ताव ते तए तए।
लाल बिनु कैसे लाज चादर रहैगी आज,
कादर करत मोहि बादर नए नए॥"

बिहारी का विचार है कि नीचे उतर कर बरसने वाले बादल कामाग्नि-वर्षण ही कर रहे हैं, यहाँ तक कि मुनियों के हृदय में भी स्त्रियों की याद उद्दीप्त हो उठी है—

"—तियतरसौहैं मुनि किए करि सरसौहैं नेह।
घर परसौहैं ह्वै रहे झर बरसौहैं मेह।"

फारसी का प्रभाव

रीतिकाल में हिन्दू-मुसलमान संस्कृति दूध-पानी को भाँति मिल गयी थी। साहित्य भी उससे अछूता कैसे रह सकता था? अन्य कलाओं की भाँति तत्कालीन काव्य पर भी मुसलमानी प्रभाव की छाया स्पष्ट है। अत्युक्ति तो यहाँ के काव्य के लिए पूर्वपरिचित थी, किन्तु 'नाजुक खयाली' तथा ऊहात्मक उक्तियाँ उसने मुसलमानी संस्कृति से ही लीं।

नाजुक खयाली

"—सखी सिखावति मान विधि सेननि बरजति बाल।
हरुए कहि मो हिय बसत सदा बिहारीलाल॥"

उर्दू का एक शेर है

"—इन्तहाए लागरीं से जब नजर आया न मैं।
हँसके वो कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिए॥"

लेकिन 'बिहारी' इस दिशा में भी दो पग आगे बढ़ गये। अगर मर्त्यों को चर्म-चक्षुओं से कोई वस्तु न दीखे तो कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु बिहारी की नायिका तो इतनी कृशकाय हो गयी है कि वह मृत्यु को भी चश्मा लगाने पर भी नहीं दिखाई देती—

"—करी बिरह ऐसी तऊ गैलन छाँड़त नीचु
दीनैंहूँ चसमा चखनु चाहै लहै न मीचु।"

देखिये, मतिराम की नायिका के आँसू बीच में ही विलुप्त हो जाते हैं—

"—विरह तपे तिय कुचन लों अंसुवा सकत न आय।
गिरि उड़गन ज्यों गगनतें बिचिहिं जात बिलाय॥"

लेकिन बिहारी को 'ऊहा' में कौन पा सकता है। उनकी नायिका के ऊपर डाली गयी गुलाबजल की शीशियों का जल नायिका के शरीर तक पहुँच ही नहीं पाता—

"—औंधाई सीसी सुलखि विरह बरनि बिललात।
बिचही सूखि गुलाब गो छींटों छुई गात॥"

तथा

"—आड़े दें आले बसन जाड़ेहूँ की राति।
साहस करें सनेहवस सबै सखी ढिग जाति॥"

ऊहात्मक उक्तियों की कोई सीमा भी हो। एक गाँव में जाड़े के दिनों में भी लू चल रही हैं, लेकिन इसका कारण बिहारी जानते हैं और बताते हैं—

"—सुनत पथिक मुँह माह निसि चलति लुवें उदिगाम
बिनु बूझें बिनु ही कहें जियति बिचारी बाम।"

इसके अतिरिक्त भक्तिकाल की तुलना में अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग इस काल की कविता में कई गुना अधिक मिलेगा।

## रीतिकालीन काव्य का कलापक्ष

यदि कहें कि रीतिकाल (सं० १७००-१९००) की काव्य-साधना उसके कलापक्ष की साधना है तो अत्युक्ति न होगी। जीवन की विविधता के इस काल में दर्शन नहीं होते। कवियों के पास कहने के लिए था ही क्या? नायिका के 'साढ़े तीन हाथ के शरीर' पर ही इस काल के कवियों ने अपनी काव्य-साधना के पुष्प चढ़ाये हैं। हाँ, नायिकाओं का विस्तार उसके भेदोपभेदों के रूप में जितना इस काल में हुआ, उतना शायद ही कभी हुआ हो। जाति के अनुसार नायिका के भेद, स्वभाव के अनुसार नायिका के भेद, आयु के अनुसार नायिका के भेद, स्थिति के अनुसार नायिकाओं के भेद—न जाने कितने प्रकार की नायिकाएँ इन कवियों ने रीतिकालीन काव्य में एक ही स्थान पर एकत्रित कर दी हैं और फिर सम्पूर्ण काव्य किसी न किसी नायिका के लक्षण के उदाहरण के रूप में ही लिखा गया है। जब कोई बात कहने के लिए नहीं थी तो इस काल के कवियों ने 'तिल का ताड़' बनाया और 'बात की ही करामात' दिखाई। इस काल में दो प्रकार के कवि मिलते हैं—

(१) जो केवल कवि हैं—जिन्होंने अपनी कविता लक्षणों के उदाहरणरूप में नहीं लिखी है किन्तु जिसमें नायिका और अलंकार के भेदोपभेदों के लक्षण स्पष्ट छाँटे जा सकते हैं।

(२) वे लोग जिन्होंने जानबूझकर अपनी कविता लक्षणों के उदाहरणस्वरूप ही लिखी है।

वास्तव में, रीतिकाल में कुछ ऐसी प्रवृत्ति चल पड़ी कि कवि और आचार्य—दोनों का एक साथ होना आवश्यक समझा गया। इसका फल यह हुआ कि न तो आचार्यत्व और न कवित्व का ही पूर्ण विकास इस युग में हो पाया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रीतिकाल की इस प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए लिखते हैं—

"—कवियों ने कविता लिखने की यह एक प्रणाली ही बना ली कि पहले दोहे में अलंकार या रस का लक्षण लिखना, फिर उसके उदाहरण के रूप में कवित्त या सवैया लिखना। हिन्दी-साहित्य में यह अनूठा दृश्य खड़ा हुआ। संस्कृत-साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न-भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे। हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में यह भेद लुप्त-सा हो गया। इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है, उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग एक दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कविकर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खण्डन-मण्डन, नये-नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि इस काल में कुछ भी न हुआ।"

महाराज जसवन्तसिंह के 'भाषाभूषण' नामक ग्रन्थ में परिभाषा और उदाहरण को एक साथ ही रख देने की पद्धति देखिये—

**परिसंख्या अलंकार**

"—परिसंख्या इकथल वरजि दूजे थल ठहराय।
नेह हानि हिय में नहीं भई दीप में जाय।।"

**सार अलंकार**

"—एक-एक ते सरस जब अलंकार यह सार।
मधु सों मधुरी है सुधा कविता मधुर अपार।।"

निम्नांकित छन्द ऐसा लगता है कि 'देव' ने शृंगार रस के समस्त संचारी-भावों के नाम गिनाने के उदाहरणस्वरूप रखा हो—

"—वैरागिनि किधों अनुरागिनि तू देव,
बड़भागिनि लजति औ लरति क्यों ?
सोवत, जगति, अरसाति, हरषाति,
अनखाति, बिलखाति, दुख मानति डरति क्यों ?
चौंकति, चकति, उचकति औ बकति,
बिचकति औ थकति ध्यान धीरज धरति क्यों ?
मोहति, मुरति, सतराति, इतराति, साहचरज,
सराहौं आहचरजि मरत क्यों ?"

'देव' रस की परिभाषा देते हैं—

"—जो विभाव अनुभाव अरु, विभचारिनु करिहोइ।
थिति की पूरन वासना सुकवि कहत रस सोइ।।"

'देव' कृत आलम्बन और उद्दीपन की परिभाषा भी देखिये—

"—रस उपजै आलम्बि जिहि सो आलम्बन होइ।
रसहि जगावै दीप ज्यौं उद्दीपन कहि सोइ॥"

'देव' हास्यरस की परिभाषा करते हैं—

"—भाषा भूषन भेष जँह उलटेइ करि मूल।
उत्तम मध्यम अधम कहि त्रिविध हास्यरस मूल॥"

इस प्रकार 'देव' ने और भी रसों के लक्षण और उदाहरण दोनों ही लिखे हैं। वे अद्भुत रस का लक्षण देते हैं—

"—आहचरज देखे सुने विस्मय बाढ़त चित्त।
अद्भुत रस विस्मय बढ़े, अचल सचकित निमित्त॥"

अद्भुत रस का उन्हीं के द्वारा दिया हुआ उदाहरण भी देखिये—

"—राधे को न्योति बुलायवे को बरसाने लौं हौं पठई नन्दरानी।
श्री वृषभानु की सम्पत्ति देखि, थकी गति औ अति बानी।
भूलि गयी मन मन्दिर में प्रतिबिम्बनि देखि विशेष भुलानी।
चारि घरी लौं चितौति-चितौति, मरू करि चन्द्रमुखी पहिचानी॥

रीतिकालीन साहित्य में अलंकार, रस, (नवरस, शृंगार, हास्यादि) ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, संचारीभाव, नायिका-भेद आदि के लक्षण और उदाहरण मिलेंगे। किन्तु कुछ कवि तो ऐसे हैं जिन्होंने लक्षण और उदाहरण दोनों लिखे हैं, अर्थात् जो कवि भी हैं और आचार्य भी। कुछ कवि ऐसे हैं जिन्होंने लक्षण नहीं लिखे हैं किन्तु उनकी कविता में रीतिपद्धति की छाप स्पष्ट है, अर्थात् उनकी कविताओं में उपरोक्त सभी बातों के उदाहरण मिल जायँगे।

(१) ऐसे कवि जो आचार्य भी हैं

केशव-रचित ग्रन्थ—'रामचन्द्रिका', 'वीरसिंह देव चरित', 'जहाँगीर जस-चन्द्रिका' और 'विज्ञान गीता', 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया'।

चिन्तामणि-रचित ग्रन्थ—'रसमंजरी', 'पिंगल', 'शृंगार मंजरी', 'कविकुल-कल्पतरु'।

मतिराम-रचित ग्रन्थ—'रसराज', 'ललितललाम', 'छन्दसार', 'साहित्यसार' और 'लक्षण शृंगार'।

भूषण-रचित ग्रन्थ—'शिवराज भूषण', 'शिवाबावनी', 'छत्रसाल दशक'।

महाराज जसवन्तसिंह—(ये केवल आचार्य के नाते प्रसिद्ध हैं) ग्रन्थ—'भाषा भूषण'।

अन्य विषय के ग्रन्थ—'अपरोक्ष सिद्धान्त', 'सिद्धान्त-बोध', 'सिद्धान्त-सागर' तथा 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक।

कुलपति मिश्र-रचित ग्रन्थ—'रस रहस्य', 'द्रोण पर्व', 'मुक्ति तरंगिनी', 'नख-शिख', ,संग्रहसार', 'गुण रहस्य'।

देव—(१) भावविलास ; (२) अष्टयाम ; (३) भवानीविलास ; (४) कुशल-विलास ; (५) प्रेमचन्द्रिका ; (६) जातिविलास ; (७) रसविलास ; (८) शब्द-रसायन ; (९) सुखसागरतरंग ; (१०) नीतिशतक ; (११) सुजान-विनोद ; (१२) राग-रत्नाकर ; (१३) देवचरित्र ; (१४) सुन्दरीसिन्दूर ; (१५) शिवाष्टक ; (१६) प्रेम-तरंग ; (१७) देवमायाप्रपंच ; (१८) देवशतक ; (१९) वृक्षविलास ; (२०) पावस-विलास ; (२१) रामानन्दलहरी ; (२२) प्रेमदीपिका ; (२३) सुकालविनोद ; (२४) राधिकाविलास ; (२५) नखशिख-प्रेमदर्शन।

भिखारीदास-ग्रन्थ—(१) 'काव्यनिर्णय' ; (२) रससारांश ; (३) छन्दार्णव-पिंगल ; (४) शृंगारनिर्णय ; (५) नामप्रकाश ; (६) विष्णुपुराण-भाषा ; (७) छन्द-प्रकाश ; (८) शतरंजशतिका ; (९) अमरप्रकाश।

रसलीन-ग्रन्थ—(१) अंगदर्पण ; (२) रसप्रबोध।

तोषनिधि-ग्रन्थ—(१) सुधानिधि ; (२) विनयशतक ; (३) नखशिख।

पद्माकर-ग्रन्थ—(१) जगद्विनोद ; (२) गंगालहरी ; (३) हिम्मतबहादुर ; विरुदावली ; (४) पद्मार्णव ; (५) आलीजाहशाह-प्रकाश ; (६) भाषा-हितोपदेश ; (७) प्रबोधपचासा।

प्रतापसिंह-ग्रन्थ—(१) व्यंग्यार्थ-कौमुदी ; (२) काव्यविलास ; (३) शृंगार-मंजरी ; (४) शृंगारशिरोमणि ; (५) अलंकारचिन्तामणि ; (६) जयसिंहप्रकाश ; (७) काव्यविनोद ; (८) रसराज की टीका ; (९) रत्नचन्द्रिका ; (१०) जुगलनख-शिख ; (११) बलभद्र नखशिख की टीका।

कालिदास-ग्रन्थ—(१) बधूविनोद ; (२) कालिदासहजारा (कविता-संग्रह)।

सूरति मिश्र-ग्रन्थ—काव्यसिद्धान्त।

श्रीपति-ग्रन्थ—काव्यसरोज।

सोमनाथ-ग्रन्थ—रसपीयूषनिधि।

भिखारीदास-ग्रन्थ—(१) काव्यनिर्णय ; (२) शृंगारनिर्णय ; (३) छन्दार्णवविमल ; (४) रस-सारांश।

दूलह-ग्रन्थ—कविकुल-कण्ठाभरण।

ऊपर लिखा जा चुका है कि रीतिकाल में ऐसे भी कवि हैं जो आचार्य नहीं हैं, किन्तु उनकी रचनाएँ रीति के प्रभाव से बिलकुल मुक्त नहीं कही जा सकतीं। सर्व-प्रथम तो रीतिकाल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि बिहारी को लीजिये। बिहारी ने केवल एक 'सतसई' लिखी है, इनके और ग्रन्थ हों भी तो मिलते नहीं हैं। 'सतसई' के दोहों से एक बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि यदि बिहारी आचार्य बनने का भी प्रयत्न करते तो रीतिकाल में बहुत कम कवि उनकी समानता कर पाते। रीतिकाल के अच्छे-अच्छे आचार्य रीति-पद्धति पर जिन काव्यांगों के समुचित उदाहरण प्रस्तुत न कर सके, वे

उदाहरण 'सतसई' में अनायास मिल जायेंगे। क्या रस, क्या अलंकार, क्या शब्द-शक्ति, क्या नायिका-भेद—बिहारी के दोहों में इनमें से कोई विषय छूटा नहीं है। बिहारी के कुछ दोहे देखिये, जो लगता है कि अलंकारों के उदाहरणस्वरूप ही लिखे गये हैं—

"—तो पर वारौं उरबसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी समान॥"

(यमक अलंकार)

"—अज्यौं तर्‌यौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इकरंग।
नाक बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतनि के संग॥"

(श्लेष अलंकार)

"—सोहत ओढ़ें पीतपट स्याम सलोने गात।
मनहु नीलमनि सैल पर आतप पर्‌यो प्रभात॥"

(उत्प्रेक्षा अलंकार)

"—डारे ठोड़ी गाड़ गहि नैन बटोही मारि।
चिलक चौंध में रूप ठग हाँसी फाँसी डारि॥"

(सांग रूपक)।

बिहारी का निम्नांकित दोहा हास्यरस का उदाहरण भी प्रस्तुत करता है—

"—अति घन लै अहसान के पारो देत सराहि।
वैद वधू निज रहसि सौं रही नाद मुख चाहि॥"

(१) पारे की विकृत प्रशंसा—आलम्बन।

(२) धन लेकर भी अहसान करना—उद्दीपन।

(३) वैद्य वधू द्वारा पतिमुख-निरीक्षण—अनुभाव तथा संचारी स्मृति आदि।

इसी प्रकार बिहारी के निम्नांकित दोहे में शब्दार्थ द्वारा हास्य-सृष्टि का उदाहरण स्पष्ट है—

"—चिर जीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के बीर॥"

बिहारी के कुछ ऐसे दोहे देखिये जो विभिन्न संचारीभावों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

"—नीठि नीठि उठि बैठिहू प्यौ प्यारी परभात।
दोऊ नींद भरे खरैं गरैं लागि गिर जात॥"

(आलस्य संचारी)

"—मृग नैनी दृग की फरक उर उछाह तन फूल।
बिन ही पिय आगम उमगि पलटन लगी दुकूल॥"

(हर्ष संचारी)

निम्नांकित दोहों में लक्षणा के विभिन्न भेदों के उदाहरण देखिये—

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कंपं किशोरी दरस कें खरे लजाने लाल ।।
(रूढ़ि लक्षणा, ब्रज का अर्थ—ब्रज के लोग)

कच समेटि करि भुज उलटि खए सीस पट डारि।
काको मन बाँधै न यह जूरा बाँधनि हार ।।"
(लक्षण लक्षणा)

यहाँ 'मन बाँधे' अपना बिलकुल अर्थ छोड़कर 'आसक्त होने' का अर्थ देता है। कहने का सारांश यह है कि बिहारी ने यद्यपि लक्षण-स्वरूप दोहे नहीं लिखे हैं, फिर भी वह प्रवृत्ति उनके दोहों से स्पष्ट है।

कुछ अन्य कवि जो रीति-पद्धति से मुक्त होकर लिखते रहे, फिर भी यह कहना कठिन है कि उन पर रीतिकाल का प्रभाव नहीं है। (भूषण जैसा वीर रस का कवि भी रीतिकाल की रीति-पद्धति से नहीं बच सका।) घनानंद, बोधा, सीतल ठाकुर आदि स्वच्छन्द कवि हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो गया होगा कि रीतिकाल में बहुत कम ऐसे कवि हुए जो लक्षण-ग्रन्थ लिखने या आचार्य बनने के लोभ को संवरण कर सके। रीतिकाल के इस रीति-बद्ध काव्य की प्रेरणा के मूल स्रोत संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थ और विभिन्न साहित्य-शास्त्र के सम्प्रदाय हैं। उदाहरणार्थ, संस्कृत के निम्नांकित सम्प्रदायों का प्रभाव रीतिकाल पर है—

(१) रस सम्प्रदाय ;
(२) अलंकार सम्प्रदाय ;
(३) रीति सम्प्रदाय ;
(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय ;
(५) ध्वनि सम्प्रदाय।

इन सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय हम 'अलंकारों का काव्य में स्थान' नामक निबन्ध में दे चुके हैं, इसलिये पुनः उनका वर्णन करना पिष्टपेषणमात्र होगा।

हिन्दी के रीतिकालीन ग्रन्थों में मुख्यतः तीन प्रकार की निरूपण-शैलियाँ मिलती हैं, जो क्रमशः 'काव्य-प्रकाश', 'शृंगार-तिलक' तथा 'चन्द्रालोक' को अपना आधार बनाती हैं।

(१) काव्य-प्रकाश की शैली पर लिखे गये रीतिकालीन ग्रन्थ—

चिन्तामणि का 'काव्यकल्पतरु' और 'काव्यविवेक'। देव का 'काव्यरसायन'। सेनापति का 'काव्यकल्पद्रुम', 'रस पीयूष निधि'। कुलपति का 'रसरहस्य'।

(२) 'शृंगार-तिलक' की शैली पर लिखे गये रीतिकालीन लक्षण-ग्रन्थ —

केशव की 'रसिकप्रिया', मतिराम का 'रसराज', देव का 'भाव विलास' (यह ग्रन्थ संस्कृत की रसमंजरी की शैली पर है)।

(३) 'चन्द्रालोक' की शैली पर लिखे गये रीतिकालीन ग्रन्थ—

जसवन्तसिंह का 'भाषा-भूषण' तथा पद्माकर का 'पद्माभरण' आदि।

यह तो मानना ही पड़ेगा कि संस्कृत का काव्य-शास्त्र जितना विशद और गम्भीर चिन्तन से परिपूर्ण है, हिन्दी का उतना नहीं। संस्कृत के अलंकार सम्प्रदाय का प्रभाव रीतिकालीन कवियों में केवल केशव पर है। शेष कवि 'रस सम्प्रदाय' के अनुयायी ही प्रतीत होते हैं। शब्द-शक्तियों (अभिधा, लक्षणा, व्यंजना) की इस काल में उपेक्षा की गयी है। पं० कृष्णशंकर शुक्ल इस विषय में लिखते हैं—

"रसों में भी शृंगार रस को ही महत्व दिया गया। अन्य रस या तो छोड़ ही दिये गये या यों ही चलते कर दिये गये। संयोग शृंगार, वियोग शृंगार, नायक-नायिका भेद, दूती-कर्म दर्शन, सात्विक, व्यभिचारी, मान, मानमोचन, सखी-कर्म इत्यादि का वर्णन बड़े विस्तार से हुआ। इन वर्णनों में बहुत सी बातें कामशास्त्र की भी आ गयी हैं, जिनकी आवश्यकता न थी। शृंगार रस का आलम्बन नायिका है, अतः स्वरूप-वर्णन की नखशिखवाली परिपाटी का अत्यधिक प्रचार हुआ। उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आने वाले षट्ऋतु, बारहमासा आदि के वर्णन में भी कवियों की वृत्ति बहुत रमी। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों की एकदम उपेक्षा कर दी गयी। दृश्य-काव्य के ऊपर तो विचार ही नहीं किया गया।"

रीतिकाल के विषय में डॉ० श्यामसुन्दरदास के विचार भी बड़े महत्व के हैं—

"—रीतिकाल के अधिकांश कवियों को बँधी हुई लीक पर चलना पड़ा। उन्हें अपनी ही बनाई हुई सीमा में जकड़ जाना पड़ा। साहित्य का उच्च लक्ष्य भुला दिया गया। तत्कालीन कवियों की कृतियाँ विशृंखल, निरंकुश और उद्दाम हैं। उनमें कहीं उच्चातिउच्च भावनाएं कुत्सित प्रसंगों के पास ही खड़ी हैं, तो कहीं सौन्दर्य और प्रेम के मर्मस्पर्शी उद्‌गार 'अतिशयोक्ति' और 'बात की करामात' से घिरे हैं। कहीं उप-माओं और उत्प्रेक्षाओं के बोझ से वास्तविक बात दब गयी है, तो कहीं श्लेष की ऊटपटाँग योजना 'भानमती का पिटारा' दिखला रही है, जैसे किसी को कुछ कहना ही न हो, कविता केवल दिल-बहलाव के लिए गपशप या ऐयाशों की बहक की हुँकारी हो।"

रीतिकाल के पक्ष में केवल एक ही बात कही जाती है और वह है—इस काल में हुई भाषा की साधना। ब्रजभाषा में गद्य तो पैदा होते ही मुरझा गया। हाँ, पद्य में ब्रजभाषा का स्वरूप इतना अवश्य निखर उठा कि वह विश्व की किसी भी मधुरतम भाषा से टक्कर ले सके और उनके मधुर रूप का यह चरम विकास रीतिकाल में ही हुआ, यह मानने की बात है। कलापक्ष की भाँति कहीं रीतिकाल का भावपक्ष भी पूर्ण और पुष्ट होता तो फिर रीतिकालीन साहित्य अद्वितीय हो जाता।

———

## खण्ड २

अध्याय १

# महात्मा कबीर

कबीर जिस युग में पैदा हुए थे, उसमें कविता करना भर उनका लक्ष्य नहीं हो सकता था। वे कविरूप में पैदा नहीं हुए थे अपितु पैगम्बर के रूप में आये थे और प्राणियों का उद्धार करने आये थे—"पैगम्ब को संदेशा लाये हंस उवारन आये"। अतः काव्य कबीर के लिए साध्य नहीं था, वह तो साधनमात्र था। वस्तुतः वे एक महात्मा और सुधारक थे, फिर भी हृदय के भावों की शक्ति पूर्ण अभिव्यक्ति के कारण साहित्य में उनका महत्वपूर्ण स्थान है।

निर्गुण शाखा के प्रायः सभी सन्त कवि एक ही प्रकार का संदेशा समाज के लिए लाये थे। वे जाति-पाँति के विरुद्ध थे, छुआछूत के कट्टर विरोधी थे, वर्णाश्रम-व्यवस्था उन्हें प्रमादपूर्ण और व्यर्थ प्रतीत होती थी। अधिकांश सन्त कवि स्वयं नीची जाति के थे, अतः शुक्लजी के शब्दों में जाति-पाँति के खण्डन तो वे स्वयं थे। उन कवियों ने इन भावनाओं को जिस वाणी में प्रकट किया, स्वाभाविकतः वह कठोर, व्यंग्यपूर्ण तथा काव्य-गुणरहित है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि कवित्व इनमें है ही नहीं। कबीर सब कवियों में सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। अपने आराध्य के प्रति प्रेम की तीव्र व्यंजना जैसी कबीर में मिलती है वैसी बहुत कम कवियों में मिलेगी। कबीर प्रेम की मार्मिकता में जायसी के समकक्ष तक पहुँच जाते हैं। कबीर भी साधारण भावुक नहीं थे, पर उनकी भावुकता एक उपदेश की भावुकता थी, एक सुधारक की भावुकता थी। कबीर सारे भारत में भ्रमण करते हुए लोगों को उपदेश करते थे; अतः भाषा के कलापक्ष पर ध्यान देने का अवसर-अवकाश उन्हें न था, जो कुछ मुँह में से निकला था, निकल गया। इसलिए कबीर में ज्ञान, भक्ति और प्रेम का अद्भुत सम्मिश्रण है। जहाँ उनका हृदयपक्ष प्रबल हो जाता है, वहाँ कबीर इतनी अनुभूतमयी वाणी को जन्म देते हैं कि अलंकार स्वयं बहे चले आते हैं—

"—आँखिन की करि कोठरी पुतरी पलंग बिछाइ।
पलकन की चिक डारि कै पिउकों लेंउ रिझाइ॥"

इससे सुन्दर काव्य का उदाहरण और क्या होगा? कोई भी व्यक्ति सहसा

चौंक जायगा कि यह कबीर ने लिखा है ! वे तो खण्डन करते हैं। वास्तव में सामाजिक कुरीतियों का खण्डन करते-करते कबीर का व्यक्तित्व खण्डनप्रधान ही हो गया है और उनका कवि उनके उपदेशक या सुधारक के पीछे छिप गया है। किन्तु सच तो यह है कि कबीर में उच्च कोटि कि प्रतिभा थी जो उच्च श्रेणी के काव्य को जन्म देती है, परन्तु कबीर जिन परिस्थितियों में जन्मे, पले, बड़े हुए, उनमें उसके अतिरिक्त वे क्या कह सकते थे जो उन्होंने कहा। कबीर कोई साधारण कार्य करने नहीं आये थे। उनका कार्य महान् था—एक क्रान्तिकारी का कार्य था। सामाजिक रूढ़ियों का मूलोच्छेदन कोई साधारण काम तो नहीं था, ये सब कुछ बातें ऐसी थीं जिनके कारण कबीर भाषा-साधना कर ही नहीं सकते थे किन्तु फिर भी यह तो नहीं कह सकते कि भाषा पर कबीर का अधिकार नहीं था। वाणी में ऐसे तीव्र व्यंग्य का प्रयोग, जिससे मुल्ला और पण्डित तिलमिला उठें, कम भाषा-ज्ञान का परिचायक नहीं है। डॉ० श्यामसुन्दरदास लिखते हैं—"कबीर ने अपनी युक्तियों पर बाहर-बाहर से अलंकारों का मुलम्मा नहीं लगाया है, जो अलंकार मिलते भी हैं, वे उन्होने खोज कर नहीं बैठाये हैं। मानसिक कलाबाजी और कारीगरी के अर्थ में कला का उनमें सर्वथा अभाव है, परन्तु सच्ची कला के लिए तो तथ्य की आवश्यकता है। 'भावुकता के दृष्टिकोण से कला आडम्बरों के बन्धन से निर्मुक्त तथ्य है।' एक विद्वान् कृत इस परिभाषा को काव्यक्षेत्र में प्रयुक्त करें तो बहुत कम कवि सच्चे कलाकारों की कोटि में आ सकेंगे। किन्तु कबीर का आसन इस ऊँचे स्थान पर अविचल दिखाई देता है। यदि सत्य के खोजी कबीर के काव्य में तथ्य को स्वतन्त्रता न मिली हो तो और कहीं नहीं मिल सकती। कबीर के महत्व का अनुभव इसी से हो सकता है। कबीर छन्दशास्त्र के ज्ञाता न थे, यहाँ तक कि दोहों को भी पिंगल की खराद पर न चढ़ा सके। डफली बजा कर गाने में जो शब्द जिस रूप में निकल गया, वही ठीक था। वस्तुत: छन्दशास्त्र के नियमों का पालन वे आवश्यक ही नहीं समझते थे, अत: मात्राओं के घट-बढ़ जाने की चिन्ता उनके लिए व्यर्थ थी। परन्तु साथ ही कबीर में प्रतिभा थी, मौलिकता थी। उन्हें कुछ सन्देश देना था और उसके लिए शब्द की मात्रा तथा वर्णों की संख्या गिनने की आवश्यकता नहीं थी। उन्हें तो इस ढंग से अपनी बातें कहने की आवश्यकता थी जिससे वे सुनने वालों के हृदय में बैठ जाँय।"

यह संक्षेप में कबीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण है। कबीर की वाणी हमें तीन प्रकार की मिलती है—

(१) जिसमें वे रूढ़ियों और सामाजिक कुरीतियों का तीव्र खण्डन करते हैं।

जैसे, "—जो बामन तू बामन जाया और राह तू काहे न आया।"

तथा

"—हिन्दू कहै मोहि राम पियारा तुरक कहे रहिमाना।
कबिरा लड़ि-लड़ि दोऊ मुए मरम न काहू जाना॥"

भक्ति के मार्ग में वे अधिक अध्ययन या ज्ञान के समर्थक नहीं थे। वे ऐसे ज्ञान से घृणा करते थे जो निष्क्रिय हो—

"—पोथा पढ़ि पढ़ि जग मुआ पण्डित भया न कोई।
ढाई अक्षर प्रेम का पढ़ै सो पण्डित होई॥"

जो पत्थर स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकते, वे मनुष्यों की रक्षा कैसे करेंगे, यह बात कबीर की समझ में नहीं आती थी। अतः वे लोगों से कहते थे कि पत्थर ही अगर पूजना है तो भाई चक्की पूजो जो तुम्हें पीस कर खिलाने का उपकार तो करती है—

"—मनुआँ कैसे बावरे रे पाथर पूजन जाइ।
घर की चकिया कोइ न पूजै जाको पीसो खाइ।"

इसी प्रकार मुसलमानों को भी कड़े शब्दों में फटकारते थे—तुम भगवद्भजन करते हो और गो-हत्या करते हो, बताओ यह कहाँ की साधना है—

"—दिन में रोजा रखत हो राति हनत हो गाइ।
यह तो खून व वंदगी कैसे खुशी खुदाइ॥"

यह खण्डन करने वाली वाणी अपनी पूर्ण तीव्रता के साथ कबीर-साहित्य की प्राण है और किसी भी साहित्य का शृंगार होने योग्य है। इसमें तो सन्देह नहीं कि भाषा की मधुरता यद्यपि ऐसे उपदेशों में कम मिलेगी, फिर भी भावों की अनुभूति की तीव्रता तो उनसे स्पष्ट है।

(२) कुछ कबीर का साहित्य ज्ञानियों को उपदेश देने के लिए लिखा गया है। योग इत्यादि की साधना इसमें आती है। एक वाक्य बहुत प्रसिद्ध है—"कहत कबीर सुनो भाइ साधो"। इस प्रकार के साहित्य में इस संसार से विरक्ति का उपदेश है, नारी की निन्दा है तथा भगवद्भजन का आदेश है। कबीर का यह पक्ष साहित्य की दृष्टि से नीरस है क्योंकि इसमें उनकी साधना का साहित्यिक रूप स्पष्ट है। उनके नारी निन्दा के कुछ उदाहरण लीजिये—

"—नारी तो हमहूँ करी पाया नहीं बिचार।
जब जानी तन परिहरी नारी बड़ा बिकार॥"

तथा

"—नारी की झाँई पड़े अन्धा होत भुजंग।
कबिरा तिन की कौन गति नित नारी को संग॥"

उनके इस प्रकार के साहित्य में ज्ञानियों को खुली चुनौती दी गयी है। कबीर का तो मूल मन्त्र ही है "सो ज्ञानी आप विचारै", अतः वे रूढ़ियों पर विश्वास ही नहीं करते थे। उनकी खुली चुनौती थी—

"—तुम पण्डित मैं कासीक जुलाहा"

या

"—लालि वानि तो कबिरा लै गया पण्डित ढूँढें खेत।"

तत्व तो कबीर ने प्राप्त कर लिया, पण्डित व्यर्थ ही कष्ट करते हैं, अब उन्हें क्या मिलेगा ?

(३) कबीर ने कुछ साहित्य स्वान्तः सुखाय भी लिखा है, उसे ही उनकी आत्माभिव्यक्ति समझना चाहिए। कबीर का यह साहित्य इतना सरस, सरल, अनुभूतिमय तथा सशक्त है कि उसकी सरसता की टक्कर जायसी के अतिरिक्त और कौन कर सकता है ?

प्रियतम की बाट देखते-देखते युग हो गया, आँखें अन्धी होने लगीं और जिह्वा क्षत-विक्षत हो गयी, पर उसका पता कहाँ ? कबीर कितनी सरल भाषा में इसे व्यक्त करते हैं—

"—आँखड़ियाँ झाँई पड़ीं पन्थ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़ा राम पुकारि पुकारि ॥"

प्रियतम का आना वास्तव में हँसी-खेल नहीं, यह बात कबीर अच्छी तरह जानते हैं। वे कहते हैं—

"—हँसि-हँसि कन्त न पाइये जिनि पाया तिनि रोइ।
जो हँसि ही हरि मिलै तो न दुहागिन कोइ ॥"

अब कबीर की विरहिणी आत्मा उस प्रियतम के वियोग में कब तक धैर्य रखे। अब उससे रहा नहीं जाता। वह मार्ग पर जाकर खड़ी हो गयी है और प्रेम-विह्वल तथा विरह से कातर होकर प्रत्येक पथिक से अपने प्रियतम का सन्देश पूछती है। कितनी मार्मिक भाषा में कबीर इसे व्यक्त करते हैं—

"—विरहिनि अभी पन्थ सिर पूछै पन्थी धाइ।
एक सबद कहि पिउ को कबरे मिलेंगे आइ ॥"

सांसारिक जीवों का मिलन न अधिक महत्वपूर्ण होता न विरही, किन्तु फिर भी उसमें कितनी टीस और वेदना होती है। सांसारिक प्राणी एक समय के पश्चात् हो सकता है, मिल जाय परन्तु जो भगवान से बिछुड़ गये हैं, उनकी व्यथा का अनुमान नहीं किया जा सकता। कबीर ही उसे अभिव्यक्त कर सकते हैं—

"—चकवी बिछुरी रैन की आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुरे राम ते दिन मिले न राति ॥"

राम से जो बिछुड़ गया हो, उसे फिर इस संसार में सुख भला कहाँ मिल सकता है—

"—वासरि सुख ना रैनि सुख ना सुख सपनै माहिं।
कबीर बिछुड्या राम सूँ ना सुख धूप न छाँहि ॥"

किन्तु इतने कष्ट तथा साधन के पश्चात् जब राम से कबीर का मिलन होता है तो वे आवेश में गाने लगते हैं—

"—दुलहिनि गावहु मंगलाचार ।
तन रत कर में मन रत करिहौं पंच तत्त बराती ।
रामदेव मोरे पाहुने आए हौं जोवन में माती ।।"

कबीर का इस प्रकार का साहित्य उत्कृष्ट कोटि का साहित्य है, जहाँ हृदय की आवेशमयी भावनाओं को उन्होंने सरल वाणी दी है। जब कबीर को संसार में अपने ही लाल की लाली दिखाई देने लगती है तो कबीर मदोन्मत्त हो उठते हैं और उनकी मस्ती में अलंकार जैसे स्वयं खिचे चले आते हैं—

"—लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल ।
लाली देखन मैं चली मैं भी हो गयी लाल ।।"

डॉ० हजारोप्रसाद द्विवेदी की कुछ पंक्तियाँ कबीर के व्यक्तित्व को स्पष्ट करती हैं, वे द्रष्टव्य हैं—"कबीर मस्तमौला थे। जो कुछ कहते थे, साफ कहते थे। जब मौज में आकर रूपक और अन्योक्तियों पर उतर आते थे तब जो कुछ कहते थे, वह सनातन कवित्व का शृंगार होता था। उनकी कविता से कभी सनातन सत्य खंडित नहीं हुआ। वे जो कुछ कहते थे, अनुभव के आधार पर कहते थे। इसलिए सभी रूपक सुलझे हुए और उक्तियाँ बेधने वाली होती थीं। उनके राम जब उनके प्रिय होते हैं तो भी उनकी असीम सत्ता नहीं भुला दी जाती। नौ खुले दरवाजों के घर में बन्द दुलहिन के वियोग की तड़प एक रहस्यमय प्रेमलीला की ओर संकेत करती है, जहाँ सीमा से असीम मिलने को व्याकुल है और असीम सीमा को पाने के लिए चंचल, इसलिए इस सारे विश्व का प्रकाश है। अगर यह लीला न होती तो संसार में कोई वस्तु ही न होती। हम अपने मुख यन्त्र आदि के बन्धन में असीम स्व-सन्तान को बाँधने की चेष्टा करके एक तरह का आनन्द पाते हैं और इस बन्धन से ही असीम स्वर-सन्तान अनाहत नाद का आभास पाते हैं। वैसे ही सीमा के अन्यान्य उपकरणों से हम असीमता की कल्पना करते हैं और प्रिय भी अपने इन्हीं सीमामय विकारों से हमारे आनन्द का अनुभव करता है। कबीर के रूपकों में सदा इस महा सत्य की ओर संकेत होता रहता है।

उनके प्रेम और भक्ति में वह गलदश्रु भावुकता नहीं थी जो जरा सी आँच से ही पिघल जाय। यह प्रेम-ज्ञान द्वारा नीत और श्रद्धा द्वारा अनुगमित था। वियोग की बात भी वे उसी मौज से कहते थे जिस तरह संयोग की। उनका मन जिस प्रेमरूपी मदिरा से मतवाला था, वह ज्ञान के महुवे और गुण से बनी थी ; इसलिए अन्धश्रद्धा, भावुकता और हिस्टिरियक प्रेमोन्माद का उसमें एकान्त अभाव था। भक्ति के अतिरेक में उन्होंने कभी अपने को अति पतित नहीं समझा। सिर से पैर तक वे मस्तमौला थे, बेपरवाह, दृढ़, उग्र।........" वे पढ़े-लिखे नहीं थे। छन्दशास्त्र और अलंकार-ज्ञान से भी वंचित थे। कविता करना उनका लक्ष्य नहीं था फिर भी उनकी उक्तियों में कवित्व की ऊँची से ऊँची चीज प्राप्य है। दोहे और पद उन्होंने पूर्ववर्ती साधकों

से अपनाये थे, पर इनमें अपनी छाप डाल दी। वे साधना के क्षेत्र में युग-युग के गुरु थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा। संस्कृत के कूपजल को छुड़ा कर उन्होंने भाषा के बहते नीर में सरस्वती को स्नान कराया। उनकी भाषा में बहुत सी बोलियों का मिश्रण है क्योंकि भाषा उनका लक्ष्य नहीं था और अनजान में वे भाषा की सृष्टि कर रहे थे।

उपरोक्त पंक्तियों में कबीर का स्पष्ट व्यक्तित्व हमें मिलता है। कबीर वास्तव में महान् उपदेशक, सुधारक तथा महान् कवि थे। कबीर की संक्षेप में विशेषताएँ ये हैं—

(१) कबीर सन्त-कवियों के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

(२) रहस्यवादी कवियों में तो वे निश्चितरूप से प्रथम स्थान के अधिकारी हैं।

(३) जिन दिनों कबीर ने पद-रचना की थी, उसको देखते हुए कबीर प्रथम श्रेणी के गीतकाव्यकार कहे जायेंगे।

(४) नीति आदि के दोहे समाज में कबीर के जितने प्रचलित हैं, उतने शायद ही और किसी के हों। इस विषय में वे तुलसी के समकक्ष रखे जा सकते हैं।

(५) ऐतिहासिक दृष्टि से कबीर भक्तिकाल के अगुआ हैं। उन्होंने उस भक्ति-काल का मार्ग प्रशस्त किया था जो हिन्दी में स्वर्ण युग के नाम से विख्यात है।

सारांश यह है कि यद्यपि हम कबीर को प्रधानतः कवि नहीं कह सकते तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने हमें विचारक, सुधारक और प्रेरक महात्मा के रूप में ठोस साहित्य दिया, उनकी वाणी की प्रेरणा-शक्ति इसी बात से प्रकट है कि तुलसी और सूर के साथ ही साथ देश के कवि-महात्माओं में इनका नाम भी उनके समान ही व्यापकरूप से लिया जाता है। उनके पद भी उसी तरह स्थान-स्थान पर गाये जाते हैं। कलापक्ष की अपेक्षाकृत न्यूनता होते हुए भी अपने भावपक्ष की पुष्टता और पूर्णता के कारण कबीर हिन्दी-साहित्य में प्रथम श्रेणी के कवि माने जाते हैं।

———

## अध्याय २

# सूरकाव्य में प्रेम-चित्रण

प्रेम मनुष्य की महानतम सांस्कृतिक उपलब्धि है। काम के पंक से प्रेम के सरोज तक मानवता को न जाने कितनी लम्बी यात्रा करनी पड़ी है। प्रेम की कहानी पशुता से मानवता तक की कहानी है। विश्व की ललितकलाओं के जन्म और उसके क्रमिक विकास के मूल में भी यही दिव्य भावना रही है। विश्व की सर्वश्रेष्ठ मेधाओं तथा मनीषियों ने इसी पवित्र भावना का कीर्तन कर अपना जीवन धन्य किया है और यथार्थ के धूल-झंखाड़ भरे मरुस्थल में शाद्वल की रचना की है जिसके किनारे मानवता दो क्षण सुख की साँस ले सकी है।

भक्तियुगीन प्रमुख कवियों ने किसी न किसी रूप में प्रेम के आकर्षक एवं स्पृहणीय रूप का अपनी-अपनी तरह साक्षात्कार किया है। प्रेम के व्याख्याकारों में सूर, तुलसी तथा घनानन्द के साथ-साथ रसखान भी अविस्मरणीय हैं। रसखान तक पहुँचते-पहुँचते प्रेम की परिभाषा ने अपना भौतिक परिच्छेद अलग उतार कर रख दिया था। रसखान ने प्रेम की काल्पनिक सम्पूर्णता का आह्वान अपनी इन पंक्तियों में किया है—

"—इक अंगी विनु कारनहि, इकरस सदा समान।
गनहिं प्रियहि सर्वस्व जो सोई प्रेम प्रमान॥"

सैद्धान्तिक तथा आदर्शवादी दृष्टि से प्रेम की शायद इससे श्रेष्ठ परिभाषा हो भी नहीं सकती, किन्तु जिस श्रेष्ठ कल्पना को हम जीवन के आचरण में न उतार सकें वह केवल कल्पना बनकर रह जाती है। यथार्थ जीवन से उसका सम्बन्ध-सम्पर्क कट जाता है और वह निष्प्राण हो जाती है। सूर के प्रेम-चित्रण और हिन्दी के अन्य कवियों के प्रेम-चित्रण में यह अन्तर दृष्टव्य है। सूर को शायद यह लोभ नहीं था कि आदर्श की अन्धी दौड़ में उनकी कल्पना सबसे आगे निकल जाय। वे तो धरती की परुषता और यथार्थ की हरियाली पर अपने प्रेम को प्रतिष्ठित करना चाहते थे।

क्रान्तदर्शी कवियों के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वे लीक छोड़कर चलते हैं। साहित्यिक अभिव्यक्ति इस भावना को दें तो कहेंगे कि वास्तविक कवि पिष्टपेषण

से बचता है। चीजों को वह अपनी आंखों से देखता है। प्रतिभा कभी अनुकरणप्रिय नहीं होती, प्रतिभा का अनुकरण किया जाता है। नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के धनी महाकवि सूर साहित्य या दर्शन के बन्धनों में बंधकर चल भी कैसे सकते थे? लोगों का ध्यान शायद इस बात की ओर नहीं गया कि सूर जैसे कवि भी अपने क्षेत्र में क्रान्तिकारी कवि थे। लोक की सड़ी-गली परम्पराओं एवं मान्यताओं की उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। वे जिस सम्प्रदाय में दीक्षित थे, उस सम्प्रदाय की मान्यताएँ भी उनके काव्य पर नहीं छा सकीं। सूर उन सभी मान्यताओं पर छाये हुए हैं।

यह तो ठीक है कि पुष्टिमार्ग में दीक्षित सूर को यह समझाया गया था कि उनके आराध्य कृष्ण परमब्रह्म के ही साकार रूप हैं और यह भी कि उनकी उपासना सखा-भाव की उपासना है। उनकी भक्ति के प्रमुख तत्व श्रीमद्‌भागवत पर आधारित थे। लेकिन सूर ने इन मान्यताओं के लिए अपनी कविता नहीं लिखी' बल्कि साम्प्रदायिक मान्यताओं का अवलम्बन उन्होंने केवल उसी सीमा तक किया है, जहाँ तक वह उनके स्वतन्त्र चिन्तन एवं प्रेम-चित्रण में बाधक नहीं हुई है।

सूर के आराध्य कृष्ण महाभारत के नायक कृष्ण नहीं हैं और न तो वे कृष्ण हैं जिनका चित्रण श्रीमद्‌भागवत में हुआ है। सूर के कृष्ण किसी भी सम्प्रदाय के बन्धनों को अस्वीकार कर चलने वाले कृष्ण हैं। वे जननायक हैं, लोकप्रिय नेता हैं, ब्रज के प्राण हैं।

कृष्ण के प्रेम का केन्द्र राधा है—वह राधा जिनका उल्लेख न तो महाभारत में कहीं है और न श्रीमद्‌भागवत में ही। सूर की सबसे बड़ी क्रान्तिकारिणी यही राधा हैं जिनके इंगित पर कृष्ण उठते-बैठते हैं। यह राधा-प्रेम की देवी है। यदि सूर के साहित्य का गम्भीर अनुशीलन किया जाय तो इसमें कुछ अश्रुतपूर्व तथ्यों की उपलब्धि सहज ही हो सकती है। सबसे प्रमुख बात तो यह है कि अपने पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती प्रमुख कवियों की भाँति सूर ने अपने वर्ण्य-विषय के रूप में अभिजात्य वर्ग को नहीं चुना है। उनके कृष्ण राजा के लड़के नहीं हैं और न राधा ही राजकुमारी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि राजकुमार और राजकुमारियों की प्रेम-कथाओं ने लोक जीवन को संक्षुब्ध ही बनाया है, उसे कुछ दिया नहीं। भौतिक वैभव के परिवेश ने इन राज-कुमार-राजकुमारियों को साधारण जनजीवन से काटकर अलग कर दिया है। प्रज्ञा-चक्षु सूर ने जनजीवन के इस असीम मानसिक त्रास का अनुभव किया था। वे आसानी से कृष्ण को राजकुमार और राधा को राजकुमारी का रूप दे सकते थे पर उन्हें यह अभीप्ट नहीं था। सूर सच्चे अर्थों में लोक-संस्कृति के गायक हैं। उनसे पूर्व ब्रजभाषा का प्रवेश राजदरबारों तक था भी नहीं। उन्होंने इस ग्रामीण बाला को सजा-संवारने में ही अपनी सम्पूर्ण अदम्य प्रतिभा लगा डाली। फल यह हुआ कि आगे चलकर कोई राजकुमारी भी राधा को साहित्यिक सिंहासन से अपदस्थ नहीं कर सकी।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि सूर के साहित्य में लोकसाहित्य-परम्परा का चरम विकसित रूप प्रकट हुआ है। उसका अभिव्यक्ति परिवेश भी लोकसाहित्य का है और कथ्य भी।

अभिजात्य-साहित्य को पढ़कर कई बार ऐसा भ्रम हो जाता है कि प्रेम का मादक रूप यदि कहीं है तो सम्पन्न वर्ग में ही। सूर ने शायद पहली बार अपने साहित्य के माध्यम से साधारण जनता के प्रेम-स्तर तथा हृदय-उद्वेलन को एक अमर स्मारक का रूप प्रदान किया है।

सूर-साहित्य का अध्ययन करते समय उनके उस विशिष्ट प्रदेश का ध्यान रखना आवश्यक है जिसके विशिष्ट रंगमंच पर उन्होंने राधाकृष्ण को अवतारणा की है। यह विशिष्ट प्रदेश ब्रज है और ब्रज में भी मथुरा, वृन्दावन तथा बरसाने का भूखंड। इस भूखण्ड की अपनी सहस्राब्दियों पुरानी संस्कृति है। सूर आभीर जन-जाति के आदि कवि हैं। सूर के राधाकृष्ण सार्वदेशिक नहीं हैं, वे बंगाल के कृष्ण और दक्षिण के कृष्ण से सर्वथा भिन्न हैं। सूर के पदों का मर्म तभी समझ में आ सकता है जब कुछ दिन मथुरा, वृन्दावन या बरसाने में चलकर रहा जाय। गोचारण, वंशीवादन, रास, होली का हुरदंग, ग्वालवालों को धमा-चौकड़ी आदि ब्रज के लोकजीवन में आज भी इनमें से कोई चीज पुरानी नहीं पड़ी। सहस्रों वर्षों की सांस्कृतिक जीवन की अविच्छिन्न धारा आज भी ज्यों की त्यों प्रवाहित हो रही है, उसमें कोई अन्तर नहीं आया। करीलों से आच्छादित बड़े-बड़े मैदान, गोधूलि वेला में घंटीरव के साथ लौटती हुई गायें, लकुटि हाथ में लेकर चलने वाले ग्वाल और सिर पर घड़ा रखकर गोरस बेचने वाली ग्वालिन, कोई इतिहास की बात नहीं है। सूर ने अपने काव्य में जिस जन-जीवन का चित्रण किया है, वह जीवन अपने ठीक उसी रूप में आज भी ब्रज के कूलों से टकराकर प्रवाहित हो रहा है। यदि उसमें किसी का अभाव खटकता है तो केवल सूर का। ब्रज के लोकजीवन का इतनी समर्थ और मनोहारिणी भाषा में प्रकाश करने वाला इतना समर्थ लोक-कवि फिर पैदा नहीं हुआ। सूर के कवि की इससे बड़ी और सफलता क्या होगी कि इस विशुद्ध लोक-कवि को साहित्यिक कवियों में मूर्धन्य माना गया।

सूर के प्रेम-चित्रण का विस्तृत वर्णन करने से पूर्व उसके कुछ आधारभूत तत्वों पर विचार करना बहुत आवश्यक है।

अभिजात्य वर्ग ने जिस नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र का प्रणयन किया है, उसके आधार पर कभी भी सूर को अपराधी घोषित किया जा सकता है। सूर ने स्वच्छंद प्रेम का चित्रण किया है और सभी मर्यादाओं का अतिक्रमण करके। भावुक पाठकों के लिए 'भ्रमरगीत' प्रसंग सूर-साहित्य की जान है। किन्तु भ्रमरगीत का वास्तविक आनन्द और रहस्य उनके संयोग शृंगार के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। ब्रज के जीवन में कृष्ण और गोपियाँ हैं। सभी गोपियाँ कृष्ण को प्रेम करती हैं और

कृष्ण गोपियों को। इस प्रकार के मर्यादाहीन स्वच्छंद प्रेम के पठन-पाठन से समाज में अनाचार की भावना फैलने की आशंका कुछ समाजशास्त्री व्यक्त कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में दो तथ्यों की ओर ध्यान देना आवश्यक है—एक तो यह कि कृष्ण सभी ग्वालों के प्रतिनिधि हैं और राधा सभी गोपियों की प्रतिनिधि। दूसरे, जहाँ दाम्पत्य जीवन में प्रेम का सूत्र अक्षुण्ण नहीं हैं वहाँ दाम्पत्य जीवन का कोई अर्थ नहीं होता, अर्थात् अनाचार प्रेम स्वयं नहीं है अपितु अनाचार के मूल प्रेमविहीन विवाहों के मूल में है। अब धीरे-धीरे यह तथ्य एक स्वर से स्वीकार किया जाने लगा है कि वैवाहिक जीवन की परिधि जाति, धर्म तथा क्षुद्र रूढ़ि-रीतियों से कहीं विशाल होनी चाहिए। उसके मूल में और चाहे कोई तत्व हो, चाहे न हो पर प्रेम का तत्व अवश्य होना चाहिए।

राधा और कृष्ण का प्रेम युवावस्था का अन्धोन्माद नहीं है, वह प्रथम दर्शन का सस्ता प्रेमनाट्य भी नहीं है अपितु बाल्यावस्था के अबोध और शुचि आकर्षण के सतत् सान्निध्य की परिष्कृत प्रणालियों में होकर क्रमशः युवावस्था के दाम्पत्य-प्रेम में परिणत हुआ है। इस प्रक्रिया में वासना के कालुष्य की सम्भावना नहीं रह जाती। तभी तो उद्धव के उपदेश के बदले में गोपियाँ उनसे कहती हैं—

"—लरिकाई कौ प्रेम कहौ अलि कैसे छूटत।" 'लरिकाई' शब्द में वह सभी व्यंजना है जो जीवनव्यापी पवित्रता और सतत् सान्निध्य के वज्रलेप को सहज ही प्रकट कर देती है।

सूर पर एक आक्षेप यह भी लगाया गया है कि उनका काव्य परवर्ती अश्लील काव्य के लिए उत्तरदायी है।

पहले सूर के उस प्रेम-चित्रण पर विचार किया जाय जो बाल्यावस्था को अबोधता और आकर्षण की प्राकृतिक अदम्यता के साथ प्रारम्भ होता है। चकई, डोर और भौंरा लेकर बालकृष्ण खेलते-खेलते व्रज की गलियों में कुछ दूर निकल गये—

"—खेलत हरि निकसे व्रज-खोरी।
कटि कछनी पीताम्बर बाँधे, हाथ लए भौंरा, चक-डोरी॥
मोर-मुकुट, कुंडल स्रवननि वर, दसन-दमक, दामिनि-छवि छोरी।
गए स्याम रवि-तनया के तट, अंग लसति चन्दन की खोरी॥"

अचानक उन्होंने पहली बार राधा को देखा—

"—औचक ही देखी तहँ राधा नैन विसाल भाल दिए रोरी।
नील वसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी॥
संग लरिकिनी चलि इति आवति, दिन थोरी अति छवि-तन गोरी।
'सूर' स्याम देखत हीं रीझे नैन-नैन मिलि परी ठगोरी॥"

बालकृष्ण इतने आकर्षक व्यक्तित्व से परिचय प्राप्त करने का लोभ संवरण नहीं कर पाते—

"—बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी।"

राधा तुरन्त उत्तर देती हैं और ऐसा उत्तर जिससे कृष्ण के कान खड़े हो जाते हैं—

"—काहे कौं हम ब्रज-तन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनत रहति स्रवननि नँद-ढोटा, करत फिरत माखन-दधि चोरी।"

कृष्ण ने सोचा यह तो अपनी अच्छी प्रतिष्ठा नहीं, इस प्रतिष्ठा के रहते कौन अच्छा साथी अपने साथ खिलायेगा। बालसुलभ चपलता के साथ बोले—

"—तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी।"

कृष्ण राधा को शपथ खिलाकर, सारी स्थिति समझाकर आगे मिलते रहने का मार्ग बड़े कौशल से प्रशस्त करते हैं—

"—प्रथम सनेह दुहुँनि मन जान्यो।
नैन-नैन कीन्हीं सब बातें, गुह्य प्रीति प्रगटान्यो।।
खेलन कबहुँ हमारे आवहु, नन्द-सदन ब्रज गाँव।
द्वारें आइ टेरि मोहि लीजौ कान्ह हमारौ नाँउ।।
जो कहियै घर दूरि तुम्हारो, बोलत सुनियै टेरि।
तो कहँ सौंह वृषभानु बबा को प्रात-साँझ इक फेरि।।"

अपने मैत्री-लोभ का कारण भी वे स्पष्ट वाक्यों में बता देते हैं—

"—सूधी निपट देखियत तुमकौं, तातें करियत साथ।
सूर स्याम नागर, उत नागरि राधा दोउ मिलि गाथ।।"

फिर तो इतनी घनिष्ठता हो गयी कि जहाँ भी कृष्ण राधा को खड़े देखते, पीछे से आकर आँखें बन्द कर लेते—

"—ठाढ़ी कुँअरि राधिका लोचन मोचत तहँ हरि आए।
अति बिसाल चंचल अनियारे, हरि हाथनि न समाए।
सुभग आँगुरिन मध्य विराजत अति आतुर दरसाए।
मानौ मनिधर ज्यौं छाँड्यो फन तर रहन दुराए।"

ऐसा लगता है कि आयु में राधा कृष्ण से कुछ बड़ी हैं क्योंकि नन्द भी कृष्ण को राधा के सुपुर्द कर देते हैं और देखभाल करते रहने को कहते हैं—

"—नन्द गए खरिकहिं हरि लीन्हे।
देखी तहाँ राधिका ठाढ़ी, बोलि लिए तिहिं चीन्हे।।
महर कह्यौ खेलौ तुम दोऊ, दूरि कहूँ जिनि जैहौ।
गिनती करत ग्वाल गैयनि की मोहि नियरैं तुम रहियौ।।

सुनि बेटी वृषभानु महर की, कान्हहिं लेइ खिलाइ।
सूर स्याम कौं देखे रहियौ, मारै जनि कोइ गाइ।।"

सूर ने राधाकृष्ण के प्रेम के रूप में जिस प्रेम की चर्चा की है, उसे आभीर जनजाति की संस्कृति के संदर्भ में समझना आवश्यक है। आभीर जनजाति आरम्भ में यायावर रही होगी। क्रमशः यह जाति अपने ढोरों के साथ नदियों के आसपास बस गयी, जहाँ जानवरों के लिए घास-पानी की प्रचुरता थी। ऐसी संस्कृति में मर्यादा के वे बन्धन नहीं होते जो कृषि-संस्कृति की देन हैं। पशुचारण-संस्कृति कृषि-संस्कृति की तुलना में अधिक आदिम प्रतीत होती है। आभीरों ने बाद में यत्र-तत्र राज्य भी स्थापित कर लिये हों तो आश्चर्य नहीं। सूर ने आभीरों के उन्मुक्त प्रेम का वर्णन किया है। उसका एक कारण तो उपर्युक्त है, दूसरा यह था कि वे वेदमार्ग से हटकर चलना पसन्द करते हैं। शुष्क पंडितों ने भाषा, भाव और लोकजीवन सभी को विधि-निषेधों की लौहश्रृंखला में जकड़ रखा था। जीवन का स्वाभाविक उद्वेग उन्हें तोड़कर प्रवाहित होना चाहता था। सूर उन कवियों में से हैं जिन्होंने उस स्वाभाविक उद्वेग को वाणी दी है।

सूर की अश्लीलता के आक्षेप के सम्बन्ध में भी यहाँ प्रसंगवश चर्चा कर ली जाय।

सूर ने काम-क्रीड़ाओं का विस्तृत वर्णन किया है—इतना विस्तृत कि उस महासागर में विहारी, पद्माकर, मतिराम जैसे कवि ऊब-डूब करने लगे। प्रश्न यह है कि कौन-सा वर्णन अश्लील माना जाय और उसकी कसौटी क्या मानी जाय ?

तात्विक दृष्टि से प्रेम के मूल में उसे हरी-भरी और आकर्षक बनाये रखने वाली शक्ति काम की शक्ति ही है। प्रश्न यह है कि काम की भावना क्या अपने आप में सहज अश्लील है। प्रसादजी ने आगे चलकर 'कामायनी' में इसकी विस्तृत चर्चा की है और लिखा है—

"—आकर्षण बन हँसती थी, रती थी अनादि वासना वही।
अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के अंतर में जिसकी चाह रही।"

सिद्ध है, सारे आकर्षणों के मूल में काम की भावना ही विद्यमान है। काम ही सृष्टि का मूल कारण है। इसलिए अपने आप में वह अपवित्र हो या अश्लील, इसका प्रश्न ही नहीं उठता। वैवाहिक जीवन का सारा सुख-सौरभ काम से ही उच्छ्वासित है। उसके अभाव में जैसे आकर्षण का सूर्य ही अस्त हो जायगा और नीरसता तथा विरक्ति का अन्धकार सारे विश्व को ग्रस लेगा। ठीक ऐसी ही मानसिक द्विविधा में प्रसादजी ने 'कामायनी' के द्वारा मनु को जो उत्तर दिलाया है, वही प्रमाण है—

"—काम मंगल से मंडित श्रेय, सर्ग इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल, बनाते हो असफल भवधाम।"

काम की भावना गलत प्रणालियों में यदि प्रवाहित न हो तो उससे अधिक कल्याणकारी भावना की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

रीतिकालीन कवियों और सूर के प्रेम-चित्रण में एक मौलिक अन्तर है, उसे भुलाया नहीं जाना चाहिए। रीतिकालीन कवियों की शृंगार-रचनाएँ उनके आश्रयदाताओं की माँग की पूर्ति भर हैं। उनका उद्देश्य ही अनावश्यक और अप्राकृतिक उत्तेजना है, किन्तु सूर की कविता से इस कलुषित भावना का दूर का सम्बन्ध भी नहीं है। सूर की कविता उनके हृदय का उद्‌गार है जबकि रीतिकालीन कविता आश्रयदाताओं के लिए जुटाई गयी उत्तेजक सामग्रियों में से एक है। रीतिकालीन कार्य का नारीविषयक दृष्टिकोण भी नारी जाति के प्रति असम्मान और अगौरव का है। वहाँ वह केवल भोग्या है। उसकी अपनी इच्छा-अनिच्छा कुछ नहीं है। रीतिकालीन कविता की पृष्ठभूमि एक विशद सामाजिक दुराचार है, जिसमें नारी की विवशता और परवशता अत्यन्त स्पष्ट है। रीतिकालीन नारी के संदर्भ में एक तिरस्कार और अपमान भरा युग है। इसकी तुलना में सूर का नारीविषयक दृष्टिकोण आद्यन्त और आमूलचूल भिन्न है। ब्रज की गोपियाँ कंस के प्रति आकृष्ट नहीं हैं जो अकल्पनीय सत्ता और वैभव का अधिष्ठाता है। वे कृष्ण के प्रति आकृष्ट हैं जो करीब-करीब सर्वहारा हैं। जहाँ धन का मूल्य बढ़ जाता है, वहाँ मानवता का मूल्य गिर जाता है। सूर ने जिस समाज का चित्रण किया है, वहाँ धन की महत्ता नहीं, मनुष्य की महत्ता है। कृष्ण के लिए ब्रज के लोग अपना सर्वस्व निछावर करने को तैयार हैं। रीतिकाल में सामन्त वर्ग के लोग थोड़े से धन-व्यय से ही नारी का शरीर खरीद सकते थे। यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि सूर ने नारी के रूप में किसी ऐसी गोपी का चित्रण नहीं किया जो धन से उसकी इच्छा के विरुद्ध खरीदी जा सकती हो। जहाँ धन का अनावश्यक प्रभाव नहीं होता, ऐसे आदर्श समाज में ही मानवता के गुणों की प्रतिष्ठा और मान्यता सम्भव है।

सूर ने किस प्रेममय जीवन का विशद चित्र प्रस्तुत किया, वह प्रेम के पारस्परिक आदान-प्रदान पर अवलम्बित है। वह न एकपक्षीय है और न एकांगी। इस प्रेम में प्रेम ही स्वार्थ है, अन्य कुछ नहीं। इसीलिए रीतिकालीन काव्य की तुलना में सूर का काव्य उदात्त वृत्तियों पर आधारित प्रतीत होता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है कि 'वे शृंगार का कोना-कोना झाँक आए थे।' हिन्दी में शृंगार का ऐसा सर्वांगीण चित्रण करने वाला वास्तव में कोई भी दूसरा कवि दिखाई नहीं देता। ऐसे बहुत से कवि हैं जो शृंगार में भी विरह का अच्छा चित्रण कर सके हैं या फिर केवल संयोग शृंगार का ही। सूर की भाँति वियोग और संयोग—दोनों पक्षों पर समानाधिकार रखने वाला कोई कवि दिखाई नहीं देता। सच तो यह है कि जब तक संयोग की विस्तृत और आह्लादकारी पृष्ठभूमि नहीं होगी तब तक वियोग शृंगार का भी निखरा हुआ रूप प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। सूर ने अपने संयोग शृंगार में कृष्ण

को ब्रज-जनजीवन के अणु-अणु में बिछा दिखाया है। कृष्ण के अभाव में ब्रजजीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इसके साथ-साथ यह तथ्य भी विस्मृत नहीं किया जा सकता कि उन्हें ज्ञानमार्ग की तुलना में भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता अभीष्ट थी। भक्ति का मूल प्रेम ही है, इसलिए ज्ञान पर प्रेम की विजय-दुंदुभी ही सूर का वास्तविक लक्ष्य था। सूर के प्रेम-चित्रण से स्पष्ट है कि उसमें उनका हृदय रमा है, अन्यथा यों ही चलता हुआ भी वे उसे कर सकते थे।

यों तो सूर ने कृष्ण का प्रेम अन्य गोपियों के प्रति भी चित्रित किया है, किन्तु यह निर्विवाद है कि उन्होंने सबसे ऊँचा स्थान राधा को ही दिया है और यदि किसी एक ऐसी गोपी की खोज सूरकाव्य में की जाय जिसका प्रेम क्रमश: विकसित से विकसिततर होता चला जाता है या जो कृष्ण के जीवन पर सबसे अधिक छाई हुई है तो वह गोपी राधा के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

कृष्ण राधा के बिना अपूर्ण से लगते हैं। राधा की अनुपस्थिति में उनके मुख से भी 'राधा-राधा' ध्वनि ही निकलती है।

"—सूर स्याम बंसी धुनि पूरत राधा-राधा लै लै नाम।"

राधा कृष्ण से मिलने के विचित्र बहाने ढूँढ़ लेती हैं और कृष्ण राधा से मिलने के। राधा ने अपने गले की माला तोड़कर अपने पल्ले में बाँध ली है और वह प्रसिद्ध यह कर देती हैं कि जंगल में कहीं उसकी माला खो गयी है। वह उसे ढूँढ़ने के बहाने जहाँ पहुँचती हैं। वहीं कृष्ण यह बहाना बना कर पहुँच जाते हैं कि जंगल में एक गाय प्रसव-वेदना से छटपटा रही है, उसकी देख-भाल करनी है—

"—उत वृषभानु-सुता उठी, वह भाव बिचारे।
रैनि बिहानी कठिन सों मनमथ-बलभारे।।
ग्रीव मुतिसरी तोरिकैं अँचए सौं बाँध्यौ।
यहै बहानो करि लियौ हरिमन अनुराध्यौ।।
जननि उठी अकुलाइ कैं क्यों राधा जागी।
कहाँ चली उठि भोर ही सोवे न सभागी।।
अब जननी सोऊँ नहीं रवि किरन प्रकासी।
तुहुँ उठति काहैं नहीं, जागे ब्रजवासी।।
आपु उठी आँगन गयी, फिरि घरहीं आयी।
कबधौं मिलिहौं स्याम कौं पल रह्यौ न जायी।।
फिरि फिरि अजिरहिं भवन हीं तलवेली लागी।
'सूर' स्याम कैं रसभरी राधा अनुरागी।।"

राधा जंगल में अपनी माला ढूँढ़ने के बहाने जाती हैं और मार्ग में कृष्ण के घर के पीछे से उन्हें अपने जाने का संकेत दे देती हैं। संकेत सुनते ही कृष्ण भाग खड़े होते हैं—

"—पिछवारे ह्वै बोलि सुनायो।
कमल-नयन हरि करत कलेऊ, कर नाहिंन आनन लौं आयो॥
गाय एक बन ब्याह रही है या ही मिस आतुर उठि धायो।
वेनु न लियो लकुट नहीं लीन्हीं, हर बराइ कोउ सखा न बुलायो॥"

राधा और कृष्ण दोनों संकेत-स्थल पर मिल जाते हैं और दाम्पत्य-जीवन का सुख प्राप्त करते हैं—

"—हरषि प्रिय प्रेम तिय अंक लीन्हो।
प्रिया बिनु बसन करि, उलटि धरि भुजनि भरि,
सुरति रति पूरि, अति निबल कीन्ही।
आपनें कर नखनि अलक कुर वारहीं,
कबहुँ बाँधे अतिहिं लगत लोभा।
कबहुँ मुख मोरि चुम्बन देत हरस ह्वै,
अधर भरि दसन वह उनहि सोभा॥
बहुरि उपज्यो कामु, राधिका पति स्याम,
मगन रस ताम नहि तनु सम्हारें।
सूर प्रभु नवल नवला, नवल कुंजगृह,
अन्त नहि लहत दोउ रति विहारें॥"

'सूर' ने निसंकोच रति-वर्णन प्रस्तुत किये हैं—

"—स्यामा स्याम सौं अति रति कीनी।
स्रमजल बुंद बदन यों राजति, मनु ससि पर मोतिनि धर दीनी॥
मुक्तामाल टूटि यों लागति जनु सुरसरी अधोगति लीनी।
'सूरदास' मनहरन रसिक बर राधा संग सुरति-रस भीनी॥"

राधा और कृष्ण के प्रेम के अतिरिक्त सूर ने सामूहिक जलक्रीड़ा के चित्र भी प्रस्तुत किये हैं—

"—जदुपति जलक्रीडत जुवति संग।
सागर सकुचित तजियत तरंग॥
षोडस सहस्र सत अष्ट नारी।
तिन मैं अति सोभित श्री मुरारी॥
उडगन समेत ससि सिंधु बारि।
मनु पुनि आयो चित हित बिचारि॥
छूटत कटाच्छ सर भ्रुकुटि पूरि।
मनु धनुष निपुन संग्राम सूर॥
वर बदन निकट कच चुवत नीर।
मकरन्द निमित मधुकर अधीर॥"

संयोग शृंगार के रूप में रास रचने के प्रसंगों का भी उल्लेख आवश्यक है। कृष्ण अपनी वंशी बजाते हैं जो रास का मुखर संकेत है। सभी गोपियाँ जैसी हैं, वैसी ही उठकर चल देती हैं—

"—सरद सुहाई आयी राति। दहुँ दिसि फूलि रही बन जाति॥
देखि स्याम मन सुखभयो।
राधारमन बजायो वैनु। सुनि धुनि गोपिनि उपज्यो मैनु॥
जहाँ तहाँ तें उठि चलीं।"

सूर ने ऐसे अवसर पर जानबूझकर लौकिक मर्यादाओं के प्रतिक्रमण को स्पृहणीय समझा है। वे कृष्ण-प्रेम के अतिरिक्त अन्य प्रेम को प्रेम नहीं मानते हैं—

"—दूध पूत की छांड़ी आस। गोधन भर्ता करे निरास।
सांचो हित हरि सों कियो
खान पान तनु की न सम्हार। हिलग छंडायो गृह-व्यवहार॥
सुधि बुधि मोहन हरिलई।"

ऐसे अवसर पर कृष्ण गोपियों के प्रेम की परीक्षार्थ वेदविहित मार्ग का आदेश करते हैं; पर गोपियाँ उसे नहीं सुनतीं। वेदों की उपेक्षा कदाचित् सूर को स्वयं अभीष्ट है, इसलिए वे गोपियों के मुख से कहलाते हैं—

"—तुम हमकों उपदेस्यो धर्म। ताको कछू न पायो मर्म॥
हम अबला मतिहीन हैं।
सुखदाता सुत-पति-गृह-बन्धु। तुम्हरी कृपा बिनु सब जग अंधु॥
तुमतें प्रीतम और को।
तुम सों प्रीति करहिं जे धीर, तिनहिं न लोक वेद की पीर॥
पाप-पुण्य तिनकों नहीं।"

कृष्ण गोपियों की इस प्रेमभावना से सन्तुष्ट होते हैं और रास प्रारम्भ होता है—

नूपुर किंकिनि कंकन चुरी। उपजत मिलित ध्वनि माधुरी॥
सुनत सिराते सुवन मन।
मुरली मुरज खान उपंग। उघटत सब्द बिहारी संग॥
नागरि सब गुन आगरी।

और इस सामूहिक रास में भी राधा अचानक उभरती हैं और सब पर छा जाती हैं—

"—तिरप लेति सुंदर भामिनी। मनहुँ विराजति घन दामिनी॥
या छवि की उपमा नहीं।
राधा की गति परत न लखी। रससागर की सींवा नखी॥
बलिहारी वा रूप की।

लेति सुघर ओघर गति तान। दे चुम्बन आकर्षति प्रान ।।
भेटति भेटति दुख सबै।
राखति पियहिं कुचनि बिच आनि। दे अधरामृत सिर पर पानि ।।
रास रसिक गुन गाइ हो।"

रसिक-शिरोमणि कृष्ण मार्ग रोक कर खड़े हो जाते हैं और दधि बेचने वालियों से गोरस-दान चाहते हैं। जो सहर्ष दें तो अच्छा है, नहीं तो जबरदस्ती मटकियाँ छीन ली जाती हैं—

"—यह सुनि स्याम सबनि कर तें, दधि मटुकी लई छँड़ाइ।
आपुनि खाइ सबनि कौं दीन्हो, अति मन हरष बढ़ाइ।
कछु खायो कछु भुंइ ढरकायो, चितै रहीं ब्रजनारि।
'सूर' स्याम ब्रज भीतर जुवतिनि ये ढंग करत मुरारि।"

जिन युवतियों को रोक कर गोरस की याचना की जाती है, उनमें राधा भी हैं। सूर ने राधा को एक साधारण नारी और कृष्ण को जनसाधारण के प्रतिनिधि नेता के रूप में चित्रित किया है। राधा भी दही बेचने निकली हैं। कृष्ण उनसे भी माखन माँगते हैं—

"—राधा सौं माखन हरि माँगत।
औरनि की मटुकी को खायो, तुम्हरो कैसो लागत।।
लै आई वृषभानु सुता, हँसि मंद लवनी है मेरो।
लै दीन्हो अपने कर हरि-मुख खात अल्प हँसि हेरो ।।
सबहिनि तें मीठो दधि है यह मधुरें कह्यो सुनाइ।
'सूरदास' प्रभु सुख उपजायो, ब्रज ललना मनभाइ ।।"

जीवन का कोई ऐसा क्षण नहीं, जब ब्रजवासी कृष्ण को भूलते हों। कोई ऐसा स्थान नहीं, जहाँ कृष्ण उपस्थित न हों। गोपियाँ नदी-स्नान के लिए जाती हैं तो कृष्ण चुपचाप वहाँ पहुँच जाते हैं और चीरहरण कर लेते हैं। बड़ी चिरौरी करने पर और नम्न प्रकट होने पर वे वस्त्र वापस देते हैं।

बागों में आँखमिचौनी होती है, हिंडोरे पर साथ-साथ झूलते हैं। अहर्निश नृत्य-गान और प्रेमालाप का समाँ बँधा रहता है। ब्रज के नर-नारियों को इस अखण्ड आनन्द-भोग में यह पता ही नहीं लगता कि दिन कब निकला और कब अस्त हुआ। रात-रात भर रास होता है। ब्रज-लोकजीवन के एकमात्र आधार कृष्ण जब अचानक मथुरा के लिए विदा होते हैं तो सहसा ब्रज-लोकजीवन का स्पंदन जैसे रुक जाता है। वे सोच ही नहीं पाते कि कृष्ण की अनुपस्थिति में वे कैसे दिन काटेंगे और कैसे रात काटेंगे। विरह की काली छाया जैसे समग्र ब्रज को ग्रस लेती है। यदि सूर संयोग के इतने विविध और विवृत चित्र प्रस्तुत नहीं करते तो वियोग की घटक कम हो जाती।

इस अहर्निश विलास और अखण्ड वियोग के चित्रण के द्वारा सूर ने जीवन की समग्रता एवं सम्पूर्णता साकार कर दी है। सूर के इस वर्णन में इतनी आत्मीयता, तल्लीनता और मार्मिकता है कि ब्रज-लोकजीवन का हाहाकार पाठक के मन में ज्यों का त्यों उभर आता है—

"—भोर भयो ब्रज लोगन कौं।
ग्वाल सखा सब व्याकुल सुनि के, स्याम चलत हैं मधुबन कौं।।
सुफलक-सुत स्पंदन पलनावत, देखें तहँ बल मोहन कौं।
यह सुनि घर तैं उठि धाई, नंद सुवन मुख जोहन कौं।।
रोर परी गोकुल में जहँ तहँ, गाइ फिरति पय दोहन कौं।
'सूर' वरष कर भार सजावत, महरि चले हरि गोहन कौं।।"

कृष्ण जब मथुरा पहुँच जाते हैं तो उन्हें ब्रजवासियों की याद आती है, गोपियों की याद आती है, यशोदा और नंद की याद आती है और राधा को तो विस्मृत कैसे करते। अन्त में अपने मित्र उद्धव को उन्होंने ब्रजवासियों को प्रबोधने का कार्य सौंपा। वे जानते थे कि उद्धव के प्रयत्नों का क्या परिणाम होगा। कृष्ण ब्रज-जीवन को भुला नहीं पाते। वैभवभरी नगरी मथुरा में भी वे एकान्तता का अनुभव करते हैं। हृदय की बात किससे कहें सुनें—

"—संग मिलि कहौं कासौं बात।
यह तो कहत जोग की बातें, जामें रस जरि जात।।
कहत कहा पितु मात कौन के, पुरुष नारि कह नात।
कहाँ जसोदा सी है मैया, कहाँ नंद सम तात।।
कहँ वृषभानु सुता संग को सुख, वह बासर वह प्रात।
सखी-सखा सुख नहिं त्रिभुवन में नहिं बैकुण्ठ सुहात।।
वै बातें कहिये किहि आगें, यह सुनि हरि पछितात।
'सूरदास' प्रभु ब्रज महिमा कहि, लिखी वदत बलभ्रात।।"

कृष्ण उद्धव को बुलाकर बड़े स्पष्ट शब्दों में ब्रज के सम्बन्ध में अपना हार्दिक प्रेम व्यक्त करते हैं—

"—हरि गोकुल की प्रीति चलाई।
सुनहु उपंग सुत मोहि न विसरत, ब्रजवासी सुखदाई।।
यह चित होत जाहुँ मैं अबहीं, इहाँ नहीं मन लागत।
गोपी, ग्वाल, गाइ बन चारन, अति दुख पायौ त्यागत।।
कहँ माखन रोटी कहँ जसुमति, नेवहुँ कहि कहि प्रेम।"

उद्धव बड़े ज्ञानाभिमान के आवेश में ब्रज जाते हैं और फिर सूर ने गोपियों की उक्ति में जिस वियोग-वह्नि का उद्घाटन किया है, वह अश्रुतपूर्व और अदृष्टपूर्व है। उद्धव जब ब्रज के निकट पहुँचे तो रूपसाम्य से गोपियों का कृष्ण की भ्रम हो

गया। व्रज में ओछोर हलचल मच गयी कि कृष्ण आ गये। लेकिन जब पता लगा कि ये कृष्ण नहीं हैं तो कितनी भयंकर प्रतिक्रिया हुई—

"—जबहि कह्यौ ये स्याम नहीं।
परी मुरछि धरनी व्रज बाला, जो जहँ रहीं सु तहीं।।"

एक विचित्र झुँझलाहट से वातावरण भर गया—

"—तरुनी सब गईं बिलखाइ।
जबहिं आये सुने ऊधौ, अतिहिं गईं झुराइ।"

उद्धव गोपियों के लिए कृष्ण का पत्र लाये हैं। गोपियों के लिए वह उतना ही प्रिय हो जाता है जितने कृष्ण स्वयं—

"—निरखति अंक स्यामसुंदर के बार बार लावति लै छाती।
लोचन जल कागद मिस मिलि कै, है गई स्याम स्याम की पाती।।
गोकुल बसत नंदनंदन के कबहुँ बयारि न लागति ताती।
अरु हम उती कहा कहैं ऊधो जब सुनि वेनु नाद संग जाती।।
उनकैं लाड़ बदति नहिं काहू निसदिन रसिक-रास-रस-राती।
प्राननाथ तुम कबहि मिलोगे, 'सूरदास' प्रभु बाल सँघाती।।"

उपर्युक्त पद में 'बाल सँघाती' शब्द ध्यान देने योग्य है। केवल इस एक शब्द से ही सूर ने इतनी व्यंजना प्रस्तुत की है जितनी सैकड़ों पंक्तियों द्वारा भी सम्भव नहीं है। गोपियों का प्रेम कृष्ण के साथ सतत् सान्निध्य के सहज क्रम में विकसित हुआ था। व्यक्तित्वों का परस्पर ऐसा विलय हो गया था कि अलगाव की भावना ही स्वप्न हो गयी थी। विरह की तीव्रता उस घनिष्ठता एवं एकरूपता के अनुपात में ही ठीक-ठीक समझी जा सकती है।

गोपियाँ तो कृष्ण के दर्शन चाहती हैं। इससे कम किसी बात पर उनका समझौता सम्भव नहीं है—

"—ऊधो कहा करें लै पाती।
जौलौं मदन गुपाल न देखें विरह जरावत छाती।।
निमिष निमिष मोहि बिसरत नाहीं, सरद सुहाई राती।
पीर हमारी जानत नाहीं तुमहौ स्याम सँघाती।।"

गोपियों और उद्धव के इस वार्त्तालाप के बीच ही एक भ्रमर कहीं से आ जाता है और गुंजार करने लगता है। गोपियाँ अपने हृदय का सारा रोष भ्रमर के बहाने उद्धव के समक्ष प्रकट करती हैं—

"—रहु रे मधुकर मधु मतवारे।
कौन काज या निरगुन सौं, चिर जीवहु कान हमारे।।
लोहत पीत पराग कोष में, नीच न अंग सम्हारे।
बारंबार सरस मदिरा की, अपरस रटत उघारे।।

तुम जानत हो वैसी ग्वारिनि जैसे कुसुम तिहारे।
घरी पहर सबहिनि बिरमावत, जेते आवत कारे।।
सुंदर बदन कमलदल लोचन, जसुमति-नंद-दुलारे।
तन-मन 'सूर' अरपि रहीं स्यामहिं, कापै लेहिं उधारे।।"

उद्धव की अटपटी निर्गुण-वाणी से गोपियों को संदेह हो जाता है कि यह कृष्ण के मित्र हैं भी या नहीं—

"—ऊधौ स्याम सखा तुम साँचे।
कै करि लियौ स्वाँग बीचहिं तें वैसेहि लागत काँचे।।"

गोपियों को इस बात का विश्वास हो गया है और वह ठीक भी है कि शायद कृष्ण ने अपने इस मुग्धकारी मित्र को मूर्ख बनाया हो। वे उद्धव को फटकारती हुई कहती हैं—

"—ऊधौ जरहु तुमहिं हम जाने।
स्याम तुम्हें ह्याँ कौं नहिं पठायौ, तुम हौ बीच भुलाने।
ब्रज नारिन सौं जोग कहत हौ, बात कहत न लजाने।
बड़े लोग न विवेक तुम्हारे, ऐसे भए अयाने।।
हमसौं कही लई हम सहिकै, जिय गुनि लेउ सयाने।
कहँ अबला कहँ दिसा दिगम्बर, यष्ट करौ पहिचाने।।
साँच कहौं तुमकौं अपनी सौं, बूझति बात निदाने।
'सूर' स्याम जब तुमहिं पठायौ, तब नेकहु मुसकाने।।"

गोपियों में भी राधा का विशेष चित्रण करना सूर नहीं भूलते क्योंकि राधा सभी गोपियों के प्रेम का प्रतिनिधित्व करती हैं—

"—अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि स्रम-जल भीज्यौ उर-अंचल, तिहिं लालच न धुवावति सारी।।
अधमुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यौं गथ हारे थकित जुआरी।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यौं नलिनी हिमकर की मारी।।
हरि सँदेस सुनि सहज मृतक भइ, इक बिरहिनि, दूजे अलिजारी।
'सूरदास' कैसे करि जीवैं ब्रज बनिता बिन स्याम दुलारी।।"

कृष्ण की अनुपस्थिति में ब्रज की रूपरेखा ही बदल गयी है। जो ब्रज-प्रदेश कृष्ण की उपस्थिति से स्पंदित रहता था, वही मानो अब निर्जीव पड़ा है। लता-बेलि, यमुना, चन्द्रमा सभी जैसे बदल गये हैं—

"—बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजें।
तब वै लता लगति तन सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजें।।
वृथा बहति जमुना खग बोलत, वृथा कमल फूलनि अलि गुंजें।
पवन पान घनसार सजीवन, दधिसुत किरन भानु भई भुंजें।।

यह ऊधो कहियो माधोसौं, मदन मारि कीन्हीं हम लुंजे।
'सूरदास' प्रभु तुमरे दरस कौं, मग जोवत अँखियाँ भइ छुंजे॥

कृष्ण के विरह में गोपियों की जो दयनीय दशा हो गयी है, निम्नांकित पंक्तियों में राधा उनका प्रतिनिधित्व करती हैं। उद्धव कृष्ण से कहते हैं—

"—चित दै सुनो स्याम प्रवीन।
हरि तुम्हारे विरह राधा मैं जु देखी छीन॥
तज्यो तेल तमोल भूषन, अंग बसन मलीन।
कंकना कर रहत नाहीं, टाड़ भुज गहि लीन॥
जब संदेसौ कहन सुंदरि गवन मो तन कीन।
छुटी छुद्रावलि चरन अरुभी, गिरी बलहीन॥
कंठ बचन न बोलि आवै, हृदय परिहस मौन।
नैन जल भरि रोइ दीन्हौ, ग्रसित आपद दीन॥
उठी बहुरि सँभारि भट ज्यों, परम साहस कीन।
'सूर' हरि के दास कारन, रही आसा लीन॥"

सूर ने अपने काव्य में प्रेम का एकपक्षीय चित्रण ही नहीं किया है। ब्रज में जो स्थिति गोपियों की है, मथुरा में वही कृष्ण की है। अन्तर केवल इतना ही है कि कृष्ण राजनीति में अहर्निश व्यस्त रहते हैं, इसलिए वे अपने मनोभावों को छिपाये रहते हैं। अपने अभिन्न मित्र उद्धव के समक्ष उनके इस मानसिक नियन्त्रण का बाँध टूट जाता है और भावनाएँ मनोकूलों को डुबा कर बहने लगती हैं—

"—सुनि ऊधो मोहि नैकु न बिसरत वै ब्रजवासी लोग।
तुम उनको कछु भली न कीनी, निसिदिन दियो वियोग॥
जउ वसुदेव-देवकी मथुरा, सकल राजसुख भोग।
तद्यपि मनहिं बसत बंसीवट, बन जमुना संजोग॥
वे उत रहत प्रेम अवलम्बन, इततें पठयो जोग।
'सूर' उसांस छाँड़ि भरि लोचन, बढ़यो विरह ज्वर सोग॥"

कृष्ण के मानसपटल पर ब्रजछवि अपनी सम्पूर्ण विविधता और अद्वितीयता में इतनी गहरी अंकित हो गयी है कि वे प्रयत्न करने पर भी इसे भुला नहीं पाते। वे उद्धव के समक्ष बड़े स्पष्ट शब्दों में अपनी इस प्रेम-परवशता की चर्चा करते हैं—

"—ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हंस सुता की सुंदर कगरी, अरु कुंजन की छाहीं॥
वै सुरभी वै बच्छ दोहिनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल बाल मिलि करत कुलाहल, नाचत गहि गहि बाहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरत आवति वा सुख की, जिय उमगत तन माहीं॥

अनगन भाँति करी बहु लीला, जसुदा नंद निबाहीं ।
'सूरदास' प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताहीं ।।"

ये तो सब ऐसे दृश्य हैं जो वियोग-वर्णन के पक्ष को अत्यन्त पुष्ट और प्रौढ़ बनाते हैं । यों तो सूर ने रस की शास्त्रीयता की दृष्टि से भरती के पद नहीं लिखे हैं, फिर भी खोज करने पर उनके विरह-पदों में विरह की सम्पूर्ण स्थितियाँ सहजरूप से ही मिल जाती हैं ।

शास्त्रीय दृष्टि से विरह की दस दशाएँ मानी गयी हैं—(१)—अभिलाषा ; (२) चिन्ता ; (३) स्मरण ; (४) उद्वेग ; (५) प्रलाप ; (६) उन्माद ; (७) व्याधि ; (८) जड़ता ; (९) मूर्छा ; (१०) मरण ।

एक-एक उद्धरण के द्वारा इन सभी दशाओं का वर्णन यहाँ अप्रासंगिक न होगा—

(१) अभिलाषा

"—निरखत अंक स्यामसुंदर के बार बार लावति छाती ।
लोचन जल कागद मसि मिलिकै ह्वै गई स्याम, स्याम की पाती ।"

(२) चिन्ता

"—मधुकर ये नैना पै हारे ।
निरखि निरखि मग कमल नयन को प्रेम मगन भए भारे ।।"

(३) स्मरण

"—मेरे मन इतनी सूल रही ।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं, जे नंदलाल कहीं ।।"

(४) उद्वेग

"—तिहारी प्रीति किधौं तरवारि ।
दृष्टिधार कर मार साँवरे, घायल सब व्रज नारि ।।"

(५) प्रलाप

"—कैसे पनघट जाऊँ सखी री डोलौं सरिता तीर ।
भरि भरि जमुना उमड़ि चली है, इन नैनन के नीर ।।
इन नैनन के नीर सखी री सेज भई घर नाँव ।
चाहति हौं याही पै चढ़िकै स्याम मिलन कों जाँउ ।।"

(६) उन्माद

"—माधव यह व्रज को व्योहार ।
मेरो कह्यो पवन को भुस भयो, गावत नंदकुमार ।।
एक ग्वालि गोधन लै रेंगति, एक लकुट कर लेति ।
एक मंडली कर बैठारति, छाक बाँटि कै देति ।।"

(७) व्याधि

"—ऊधौ जू मैं तिहारे चरन लागौं, बारक या ब्रज करहु भाँवरी ।
निसि न नींद आवै, दिन न भोजन भावै, मग जोवत भइ दृष्टि झाँवरी ।।"

(८) जड़ता

"—बालक संग लिये दधि चोरत, खात खवावत डोलत ।
'सूर' सीस सुनि चौंकत नावहिं, अब काहे न मुख बोलत ।।"

(९) मूर्च्छा

"—सोचति अति पछिताति राधिका मूर्छित धरनि ढही ।
'सूरदास' प्रभु के बिछुरे तें बिथा न जाति सही ।।"

(१०) मरण

"—जब हरि गवन कियो पूरब लौं, तब लिखि जोग पठायो ।
यह तन जरिके भस्म ह्वै निवर्‍यो, बहुरि मसान जगायो ।।
मेरे मनोहर आनि मिलाओ, मैं लै चलु हम साथे ।
'सूरदास' अब मरन बन्यो है, पाप तिहारे माथे ।।"

उपर्युक्त विवेचन से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि सूर हिन्दी में प्रेम-चित्रण के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। प्रेम की ऐसी कोई ज्ञात या कल्पित स्थिति नहीं है जो सूर के तलस्पर्शी निरीक्षण से बच रही हो ।

---

अध्याय ३

# सूरकाव्य में वात्सल्य-चित्रण

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "सूर वात्सल्य और शृंगार का कोना-कोना झांक आये थे।" वात्सल्य के क्षेत्र का स्पर्श हिन्दी के महानतम कवि तुलसी ने भी किया है। पर वे इस दिशा में उतने आगे नहीं जा सके जितने सूर। वस्तुतः इन दोनों महानतम कवियों की भक्ति-पद्धति में ही मौलिक अन्तर है। सूर अपने आराध्य श्याम को सखा मानकर चलते हैं तो तुलसी अपने आराध्य राम को स्वामी एवं विष्णु का अवतार मानकर चलते हैं। भक्ति-पद्धति का यह अन्तर ही दोनों के दृष्टिकोणों को मूलतः भिन्न रूप प्रदान करता है। अपनी विशिष्ट मान्यता के कारण तुलसी निमिष के लिए भी राम को बालक समझने का साहस नहीं करते। वे जैसे भी हैं, उनके स्वामी हैं। उनका नाम ही उनके लिए बहुत बड़ा है—"राम तें अधिक रामकर नामा।" लेकिन अपनी विशिष्ट मान्यता के कारण सूर अपने आराध्य को बालकरूप में भी देख सकते हैं। उनके आराध्य उनके सखा हैं और सखा से तो हास्य-विनोद का भी नाता होता है। सखाभाव में आतंक की भावना का तो कहीं लेश भी नहीं होता, इसीलिए तो सूर मानो श्रीदामा के मुख से अपनी भक्ति के प्रमुख सूत्र को अत्यन्त सुलझेरूप में प्रस्तुत करते हैं—"खेलन में को काको गुसैंया।"

सूर ने प्रारम्भ में दास्यभाव की भक्ति का ही आश्रय लिया था, किन्तु जब वे प्रथमतः अपने मार्गदर्शक और गुरु महाप्रभु वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आये तो उन्होंने सूर के लिए भक्ति का एक अदृष्टपूर्व अलौकिक क्षेत्र ही उद्‌घाटित कर दिया और यह क्षेत्र था—सखाभाव की भक्ति का। अपनी प्रथम भेंट के अवसर पर जब महाप्रभु ने सूर से स्वरचित पद सुनाने को कहा तो सूर-विनय के कुछ पद उन्हें सुनाये। महाप्रभु ने पद सुनने के पश्चात् सूर से कहा—"सूर ह्वै कें घिघियात काहे हैं, कुछ भगवल्लीला वर्णन करि" और तब उन्होंने स्वयं सूर को सखाभाव की भक्ति का उपदेश दिया और भागवत का प्रवचन किया। महाप्रभु की इस भेंट ने सूर के जीवन में युगान्तर प्रस्तुत कर दिया। उनकी चिन्ताधारा निर्भ्रम हो गयी और हृदय कृष्ण के प्रति अनिर्वचनीय प्रेम से परिपूरित हो गया।

पुष्टिमार्ग में चूंकि बालकृष्ण की ही पूजा होती है, इसीलिए भी बालकृष्ण के पुजारी इस महाकवि ने अपनी सभी प्रतिभा से कृष्ण के बालस्वरूप को ही सँवारा। प्रतिभा की समग्रता की दृष्टि से यों तो तुलसी सूर की तुलना में बहुत भारी पड़ते हैं। अदम्य प्रतिभा के साथ तुलसी के पास अखण्ड विद्वत्ता भी थी, किन्तु वात्सल्य और शृंगार की दिशा-विशेष में सूर तुलसी को निश्चयतः पीछे छोड़ गये हैं। तुलसी के समग्र काव्य के मूल में सामाजिक कल्याण की चिन्ताधारा है जो प्रति क्षण बुद्धि को अनुशासित रखती है, किन्तु प्रेमान्ध सूर के काव्य में मर्यादा के कगार टूट गये हैं और प्रेमपयस्विनी अकूल होकर बही है।

सूर के बालकृष्ण और तुलसी के राम की आरम्भिक परिस्थितियाँ भी एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। राम सम्राट् के पुत्र हैं। दशरथ का राजमहल विशाल प्राचीरों से घिरा है और वज्रकपाटों में बन्द है। राजप्रासाद का आन्तरिक जीवन बाह्य सामाजिक जीवन से बिलकुल विच्छिन्न है; किन्तु नन्द बाबा के घर के दरवाजे रैंता, पैंता और मनसुखा सबके लिए खुले हैं। ऐसा लगता है कि कृष्ण नन्द से अधिक ब्रजवासियों के हैं। उनके ऊपर किसी का एकाधिकार नहीं है। वे सबके हैं और सब उनके हैं।

तुलसी के बाल-राम की अपनी सीमाएँ हैं। वे जनसाधारण के साथ नहीं खेलकूद सकते। उनके साथी तो राजकुमार ही हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी वेशभूषा और खेलों के प्रकार भी उनकी मर्यादानुसार ही हैं। धनुर्बाण धारण कर मृगया के लिए निकल जाना उनके रुचिर खेलों में है—

"—बोलत अवनियकुमार, ठाढ़े नृप-भवन-द्वार,
रूप-सील-गुन उदार जागहु मेरे प्यारे।
बिलखित कुमुदनि, चकोर, चक्रवाक, हरष भोर,
करत सोर तमचुर खग, गुंजत अलि न्यारे॥
रुचिर मधुर भोजन करि, भूषन सजि सकल अंग,
संग अनुज बालक सब विविध विधि सँवारे।
करतल गहि ललित चाप भंजन रिपु-निकर-दाप,
कटितट पटपीत, तून सायक अनियारे॥
उपवन मृगया बिहार कारन गवने कृपाल,
जननी मुख निरखि पुण्य पुंज निज बिचारे।
तुलसिदास संग लीजै, जानि दीन अभय कीजै।
बिमल गावै चरितवर तिहारे॥"

सूर के बालकृष्ण, राम से बिलकुल भिन्न हैं। वे साधारण ग्वालबालों के साथ खेलते हैं, उनकी न तो कोई विशिष्ट वेशभूषा है और न अपने कोई विशिष्ट खेल। अन्य बच्चों के साथ उनके सम्बन्ध समानता के आधार पर ही हैं। अगर

कृष्ण स्वयं खेलकर अपने सखाओं का दाँव नहीं देंगे तो उन्हें फटकार भी खानी पड़ सकती है। एक साधारण ग्वालबाल उन्हें डाँट सकता है। हो सकता है, कृष्ण की दो-चार गायें औरों को तुलना में अधिक हों। पर इससे क्या ! देखिये, एक साधारण ग्वाल कृष्ण को किस प्रकार डाँटता है—

"—खेलत में को काको गुसैंया।
हरि हारे, जीते श्रीदामा बरबसही कत करत रिसैया ।।
जाति-पाँति हमते कछु नाहीं ना हम बसत तुम्हारी छैंयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें अधिक तुम्हारे हैं कछु गैया ।।"

कभी-कभी तो सखा कृष्ण को इतना परेशान कर देते हैं कि उन्हें रोक कर घर भागना पड़ता है और विचित्र बात यह है कि उनके बड़े भाई बलराम भी उनका पक्ष नहीं लेते बल्कि दूसरे लड़कों के साथ मिल जाते हैं—

"—सखा कहत हैं स्याम खिसाने।
आपुहिं आप बलकि भए ठाढ़े अब तुम कहा रिसाने ?
बीचहिं बोलि उठे हलधर तब याके माइ न बाप।
हारि जीत कछु नेंकु न समझत, लरिकन लावत पाप।
आपुन हारि सखन सौं झगरत, यह कहि दियौ पठाइ।
'सूर' स्याम उठि चले रोइ कैं जननी पूछति धाइ ।।"

सूर के बालवर्णन की सबसे बड़ी विशेषता है, उनके वर्णन की यथार्थवादिता और मनोविज्ञान सम्मतता, जो उनके बालवर्णन को चिरनवीन बनाये हुए है। उनका बालवर्णन कभी भी पुराना नहीं पड़ेगा क्योंकि उसकी भक्ति अत्यन्त पुष्ट और सार्वभौम है।

तुलसी पग-पग पर बाल-राम को बालक कहने से डरते हैं। वे उनके अन्दर बालक की साधारण कमजोरियाँ दिखाने का साहस संचित नहीं कर पाते। उनके बालक राम अनेक गुणों के कारण असमय प्रौढ़ लगते हैं।

सूर मानव-हृदय के इस रहस्य को समझते थे। बालक बहाने ढूँढ़ने में कितने चतुर होते हैं। अपने माँ-बाप की आँख बचाकर धीरे से खिसकने को वे कितने आतुर रहते हैं और पकड़े जाने पर बहानों का अव्यय कोष उनके पास होता है। प्रत्येक माँ-बाप की तरह पाठक को भी बालक की इन क्रीड़ाओं पर प्यार आता है, क्रोध नहीं।

कृष्ण ने चुराकर माखन खाया है और रंगे हाथों पकड़े भी गये हैं। साधारण बच्चे की भाँति वे डरते हैं कि माँ दंड देगी। तुरन्त ही बहाना तैयार है—

"—मैया मैं नहिं माखन खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायो।।
देखि तुहीं छींके पर भाजन, ऊंचे धरि लटकायो।
तुहीं निरखि नान्हे कर अपने, मैं कैसे कर पायो।।
मुख दधि पोंछ बुद्धि इक कीन्ही दौना पीठि दुरायो।
डारि सांटि मुसकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायो।।"

तुलसी की प्रवृत्ति वास्तव में बालवर्णन में रमी ही नहीं है। उनके राम तो अचानक ही बड़े हो जाते हैं—

"—बाल चरित हरि बहु विधि कीन्हा।
अति अनंद दासन्ह कहं दीन्हा।।
कछुक काल बीतें सब भाई।
बड़े भए परिजन सुखदाई।।"

इसी प्रकार गुरु-गृह जाने पर राम अल्पकाल में ही सभी विद्याओं के स्वामी बन जाते हैं—

"—भए कुमार जबहिं सब भ्राता।
दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता।।
गुरु गृह गए पढ़न रघुराई।
अलप काल विद्या सब आई।।"

राम के मनोरंजन भी अत्यन्त सीमित हैं और जो हैं वे भी राजकुमारोचित हैं। वे नित्य-प्रति मृगया के लिए जाते हैं और बड़े गर्वपूर्वक मरे हुए हरिण लाकर अपने पिता को दिखाते हैं—

"—बंधु सखा संग लेहिं बुलाई।
बन मृगया नित खेलहिं जाई।।
पावन मृग मारहिं जिय जानी।
दिन प्रति नृपहिं दिखावहिं आनी।।"

तुलसी को बालराम के लोकोत्तर चरित्र की इतनी चिन्ता है कि वे उन्हें इतनी अल्पवय में भी अत्यन्त गम्भीर और मर्यादावादी चित्रित करना चाहते हैं। सूर के बालकृष्ण तो एक सामान्य बालक की अच्छाइयों और कमजोरियों से युक्त हैं, लेकिन तुलसी के बालराम को दुर्बलताएं छू भी नहीं गयी हैं। बालकृष्ण तो अनेक बार अपना दाव लेने पर दूसरे का नहीं देना चाहते। अपने जीतने पर उन्हें स्वभावतः प्रसन्नता होती है और कभी-कभी अपने साथियों से इस बात पर झगड़ा भी हो जाता है। पर राम, ऐसा लगता है कि अपने लिए नहीं खेलते। वे अपने से छोटे और बच्चों को खिलाने के लिए खेलते हैं और वे बच्चों में बच्चे नहीं, वयस्क दिखाई देते

हैं। भरत जब खेल में जीत जाते हैं तो लज्जित होते हैं कि मैं बड़े भाई से क्यों जीत गया और राम बार-बार उनको इसलिए जिता देते हैं कि भरत उनसे छोटे हैं—

"—राम लखन इक ओर, भरत रिपुदवन लाल इक ओर भये।
सरजुतीर सम सुखद भूमि थल, गनि गनि गोइयाँ बाँटि लये॥
कन्दुक-केलि-कुसल हय चढ़ि चढ़ि, मन कसि-कसि ठोंकि-ठोंकि खये।
कर कमलनि विचित्र चौगानैं, खेलन लगे खेल रिझये॥
व्योम विमाननि विवुध विलोकत, खेलक पेखक छाँह छये।
सहित समाज सराहि दसरथहि, बरसत निज तरु कुसुम चये॥
एक लै बढ़त एक घेरत, सब प्रेम-प्रमोद-विनोद-मये।
एक कहत भइ हारि रामजू की, एक कहत भैया भरत जये॥
प्रभु बकसत गज-बाजि, बसन-मनि, जय धुनि गगन निसान हये।
पाइ सखा-सेवक-जाचक भरि, जनम न दुसरे द्वार गये॥
नभ-पुर परति निछावर जहँ तहँ, सुर सिद्धनि बरदान दये।
भूरि भाग अनुराग उमगि जे, गावत सुनत चरित नित ये॥
हारे हरस होत हिय भरतहि, जिते सकुच सिर नमन नये।
तुलसी सुमरि सुभाव सील, मुकुती तेइ जे एहि रंग रये॥

राम के राजकुमारत्व ने उनकी जीवन-परिधि अत्यन्त सीमित कर दी है। बालकृष्ण के जीवन में जो वैविध्य है वह राम के जीवन में नहीं है। विचित्र बात तो यह है कि वेही सूर जो बालकृष्ण के वर्णन के लिए जगद्विख्यात हैं, बालराम के वर्णन में अधिक सफल नहीं हुए हैं। सच बात तो यह है कि राम और कृष्ण के बाल-जीवन का अन्तर ही उन्हें भिन्न-भिन्न स्तरों में बाँट देता है। यह केवल संयोग की बात ही है कि जब आज हमारे देश ने शासन के लिए प्रजातन्त्र पद्धति स्वीकार कर ली है तब कृष्ण का बालवर्णन युगानुकूल प्रतीत होता है और कृष्ण युग-नेता प्रतीत होते हैं। लगता है, जैसे राम विगत युग के नेता हों। यह सुखद संयोग ही है कि आज का पाठक कृष्ण को जन-जीवन के निकटतर पाता है। वस्तु-स्थिति यह है कि कृष्ण सदैव ही राम की तुलना में जन-जीवन के निकटतर थे किन्तु जब तक लोक-जीवन में प्रजातंत्र की प्रतिष्ठा नहीं थी तब तक राम का चरित्र ही अधिक भास्वर प्रतीत होता था। अतीत राम का था और लगता है, भविष्य कृष्ण का है।

बालकृष्ण के जीवन में इतना वैविध्य है कि किसी बालक के जीवन में उससे अधिक वैविध्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। किसी भी ऐसे बालक और उसकी बाललीलाओं की हम कल्पना नहीं कर सकते जिनका समावेश सूर ने बालकृष्ण के जीवन में पहले ही न कर दिया हो। यों तो राम की भाँति कृष्ण भी युगावतार हैं। विष्णु के ही दोनों अवतार माने जाते हैं। बाल्यावस्था में कृष्ण के द्वारा जितने राक्षसों का वध दिखाया गया है, उतनों का शायद राम के द्वारा बाल्यावस्था में नहीं

दिखाया गया, किन्तु कृष्ण के जीवन का वह भाग अलौकिकता के अंश के कारण आज के विज्ञान-युग में इतना प्रभविष्णु तथा आकर्षक नहीं लगता जितना उनका साधारण बालक का रूप। कृष्ण, सच तो यह है कि अपनी अति साधारणता के कारण ही असाधारण हैं। जन्म से लेकर किशोरावस्था तक सूर ने कृष्ण के बाल-जीवन को इतने विस्तार में देखा और वर्णन किया है कि विश्व का कोई भी कवि इस क्षेत्र में उनकी बराबरी नहीं करता।

सूर के वात्सल्य वर्णन की समीक्षा की सुविधा की दृष्टि से मूलतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) संयोग वात्सल्य-वर्णन और (२) वियोग वात्सल्य-वर्णन। पुत्र की उपस्थिति और उसकी अनुपस्थिति दोनों में यशोदा और नन्द के हृदय की अभिव्यक्ति ने सूर के वात्सल्य-वर्णन की सीमाओं को कल्पनातीत विस्तार प्रदान कर दिया है। वात्सल्य की समग्रता को उन्होंने अपने वर्णन की परिधि में सहज ही समेट लिया है।

सूर के वात्सल्य-वर्णन का प्राण है बालकृष्ण की चेष्टाएँ। यह तो प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि शिशु अपने आप ही परिवार में अपना अनुपेक्षणीय स्थान बना लेता है। बालक की अटपटी क्रियाएँ और उसकी सहज चेष्टाएँ माता-पिता तथा स्वजनों को सहज-सतत् आकृष्ट रखती हैं।

कृष्ण कभी-कभी आकर दधि मथने की मथनियाँ पकड़ कर बैठ जाते हैं। अब माता कैसे दही मथे। सूर कितना यथार्थ और मार्मिक चित्रण करते हैं—

"—नंद जू के बारे कान्ह छाँड़ि दै मथनियाँ।
बार-बार कहति मातु जसुमति नंदरनियाँ॥
नेंकु रहौ माखन देउँ मेरे प्रानधनियाँ।
आरि जनि करौ बलि बलि जाऊँ हौं निधनियाँ॥
जाकौ ध्यान धरैं सबै, सुर-नर-मुनि जनियाँ।
ताकौ नंदरानी मुख चूमै लिये कनियाँ॥
शेष सहस आनन गुन गावत नहिं बनियाँ।
'सूर' स्याम देखि सबै भूली गोपधनियाँ॥"

कृष्ण कुछ बड़े हो गये हैं। चलती भाषा में कहें तो उनके पैर हो गये हैं। ऐसा बच्चा माँ-बाप की चिन्ता का केन्द्र इसलिए बन जाता है कि कभी भी घर से बाहर निकल सकता है और किसी भी खतरे में पड़ सकता है। शहर में रहने वाले माँ-बाप को डर रहता है कि उनका बच्चा कहीं मोटर-साइकिल के नीचे न आ जाय और गाँव के माता-पिता डरते हैं कि कहीं उनका बच्चा गाय-भैंस के नीचे न आ जाय। कृष्ण अब मैया-मैया कहने लगे हैं। थोड़े घर से निकले ही हैं कि यशोदा काम-काज छोड़कर उन्हें पुकारती फिरती हैं। देखिये, बालकृष्ण का यह चित्रण कितना सार्वभौम और सर्वयुगीन

है। यह चित्रण आज भी ज्यों का त्यों ठीक है और जब सूर ने लिखा था तब भी यथार्थ था—

"—कहन लागे मोहन मैया मैया।
नंद महर सौं बाबा बाबा अरु हलधर सौं भैया॥
ऊँचे चढ़ि-चढ़ि कहत जसोदा, लै लै नाम कन्हैया।
दूरि खेलन जनि जाहु लला रे, मारैगी काहू की गैया॥
गोपी ग्वाल करत कौतूहल, घर घर बजति बधैया।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस कौं, चरननि की बलि जैया॥"

बड़ा विचित्र प्रसंग है और मार्मिक भी। कृष्ण ने एक दिन माखन-घट में झाँका। अपना प्रतिविम्ब दिखाई दिया। समझे, यह तो कोई दूसरा बालक आज मेरे घर आ गया और घर में बैठकर माखन साफ किये जा रहा है। दौड़े-दौड़े पहुँचे माँ यशोदा के पास। माँ सारा रहस्य समझी और उसका उचित उपचार किया। देखिये—

"—माखन खात हंसत किलकति हरि पकरि स्वच्छ घट देख्यो।
निज प्रतिबिम्ब निरखि रिस मानस, जानत आन परेख्यो॥
मन मैं भाष करत कछु बोलत नंद बबा पै आयो।
वा घर मैं काहूं के लरिका, मेरो माखन खायो॥
महर कंठ लावत, मुख पोंछत, चूमत तिहिं ठाँ आयो।
हिरदैं दिये लख्यौ वा सुत कौं, तातैं अधिक रिसायौ॥
कह्यौ जाइ जसुमति सौं तत छन, मैं जननी सुत तेरौ।
आजु नंदसुत और कियो कछु, कियो न आदर मेरौ॥
जसुमति बालविनोद जानि जिय, उहीं ठौर लै आई।
दोउ कर पकरि डुलावन लागी, घट मैं नहिं छवि पाई॥
कुँवर हस्यो आनंद प्रेम बस, सुख पायौ नँदरानी।
'सूरज' प्रभु की अद्भुत लीला जिन जानी तिन जानी॥"

माँ यशोदा कहती हैं, बेटा! कजरी का दूध पियो, चोटी खूब बड़ी हो जायगी। इस लोभ में कृष्ण दूध पीते हैं और गर्म दूध से जीभ जल जाती है, रोने लगते हैं। देखिये, सूर ने कितना यथार्थ चित्रण किया है—

"—कजरी को पय पियहु लाल, जासौं तेरी बेनि बढ़ै।
जैसें देखि और ब्रज बालक, त्यौं बल बैस चढ़ै॥
यह सुनि कै हरि पीवन लागे, ज्यौं-त्यौं लयो लढ़ै।
अँचवत पय तातो जब लाग्यौ, रोवत जीभ डढ़ै॥
पुनि पीवत हीं कच टकटोरत, झूठहि जननि रढ़ै।
'सूर' निरखि मुख हँसति जसोदा, सो मुख उर न कढ़ै॥"

चोटी बढ़ने के लोभ में बेचारा बालक दूध पी तो लेता है। आज भी ब्रज में और शायद बाहर भी हिन्दू माँ अपने बच्चे को चोटी बढ़ने के लालच से दूध पीने के लिए प्रेरित करती है। लेकिन आखिर बच्चे को इस बहाने से कब तक बहलाया जाय। एक दिन कृष्ण हठ पकड़ गये और पूछने लगे कि—

"—मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी ॥
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै लाँबी-मोटी।
काढ़त-गुहत न्हवावत जैहै नागिन सी भुइँ लोटी ॥
काँचो दूध पियावति पचि-पचि देति न माखन रोटी।
'सूरदास' चिरजीवौ दोऊ हरिहलधर की जोटी ॥"

कई बार बच्चे जब अकारणही रोने लगते हैं तब उनको चुप करने को माँ-बाप के सारे प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होते हैं। माँ बच्चे का ध्यान बँटाने के लिए उसे इधर-उधर की चीजें दिखाती है। माँ यशोदा, देखिये, कितनी कठिन परि-स्थिति में फँस गयी है—

"—ठाढ़ी अजिर जसोदा अपनैं हरिहिं लिये चंदा दिखरावत।
रोवत कत बलि जाऊँ तुम्हारी, देखौं धौं भरि नैन जुड़ावत ॥
चितै रहे तब आपुन ससि-तन अपने कर लै लै जु बतावत।
मीठो लगत किधौं यह खाटो, देखत अति सुन्दर मनभावत ॥
मनहीं मन हरि बुद्धि करत हैं, मातासौं कहि ताहि मँगावत।
लागी भूख चंद मैं खैहौं, देहि-देहि करि रिस बिसम्भावत ॥
जसुमति कहति कहा मैं कीनो, रोवत मोहन अति दुख पावत।
'सूर' स्याम कौं जसमति बोधति, गगन चिरैया उड़त दिखावत ॥"

कृष्ण अब प्रायः घर से बाहर निकलकर दूर तक चले जाते हैं। माँ यशोदा कृष्ण को उसी तरह 'हौआ' का डर दिलाती हैं, जैसा आजकल माँ अपने बच्चों को डराती हैं—

"—दूरि खेलन जनि जाउ लला मेरे, बन मैं आए हाऊ।
तब हँसि बोले कान्हा, मैया कौन पठाए हाऊ ?"

माँ उन्हें डराती हैं। देखो बेटा ! 'हाऊ' कान तोड़कर ले जाता है बच्चों के—

"—खेलन दूरि जात कत कान्हा।
आजु सुन्यौ मैं हाउर आयौ, तुम नहिं जानत नान्हा ॥
इक लरिका अबहीं भजि आयौ, रोवत देख्यौ ताहि।
कान तोरि वह लेत सबनि के, लरिका जानत जाहि ॥

चलो न बेगि सवारें जैयै भाजि आपने धाम।
'सूर' स्याम यह बात सुनत ही बोलि लिए बलराम ॥"

कृष्ण कुछ बड़े हो गये हैं, फिर भी माता के स्तन-पान की उनकी आदत नहीं छूटती। सूर की प्रतिभा आश्चर्यजनक है। वात्सल्य का कोई ऐसा कोना सचमुच ही नहीं बचा जिसे उन्होंने अपने दिव्य चक्षुओं से न देखा हो। कितनी सामान्य कठिनाई है यह बहुत सी माताओं की, ऐसा लगता ही नहीं है जैसे ये पंक्तियाँ कुछ सौ वर्ष पहले लिखी गई हों—

"—जसुमति कान्हहिं सिखावति।
सुनहु स्याम अब बड़े भये तुम, कहि स्तनपान छुड़ावति॥
व्रज लरिका तोहिं पीवत देखत, हँसत लाज नहिं आवति।
जैहैं बिगरि दाँत ये अच्छे, तातैं कहि समुझावति॥
अजहूँ छाँड़ि कह्यौ करि मेरौ, ऐसी बात न भावति।
'सूर' स्याम यह सुनि मुसिकाने, अंचल मुखहिं लुकावत॥"

कृष्ण गायों के साथ जाने को हैं। जरा विलम्ब होते ही माता चिन्तित होने लगती है—

"—और ग्वाल सबही गृह आए, गोपालहिं बेर भई।
अतिहिं अबेर भई लालन कौं, अजहूँ नहिं छाक गई॥
तबहीं तें भोजन करि राख्यौ, उत्तम दूध जमाइ।
ना जानौं धौं कान्ह कौन बन, चारत बेर लगाइ॥"

माँ प्रतीक्षा करते-करते अधीर हो जाती है और तुरन्त एक ग्वालिन के हाथ भोजन भिजवाती है। अपने बच्चे के प्रति माँ की यह व्यग्रता सार्वभौम और सार्वकालिक है—

"—घर ही की इक ग्वारि बुलाई।
छाक सामग्री सबै जोरि कै, वाकें करदै तुरत पठाई॥
कह्यौ ताइ वृंदावन जैए, तू जानति सब प्रकृति कन्हाई।
प्रेम सहित लै चली छाक वह, कहँ ह्वै हैं भूखे दोउ भाई॥
तुरत जाइ वृंदावन पहुँची, ग्वाल बाल कहुँ कोउ न बताई।
'सूर' स्याम कौं टेरत डोलति कित हौ, लाल छाक मैं लाई॥"

आखिर, छाक कृष्ण तक पहुँचती है। सभी ग्वालबाल इकट्ठे हो जाते हैं। माता यशोदा सभी की माता हैं। कृष्ण और अन्य ग्वालबालों में उनके लिए अन्तर नहीं। कृष्ण भी उन्हें दूसरा नहीं समझते। राम की मण्डली और कृष्ण की मण्डली में बड़ा अन्तर है। राम अभिजात्यता की सीमाओं को तोड़ नहीं सकते। कृष्ण तो इस प्रकार की सारी मान्यताओं को अमान्य कर चलने वाले महापुरुष हैं। बचपन से ही कृष्ण का वातावरण ऐसा था कि उनका उदय जन-नेता के रूप में हुआ। ग्वालबालों

से उनकी हार्दिकता, आत्मीयता, निकटता, निश्छलता और उदार-हृदयता का एक मार्मिक चित्र देखिये—

"—आई छाक, बुलाए स्याम।
यह सुनि सखा सबै जुरि आए, सुबल सुदामा अरु श्रीदाम ॥
कमल-पत्र दोना पलास के, सब आगें धरि परसत जात।
ग्वाल मंडली मध्य स्याम धन, सब मिलि भोजन रुचिकर खात ॥
ऐसी भूख माँहि यह भोजन पठै दियौ है जसुमति मात।
'सूर' स्याम अपनौ नहिं जेंवत, ग्वालनि कर तें लै लै खात ॥"

इतना ही नहीं, अपनत्व की यह चरम सीमा है जहाँ कृष्ण अपने सखाओं के झूठें कौर छीन-छीन कर खाने लगते हैं। आज भी हृदय को अभिन्नता जहाँ-जहाँ है, वहाँ-वहाँ ऐसे लोकोत्तर दृश्य देखने को मिल सकते हैं—

"—ग्वालिन करतें कौर छुड़ावत।
जूठी लेत सबनि के मुख को, अपने मुख में नावत ॥
षटरस के पकवान धरे सब, तिनमैं रुचि नहिं लावत।
हा-हा करि-करि माँगि लेत हैं कहत मोहिं अति भावत ॥"

कई बार बड़ी आयु के साथी अपने छोटे साथियों को परेशान करने में भी आनन्द लेते हैं। तुलसी के राम में उनके सखा आतंकित रहते हैं। उनके और राम के बीच एक निश्चित दूरी सदैव रहती है। पर सूर के कृष्ण को तो उनके सखा कभी रुला तक देते हैं। स्वाभाविकता और यथार्थता तो इसी में है। वे ही वर्णन जन-जन के हृदय को स्पर्श कर सकते हैं जिनकी भावभूमि जनसामान्य मानस हो। कृष्ण को उनके साथियों ने तंग किया है। माँ यशोदा से आकर वे शिकायत करते हैं अपने बड़े भाई बलदाऊ के विरुद्ध क्योंकि बलदाऊ अनेक बार कृष्ण के विरुद्ध गुट बना लेते हैं—

"—मैया बहुत बुरौ बलदाऊ।
कहन लग्यौ बन बड़ौ तमासौ, सब मौड़ा मिलि आऊ ॥
मोहूं कूँ चुचकारि गयौ लै, जहाँ सघन बन झाऊ।
भागि चलौ, कहि गयौ उहाँ ते, काटि खाइ रे हाऊ ॥
हौं डरपौं, काँपौं अरु रोवौं, कोउ नहिं धीर धराऊ।
थरसि गयौ नहिं भागि सकौं, वै भागे जात अगाऊ ॥
मोसौं कहत मोल को लीनो आपु कहावत साऊ।
'सूरदास' बल बड़ौ चवाई, तैसेहि मिले सखाऊ ॥"

सखा बड़े शैतान हैं। आप तो बैठकर आराम करते हैं और अपने से छोटे कृष्ण को आज्ञा देते हैं कि तुम गाय घेर कर लाओ। बेचारे कृष्ण भागते-भागते रुँआसे हो जाते हैं। आखिर माँ से शिकायत करनी पड़ती है। माँ सुनते ही अपराधियों को पचास खोटी-खरी सुनाती हैं और अपना पक्ष लेते देख कृष्ण का सारा

श्रम सार्थक हो जाता है। बालकृष्ण की इन चेष्टाओं से सूर ने माँ के उमड़ते प्रेम के इतने भव्य और संख्यातीत चित्र प्रस्तुत किये हैं कि उनसे हिन्दी-साहित्य की दरिद्रता सदैव के लिए दूर हो गयी है—

"—मैया हौं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसौं, मेरे पाँइ पिराइ॥
जौ न पत्याहि पूछि बलदाउहिं, अपनी सौंह दिवाइ।
यह सुनि माइ जसोदा ग्वालनि, गारी देत रिसाइ॥
मैं पठवति अपने लरिका कौं, आवै मन बहराइ।
'सूर' स्याम मेरौ अति बालक, मारत ताहि रिंगाइ॥"

दिन के विभिन्न कार्यकलापों में सतत व्यस्त रहने के पश्चात् कृष्ण वे ही बातें स्वप्न में देखते हैं और कई बार सोते-सोते चौंक उठते हैं। माँ-बाप चिन्तित होकर बच्चे को अपने बीच में सुला लेते हैं। बच्चा तब निर्भय हो जाता है और गहरी नींद सो पाता है। इस सार्वकालिक सत्य का चित्रण सूर की निम्नांकित पंक्तियों में देखिये—

"—मैं बरज्यौ जमुना तट जात।
सुधि रहि गई न्हात की तेरैं, जनि डरपौ मेरे तात॥
नंद उठाइ लियौ कोरा करि अपने संग पौढ़ाइ।
बृंदावन में फिरत जहाँ तहँ, किहिं कारन तू जाइ॥
अब जनि जैहौ गाइ चरावन, कहँ को रहित चलाइ।
'सूर' स्याम दंपति बिच सोए, नींद गई तब आय॥"

ब्रजभूमि के प्राण कृष्ण को समाप्त करने के लिए कंस ने न जाने कितने प्रयत्न किये, किन्तु वे सब व्यर्थ सिद्ध हुए। एक तो इसलिए कि कृष्ण असाधारण बलशाली थे; दूसरे, इसलिए भी कि ब्रज की अखंड जनता कृष्ण की रक्षा के लिए अभेद्य प्राचीर बनी खड़ी थी। फिर भी माता का हृदय तो इतना कोमल होता है कि अपना बलशाली से बलशाली बालक उसे बालक ही दिखाई देता है। माता के लिए पुत्र, पुत्र ही है फिर वह चाहे जिस वयक्रम का हो। संकटापन्न परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में माँ यशोदा का यह कथन कितना स्वाभाविक है—

"—खेलन हरि जात कत प्यारे।
जब तें जनम भयो है तेरौ, तबही तें यह भाँति ललारे॥
कोउ आवति जुवती मिस करि कैं, कोउ लै जात बतास कलारे।
अब लगि बचे कृपा देवनि की, बहुत गए मरि सत्रु तुम्हारे॥
हाहा करति पाइ तेरे लागति, अब जनि दूरि जाहु मेरे बारे।
सुनहु 'सूर' जसुमति सुत बोधति, विधि के चरित सबै हैं न्यारे॥"

कृष्ण का बाल-जीवन इतना घटना-बाहुल्य है कि ब्रज-प्रदेश की सम्पूर्ण सीमाओं

को लाँघकर उनके कार्यकलापों की चर्चा मथुरा तक पहुँचती है। तत्कालीन सशक्ततम शासक कंस भी उनकी कथाएँ सुनकर आतंकित हो जाता है। बालगोपालों के साथ भाँति-भाँति की क्रीड़ाएँ, गोचारण प्रसंग, मुरलीमाधुरी और सबसे बड़ी बात ब्रज-लोक-जीवन में कृष्णप्रेम की अमिट छाप कृष्ण को ब्रज के लिए अपरिहार्य बना देते हैं। यशोदा ही नहीं, ब्रज-प्रदेश का कोई भी व्यक्ति कृष्ण के अभाव में इस जीवन की कल्पना नहीं कर सकता। कृष्ण का कल्पनातीत सौन्दर्य, उनकी मनोहर क्रीड़ाएँ और बाल्यकाल में ही उनका अपरिमेय बल कृष्ण के चतुर्दिक एक ऐसे प्रभापुंज का निर्माण कराते हैं जिसके अभाव में ब्रज अमा के सूचीभेद्य अन्धकार में डूब जायगा और यह अशुभ घटना घटी भी। एक दिन अचानक कंस के यहाँ से उनका निमन्त्रण आ गया और अक्रूर उन्हें लेने आ पहुँचे। कृष्ण ब्रज से जायेंगे, इस सूचना ने चतुर्दिक हाहाकार मचा दिया। ब्रज के लोक-जीवन के आकर्षण का केन्द्र ही हिल गया। ब्रज की जीवन-परिधि अस्त-व्यस्त हो उठी—

"—चलत चलन स्याम कहत लैन कोउ आयौ।
नंदभवन भनक सुनि कंस कहि पठायौ।।
ब्रज की नारि गृह बिसारि व्याकुल उठिधाईं।
समाचार बूझन कौं आतुर ह्वै आईं।।
प्रीति जानि हेत मानि, बिलखि बदनि ठाढ़ीं।
मानहुँ वै अति विचित्र, चित्र लिखी काढ़ीं।।
ऐसी गति ठौर-ठौर कहत न बनि आवै।
'सूर' स्याम बिछुरें दुख बिरह काहि भावै।।"

तथा

"—ब्रज बासिनि के सरबस स्याम।
यह अक्रूर क्रूर भयौ हमकौं, जिय के जिय मोहन बलराम।।"

जब कृष्ण-वियोग की आशंकामात्र से ब्रजवासियों की यह दशा है तो माँ यशोदा की दशा सहज ही कल्पनीय है। यशोदा तो इस आशंका से विक्षिप्त जैसी हो उठती हैं। यों तो माता का पुत्र के संदर्भ में इस प्रकार का यह कष्ट सार्वभौम है, किन्तु प्रत्येक प्रदेश की अपनी-अपनी संस्कृति है। ऐसी भी जातियाँ हैं जहाँ बालकों को जीवनयापन क्रम में अपने माँ-बाप से अलग होना पड़ता है और वे सहर्ष उन्हें बाहर भेजते हैं। सामान्यतः पश्चिमी जीवन इस प्रवृत्ति के अधिक निकट है। लेकिन भारतवर्ष में भी ब्रज की अपनी संस्कृति है और इस प्रदेश पर आज भी इस पुरातन संस्कृति की छाया ज्यों की त्यों है। ब्रज-जीवन से परिचित लोग इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि आज भी ब्रज के बहुत से गाँवों में यह अन्धविश्वास है कि बच्चे को पढ़ाओ मत। पढ़-लिख कर वह कठोर हो जायगा और घर छोड़ देगा। ब्रज में आज भी यह

कहावत प्रसिद्ध है कि 'मिडिल पास हर (हल) छोड़ देता है और बी० ए० पास घर ।' ऐसा लगता है कि दरिद्रता में सन्तान-प्रेम कम होने के स्थान पर और बढ़ जाता है। जो माँ-बाप अपने बच्चों को कोई भौतिक सुख उपलब्ध नहीं करा पाते वे अपने बच्चों को स्नेह-परिप्लुत तो रखते हैं। जिनके पास कोई धन नहीं है, सन्तान हो उनका सबसे बड़ा धन है। चाहे हमारे देश को भौतिक तथा राजनीतिक स्तर पर इससे कितनी ही हानि हुई हो, किन्तु साहित्य के वृत्त में इस वृत्ति ने ब्रज को जितना महिमान्वित किया है उसका वर्णन कठिन है। सारांश यह है कि पुत्र-विछोह की आशंका जिस भयंकर मानसिक कष्ट और उद्वेलन को जन्म देती है, उसे हृदयंगम करने के लिए भी कुछ सांस्कृतिक संस्कारों की आवश्यकता है। माँ यशोदा का कष्ट आज भी ब्रज-प्रदेश की माँ के लिए कुछ पुराना नहीं है। अपनी संस्कारिता में वह आज भी सद्य और हृदयस्पर्शी है—

"—जसोदा बार-बार यों भाखै ।
है कोउ ब्रज में हितू हमारौ, चलत गुपालहिं राखै ।।
कहा काज मेरे छगन मगन कौं, नृप मधुपुरी बुलायौ ।
सुफलक-सुत मेरे प्रान हरन कौ, काल रूप ह्वै आयौ ।।
बरु यह गोधन हरौ कंस सब, मोहि बंदि लै मेलौ ।
इतनोई सुख कमल नयन मेरी अँखियन आगें खेलौ ।।
बासर बदन विलोकत जीवौं, निसि निज अंकम लाऊँ ।
तिहिं बिछुरत जो जियौं कर्मबस, तौ हँसि काहि बुलाऊँ ।।
कमल नयन गुन टेरत-टेरत, अधर बदन कुम्हिलानौ ।
'सूर' कहाँ लगि प्रगटि जनाऊँ, दुखित नंद जू की रानी ।।"

माँ यशोदा जब देखती हैं कि उनकी बात कोई सुनता ही नहीं तो वे सीधी कृष्ण से कहती हैं—

"—मोहन इतौ मोह चित धरियै ।
जननी दुखित जानिकै कबहूं मथुरा गवन न करियै ।।"

लेकिन हुआ वही जो इतिहास को स्वीकार था। कृष्ण को जाना ही पड़ा और ब्रज के हर्षोल्लास की कहानी अचानक सुदीर्घ रुदन में बदल गयी। कृष्ण के वियोग में माँ यशोदा के जीवन का जितना मनोवैज्ञानिक, यथार्थ और हृदयस्पर्शी चित्रण सूर ने किया है, विश्व-साहित्य में वह आज भी अलभ्य है।

नन्द और यशोदा से अधिक सुखी गृहस्थ की कल्पना कठिन है। दम्पति के बीच में बालक एक अटूट कड़ी बन जाता है। दो भिन्न दिशाओं से धावित जीवन-धाराओं का संगम बन जाता है। दो भिन्न व्यक्तित्व पिघल कर शिशु के रूप में एक नवीन आकार ग्रहण कर लेते हैं। कृष्ण के अभाव और अनुपस्थिति ने उस बीच की

कड़ी को जैसे विलुप्त कर दिया है ग्रौर यशोदा सहसा नन्द ग्रौर ग्रपने बीच में एक दूरी ग्रनुभव करने लगती हैं—एक ऐसी दूरी जो कटुता को ग्रौर ग्रसहनशीलता को जन्म देती है ग्रौर सतत विलीयमान व्यक्तित्वों की तरलता को सोखकर उन्हें दो भिन्न परुष इकाइयों में बदल देती है। जब माँ यशोदा नन्द को कुछ कटु शब्द कहती हैं तो उसमें ग्रभद्रता ग्रौर घृणा की व्यंजना नहीं है ग्रपितु ग्रपरिमेय वात्सल्य ही व्यंग्य है—ऐसा वात्सल्य जो ग्रौर दाम्पत्य जीवन के पुष्ट ग्राधार को भी हिला देता है। पुत्र-विछोह का ग्राक्रोश हृदय की ग्रसीम ममता को कष्ट के दारुण विष में परिवर्तित कर देता है। उस दारुण विष की कटुता यदि माँ यशोदा की वाणी तक भी ग्रा गयी हो तो क्या का ग्राश्चर्य—

"—उलटि पग कैसे दीन्हौ नंद।
छोड़ो कहाँ उभै सुत मोहन, धिक जीवन मतिमंद॥
कै तुम धन-जोवन-मदमाते, कै तुम छूटे बंद।
सुफलक सुत बैरी भयौ हमकों, लै गयौ ग्रानंद कंद॥
रामकृष्ण विनु कैसे जीवै, कठिन प्रीति कैं फंद।
'सूरदास' मैं भई ग्रभागिन, तुम विनु गोकुलचंद॥"

माँ यशोदा को इस बात पर ग्राश्चर्य ग्रौर क्षोभ है कि पुत्र-वियोग की जो ज्वाला उनके मानस को ग्रसह्य ताप में झोंक रही है, उससे नन्द कैसे बच रहे हैं। क्या कृष्ण उनके पुत्र नहीं हैं—

"—यह मति नंद तोहि क्यों छाजो।
हरि रस विकल भयौ नहिं तिहिं छन, कपट कठोर कछू नहिं लाजो॥
रामकृष्ण तजि गोकुल ग्राए, छतियाँ छोभ रही क्यों साजो।"

कृष्ण-वियोग में तप्त माँ यशोदा का पूरा क्षोभ नन्द पर ही व्यक्त होता है। उनका क्रोध ग्रभिव्यक्ति की राह खोजता है ग्रौर नन्द के ऊपर ही कृष्ण-गमन का सारा उत्तरदायित्व वे डालना चाहती हैं। निम्नांकित पंक्तियों से भी यशोदा के हृदयदाह का स्पष्ट बोध होता है ग्रौर उनसे पुत्र-प्रेम ग्रथवा ग्रपरिसीम वात्सल्य की ग्रद्वितीय व्यंजना भी—

"—जसुदा कान्ह कान्ह कै बूझै।
फूट न गयीं तुम्हारी चारौ, कैसे मारग सूझै॥
इक तौ जरी जाति विनु देखे, ग्रब तुम दीन्हौं फूँकि।
यह छतियाँ मेरे कुँवर कान्ह बिनु, फटि न गयीं द्वै टूक॥
धिक तुम, धिक यह चरन ग्रहोपति, ग्रध बोलत उठि धाए।
'सूर' स्याम विछुरन की हमपै, दैन बधाई ग्राए॥"

माँ यशोदा के नेत्रों के सामने ग्रतीत ग्रपने सम्पूर्ण ग्राकर्षक चित्रों के साथ

प्रत्यक्ष हो उठता है। उनका जीवन ही आज निराधार नहीं हो उठा है बल्कि ऐसा लगता है जैसे सारे ब्रजजीवन की धुरी टूट गयी है—

"—कहाँ रह्यौ मेरौ मन मोहन।
वह मूरति जिय तें नहिं बिसरति, अंग अंग सब सोहन॥
कान्ह बिना गौवें सब व्याकुल, को ल्यावै भरि दोहन।
माखन खात खवावत ग्वालनि, सखा लिये सब गोहन॥
जब वै लीला सुरति करतिहौं, चित चाहत उठि जोहन।
'सूरदास' प्रभु के बिछुरे तैं, मरियत है अति छोहन॥"

नन्द बाबा भी अन्दर से रुँआसे हो रहे हैं। यदि माँ यशोदा मीठा बोलतीं तो शायद रो भी पड़ते क्योंकि सान्त्वना छिपी हुई वेदना को खोल देती है, किन्तु आक्रोश तो आक्रोश को ही जन्म देता है। सात्विकता के अवतार नन्द बाबा में भी क्रोध की चिनगारी प्रकट होती है। कृष्ण-गमन के लिए यशोदा को ही उत्तरदायी ठहराते हुए वे उन सम्भावित कारणों की ओर इंगित करते हैं जिनके कारण शायद कृष्ण चले गये—

"—तब तू मारिबोई करति।
रिसनि आगें कहि जो आवति, अब तै भाँड़े भरति॥
रोस कै, कर दाँवरी लै, फिरति घर घर धरति।
कठिन यह करी तब जो बाँध्यौ, अब वृथा करि मरति॥"

जब आक्रोश समाप्त होता है तो सामान्यत: व्यक्ति आत्मालोचन करता है और उसमें एक विचित्र नम्रता का उदय होता है। प्रेम और वात्सल्य का यह आत्यंतिक गुण है कि वह आश्रय को दीनता और नम्रता की ओर ही प्रेरित करता है। क्रोधावसान पर माँ यशोदा और नन्द आत्मालोचन करते हैं और सारी कमियाँ उन्हें अपने में ही दिखाई देती हैं—

"—चूक परी हरि की सेवकाई।
यह अपराध कहाँ लौं बरनौं, कहि कहि नंद महर पछिताई॥
कोमल चरन-कमल कंटक कुस, हम उनपै बन गाइ चराई।
रंचक दधि के काज जसोदा, बाँधे कान्ह उलूखल लाई॥
इन्द्र-प्रकोप जानि ब्रज राखे, बरुन फाँस ते मोहि मुकराई।
अपने तन-धन-लोभ कंस-डर आगें कै दीन्हे दोउ भाई॥
निकट बसत कबहुँ न मिलि आयौ, इते मान मेरी निठुराई।
'सूर' अजहुँ नातो मानत हैं, प्रेम सहित करैं नंद दुहाई॥"

कोई पंथी मथुरा जा रही है। माता यशोदा जो संदेश कृष्ण को उसके हाथों भेजती हैं उससे उनके हृदय की करुणा, ममता, स्निग्धता, दीनता, कातरता और न

जाने कितनी भावनाएं एक साथ व्यक्त होती हैं। माँ यशोदा देवकी के लिए संदेश भेजती हैं—

"—संदेसो देवकी सौं कहियौ।
हौं तौ धाइ तिहारे सुत की, मया करत ही रहियौ ॥
जदपि टेव तुम जानति उनकी, तऊ मोहि कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल लडैतिन, माखन रोटी भावै ॥
तेल उबटनौ अरु तातौ जल, ताहि देखि भजि जाते।
जोइ जोई माँगत सोई सोई देती, क्रम क्रम करिकै न्हाते ॥
'सूर' पथिक सुनि मोहिं रैनि दिन, बढ्यौ रहत उर सोच।
मेरो अलक लड़ैतो मोहन, ह्वै है करत संकोच ॥"

पंथी मथुरा पहुँचकर देवकी की सेवा में माँ यशोदा का संदेश निवेदित करती है—

"—हौं इहाँ गोकुल ही तैं आई।
देवकि माइ पाँइ लागति हौं, जसुमति मोहि पठाई ॥
तुमसौं महर जुहार कह्यौ है, पालागन नँद-नारी।
मेरैं हुती राम कृस्न कौं, भेंट्यौ भरि अँकवारी ॥
और एक संदेश कह्यौ है, कहौ तौ तुम्हें सुनाऊँ।
वारक बहुरि तुम्हारे सुत कौ, कैसे दरसन पाऊँ ॥
तुम जननी जग विदित 'सूर' प्रभु, हम हरि कीहैं धाइ ॥"

माँ यशोदा की प्रार्थना अत्यन्त संक्षिप्त, विनम्र और सीधी-सादी है। वे केवल इतना चाहती हैं कि कृष्ण केवल एक बार आकर अपना मुख उन्हें दिखा जायें—

"—जो पै राखति हो पहिचानि।
तौ अबकें वह मोहन मूरति, मोहिं दिखावहु आनि ॥
तुम रानी वसुदेव गेहिनी, हम अहीर ब्रजवासी।
पठै देहु मेरे लाल लड़ैतनि, वारौं ऐसी हाँसी ॥
भलो करी कंसादिक मारे, सब सुर काज किए।
अब इन गैयनि कौन चरावै, भरि-भरि लेति हिए ॥
खान पान परिधान राज सुख, जो कोउ कोटि लड़ावै।
तदपि 'सूर' मेरो बाल कन्हैया, माखन ही सचु पावै ॥"

माँ यशोदा का जीवन कृष्ण-वियोग में कितना नीरस और दुर्वह हो गया, सूर ने इसका बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। कृष्ण से सम्बन्धित या कृष्ण को प्रिय वस्तुएं देखते ही उन्हें कृष्ण की याद आ जाती है। कृष्ण की स्मृति ने यशोदा के दैनिक

जीवन में भी एक विचित्र कटुता घोल दी है। उनके हृदय में अहर्निश ऐसी बेचैनी रहती है जिसका अनुभव एक माँ ही कर सकती है—

"—मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कछु वैसेहि धर्यौ रहै।
को उठि प्रात होत लै माखन को करनेत गहै॥
सूने भवन जसोदा सुत के, गुनि गुनि सूल सहै।
दिन उठि घर घेरत ही ग्वारिनि, उरहन कोउ न कहै॥
जो ब्रज मैं आनंद हुतो मुनि मनसाहू न गहै।
'सूरदास' स्वामी बिनु गोकुल कौड़ी हू न लहै॥"

सूर की कविता के अध्ययन से उसके पाठक के मन पर यशोदा, नन्द और ब्रज-वासियों का कृष्ण विरह प्रसूत दुःख अमिटरूप से अंकित हो जाता है। सूर के पदों ने ब्रज की जिस संस्कृति और लोक-जीवन के जिस वृहत् चित्र को अपने अन्दर सुरक्षित रख छोड़ा है, वह आज भी इतना सजीव, सप्राण और मर्मस्पर्शी है कि वह आज का ही प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण अपने विरह में जिस ब्रज-प्रदेश को रोता-कलपता छोड़कर गये थे, उसका अश्रु-प्रवाह आज भी थमा नहीं है। ब्रज के ग्वालबाल और नन्द-यशोदा आज भी जैसे एकटक कृष्णागमन की प्रतीक्षा में आश्रु-स्नात नेत्रों को संजोये बैठे हैं। सूर ने अपने पदों में वात्सल्य का जो वर्णन प्रस्तुत किया है वह आज भी अद्वितीय और सर्वश्रेष्ठ है, उसमें आगे कोई कुछ भी नहीं जोड़ सका है।

———

अध्याय ४

# सूर का भ्रमरगीत
## (सगुण का मंडन, निर्गुण का खंडन)

भ्रमरगीत सूर के काव्य-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ अंश है, यह निस्संकोच कहा जा सकता है। नौसिखिये सूर ने इसकी रचना नहीं की अपितु वर्षों भक्ति के सागर में गोता लगाने एवं संसार का निरीक्षण करने के बाद संसार के लोगों को निर्गुण के कठिन मार्ग से बचाकर भक्ति के सीधे-सीधे और सच्चे मार्ग पर लगाने के लिए ही सूर ने भ्रमरगीत की रचना की है। आरम्भ में जब सूर विनय के पद लिखा करते थे और महाप्रभु वल्लभाचार्य के शब्दों में 'घिघियाया' करते थे, तब उन्हीं महाप्रभु की कृपा से उन्हें भक्ति का समुचित, अभीष्ट, आकर्षक राज-पथ मिल गया था जिस पर चल कर सूर ने सच्ची शान्ति और महान् सुख का अनुभव किया। फिर इस महान् सुख और शान्ति के मार्ग का संदेश वे संसार को न देते, यह कैसे हो सकता था। सच पूछिये तो सगुण भक्ति का संदेश देने में सूर की प्रतिभा का सर्वोत्तम उपयोग हुआ है।

सूर के सामने भागवत भक्ति के ग्रन्थ के रूप में थी। वल्लभाचार्यजी की कृपा से भागवत उन्हें हस्तामलक हो गयी थी और इन्होंने एक स्थान पर लिखा भी है कि मेरा सम्पूर्ण काव्य भागवत् की छाया ही है—

"—व्यास कहे सुकदेव सों द्वादस स्कंध बनाइ।
सूरदास' सोई कह पद भाषा करि गाइ॥"

किन्तु यह तो सूरदास की नम्रता है कि वे भागवत का आभार स्वीकार करते हैं। महाकवि और महान् भक्त तुलसी में भी नम्रता की ऐसी भावना थी जिसने उनसे कहलाया था—

"—कवित विवेक एक नहिं मोरे।
सत्य कहौं लिख कागद कोरे॥"

'प्रेम की परि' के सर्वश्रेष्ठ गायक और रससिद्ध कवि जायसी भी इस परम्परा के अपवाद नहीं थे।

"—हौं पंडितनु केर पिछ लगा।
किछु कहि चला तबल देइउगा॥"

जीवन में भी एक विचित्र कटुता घोल दी है। उनके हृदय में अहर्निश ऐसी बेचैनी रहती है जिसका अनुभव एक माँ ही कर सकती है—

"—मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कछु वैसेहि धर्यौ रहै।
को उठि प्रात होत लै माखन को करनेत गहै॥
सूने भवन जसोदा सुत के, गुनि गुनि सूल सहै।
दिन उठि घर घेरत हो ग्वारिनि, उरहन कोउ न कहै॥
जो व्रज मैं आनंद हुतो मुनि मनसाहू न गहै।
'सूरदास' स्वामी बिनु गोकुल कौड़ी हू न लहै॥"

सूर की कविता के अध्ययन से उसके पाठक के मन पर यशोदा, नन्द और व्रज-वासियों का कृष्ण विरह प्रसूत दुःख अमिटरूप से अंकित हो जाता है। सूर के पदों ने व्रज की जिस संस्कृति और लोक-जीवन के जिस वृहत् चित्र को अपने अन्दर सुरक्षित रख छोड़ा है, वह आज भी इतना सजीव, सप्राण और मर्मस्पर्शी है कि वह आज का ही प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण अपने विरह में जिस व्रज-प्रदेश को रोता-कलपता छोड़कर गये थे, उसका अश्रु-प्रवाह आज भी थमा नहीं है। व्रज के ग्वालबाल और नन्द-यशोदा आज भी जैसे एकटक कृष्णागमन की प्रतीक्षा में आश्रु-स्नात नेत्रों को संजोये बैठे हैं। सूर ने अपने पदों में वात्सल्य का जो वर्णन प्रस्तुत किया है वह आज भी अद्वितीय और सर्वश्रेष्ठ है, उसमें आगे कोई कुछ भी नहीं जोड़ सका है।

अध्याय ४

# सूर का भ्रमरगीत
## (सगुण का मंडन, निर्गुण का खंडन)

भ्रमरगीत सूर के काव्य-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ अंश है, यह निस्संकोच कहा जा सकता है। नौसिखिये सूर ने इसकी रचना नहीं की अपितु वर्षों भक्ति के सागर में गोता लगाने एवं संसार का निरीक्षण करने के बाद संसार के लोगों को निर्गुण के कठिन मार्ग से बचाकर भक्ति के सीधे-सीधे और सच्चे मार्ग पर लगाने के लिए ही सूर ने भ्रमरगीत की रचना की है। आरम्भ में जब सूर विनय के पद लिखा करते थे और महाप्रभु वल्लभाचार्य के शब्दों में 'घिघियाया' करते थे, तब उन्हीं महाप्रभु की कृपा से उन्हें भक्ति का समुचित, अभीष्ट, आकर्षक राज-पथ मिल गया था जिस पर चल कर सूर ने सच्ची शान्ति और महान् सुख का अनुभव किया। फिर इस महान् सुख और शान्ति के मार्ग का संदेश वे संसार को न देते, यह कैसे हो सकता था। सच पूछिये तो सगुण भक्ति का संदेश देने में सूर की प्रतिभा का सर्वोत्तम उपयोग हुआ है।

सूर के सामने भागवत भक्ति के ग्रन्थ के रूप में थी। वल्लभाचार्यजी की कृपा से भागवत उन्हें हस्तामलक हो गयी थी और इन्होंने एक स्थान पर लिखा भी है कि मेरा सम्पूर्ण काव्य भागवत् की छाया ही है—

"—व्यास कहे सुकदेव सों द्वादस स्कंध बनाइ।
सूरदास' सोई कह पद भाषा करि गाइ॥"

किन्तु यह तो सूरदास की नम्रता है कि वे भागवत का आभार स्वीकार करते हैं। महाकवि और महान् भक्त तुलसी में भी नम्रता की ऐसी भावना थी जिसने उनसे कहलाया था—

"—कवित विवेक एक नहिं मोरे।
सत्य कहौं लिख कागद कोरे॥"

'प्रेम की पीर' के सर्वश्रेष्ठ गायक और रससिद्ध कवि जायसी भी इस परम्परा के अपवाद नहीं थे।

"—हौं पंडितनु केर पिछलगा।
किछु कहि चला तबल देइउगा॥"

कहने का अभिप्राय यह है कि भागवत के अनुवाद की बात को हमें सूरदास की नम्रता ही समझना चाहिए। सूर की महान् प्रतिभा सृजनशील थी। वह मक्खीमार अनुकृति से कैसे सन्तुष्ट रह सकते थे। सूर की कविता में उनका अपना संदेश है और स्पष्ट बात यह है कि वह भागवत के संदेश से भिन्न है। भागवत में भौंरे का प्रसंग अत्यन्त संक्षेप में आया है और भागवतकार ने उस पर अधिक ध्यान भी नहीं दिया है। भागवत के अनुसार कृष्ण राजनैतिक कारणों से जो एक बार मथुरा आते हैं तो फिर लौट नहीं पाते। अवधि बीत जाने पर सारा ब्रज विरहमग्न हो जाता है, विशेष रूप से गोपियाँ। गोपियों की विरह-व्यथा को ध्यान में रख कर कृष्ण अपने सखा ज्ञानी उद्धव को ब्रज में गोपियों को ज्ञान का उपदेश देने के लिए ब्रज भेजते हैं। उपदेश अत्यन्त स्पष्ट और संक्षिप्त है। कृष्ण केवल गोपीवल्लभ राधारमण कृष्ण ही नहीं, वे परब्रह्म हैं और सर्वव्याप्त हैं। इसलिए गोपियो ! तुम निराकार ब्रह्म का ध्यान करो। तुम्हें उसमें शान्ति मिलेगी। गोपियों की समझ में उद्धव की बात आ जाती है और वे निराकार ब्रह्म की उपासना करने लगती हैं। इसी बीच में भ्रमर भी आ जाता है और गोपियाँ उसे लक्ष्य करके कुछ व्यंग्य कृष्ण के प्रति करती हैं।

भागवत में भ्रमरगीत का प्रसंग केवल इतना ही है, पर सूर ने अपनी प्रतिभा से इतना मार्मिक और आकर्षक बना दिया है जितना वह कभी कहीं नहीं था। भागवत के वे उपर्युक्त सारांश से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भागवतकार ज्ञान को भक्ति से अधिक महत्ता देता है। इसीलिए उसने सगुण पर निर्गुण की विजय दिखलाई है जबकि सूर के 'भ्रमरगीत' का उद्देश्य इसके बिलकुल विपरीत है।

यह भी स्मरणीय है कि सूर ने तीन भ्रमरगीतों का प्रणयन किया है—

(१) पहला भ्रमरगीत भागवत का उल्थामात्र है, जिसमें ज्ञान-वैराग्य की चर्चा ही अधिक है, किन्तु जहाँ भी सूर को अवकाश मिला है उन्होंने ज्ञान की तीव्रता कम की है और भक्ति को प्रमुखता देने का प्रयत्न किया है। यह भ्रमरगीत चौपाई छन्दों में लिखा गया है। सूर का दृष्टिकोण भागवतकार से भिन्न है, यह इस भ्रमरगीत से भी स्पष्ट हो जाता है।

(२) दूसरा भ्रमरगीत पदों में रचा गया है। पहले भ्रमरगीत में और इसमें भ्रमर के आने की चर्चा कहीं नहीं है। 'मधुकर' नाम से ही उद्धव पर व्यंग्य किये गये हैं।

(३) तीसरा भ्रमरगीत भी पदों में रचा गया है किन्तु यह अन्य दो भ्रमरगीतों से विस्तृत, मार्मिक एवं आकर्षक है। इसमें भ्रमर भी उठता हुआ आता है और गोपियाँ उसे लक्ष्य कर सारा क्रोध उसी पर उतारती हैं। यही भ्रमरगीत सूर की अक्षय कीर्ति का शाश्वत आधार है। इतनी वचन-वक्रता साहित्यिक व्यंग्य कहने की इतनी पद्धतियाँ जिनका अभी तक वर्गीकरण या नामकरण भी नहीं हुआ है, इसी भ्रमरगीत में हैं। इस भ्रमरगीत में सूर का दृष्टिकोण बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि वे

साकारोपासक हैं और निर्गुण को संसार के काम का नहीं समझते। यों तो कभी उन्होंने लिखा भी था—

"—अवगति गत कछु कहत न आवै।"

किन्तु यह उन्होंने वल्लभाचार्य से भेंट होने से पूर्व ही लिखा होगा। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि भागवत भक्ति के विरुद्ध नहीं है। भक्ति के विरुद्ध या सगुण-मार्ग के विरुद्ध भागवत में कुछ भी नहीं कहा गया है, किन्तु भागवत में ज्ञान को विजय दिखलाई गयी है। भक्ति को उसके समक्ष हार जाना पड़ता है, इसलिए भागवतकार का दृष्टिकोण ज्ञान के पक्ष-पोषण करने का ही लगता है। इसके ठीक विरुद्ध अपने भ्रमरगीत में सूर ने भी अपना निश्चित दृष्टिकोण बना लिया है और वह है ज्ञान के विरोध का। भक्ति के पक्ष-पोषण का उन्होंने अपने भ्रमरगीत में स्पष्टरूप से ज्ञान के ऊपर भक्ति की विजय दिखाई है। सूर के भ्रमरगीत में उद्धव ज्ञान के प्रतीक, गोपियाँ भक्ति की प्रतीक हैं और उद्धव की हार वास्तव में ज्ञान की हार और गोपियों की विजय भक्ति की विजय है। एक ध्यान देने की बात यह भी है कि बिना ज्ञान के विरोध किये हुए भी सूर भक्ति का पक्ष-पोषण कर सकते थे परन्तु उन्हें यह पसन्द न था। उनकी गोपियाँ उद्धव के ऊपर जो व्यंग्य करती हैं, उद्धव को जितना बनाती हैं, उससे ऐसा लगता है कि सूर के हृदय में जैसे ज्ञान-मार्ग के विरुद्ध बड़ी भारी चिढ़ है।

ज्ञान के प्रतीक उद्धव अपने हृदय में अमित विश्वास और साहस लेकर आये हैं कि वे गोपियों को ज्ञान-मार्ग की ओर आकृष्ट कर सकेंगे। उद्धव आकर अपना भाषण प्रारम्भ करते हैं और बताते हैं कि हम सबका आराध्य अन्ततः निर्गुण ब्रह्म है जिसकी रूपरेखा कुछ नहीं है, जिसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता, केवल अनुभव ही किया जा सकता है। श्रीकृष्ण उसी परब्रह्म परमेश्वर के प्रतीक हैं। उनका स्थूलरूप ही सब कुछ नहीं है अपितु अपने निर्गुणरूप में वे सारे संसार में व्याप्त हैं। वास्तव में उसी निराकार ब्रह्म में ध्यान लगाने से सच्ची शान्ति प्राप्त हो सकती है। उस ब्रह्म को प्राप्त करने का उचित मार्ग भक्ति नहीं अपितु योग है जो कुछ शारीरिक साधनाओं के द्वारा सिद्ध हो सकता है। उद्धव का विचार था कि शायद उनके भाषण का अच्छा प्रभाव होगा और किसी गोपी को कोई शंका ही नहीं रह जायगी, किन्तु एक गोपी उठ कर यह क्या पूछने लगी? उसका प्रश्न उद्धव को अप्रत्याशित लगा। वे भौंचक होकर सुनने लगे। गोपी पूछ रही थी—

"—हे अलि कहा जोग में नीको।
तजि रस रीति नन्द नन्दन को सिखवत निर्गुन फीको॥
देखत सुनत नहिं कछु स्रवनन, ज्योति-ज्योति कर ध्यावत।
× × ×
अब तुम 'सूर' सिखावन आये जोग लहर की वेली॥"

यह तो ठीक नहीं रहा। बेचारे उद्धव आरम्भ में ही चक्कर में पड़ गये। ये गोपियाँ निर्गुण की उपयोगिता को ही चुनौती देने लगीं। तब तक दूसरी गोपी दूसरी शंका लेकर उठ खड़ी हुई। जरा उद्धवजी यह तो बतायें कि यह गप्पें हमारे लिए ही हैं या सचमुच इनमें कुछ तथ्य है और सचमुच इनमें अगर कुछ तथ्य है तो ईमानदारी से बताइये कि आप ठीक-ठीक उसे समझ गये हैं—

"—रेख न रूप वरन नहि जाके, ताको हमें बतावत।
अपनी कहो दरस बैसे को, तुम कबहूँ हो पावत॥"

उद्धव के पास इन बातों का कोई जवाब नहीं निकला। हो सकता था कि जवाब ढूँढ़ा जाता, पर सूर तो उद्धव को इस कमजोर रूप में दिखाना ही चाहते थे। वे ज्ञान-मार्ग के प्रतीक उद्धव को भक्ति की तुलना में अत्यन्त हेय ही दिखाना चाहते थे। उद्धव ने फिर समझाने का प्रयत्न किया। उन्होंने सोचा कि मेरी बात तो वे मानने से रहीं इसलिए इनके प्रेम के सर्वस्व कृष्ण के नाम पर ही कुछ कह सकूँ तो कह सकें। उन्होंने गोपियों को विश्वास दिलाया—"देखिए यह सब कुछ मैं अपनी ओर से नहीं कह रहा हूँ अपितु श्रीकृष्ण ने मुझे आज्ञा दी है कि यह ज्ञान का तत्व आपके विरह-शमन के लिए मैं आपको समझाऊँ।" गोपियाँ चक्कर में पड़ गयीं कि क्या कृष्ण हमारे साथ इतनी निष्ठुरता कर सकते हैं? क्या सचमुच वे ज्ञान का सन्देश भेजेंगे? नहीं, यह विश्वसनीय बात नहीं। एक गोपी ने सोचा तो उसे लगा बात उसकी समझ में आ गयी। अच्छा यह रहस्य है। यह कुब्जा का षड्यन्त्र मालूम होता है। उसने खड़े होकर इस रहस्य का भंडाफोड़ कर दिया तथा कथित ज्ञानी को झूँठा घोषित कर दिया—

"—मधुकर कान्ह कही नहिं होही।
यह तो नई सखी सिखई है, निज अनुराग बरोहीं।
सचि राखी कूबरी पीठ पै ये बातें चक चौंहीं॥"

उद्धव यह लांछन शायद न सह सके। कुछ जोश के साथ बोले और शायद यह भी कह गये—"देखिये, विरह के कारण आप अस्थिर चित्त हैं इसलिए शायद आप मेरी बात नहीं समझ पा रहीं। आप भावुकता में विवेक मत खोइये। मेरी बात को सुचित्त होकर समझिये।"

गोपियों ने देखा कि परम विवेकी उद्धव उनके विवेक की भी आलोचना करने लगे। वे चक्कर में पड़ गयीं। यह आदमी कहता है कि वह कृष्ण का मित्र है, कृष्ण ने समझदार समझ कर ही उसे ज्ञानोपदेश देने भेजा है, पर यह तो अजीब मालूम देता है, अनाप-सनाप बकता है, हम जो कहती हैं वह तो समझता नहीं अपनी-अपनी कहे जाता है। एक गोपी से नहीं रहा गया। उसने खड़े होकर यह कटु सत्य कह दिया, कि उद्धव महाराज! मालूम होता है आप मानसिक रूप से अस्वस्थ हैं। कृपया पहले अपना इलाज कराइये तब भाषण दीजिये—

"—ऊधो तुम अपनी जतन करो।
हित की कहत कुहित की लागै, कत बे काज ररो ॥
जाइ करो उपचार आपनो हम जो कहत हैं जी की।
कछु कहत कछु कहि डारत धुनि देखियत नहीं नीकी।"

उद्धव ने सोचा कि ये लोग तो अजीब हैं। स्त्री हैं, बुद्धि का अभाव होना स्वाभाविक है, फिर कुछ तो बज्रमूर्ख दिखाई देती हैं। मैं अपनी बात कहूँ, कुछ समझदार होंगी तो समझ लेंगी और उन्होंने ज्ञान और निर्गुण का बखान फिर शुरू किया ; पर अबकी वार तो बड़ी-बड़ी गाली पड़ीं। एक गोपी ने उठ कर फटकार दिया। उद्धव तुम तो स्थान-काल का भी ध्यान नहीं रखते, यह भी नहीं देखते कहाँ क्या बक रहे हो, बड़े जड़ हो न—

"—अटपटि वात तिहारी ऊधो, सुनै सो ऐसी कोहै।
हम अहीर अवला सठ मधुकर ! तिन्हें जोग कैसे सोहै।।"

गोपियाँ उद्धव से साफ कह देती हैं कि उद्धवजी अपना निर्गुण अपने पास रखिये, हमें तो कृष्ण चाहिए—

"—रहु रे मधुकर मधु मतवारे।
कहा करैं निर्गुण लैकैं हम जीवहु कान्ह हमारे ॥"

उद्धव ! इस ज्ञान-कथा के अतिरिक्त और भी कुछ जानते हो ? हरि-कथा तुम्हें नहीं आती, आती हो तो वही सुनाओ, नहीं तो बाबा यहाँ से भागो—

"—हमकों हरि की कथा सुनाव।
अपनी ज्ञान कथा तुम ऊधो मथुरा ही लै जाव ॥"

उद्धव वैसे शायद हम तुम्हारा उपदेश सुन भी लेतीं, पर तुम्हारे उपदेश में मन तव लगे जव मन अपने पास हो। उसे तो श्रीकृष्ण पहले ही ले गये। यह उन्होंने शायद आपके साथ मजाक किया है कि मन तो ले गये हैं स्वयं और उपदेश देने भेज दिया है आपको—

"—ऊधो मन नाहें दस वीस।
एकहु तो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस ॥"

गोपियाँ आखिर तंग आ जाती हैं और उद्धव को विश्वास दिलाती हैं कि उद्धवजी आप ज्ञान या योग का सन्देश देने किसे आये हैं। अरे भई ! हम तो पहले से ही योग-साधन कर रही हैं। प्रेम हो हमारा तप या योग है, दुःख-सुख को हमने जीत लिया है, मानापमान से हम ऊपर आ गयी हैं। संसार हमारे और कृष्ण के प्रेम को लेकर अपवाद फैलाता है, पर हम दुःखी नहीं होतीं और न अपने को अपमानित अनुभव करती हैं। प्रेम की कठिन अग्नि में हमने अपनी सब इच्छाएं होम दी हैं। कृष्ण के विरह में हम पंचाग्नि कर रही हैं। उद्धव हम तुम्हें कहाँ तक समुझायें कि हम बहुत बड़ी योगिनी हैं—

"—हम अलि गोकुल नाथ अराध्यौ।
मन वच क्रम हरि सौं धरि पति व्रत, प्रेम जोग सब साध्यौ॥
मात पिता हित प्रीति निगम पथ तजि दुख सुख भ्रम नाख्यौ।
मान अपमान परम परितोषी आस्थिर थित मन राख्यौ॥
सकुचासन कुल सील करसि करि जगत वद्य करि वन्दन।
मान अपवाद पवन अवरोधन हित क्रम काम निकन्दन॥
गुरुजन कानि अगिनि चहुँदिसि, नभ तरनि ताप बिनु देखे।
पिवत धूम उपहास जहाँ तहँ अपजस श्रवन अलेखे॥
सहज समाधि विसारि वपुकरी निरखि निमेस न लागत।
परम ज्योति प्रति अंग माधुरी, धरत यहे निसि जागत॥
त्रिकुटी संग भ्रू भंग तराटक, नैन नैन लगि लागे।
हंसन प्रकाश सुमुख कुण्डल मिलि, चन्द्र सूर अनुरागे॥
मुरली अधर श्रवन धुनि सों सुनि अनहद सब्द प्रमाने।
बरसत रस रुचि वचत संग सुख पद आनन्द समाने॥
मन्त्र दियो मन जात भजन लगि ज्ञान ध्यान हरि ही को।
'सूर' कहो गुन कौन करै अलि कौन सुनै मत फीको॥"

आखिर उद्धव ने गोपियों से हार मान ली। ज्ञान भक्ति के सामने हार मान बैठा। उद्धव का वज्रकठोर हृदय भी गोपियों की विरहाग्नि देख कर ही पिघल गया। उन्होंने कृष्ण को अपना संदेश भेजा और भक्ति या प्रेम के समक्ष अपनी हार स्वीकार कर ली। देखिये, उद्धव की उस हार में ही भक्ति-विजय की दुन्दुभी बज रही है—

"—माधव यह ब्रज को व्योहार।
मेरो कह्यौ पवन को भुस भयो, गावत नन्द कुमार॥
एक ग्वारि गोधन लै रेंगत, एक लकुट कर लेति।
एक मण्डली करि बैठारति, छाक बाँटि कै देति॥
एक ग्वारि नटवर करि लीला, एक कर्म गुन गावति।
कोटि भाँति कै मैं समुझाई, नेक न उर में ल्यावति॥
निसि बासर ये ही व्रत सब ब्रज दिन-दिन नूतन प्रीति।
'सूर' सकल फीको लागत है, देखत वह रस रीति॥"

अब तो कृष्ण भी खुल पड़े। उद्धव! ठीक कहते हो, मेरी भी बुरी दशा है। यह ज्ञान-ध्यान तो सब मजाक था। मुझे यह पसन्द भी नहीं है, हृदय की सच्चाई, प्रेम की गहराई तो भक्ति में ही है। सूर ने कृष्ण के मुख से निम्नांकित पद कहलाकर ज्ञान पर भक्ति की विजय की घोषणा दिगदिगंत में कर दी और सत्य तो यह है कि कृष्ण से यह कहलाने के लिए ही उन्होंने 'भ्रमरगीत' की रचना भी की थी। वे कृष्ण के मुख से ही कहला देते हैं कि ज्ञान-ध्यान कुछ नहीं है, प्रेम और भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है—

"—उधो मोहि व्रज बिसरति नाहीं।
हंस सुता की सुन्दर कगरी, अस कुंजन की छाहीं॥
वे सुरभी वे वच्छ दोहिनो, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल बाल सब करत कुलाहल, नाचत गहि-गहि बाँहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी, मन मुकताहल जाहीं।
जबहि सुरति आवत वा सुख की, जिय उमगत तन नाहीं॥
अनगन भाँति करी बहु लीला, जसुदा नन्द निवाहीं।
'सूरदास' प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि-कहि पछताहीं॥"

उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि 'भ्रमरगीत' की रचना उद्देश्यगर्भित है। उसमें सगुण-भक्ति का मण्डन और निर्गुण-भक्ति का खण्डन अत्यन्त स्पष्ट है। सूर भक्ति को ज्ञान के ऊपर दिखाना चाहते थे, 'भ्रमरगीत' उसी का फल है।

---

अध्याय ५

# हिन्दी का पद-साहित्य और सूरदास

हृदय की निश्छलता प्रेमावेग या भक्ति का अतिरेक—इन सबके मिश्रण से ही गीत की उत्पत्ति हुई श्रेणी होगी। लौकिक विरह या पारलौकिक विरह में से कोई एक गीतों के मूल में रहता है, इसलिए पन्तजी की यह बात युक्तिसंगत जान पड़ती है—

"—वियोगी होगा पहला कवि,
विरह से उपजा होगा गान।
निकल कर आँखों से चुपचाप,
वही होगी कविता अनजान।"

वास्तव में गीतों का विकास लोक-साहित्य से ही हुआ है। लोकगीतों की परम्परा साहित्यिक पदों से कहीं प्राचीन है। गीतों के लिए स्वानुभूति, वैयक्तिकता, कोमलकान्तपदावली तथा संगीतात्मकता की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। लोकगीतों में यह सब विशेषताएँ मिलती हैं। गीतों के माधुर्य और प्रभाव से आकर्षित होकर साहित्यिक कवियों ने गीतों का साहित्य में भी स्वागत किया। विद्वानों का कहना है कि यों तो गीतों का मूल सामवेद में भी मिलता है और बौद्ध-साहित्य में भी पदों या गीतों की रचना प्रचुरता से हुई है, पर गीतों को प्रसिद्ध करने का बहुत कुछ श्रेय संस्कृत कवि जयदेव को है। जयदेव की कोमलकान्तपदावली अत्यन्त प्रसिद्ध है। उनके गीतों का चाहे पाठक अर्थ न समझे, किन्तु भाषा इतनी आकर्षक और कर्णप्रिय है कि पाठक अभिभूत हो जाता है। हरि-स्मरण और कला-विलास दोनों दृष्टियों से जयदेव के पद पठनीय हैं। उन्होंने स्वयं लिखा है—

"—यदि स्मरणे सरसं मनः,
यदि विलास कलासु कुतूहलम्।
सरस-कोमल-कान्त पदावली,
भज जयदेव सरस्वतीम्।"

यों तो पदावली-साहित्य की चर्चा चण्डीदास का नामोल्लेख किये बिना अधूरी

ही रह जायगी, परन्तु यह स्मरणीय है कि चण्डीदास बंगाली कवि हैं, इसलिए हिन्दी-पद-साहित्य की चर्चा करते समय उनका (चण्डीदास का) वर्णन बहुत कुछ अप्रासंगिक होगा। हिन्दी में पद-साहित्य को पूर्णता एवं आकर्षण से मण्डित करने वालों में विद्यापति सदैव स्मरणीय रहेंगे। विद्यापति अपनी काव्यगत विशेषताओं के कारण 'अभिनय जयदेव' या 'मैथिल कोकिल' कहलाते हैं। दोनों ही विशेषण वास्तव में अत्यन्त सार्थक हैं और विद्यापति की लोकप्रियता का हमें आभास देते हैं। संगीतात्मकता, कोमलकान्तपदावली तथा कलात्मकता की दृष्टि से विद्यापति सचमुच अद्वितीय हैं; किन्तु सूर जैसा चुभने वाला व्यंग्य, भावातिरेक एवं आध्यात्मिकता की शीतलता इनमें नहीं है। विद्यापति ने अपना सम्पूर्ण पद-साहित्य 'लखमा देई' या 'लखमा देई पति' के ऊपर लिखा था, इसलिए इसमें भाषा का चमत्कार तथा कोमलता तो अधिक है किन्तु सूर के पदों जैसी हार्दिकता उनमें नहीं है। विद्यापति ने भी अपने पदों में शृंगार का ही वर्णन किया है (वियोग शृंगार और संयोग शृंगार दोनों का), किन्तु उनके पदों में पारलौकिक शृंगार कम और लौकिक शृंगार ही अधिक है। कहीं-कहीं तो उनके पद अश्लील तक हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा इस विषय में लिखते हैं—

"—विद्यापति ने राधाकृष्ण का जो चित्र खींचा है उसमें वासना का रंग बहुत ही प्रखर है। आराध्यदेव के प्रति भक्ति का जो पवित्र विचार होना चाहिए वह उसमें लेशमात्र भी नहीं है।"

× × × ×

"—राधा का शनैः शनैः विकास, उसकी वय सन्धि, दूती की शिक्षा, कृष्ण से मिलन, मान, विरह आदि उसी प्रकार लिखे गये हैं जिस प्रकार किसी साधारण स्त्री का भौतिक प्रेम विवरण। कृष्ण भी एक कामी नायक की भाँति हमारे सामने आते हैं। कवि के इस वर्णन में हमें जरा भी ध्यान नहीं आता कि यही राधाकृष्ण हमारे आराध्य हैं। उनके प्रति भक्ति-भाव की जरा भी सुगन्ध नहीं है।"

× × × ×

"—विद्यापति के भक्ति हृदय का रूप उनकी वासनामयी कल्पना के आवरण में छिप जाता है।"

× × × ×

"—इसका एक कारण है, विद्यापति राज-दरबार के बीच कविता पढ़ा करते थे। उन्हें राजसभा और अपनी कविता पर ही अधिक ध्यान था। उनका तो "राजा सिवसिंह रूप नारायन लखमा देई रमाने" की ओर विशेष आकर्षण था इसलिए कदाचित् उन्हें अपने संरक्षकों के मनोविनोद का ही अधिक ध्यान था। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षादि अलंकारों और भाव, विभाव, अनुभावादि पर उन्होंने अपनी कविता की नींव खड़ी की। यही कारण है कि उन्होंने अपने कला-नैपुण्य प्रदर्शन के लिए साहित्य शास्त्र का मंथन

तो कर डाला, पर जीवन का रहस्य जानने के लिए मनुष्य समाज के अन्तर्रहस्यों की पर्यालोचना नहीं की ।"

× × × ×

"—विद्यापति ने अन्तर्जगत का उतना हृदयग्राही वर्णन नहीं किया जितना वाह्य जगत का । उन्हें अन्तर्जगत की सूक्ष्म वृत्तियाँ बहुत कम सूझी हैं ।"

यही विद्यापति और सूर में अन्तर है । सूर हृदय के रहस्य के गायक हैं । 'जहाँ न पहुँचे रवि तहाँ पहुँचे कवि' की कहावत उन पर ठीक चरितार्थ होती है । विद्यापति की भाषा एवं उनके भावों को स्पष्ट करने के लिए उनके कुछ उद्धरण देना अप्रासंगिक न होगा ।

एक सखी राधा से कहती है कि कृष्ण तेरे वियोग में विकल है, तुझे बुलाने के लिए वारबार वंशी बजा रहा है और जो गोपी उधर से निकलती है, उसी से तेरा पता पूछता है—

"—नन्दक नन्दन कदंवक तरु तर घिर घिर मुरलि बजाव ।
समय संकेत निकेतन वइसलि घिर घिर बोल पठाव ।।
तोरा लागि अनुर बन विकल मुरारि ।
जमुन तर उपवन उदवेगल खन खन ततहि निहारि ।।
गोरस बेचत आवत जाइत जिन जनि पुछ वन मारि ।"

एक विरहिणी कौवे से विह्वल होकर कहती है कि अगर तू मेरे प्रिय के शुभागमन का शुभसन्देश देगा तो तुझे खीर और खाँड़ का भोजन कराऊँगी । विरहिणी के हृदय की सुन्दर अभिव्यक्ति है—

"—काक भाख निज भाख हरे पहु आउत मोरा ।
खीर खाँड़ भोजन देउरे भरि कनक कटोरा ।।"

फिर भी विद्यापति संयोग शृंगार में जितने सफल हैं, उतने वियोग में नहीं । उनके पदों का लालित्य संयोग के पदों में ही अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है । सूर अपने भावपक्ष की सफलता के कारण विद्यापति से ऊँचे स्थान के अधिकारी हैं ।

हिन्दी में पद-साहित्य के रचयिताओं में कबीर का भी विशिष्ट स्थान है । कबीर ने अपने बहुत से पदों में यद्यपि हठयोग की नीरस साधना का वर्णन किया है, किन्तु माधुर्यभाव की भक्ति के अन्तर्गत ईश्वर के विरह में लिखे गये उनके पद वास्तव में मार्मिक हैं । बहुत से पदों में उन्होंने जीवात्मा-परमात्मा के सम्बन्धों को रूपकों द्वारा स्पष्ट किया है । किन्तु उनके भावों का उद्वेग, भाषा का प्रभाव, तल्लीनता, वैयक्तिकता उनके विरह-पदों में ही अधिक है । यह तो प्रसिद्ध ही है कि कबीर अधिक पढ़े-लिखे न थे, केवल ढाई अक्षर प्रेम का पढ़कर ही पण्डित हो गये । वे कहा करते थे—

"—पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ पण्डित भया न कोइ ।
ढाई आँखर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होइ ।।"

इसलिए उनके पदों में आध्यात्म की शीतलता, भावों का उद्वेग, वैयक्तिकता सब कुछ है, किन्तु उनमें उस साहित्यिकता का अभाव है जो सूर में मिलती है। सूर जैसा व्यंग्य भला कबीर में कहाँ से मिले ? किन्तु आत्मा के विरह को जहाँ कबीर ने वाणी दी है, वहाँ उनके पद सचमुच ही बड़े मार्मिक हैं।

"—दुलहिनि गावहु मंगलाचार, हम घर आये हो राजा राम भरतार।
तन रति कर मैं मन रति करिहूँ पंच तत्त बराती।
रामदेव मोरे पहुँने आए, मैं जोवन में माती।।"

बालम के बिना कबीर की आत्मा तड़प रही है। दिन को चैन नहीं, रात को नींद नहीं, सेज सूनी है, शरीर चर्खा बन गया है, आँखें थक गयी हैं, राह दिखाई नहीं देती—

"—तलफें बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निदिया, तलफ तलफ के भोर किया।।
तन मन मोर रहँट अस डोलं, सून सेज पर जनम छिया।
नैन थाकत भए पंथ न सूझै, साईं वेद रही सुधि न लिया।
कहत कबीर सुनो भई साधो, हरो पीर दुख जोर किया।।"

प्रियतम से भेंट के समय का कबीर कितना मार्मिक एवं आकर्षक चित्र उपस्थित करते हैं। एक नवोढ़ा जैसा संकोच उनकी आत्मा को हो रहा है। प्रेमी की ऐसी तीव्र वेदना तो शायद अन्यन्त्र दुर्लभ है—

"—पिया मिलन की आस रहौं कबलौं खरी।
ऊँचे नहिं चढ़ जाय मन लज्जा भरी।।
पाँव नहीं ठहराइ चढूँ गिरि गिरि परूँ।
फिरि फिरि चढूँ सँभारि चरन आगे धरूँ।।
अंग अंग छहराइ तो बहु विधि डरि रहूँ।
करम कपट मग घेरि तो भ्रम में पड़ि रहूँ।।
बारी निपट अनारि ये तो झीनी गैल है।
अटपट चाल तुमार मिलन कस होइ है।।"

पद-साहित्य की चर्चा करते समय मीरा का नामोल्लेख करना अत्यावश्यक है। हिन्दी-साहित्य में शायद ही किसी कवि के पद इतने लोकप्रिय हों जितने मीरा के हैं। मीरा की भक्ति भी माधुर्यभाव की है। मीरा ईश्वर को अपना पति मानती हैं, इसलिए उनके विरह के पदों में विरह की जो तीव्र अभिव्यंजना, मार्मिकता, स्वानुभूति एवं वैयक्तिकता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। मीरा के पद संगीतात्मक तो हैं ही, साथ ही उनमें साहित्यिकता की भी कमी नहीं है। सच पूछा जाय तो मीरा ही हिन्दी में ऐसी कवियित्री हैं, जिसको पद-साहित्य में सूर के समक्ष रखा जा सकता है। डॉ० रामकुमार वर्मा तो विरह-कथन की स्वाभाविकता में उन्हें सूर से भी ऊँचा स्थान देते हैं—

"—मीराबाई की रचनाओं में राग-रागिनियों का प्रयोग विशेषरूप से किया गया है क्योंकि मीरा की भक्ति में कीर्तन का प्रधान स्थान है। 'मीरा के प्रभु गिरधर नागर' की भक्ति मन्दिर के कीर्तन के रूप में विशेष प्रसिद्ध है। साथ ही मीरा की गीतकाव्यमयी भावना के लिए रागों की उपयुक्त सृष्टि परमावश्यक है। इतना होते हुए भी मीरा में कलात्मक अंग कम है। यद्यपि विरह का वर्णन गोपिका-विरह के समान ही है तथापि इष्टदेव से दूर होने के कारण हृदय की दशा का हो मार्मिक चित्रण है। मीरा स्वयं स्त्री थीं, अतः उनके विरह-निवेदन में स्वाभाविकता है, सूर के समान कृत्रिमता या कल्पना नहीं। मीरा की स्वभावोक्ति चरमसीमा पर है।"

सूर के पास यदि कलात्मक सम्बल न होता तो शायद वे मीरा से सचमुच पीछे छूट जाते, किन्तु भावपक्ष और कलापक्ष की समान पुष्टता हो सूर को अन्य कवियों मे ऊपर उठा देती है।

मीरा कृष्ण से होली खेलने के लिए व्याकुल हैं। देखिये, उनके इस पद में कितनी तल्लीनता, कितनी स्वानुभूति, कितनी संगीतात्मकता और वैयक्तिकता है—

"—होली पिया विन लागै खारी।
सुनो री सखी मेरी प्यारी॥
सूनो गाँव देश सब सूनो, सूनी सेज अटारी।
सूनी विरहन पिया विन डोलै, तजदई पीवपियारी।
भई हूँ या दुख कारी॥
देस विदेस सँदेस न पहुँचै होय अंदेसा भारी।
गिठातां घिस गई रेखा आँगग्यिाँ की सारी।
अजहूँ न आये मुरारी॥
बाजत झाँझ मृदंग मुरलिया बाज रही इकतारी।
आई बसंत कन्त घर नाहीं तन में जुर भया भारी।
स्याम मन कहो बिचारी॥
अबतो मेहर करो मुझ ऊपर चित दे सुनो हमारी।
मीरा के प्रभु मिलज्यो माधो जनम-जनम की क्वारी।
लगी दरसन की तारी॥

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि भक्तिप्रवर कवि सम्राट् तुलसी की चर्चा किये बिना पद-साहित्य की बात अधूरी ही रह जायगी। 'गीतावली' और 'विनय पत्रिका' पद-साहित्य में शीर्षस्थान की अधिकारिणी हैं, किन्तु विचित्र बात यह है कि दोहा और चौपाई के साथ तुलसी ऐसे बँध गये हैं कि जनता का बहुतांश शायद यह जानता ही नहीं कि तुलसी ने पद लिखे हैं। तुलसी ने पद लिखे हैं और संगीत की सभी राग-रागनियाँ उनके पदों में समाविष्ट हैं। वैयक्तिकता, संगीतात्मकता, भाषा-प्रभाव तथा भावों की दृष्टि से तुलसी के समकक्ष सूर को छोड़कर और कोई टिकता ही नहीं, किन्तु

पदों में भी व्यंग्य एवं शृंगार की मधुरता के कारण सूर अद्वितीय बन गये हैं। तुलसी की संस्कृतनिष्ठता उनके पदमाधुर्य को कम कर देती है। सूर की ग्रामीण और चलती ब्रजभाषा का माधुर्य तुलसी के पदों में नहीं है। यों तो सूर के द्वारा कुछ चौपाइयों की रचना मिलती है, किन्तु उनमें 'सूरत्व' का अभाव है। उसी प्रकार पदों की विशिष्टता का जहाँ तक सम्बन्ध है, सूर तुलसी से एक पग आगे ही हैं। वे निश्चितरूप से हिन्दी के पद-साहित्य में सम्राट् हैं। इस क्षेत्र में उनकी तुलना किसी कवि से नहीं है। सूर के पदों का लालित्य भ्रमरगीत में अपनी चरमसीमा को पहुँच गया है। इतना व्यंग्य, इतनी स्वानुभूति, इतनी संगीतात्मकता, इतनी कला, इतनी भावराशि उन पदों में एक ही स्थान पर एकत्र हो गयी है कि हिन्दी इन पदों को पाकर धन्य हो गयी है। वैसे बालवर्णन, मुरली-वादन, कृष्ण के संयोग-शृंगार-सम्बन्धी पद भी कम आकर्षक और कलापूर्ण नहीं हैं। फिर सूर ने तो विशेषरूप से पद ही लिखे हैं और सूर कहना सच है तो सवालाख, सवालाख न सही दस हजार ही सही; इतने पद ही सूर को सरस्वती का वरद पुत्र सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं।

यों तो अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी पद रचे हैं, पर सूर तो 'पुष्टिमार्ग के जहाज' के नाम से उचित ही प्रसिद्ध हैं। शुक्लजी का भी कहना है कि 'उन आठ वीणाओं में सबसे ऊँचा स्वर सूर की वीणा का ही था।'

देखिये, सूर की गोपी की विकलता, सरसता, अबोधता, प्रेमातिशयता जो हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ है—

"—हमकों सपनेऊ में सोच।
जा दिन ते बिछुरे नंदनंदन ता दिन तें ये पोच॥
मनु गुपाल आए मेरे घर हँसि कर भुजा गही।
कहा करौं बैरिनि भई निंदिया निमिष न और रही॥
ज्यों चकई प्रतिबिम्ब देखिकैं आनंदी प्रिय जानि।
'सूर' पवन मिस निठुर बिधाता चपल कियो जल आनि॥"

सूर की गोपियों के वचनों में जितनी वक्रता और जितना व्यंग्य है, हिन्दी में वह अद्वितीय है। सूर की यह महानता है, कथन की इतनी प्रणालियाँ उनके पदों में विद्यमान हैं, जिनका न तो अभी तक नामकरण ही हुआ और न वर्गीकरण ही। देखिये, गोपियाँ कृष्ण पर कितना बड़ा व्यंग्य करती हैं। वे उद्धव से कृष्ण के विषय में कहती हैं—

"—सुनियत मुरली देखि लजात।
दूरहि ते सिंहासन बैठे सीस नाइ मुसकात॥
सुरभि लिखो चित्र भीतिन पर तिनहिं देखि सकुचात।
मोरपंख को बिजन बिलोकत बहरा बतकहि बात॥
हमरी चरचा जो कोउ चालत चालत ही चपि जात।
'सूरदास' प्रभु भलो बिसार्‌यो दूध दही क्यों खात॥"

आधुनिक हिन्दी-साहित्य पद-साहित्य से जितना सम्पन्न है, शायद प्राचीन साहित्य उतना नहीं। जितना आधुनिक कवि गीतों में अपना साहित्य लिख रहे हैं, उन सबके नामोल्लेखमात्र से एक ग्रन्थ तैयार हो जायगा। फिर भी प्रसाद, पन्त, महादेवी, निराला आज के प्रतिनिधि कवि हैं और पदों का जहाँ तक सम्बन्ध है, महादेवजी आधुनिक मीरा के नाम से विभूषित हैं, लेकिन यह निस्सन्कोच कहा जा सकता है कि आज भी पद-साहित्य में ऐसा कोई भी कवि नहीं दिखाई देता जो सूर को उनके स्थान से अपदस्थ कर दे। अपनी आलौकिक प्रतिभा के कारण सूर पद-साहित्य में शीर्षस्थान के अधिकारी हैं।

---

अध्याय ६

# महाकवि तुलसीदास और उनकी काव्यकला

कवि एक सामाजिक प्राणी होता है। समाज का प्रभाव उसके मन-मस्तिष्क पर एक साधारण आदमी से अधिक पड़ता है क्योंकि कवि की संवेदनशीलता भी असाधारण होती है। कवि अपनी असाधारणता के कारण समाज को बदले में प्रभावित भी करता है। वह उन मर्दों में से होता है जो जमाने को बदलते हैं। महाकवि तुलसी भी अपने युग और तत्कालीन समाज को बदलने की अदम्य प्रतिभा और अव्यय क्षमता लेकर अवतरित हुए थे। तुलसी ने समाज का गहन अध्ययन और सूक्ष्मनिरीक्षण किया था। तुलसी का हिन्दी-साहित्य में आविर्भाव एक ऐसी ऐतिहासिक घटना है जिसकी पुनरावृत्ति शताब्दियों में तो क्या, सहस्राब्दियों में भी नहीं होती।

तुलसी 'सोने का चम्मच' अपने मुख में लेकर अवतरित नहीं हुए थे, अपितु अपने जन्म के साथ ही अपने माँ-बाप की वह निर्मम उपेक्षा उन्हें मिली थी जो दीन से दीन व्यक्ति को भी नहीं मिलती। मातृ-पितृ-प्रेम की शीतल छाया से वंचित इस अबोध बालक को संसार की कठोर धूप में श्वास ले-लेकर जीना पड़ा था, इसलिये एक निर्धूम अग्नि इस क्रान्तिकारी कार्य के हृदय में आरम्भ से ही सुलग रही थी। तुलसी से अधिक नग्न कठिनाइयों से भरा और किसका जीवन होगा और इसीलिये यथार्थ सामाजिक तथ्य भी उनके काव्य से अधिक और कहाँ होंगे ?

तुलसी का आविर्भाव जिस समय हुआ, उस समय समाज का ढाँचा आन्तरिक और बाह्य सभी दृष्टि से जर्जरित हो चुका था। 'चार कनक' लोगों के लिए 'चार फलों' (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) से अधिक थे। बेरोजगारी अपनी चरमसीमा पर पहुँच रही थी। तत्कालीन शासक मुसलमान थे, अत: उनके अत्याचार हिन्दू-समाज पर कुठाराघात कर रहे थे। निर्मम और अकथनीय गरीबी के कारण लोगों का नैतिक पतन हो चुका था। हिन्दू-समाज के विभिन्न सम्प्रदाय एक-दूसरे को शत्रु समझ पारस्परिक विद्वेष में रत थे और एक-दूसरे के मूलोच्छेदन में कृतप्रयत्न थे। तुलसी ने समाज के इस रुग्ण और विकृत रूप को देखा। उन्होंने इस वीभत्स दृश्य से न तो आँखें फेर लीं और न युग की वायु के सामने पीठ ही उन्होंने की। युग की समस्त विशेषताओं के

विरुद्ध इस युवक तपस्वी ने अपनी छाती अड़ा दी। इस अनुभवी कवि की एक पंक्ति ने वैष्णवों और शैवों की वैमनस्य की ज्वाला बुझा दी। 'शिव द्रोही मम दास कहावा, सो नर सपनेहु मोहि न भावा' में प्रीति थी, नीति थी, कविता थी और समस्त विशेषताओं की औषधि भी थी। तुलसी का काव्य उनके युग का सच्चा और उज्जवल दर्पण है, जिसमें तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियाँ अपने पूरे विस्तार और वास्तविकता के साथ प्रतिबिम्बत हैं। फिर भी साहित्य के कुछ पारखियों का कहना है कि 'स्वान्त: सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' से तुलसी का अभिप्राय है कि कविता केवल उनके हृदय की अभिव्यक्ति है, समाज से उसका क्या सम्बन्ध? उनके तर्क का आधार कुछ भी हो, किन्तु तुलसी की ही कुछ ऐसी पंक्तियाँ, जो समझाकर यह कहती हैं कि कविता दूसरों के लिए ही लिखी जाती है, उसका सच्चा उपयोग तभी है जब वह दूसरों को आत्मिक शान्ति दे—

"...मणि माणिक मुकता छवि जैसी।
अहि गिरगज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुणी तन पाई।
लहइ सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेइ सुकवि कवित बुध कहई।
उपजहिं अनत अनत सुख लहई॥
कीरति भणित भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई॥"

उपरोक्त पंक्तियाँ पुकार-पुकार कर कहती हैं कि तुलसी की कविता को 'स्वान्त: सुखाय' के संकीर्ण कठघरे में बन्द करने वालों को अपना मत बदल लेना चाहिए।

तुलसी यदि अपने लिए ही कविता लिखते तो उसमें लोक-मर्यादा या लोक-कल्याण का इतना ध्यान रखने की क्या आवश्यकता थी? तुलसी ने कभी कुछ आँख मूंद के नहीं लिखा, उन्होंने लिखते समय सदैव अपनी आँखें खुली रखीं और उनकी प्रत्येक पंक्ति वही अर्थ देती है जो तुलसी को अभीष्ट है।

तुलसी ने ऐसी समस्त बातों के प्रति विरक्ति प्रकट की है जो सामाजिक कल्याण के मार्ग में बाधक हैं। उन्होंने समस्त ऐसी बातों का उग्र विरोध किया है जो समाज-विघातक हैं। उन्होंने राम के शील-शक्ति-सौन्दर्यसमन्वित रूप को जनता के समक्ष रख कर जनता की भावनाओं को तो सन्तुष्ट किया ही, साथ ही जनता को अँधेरे और समाज-विरोधी मार्गों पर भटकने से बचा लिया।

तुलसी का व्यक्तित्व दुहरा है—वे भक्त भी हैं कवि भी हैं। यह स्पष्ट है कि तुलसी का 'भक्त' उनको वैयक्तिकता की संकीर्ण परिधि में नहीं बाँधता, अपितु उनके क्रान्तदर्शी कवि का साथ देता है। तुलसी को अपने कल्याण से संसार के कल्याण की अधिक चिन्ता है। व्यक्तिवादी व्यक्ति इस दिशा में सोच ही नहीं सकता। तुलसी ने २५

वर्षों से अधिक तक संस्कृत-साहित्य और व्याकरण का अध्ययन किया। उनका संस्कृत ज्ञान उनकी कविताओं से उभर-उभर आता है, किन्तु इस महान् पण्डित ने कभी भी उनके पाण्डित्य-प्रदर्शन का प्रयत्न नहीं किया। संस्कृत का पण्डिताऊ पथ छोड़कर वे भाषा की 'लोक डगर' में ही होकर चले। उसी में उन्हें विशेष सुख मिला। पण्डितों के रास्ते जाने पर तुलसी उस रास्ते का और क्या उपकार करते? किन्तु 'लोक की डगर' को उन्होंने अपनी प्रतिभा से इतना आकर्षक, वांछनीय और सुखद बना दिया कि जनता का बहुतांश शताब्दियों बाद पहली बार कृतकृत्य हो गया।

भाषा पर तुलसी का जितना अधिकार है, उसे देख कर यह आसानी से कहा जा सकता है कि हिन्दी का महान् से महान् कवि उनसे जीवनभर (भाषा) सीख सकता है। इस महान् कवि की जिह्वा पर 'व्रज' और 'अवधी' दोनों समभाव से निवास करती हैं। भाषा को रूप और आकार देने वाले छन्द भी उनकी आज्ञा के बाहर नहीं हैं। आज्ञाकारी भृत्य (सेवक) की भाँति वे उनकी आज्ञापालन करते हैं। तुलसी ने अपने समय में प्रचलित सभी शैलियों में काव्य-रचना करके अपने अगाध भाषा-ज्ञान और अप्रतिम शब्द-साधना का परिचय दिया है। तुलसी के काल में निम्न-लिखित प्रमुख शैलियाँ प्रचलित थीं—

(१) वीरगाथाकाल की छप्पय-पद्धति ;
(२) कबीर की दोहावली ;
(३) जायसी की दोहा-चौपाई-पद्धति ;
(४) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति और
(५) गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति।

यहाँ प्रत्येक पद्धति का उदाहरण तुलसी की रचनाओं से देना इसलिए आवश्यक है कि तुलसी का भाषाधिकार और शब्दसाधना उससे स्पष्ट हो सके।

(१) वीरगाथाकाल की छप्पय-पद्धति—तुलसी ने बहुत से छप्पय लिखे हैं और विशेष बात यह है कि उनके छप्पयों की भाषा वीरगाथाकाल की भाँति ही द्वित्तवर्णप्रधान है—

"—कतहुँ विटप्प भूधर उखारि पर सेन वरक्खत।
कतहुँ वाजि सो वाजि मर्दि गजराज करक्खत॥
चरन चोर चटकन चकोटि अरि उर सिर वज्जत।
विकट कटक विछ्ग्गत वीर वारिद जिमि गज्जत॥
लंगूल लपेटत पटकि भट 'जयति राम जय' उच्चरत।
तुलसीदास पवन नन्दन अटल जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत॥"

(२) दोहा-पद्धति—यों तो पूरी दोहावली ही तुलसी ने दोहों में लिखी है, साथ ही रामचरित में भी उनके बहुत से दोहे मिलते हैं जो नीति के उपदेश एवं सूक्ति-पद्धति पर लिखे गये हैं—

"—की तोहि लागहि राम प्रिय, की तू राम प्रिय होहि ।
दुह में रुचै जो सुगम सोइ, करिबे तुलसी तोहि ॥"

(३) चौपाई-पद्धति—यों तो दोहा-चौपाई-पद्धति के लिए गोस्वामीजी जायसी के ऋणी हैं, किन्तु गोस्वामीजी की चौपाइयों में संस्कृत की कोमलकान्तपदावली का जो अद्भुत मिश्रण है, वह जायसी की ग्रामीण अवधी में कहाँ—

"—अमिय भूरिमय चूरन चारू ।
समन सकल भवरुज परिवारू ॥
सुकृत संभु तनु विमल विभूती ।
मंजुल मंगल मोद प्रसूती ॥
जन-मन-मंजु मुकुर मन हरनी ।
किए तिलक गुन गन वस करनी ॥"

(४) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति—इन दोनों की गीत-पद्धति पर ही तुलसी ने 'गीतावली' और 'विनय पत्रिका' की रचना की है। तुलसी के गीतों में अभिव्यक्ति की जो तीव्रता, भावों की प्रचुरता, भाषा का जो आकर्षण और अद्भुत मार्दव है, वह सचमुच अद्वितीय है। देखिये—

"—जो हो मातु मते मह ह्वै हों ।
तो जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहों ॥
क्यों हों आजु होत सुचि सपथनि कौन मानि है साँची ।
महिमा मृगी कौन सुकृति की खल बच विसिषनि बाँची ॥"

तथा

"—बिलोके दूरितें दोउ वीर ।

× × ×

मन अगहुँउ, तन पुलक सिथिल भयो, नयन नलिन भरे नीर ।
गड़तगोड़ मनो सकुच पंक महँ कढ़त प्रेम बल धीर ॥"

(५) कवित्त-सवैया-पद्धति—गंग आदि भाटों की सवैया-पद्धति पर ही 'कवितावली' की रचना हुई है और यह विश्वास के साथ निःसंकोच कहा जा सकता है कि इतनी मधुरता, कोमलता एवं व्यंजकता इससे पूर्व कवित्त-सवैयों में कभी नहीं मिलेगी ।

कवित्त

"—पात भरी सहरी, सकल सुत बारे-बारे ।
केवट की जाति कछु वेद ना पढ़ाइ हौं ॥
सबु परिवार मेरो याही लागि राजाजू ।
हौं दीन वित्त हीन कैसे दूसरी गढ़ाइहौं ॥

गौतम की घरनी ज्यों तरनी तरेगी मेरी।
प्रभु सों विषादु ह्वै कै बातु ना बढ़ाइहौं।।
तुलसी के ईस रावरे सौं साँची कहौं।
बिना पग धोये नाथ नाव न चढ़ाइहौं।।"

सवैया

"—पुर ते निकसी रघुवीर वधू, धरि धीर दए मग में पग द्वै।
झलकी भरिभाल कनी जल की, पुर सूख गए मधुराधर वै।।
फिर बूझति हैं चलनो कितकों, प्रिय पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि ग्रातुरता प्रिय की, ग्रखियाँ ग्रति चारु चलो जल ह्वै।।"

लेकिन महाकवि की गौरवमयी पदवी प्राप्त करने के लिए केवल भाषाधिकार की योग्यता ही काफी नही है। इसके साथ दो चीजों की ग्रौर ग्रावश्यकता है—

(१) भावुकता—जिससे कवि मानवमात्र के हृदय की बात का ग्रनुभव कर सके। प्रत्येक मानव-स्थिति के साथ तादात्म्य स्थापित कर सके।

(२) संसार का ज्ञान—बिना इसके सब कुछ बेकार है, जीवन की विविधता का ग्रध्ययन लेखक प्रकृति के खुले प्रांगण में ही कर सकता है ग्रौर वहीं से वह ग्रपने लिए ग्रनुभव संचित करता है। जिस कवि का यह ग्रध्ययन जितना ही विशद् एवं गम्भीर होगा, काव्य में मौलिकता, सरलता, स्पष्टता ग्रादि उतनी ही ग्रधिक होगी। शुक्ल तुलसी की इन्हीं विशेषताग्रों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

"—कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव स्थिति में ग्रपने को डालकर उसके ग्रनुरूप भाव का ग्रनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का 'रामचरित' से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र ग्रौर कहाँ मिल सकता है? जीवनस्थिति के इतने भेद ग्रौर कहाँ दिखाई पड़ते हैं? इस क्षेत्र में जो कवि सर्वत्र पूरा उतरता दिखाई पड़ता है, उसकी भावुकता को ग्रौर कोई नहीं पहुँच सकता। जो केवल दाम्पत्य-रति ही में ग्रपनी भावुकता प्रकट कर सकें या वीरोत्साह का ही का ग्रच्छा चित्रण कर सकें, वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते। पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी ग्रंश का साक्षात्कार कर सकें ग्रौर उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख ग्रपनी शब्द-शक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें। हिन्दी के कवियों में इस प्रकार की सर्वांगपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामीजी में ही है जिसके प्रभाव से 'रामचरित-मानस' उत्तरी भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है।

तुलसी के विस्तृत ज्ञान एवं जीवन-व्यापकतायुक्त उनकी दृष्टि के विषय में शुक्लजी लिखते हैं—

"—कहा जा सकता है कि गोस्वामी मानव जीवन की बहुत ग्रधिक परि-

स्थितियों का जो सन्निवेश कर सके, वह रामचरित की विशेषता के कारण। इतने अधिक प्रकार की मानव दशाओं का सन्निवेश आप से आप हो गया। ठीक है, पर उन सब दशाओं का यथातथ्य चित्रण बिना हृदय की विशालता, भाव-प्रसार की शक्ति, मर्मस्पर्शी स्वरूपों की उद्भावना और शब्द-शक्ति की सिद्धि के नहीं हो सकता। मानव प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ गोस्वामीजी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं, उतना अधिक हिन्दी भाषा के और किसी कवि के हृदय का नहीं। यदि कहीं सौंदर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्ष, पुलक गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पाखण्ड है तो कुढ़न, शोक है तो करुणा, आनन्दोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्व है तो दीनता, तुलसीदास के हृदय में विम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से विद्यमान है।"

गोस्वामीजी की भावात्मक सत्ता का अधिक विस्तार स्वीकार करते हुए भी यह पूछा जा सकता है कि क्या उनके भावों में पूरी गहराई या तीव्रता भी है? यदि तीव्रता न होती, भावों का पूर्ण उद्रेक उनके वचनों में न होता तो वे इतने सर्वप्रिय कैसे होते? भावों के साधारण उद्गार से ही सबको तृप्ति नहीं हो सकती।

इन्हीं विशेषताओं के कारण तुलसी हिन्दी में सभी अन्य कवियों से अधिक लोकप्रिय हैं। तुलसी भारतीय जनता के जीवन में ऐसे रम गये हैं कि वे उससे अलग नहीं किये जा सकते। तुलसी भक्त हैं, कवि हैं और लोकनायक हैं।

तुलसी की भावुकता एवं उनके सूक्ष्म लोक-निरीक्षण ने ही उन्हें 'रामचरित-मानस' जैसा उत्कृष्ट एवं महान् ग्रन्थ लिखने में सहायता दी है। तुलसी अपनी इसी भावुकता के कारण उसके मार्मिक स्थलों को छांट सके और उनका अधिक विस्तार में वर्णन कर सके हैं। 'रामचरित' की इन्हीं विशेषताओं को शुक्लजी ने बड़े व्यवस्थित और स्पष्टरूप में लिखा है—

"—रचनाकौशल, प्रबन्धपटुता, सहृदयता इत्यादि सब गुणों का समाहार हमें रामचरित-मानस में मिलता है। पहली बात जिस पर ध्यान जाता है, वह है—कथा-काव्य के सब अवयवों का उचित समीकरण। कथा-काव्य या प्रबन्ध-काव्य के भीतर इतिवृत्त, वस्तुव्यापार-वर्णन, भावव्यंजना और सम्वाद ये अवयव होते हैं। न तो अयोध्यापुरी की शोभा, बाललीला, नखशिख, जनक की वाटिका, अभिषेकोत्सव इत्यादि के वर्णन बहुत लम्बे हो पाये हैं, न पात्रों के सम्वाद, न प्रेम, शोक आदि भावों की व्यंजना। इतिवृत्त की शृंखला भी कहीं से टूटती नहीं है।"

दूसरी बात है—कथा के मार्मिक स्थलों की पहिचान। अधिक विस्तार हमें ऐसे ही प्रसंगों का मिलता है जो मनुष्यमात्र के हृदय को स्पर्श करने वाले हैं, जैसे, जनक की वाटिका में राम-सीता का परस्पर दर्शन, राम-वनगमन, दशरथ-मरण,

भरत की ग्रात्मग्लानि, वन के मार्गों में स्त्री-पुरुषों की सहानुभूति, युद्ध में लक्ष्मण को शक्ति लगना इत्यादि।

तीसरी बात है—प्रसंगानुकूल भाषा। रसों के अनुकूल कोमल कठोर पदों की योजना तो निर्दिष्ट रूढ़ि ही है। उसके अतिरिक्त गोस्वामीजी ने इस बात का भी ध्यान रखा है कि किस स्थल पर विद्वानों या शिक्षकों की संस्कृतमिश्रित भाषा रखनी चाहिए और किस स्थल पर ठेठ बोली। घरेलू प्रसंग समझकर कैकेयी और मन्थरा के सम्वाद में उन्होंने ठेठ बोली और स्त्रियों में विशेष चलते प्रयोगों का व्यवहार किया है। अनुप्रास की ओर प्रवृत्ति तो सब रचनाओं में स्पष्ट लक्षित होती है।

चौथी बात है—शृंगार रस का शिष्ट मर्यादा के भीतर बहुत ही व्यंजक वर्णन।

ये ही सब विशेषताएँ हैं जो तुलसी को हिन्दी कवियों में मूर्धन्य स्थान देती हैं। हिन्दी में यदि उनकी समानता किसी से है तो भक्तप्रवर सूरदासजी से है। सूर कृष्ण-भक्ति के आवेश में समाज की मर्यादाओं को भूल कर गाने वाले कवि थे, इसलिए उनके काव्य में तल्लीनता और मादकता तो अधिक है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु उसका समाज पर कभी अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। तुलसी किसी भी ऐसी चीज को सहन करने के लिए तैयार न थे जो समाज की मर्यादाओं का अतिक्रमण करने वाली हो।

शृंगार रस का विस्तृत वर्णन सूर में मिलता है। वियोग और संयोग—दोनों पक्षों का उन्होंने मार्मिक एवं आकर्षक वर्णन किया है। अश्लीलता का कलंक सूर के काव्य में है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, किन्तु तुलसी का काव्य इस विषय मे अत्यन्त निर्दोष है। यों तो शृंगार रस का अत्यन्त मार्मिक, संयत और आकर्षक वर्णन तुलसी के काव्य में भी मिलता है किन्तु उनकी शृंगार-रसधारा मर्यादा के कूलों को डुबा कर कहीं नहीं बही है। कूलों को डुबाकर अमर्यादित होकर बहने वाली शृंगार-रसधारा समाज का अपकार ही अधिक करती है, उपकार कम। यह विस्तार में ऊपर लिखा जा चुका है कि तुलसी के लिए समाज पहले है, उसका कल्याण और मर्यादा पहले हैं, बाद में कुछ और।

सूर कृष्ण की भक्ति सखाभाव से करते थे, इसलिए स्वभावतः उनकी वाणी अधिक व्यंग्यमयी हो गयी है। तुलसीदास भाव की भक्ति करते थे, इसलिए सर्वत्र अपने काव्य में वे दासत्व के कठिन अनुशासन में हैं।

वात्सल्य रस का जहाँ तक सम्बन्ध है, वहाँ सूर की अद्वितीयता निर्विवाद है। यों तो 'गीतावली' में तुलसी ने सूर से प्रभावित होकर राम के बालवर्णन का विस्तार में वर्णन किया है किन्तु उसमें हार्दिकता और सूक्ष्म निरीक्षण की उत्कृष्टता एवं व्यापकता इतनी अधिक नहीं है, जितनी सूर में। इस बालवर्णन और वात्सल्य रस

के कारण ही सूर सचमुच सूर हैं। इस क्षेत्र के वे अद्वितीय सम्राट् हैं। हिन्दी का कोई कवि उनकी तुलना में टिकता ही नहीं। किन्तु तुलसी का बालवर्णन, श्रृंगार-वर्णन या वात्सल्य रस उत्कृष्ट कोटि का नहीं है। यह तो वही कह सकता है जिसने तुलसी-साहित्य का बिलकुल ही अध्ययन न किया हो। सूर सर्वश्रेष्ठ हैं तो इसका अर्थ यह नहीं कि तुलसी निकृष्ट हैं। उत्कृष्टता तुलानात्मक है, बस इतना ही इसका अर्थ है।

भाषा, छन्द एवं काव्यशास्त्र के अन्य गुणों की दृष्टि से तुलसी का व्यक्तित्व अत्यन्त विशाल है और सूर उनकी समानता इस क्षेत्र में नहीं कर पाते हैं। सूर ने केवल ब्रजभाषा में लिखा है और केवल पदों में, किन्तु तुलसी ने ब्रज और अवधी—दोनों भाषाओं में समान अधिकार के साथ रचना की है और सभी प्रचलित छन्दों का प्रयोग किया है। सूर कवि थे, तुलसी प्रकांड विद्वान्, महान साहित्यशास्त्री और कवि थे, इसलिए हर दृष्टि से उनका व्यक्तित्व सूर की तुलना में अधिक व्यापक और अधिक महान् है।

सूर के काव्य में पुनरावृत्ति दोष की अधिकता है। अधिकपदत्व और न्यूनपदत्व-दोष भी इसीलिए अधिक मिलेंगे क्योंकि सूर को मात्राएँ आदि गिनने का न तो अवकाश था और शायद ज्ञान भी न हो। किन्तु तुलसी का काव्य अधिक परिष्कृत और उक्त दोषों से बहुत कुछ रहित है। सूर की ब्रजभाषा ग्रामीण ब्रजभाषा है, इसलिए निःसन्देह व्यंजकता तो उसमें अधिक है किन्तु साहित्यिकता इतनी नहीं है, जितनी तुलसी की भाषा में है। तुलसी की ब्रजभाषा भी संस्कृत की कोमलकान्त-पदावली से युक्त है।

कुछ लोगों ने सूर को खरा, तुलसी को लल्लोचप्पो करने वाला कहा है। उन पर व्यंग्य करते हुए शुक्लजी लिखते हैं—

"—कुछ रत्नपारखियों ने सूर और तुलसी में प्रकृतिभेद दिखाने का प्रयास करते हुए सूर को खरा और स्पष्टवादी तथा तुलसी को सिफारशी, खुशामदी या लल्लोचप्पो करने वाला कहा है। उन्होंने सूर की स्पष्टवादिता के प्रमाण में ये वाक्य पेश किये हैं—

"—सूरदास प्रभु वे अति खोटे, यह उनहूँ ते अति ही खोटो।
'सूरदास' सर्वस जो दीजै कारी कृतहि न मानै॥"

उन दोनों पदों पर, जिनमें ये वाक्य आये हैं, जो साहित्य की दृष्टि से थोड़ा भी विचार करेगा, वह जान लेगा कि कृष्ण न तो वास्तव में खोटे कहे गये हैं, न कलूटे व कृतघ्न। ये वाक्य तो विनोद-परिहास की उक्तियाँ हैं। श्रृंगार रस में सखियाँ इस प्रकार का परिहास बराबर किया करती हैं।

"—तुलसी पर लगाया हुआ दूसरा इलजाम जिससे सूर बरी किये गये हैं, यह है कि वह रह-रह कर फजूल याद दिलाया करते हैं कि राम ईश्वर हैं। ठीक है,

तुलसी ऐसा जरूर करते हैं पर कहाँ, रामचरित-मानस में। पर रामचरित-मानस तुलसी का एकमात्र ग्रन्थ नहीं है, उसके अतिरिक्त तुलसीदासजी के और भी कई ग्रन्थ हैं। क्या सब में यही बात पाई जाती है? यदि नहीं तो इसका विवेचन करना चाहिए कि रामचरित-मानस में ही यह बात क्यों है?"

सूर और तुलसी दोनों ही ऐसे महाकवि हैं जिन्होंने अलंकारों का प्रयोग अलंकारों के लिए नहीं किया और न चमत्कार-प्रदर्शन या शब्द-क्रीड़ा के लिए किया है। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग जिस उद्देश्य से किया है, उसे शुक्लजी के अनुसार चार निम्न भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) भावों का उत्कर्ष व्यंजना में सहायक ;

(२) वस्तुओं के रूप (सौंदर्य, भीषणत्व आदि) का अनुभव तीव्र करने में सहायक ;

(३) गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक ;

(४) क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक।

दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि दोनों महाकवियों में अर्थालंकारों का ही प्रामुख्य है, शब्दालंकारों का नहीं।

गोस्वामीजी और सूरदासजी दोनों ने ही उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रचुर प्रयोग किया है।

तुलसी द्वारा प्रयुक्त 'विनयपत्रिका' में सांग रूपक का एक उदाहरण लीजिये—

"—सेइय सहित सनेह देह भरि, कामधेनु कल कासी।
मरजादा चहुँ ओर चरन वर, सेवत सुरपुर वासी॥
तीरथ सब सुभ अंग, रोम सिव लिंग अमित अविनासी।
अन्तर नयन अयन भलथन फल, वच्छ वेद विश्वासी॥
गल कंवल करुना विभाति, जनु लूय लसित सरिता सी।
लोल दिनेश त्रिलोचन लोचन, करन घट घंटा सी॥"

रूपक का इतना सुन्दर निर्वाह भाव-तीव्रता के लिए तुलसी ने किया है—

"—आश्रम सागर संतरस, पूरन पावन पाथ।
सेन मनहुँ करुना सरित, लिए जाहिं रघुनाथ॥
बोरति ग्यान विराग करारे।
वचन ससोक मिलत नद नारे॥
सोच उसास समीर तरंगा।
धीरज तट तरुवर कर भंगा॥
विषम विषाद तुरावति धारा।
भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा॥

अध्याय ७

# विनयपत्रिका में भक्ति और कला

यह तो निर्विवाद है कि तुलसी भक्त पहले थे, कवि बाद में। पूरे तुलसी-साहित्य ही में यों तो भक्ति का अनन्त और अगाध समुद्र हिलोरें ले रहा है किन्तु 'विनयपत्रिका' में उसकी गहराई, आकर्षण और प्रभ-विष्णता अलौकिक है। अपने अन्य ग्रन्थों में कथा या रामचरित-कीर्तन के माध्यम से ही तुलसी ने अपने हृदय की भक्ति प्रकट की है, किन्तु लगता है कि उसमें उनको सन्तोष नहीं हुआ क्योंकि प्रबन्धकाव्य में तो काव्य के बन्धन प्रमुख हो जाते हैं, इसलिए उनके प्रति सजग रहने के कारण भक्ति का आवेश मंदगामी हो जाता है, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? तुलसी तो अपने हृदय की प्रेमवेदना और भक्ति को बिना किसी आवरण और कथा के व्यक्त करना चाहते थे। शायद इसी कारण ने 'विनय-पत्रिका' को जन्म दिया है। तुलसी-साहित्य में तुलसी की वैयक्तिक भावनाएँ, उनकी भक्ति, उनका दैन्य, उनके हृदय की वेदना, उनकी अकिंचनता जितनी 'विनयपत्रिका' में उभर कर आई है, उतनी उनके अन्य ग्रन्थों में नहीं। सच तो यह है कि 'विनय-पत्रिका' में तुलसी ने अपने कवि का चोगा उतार फेंका है और केवल भक्ति के रूप में ही ये उसमें प्रकट हुए हैं। यह दूसरी बात है कि उनकी वशवर्ती वाणी ने सदैव ही उनके इशारे पर अपना कर्तव्य-पालन किया है। तुलसी के भाषाधिकार ने उनकी भक्ति को बड़ा ही नुकीला, मार्मिक और तल्लीनता के महान् गुण से युक्त कर दिया है। 'विनयपत्रिका' के पदों में तुलसी ने अपना अन्तर निकाल कर रख दिया है। उन्होंने अपने हृदय की वेदना को संगीत और काव्य में पिरो दिया है तो संगीत और काव्य सचमुच धन्य हो गये हैं। 'विनयपत्रिका' भक्ति, संगीत और काव्य की शीतल त्रिवेणी है जिसमें अवगाहन कर पाठक भवताप से मुक्त होकर अकथनीय शान्ति एवं सन्तोष-लाभ करता है।

वास्तव में कलापक्ष और भावपक्ष की दृष्टि से विचार करना एक लकीर पर चलना भर है क्योंकि 'विनयपत्रिका' काव्य-चमत्कार के लिए लिखी ही नहीं गयी, वह तो अन्तर की गहराई को अभिव्यक्ति देती है तथापि यह भी सच है कि उसका एक-एक पद काव्य की अमर सम्पत्ति है।

'विनयपत्रिका' में तुलसी ने राम को एक चिट्ठी या पत्रिका लिखी है जिसमें अपनी सब कठिनाइयों का वर्णन करते हुए, अपने सब पापों और कमजोरियों का वर्णन करते हुए, अपने तारने की प्रार्थना की है, न्याय नहीं कृपा की आकांक्षा की है।

तुलसी ने पत्रिका तो लिख ली है किन्तु राम के पास पहुँचाई कैसे जाय। राम तो सम्राट् हैं, इसलिए पत्रिका सीधी तो उनके पास जा नहीं सकती। उसके जाने का निश्चित मार्ग है, पूर्वनिश्चित पद्धति है, लेकिन राम के पास तो सारे संसार की सुरक्षा का काम रहता है, उन्हें अवकाश भी कहाँ होगा। ऐसा न हो कि पत्रिका उनके पास पहुँचे और वे उसे बिना पढ़े रद्दी की टोकरी में डाल दें। जब तक तुलसी का जिक्र पहले से न चलाया जायगा तब तक राम को पता ही क्या लगेगा कि यह पत्रिका किसकी है। इसके लिए तुलसी बड़े कौशल से माँ जानकी की खुशामद करते हैं कि माँ कभी उचित अवसर देखकर मेरी भी चर्चा चला देना। आपकी बात प्रभु सुन भी लेगें, मेरा उद्धार हो जायगा और आपके इस आभार को मैं कभी भूलूँगा नहीं—

"—कबहुक अंब अवसर पाइ।
मेरियौ सुधि द्यायबी, कछु करुन कथा चलाइ॥
दीन सब अंग हीन, छीन मलीन अघी अघाइ।
नाम तैं भरै उदर एक, प्रभु दासी दास कहाइ॥"

राम यह सब बात सुनकर आप से पूछेंगे—"यह कौन आदमी है"? तब आप मेरा नाम और दशा प्रभु को बता दें—

"—बूझि हैं 'सो है कौन' कहबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिबौ बनि जाइ॥
जानकी जग जननि जनकी किये बचन सहाइ।
तरै 'तुलसीदास' भव तव नाथ-गुन-गन गाइ॥"

वास्तव में बात यह है कि प्रभु की आदत कुछ भूल जाने की है, वे बड़े से बड़ा उपकार करके भी भूल जाते हैं। इसलिए मुझे डर है कि कहीं मुझे भूल न जाँय। यह तो आप जानती हैं कि मेरे वे ही एक अवलम्ब हैं, मैं मन, वचन, कर्म से उन्हीं का भजन अहर्निश करता हूँ—

"—सरल प्रकृति आपु जानिए करुनानिधान की।
निज गुन अरिकृत अनहितौ, दास दोष सुरति॥
चित रहत न दिये दान की।
बान बिसारन शील है मानह अमान की॥
तुलसीदास न बिसारिए, मन करम वचन जाके।
सपनेहु गति न आनकी॥"

किन्तु अभी सबसे पहले बड़ी कठिनाई शेष है, पत्रिका को राम के सामने

उपस्थित कौन करे ? कौन इतने छोटे और पापी आदमी की पत्रिका को राम के सामने रखना चाहेगा । तुलसी हनुमान, भरत, लक्ष्मण आदि सभी से इसके लिए प्रार्थना करते हैं—

"—पवन सुवन ! रिपु-दवन ! भरतलाल ! लखन दीन की ।
निज निज अवसर सुधि किए बलि जाऊँ ।।
दास आस पूजि है खासखीन की ।
राज द्वार भली सेवक हैं साधु समीचीन की ।।
सुकृत-सुजस साहिब कृपा, स्वारथ परमारथ ।
गति भये गति विहीन की ।।
समय सभाँरि सुधारिबी तुलसी मलीन की ।
प्रीति रीति समुझाइबी नत लाल कृपालुहि ।।
परिमित पराधीन की ।"

भगवान् श्रीराम का दिव्य दरबार लगा है । प्रभु जगज्जननी श्री जानकीजी के सहित अलौकिक रत्नजटित सिंहासन पर विराजमान हैं । हनुमानजी प्रेममग्न हुए नाथ की ओर अन्यय दृष्टि से निहारते हुए चरण दबा रहे हैं । भरतजी, लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी अपने-अपने अधिकारानुसार सेवा में संलग्न हैं । उसी समय तुलसी की 'विनयपत्रिका' पहुँची । तुलसी की प्रार्थना सबको याद थी ही । भक्तवत्सल्य हनुमान और भरत ने धीरे से लक्ष्मण से कहा कि बड़ा अच्छा मौका है, इस समय तुलसी की बात छेड़ देनी चाहिए । लक्ष्मणजी ने प्रभु का रुख देख 'विनय-पत्रिका' उनकी सेवा में पेश करदी । प्रभु ने मुस्करा कर कहा—हाँ, सत्य है, मुझे इसकी खबर पहले ही मिल गयी है और ऐसा कह कर उन्होंने 'विनयपत्रिका' पर 'सही' या 'स्वीकृत' लिख दिया । तुलसी की मनोकामनापूर्ण हो गयी—

"—मारुत-मन रुचि भरत की लखि लषन कही है ।
कलि कालहु नाथ नाम सों परतीत प्रीति ।
एक किंकर की निवही है ।।
सकल सभा सुनि लैउठी जानि रीति रही है ।
कृपा गरीब निवास की देखत गरीब को ।
साहब बाँह गही है ।।
बिहँसि राम कह्यो—"सत्य है सुधि मैंहू लही हैं ।
मुदित माथ नावत, गनी तुलसी अनाथ की ।।
परी रघुनाथ हाथ सही है ।"

'विनयपत्रिका' में तुलसी ने अपने भाव गीतों में प्रकट किये हैं । गीत-काव्य की दृष्टि से भी 'विनयपत्रिका' हिन्दी-साहित्य में शीर्षस्थान की अधिकारिणी

है। "—भाव लहरी जब हृदय के मानसरोवर में तरंगित होती है तब आत्माभिव्यक्ति एक अदम्य आवश्यकता बन जाती है और गीतों को जन्म देती है।" महादेवी वर्मा ने एक स्थान पर उचित ही कहा है—"साधारणतः गीत व्यक्ति-गतिसीमा में तीव्र सुख-दु:खात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"

'विनयपत्रिका' में उपर्युक्त विशेषता पूर्णतः पाई जाती है। बाबू गुलाबराय के अनुसार गीतकाव्य की निम्नांकित विशेषताएँ होती हैं—

(१) आत्माभिव्यक्ति ;
(२) विचारों की एकरूपता ;
(३) संगीत ;
(४) संक्षिप्तता।

"—ये सब लक्षण 'विनयपत्रिका' में हैं। गोस्वामीजी का अपना प्रतिनिधित्व लोक की अपेक्षा इसमें अधिक है। 'विनयपत्रिका' में लोकपक्ष के होते हुए भी निजीपन और वैयक्तिकता, जो गीतकाव्य की जान है, अधिक है। दासभाव की भक्ति के पद इसमें हैं। सभी पद भावानुकूल रागों में बँधे हुए हैं।

'विनयपत्रिका' की विशिष्टता बताते हुए बाबू गुलाबराय लिखते हैं—

"—वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में तुलसी की विनयपत्रिका अन्य गीतकाव्यों से भिन्न है। 'गीतगोविन्द' में भाव की अपेक्षा कला (अभिव्यक्ति कौशल) अधिक है। विद्यापति तथा चण्डीदास में भी यही बात है। भक्ति होते हुए भी वे शृंगारी अधिक थे। कबीर में यद्यपि भावाभिव्यक्ति है पर वह दीनता और अपने दोषों की आत्म-स्वीकृति नहीं है जो गोस्वामीजी में है। सूर को तुलसी की अपेक्षा अपने सम्प्रदाय का संरक्षण अधिक मिला था, अतः उनके पदों में तुलसी जैसी आर्तता नहीं है।"

"—विनयपत्रिका में उत्कृष्ट काव्य के जहाँ सभी लक्षण उपलब्ध हैं, वहाँ भक्ति का तो निश्चयतः वह सर्वोत्कृष्ट गीत-ग्रन्थ है।"

'विनयपत्रिका' में शान्त रस ही सर्वत्र व्याप्त है जिसका स्थायीभाव निर्वेद है। देखिये—

"—सुत बनितादि जानि स्वारथ रत।
न कर नेह सब ही तें॥
अन्तहु तोहि तजेंगे पामर।
तू न तज अब ही तें॥"

"—विनयपत्रिका में भगवान राम आलम्बन हैं। अतः राम की शील, शक्ति, सौंदर्य आदि दैवी विभूति का तुलसी ने प्रचुर वर्णन किया है—

(१) शील—"—निजगुन अरिकृत अनि हितौं, दासदोष,
सुरति चित न रहत दिये दान की।"

(२) शक्ति—"—दनुज-वन-धूम-धुज, पीन आजानु भुजदण्ड,
कोदण्ड वर चण्ड बान।

(३) सौंदर्य—"—कंदर्प अगणित अमित छवि नव नील नीरद सुन्दरम्।"

जहाँ तक उद्दीपनों का सम्बन्ध है, राम के कमलचरणों से पवित्र चित्रकूट जैसी स्थली तथा पापों का नाश करने वाली, कलयुग में कामधेनु के समान काशी आदि का तुलसी ने 'विनयपत्रिका' में बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। साथ ही, संसार के पराङ्मुख रहने में सहायता करने वाले सतसंग का भी तुलसी ने आकर्षक वर्णन किया है जो उद्दीपकों के अन्तर्गत ही आयगा—

"—देहि सत संग श्री रंग भव भंग कारक सरन सो कहारी।"

'विनयपत्रिका' में शान्त रस के संचारी, दैन्य, सन्तोष आदि का प्रचुर वर्णन किया गया है। अनुभावों की भी 'विनयपत्रिका' में कोई कमी नहीं है। देखिये—

"—सजल नयन गद् गद् गिरा, गह्वर मन पुलक सरीर।"

यद्यपि अन्य रसों का स्वतन्त्र वर्णन तो 'विनयपत्रिका' में नहीं किया गया क्योंकि इसकी तो आवश्यकता भी इसमें नहीं थी, किन्तु संचारीरूप में रौद्र, अद्भुत, भयानक, वीर, करुण आदि रसों का वर्णन मिल जायगा। अद्भुत रस का एक उदाहरण लीजिये—

"—केशव कहि न जाइ का कहिए।
देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनहिं मन रहिए॥
सून्य भीत पर चित्र रंग नहि तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोऐ मिटइन मरइ मरति, दुःख पाइय एहि तनु हेरे॥
रवि कर नीर बसै अति दारुन, मकर रूप तेहि माहीं।
वदन हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं॥"

भयानक और वीर रस का एक-एक सम्मिलित उदाहरण देखिये—

"—तकि है तमकि ताकी ओरे को।
जाको है सब भाँति भरोसो, कपि केसरी किसोर को॥
जन रंजन अरिगन गंजन मुख भंजन खल बल जोर को।
वेद-पुरान-प्रकट पुरुसारथ, सकल सुभट सिरमौर को॥
उथपे थपन, थपे उथपन पन, विबुध वृंद बँदि छोर को।
जलधि लाँघि दहि लंक प्रबल बल, दलन निशाचर घोर को॥
जाको बाल विनोद समुझि जिय, डरत दिवाकर भोर को।
जाकी चिबुक चोट चूरन किय, रहमद कुलिस कठोर को॥"

इसी प्रकार अन्य रसों के उदाहरण भी प्रासंगिक रूप से मिल जायेंगे, सबके उद्धरण देने से निबन्ध का कलेवर व्यर्थ ही बढ़ेगा।

ऊपर कहा जा चुका है कि 'विनयपत्रिका' का मुख्य वर्ण्य-विषय तो भक्ति है। भक्ति ही 'विनयपत्रिका' का भावपक्ष है।

तुलसी को अपने पुरुषार्थ पर इतना भरोसा नहीं है जितना राम-कृपा पर। अपने पुरुषार्थ से भला कब कौन तरा है—

"—करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं जब लगु करहु न दाया।"

तुलसी भक्ति को भी साध्य मानते हैं। भक्ति से परे रहा भी क्या जाता है? तुलसी ने 'विनयपत्रिका' में स्पष्ट लिखा है—

"—चहौं न संगति सुमति, संपति कछु।
रिधि सिधि विपुल बड़ाई॥
हेतु रहित अनुराग राम पद।
बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥"

यदि भक्ति में गोस्वामीजी को सफलता नहीं मिली तो इसमें उनको कोई हानि नहीं है, राम को ही बदनामी होगी। इस व्यंग्योक्ति का साहित्यिक मूल्यांकन कर देखिये, इतनी मधुर व्यंग्योक्ति अन्यत्र मिलना कठिन है—

"—बिगरे सेवक स्वान ज्यों साहृब सिर गारो।"

भगवान की भक्ति मिल जाय तो सब कुछ मिल गया। धर्म भी उसके सामने कुछ नहीं, काम भी कुछ नहीं और मोक्ष भी कुछ नहीं—

"—मोको अगम सुगम तुमको प्रभु।
तउ फल चारि न चहियों॥
खेलिबे को खग मृग किंकर ह्वै।
रावरो राम हौं रहि हौं॥"

जब तक भगवान की कृपा नहीं होगी, भक्ति मिलेगी नहीं और जब तक भक्ति नहीं मिलेगी तब तक मन का मैल साफ नहीं होगा—

"—तुलसीदास व्रत, दान, ज्ञान, तप सिद्ध हेतु श्रुति गावै।
राम चरन अनुराग नीर बिनु, मल अति नास न पावै॥"

कुछ लोगों का कहना है कि तुलसी में सूर जैसी अनन्यता नहीं है। यदि तुलसी-साहित्य में 'विनयपत्रिका' न होती तो शायद उनकी बात ठीक होती, पर 'विनयपत्रिका' के रहते यह बात युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। देखिये, तुलसी की इस अनन्यता का जोड़ कहाँ मिलेगा—

"—प्रन करि हौं हठि आजुतें राम द्वार परयो हौं।
तू मेरा यह बिन कहे उठिहौं न जनम भरि।
प्रभु की सौं करि निवार्यो हौं॥
दै दै धक्का जमभट थके टारे न टर्यो हौं।

उदर दुसह सौसत सही बहु वारि जनमि जग।
नरक निदरि निकरयौ हौं।
हौं मचला लै छाड़िहौं जेहि लागि अरयौ हौं।
तुम दयालु बनि हैं दिये, बलि विलम्ब न कीजिये।
जात गलानि गरयौ हौं।।
पगट कहत जो सकुचिये अपराध भरयौ हौं।
तौ मन में अपनाइये तुलसी रहे कृपा करि।
कलि विलोकि दहरयौ हौं।।"

'विनयपत्रिका' में अपराधों की स्वीकृति, दीनता, अकिंचनता आदि की भावना जितनी उभर कर आई, शायद सूर में भी वैसी नहीं है। 'विनयपत्रिका' के पदों में जो तल्लीनता, मार्मिकता एवं कवित्व है, वह सचमुच उसे अद्वितीय काव्य की श्रेणी में रख देता है। देखिये, तुलसी के निम्नांकित पद में दीनता जितनी उभर कर आई है, सूर में भी उतनी दीनता मिलना कठिन है—

"—माधव ! मो समान जग मांही।
सब विधि हीन मलीन दीन अति, लीन विषय कोउ नाहीं।।
तुम सम हेतु रहित कृपालु आरतहित ईस न त्यागी।
मैं दुख-सोक-बिकल कृपालु ! केहि कारन दया न लागी।।
नाहिन कछु औगुन तुम्हार, अपराध मोर मैं माना।
ग्यान भवन तनु दियेहु नाथ, सोउ पाय न मैं प्रभु जाना।।
वेनु करीव श्रीखंड वसंतहि, दूषन मृषा लगावै।
सार रहित हत भाग्य सुरभि, पल्लव सो कछु किमि पावै।।
सब प्रकार मैं कठिन मृदुल हरि, लउ विचार जिय मोरे।
तुलसीदास प्रभु मोह सृंखला छुटहिं तुम्हारे छोरे।।"

तुलसी राम से यह नहीं कहते कि मैं बड़ा धर्मात्मा सन्त और ज्ञानी हूँ, इसलिए मुझे तार दीजिए अपितु अपनी सारी कमजोरियों के साथ उनके सामने आत्म-समर्पण कर देते हैं। इतनी तल्लीनता, भावुकता, भक्ति और भगवत्प्रेम सचमुच विरल है। यदि अनन्यता हो तो ऐसी हो—

"—खोटो खरो रावरो हौं, रावरी सौं।
रावरे सौं झूटो क्यों कहौंगो।
जानो सवही के मन की।।
करम वचन हियें कहौं न कपट किये।
ऐसी हठ जैसी गाँठि।
पानी परे सन की।।

दूसरे भरोसो नाहिं, वासना उपासना की।
वासव विरंचि।
सुरवर मुनि गन की॥
स्वारथ के साथी मेरे, हाथी स्वान लेवा देई।
काहू तो न पीर।
रघुवीर दीन जानकी॥
साँप सभा सावर लवार भए, देव दिव्य।
दुसह साँसति कीजै।
आगे ही या तन की॥
साँचे परो पाँऊ पान पँच में पन प्रमान।
तुलसी चातक आस।
राम स्याम घन की॥"

इसी प्रकार 'माधव मो सम मन्द न कोऊ' ; 'मेरो मन हरिजू हठ न तजै' ; 'माधव अब न द्रवहु केहि लेखे' ; 'हरि तजि और भजिए काहि' ; 'है प्रभु मेरोई सब दोसु' ; 'यह बिनती रघुवीर गुसाईं' ; 'लाज न लागत दास कहावत' ; 'तुम जाते हौं कासों कहौं' ; 'आपनो कबहुँ करि जानि हौं' ; 'कबहुक अम्ब अवसर पाइ' ; 'देउँ कैसे नाथहिं खोरि' ; 'जाउँ कहाँ ठौर है कहाँ' ; 'जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे' आदि पदों में तुलसी ने अपना हृदय खोल कर रख दिया है। वे अपनी सभी कमजोरियों के सहित प्रभु के सामने उपस्थित हो गये हैं। इन पदों से टक्कर लेने वाले पद हिन्दी में अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं है।

'विनयपत्रिका' में काव्य-गुणों की भी कोई कमी नहीं है, परन्तु यह स्मरणीय है कि वे कवि के अभिप्रेत नहीं हैं। तुलसी के काव्य का चमत्कार दिखाने के लिए 'विनयपत्रिका' लिखी भी नहीं है। किन्तु भाव और भाषा के उस सम्राट् ने जो कुछ लिख दिया है, वही काव्य हो गया है और ऐसा, जिसका जोड़ ढूँढ़े नहीं मिलता। उनकी निम्नांकित दो ही पंक्तियाँ भाव और भाषा की दृष्टि से अद्वितीय हैं—

"—अम्ब कबहुक अवसर पाइ।
मेरियो सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ॥"

बात कहने का कितना शिष्ट, करुण, दीन, भावपूर्ण और मनोवैज्ञानिक ढंग है। अलंकारों की भी 'विनयपत्रिका' में कमी नहीं है। यह स्मरणीय है कि वे 'विनयपत्रिका' में भावों को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए चमत्कार-सृजन के लिए नहीं।

काव्य में प्रभाव-सृष्टि के लिए विरोधी वस्तुओं की तुलना अत्यन्त उपयुक्त होती है। देखिये—

(१) "—परि हरि राम भगति सुर सरिता, आस करत ओसकन की।"
(२) "—हरि चरन कमल नौका तजि फिर-फिर फेन गह्यो।"
(३) "—परम कठिन भव व्याल ग्रसित हौं त्रसित भयो अति भारो।"
चाहत अभयभेक सरनागति खग पति नाथ बिसारी।"

'विनयपत्रिका' में सांग रूपक तो जाने कितने भरे पड़े हैं। सांग रूपक कवित्त की कसौटी होते हैं। साधारण कवि सांग रूपकों से बचते हैं क्योंकि अन्त तक उनका निर्वाह जरा टेढ़ी खीर होती है। 'विनयपत्रिका' का एक सांग रूपक देखिये—

"—विषय वारि मन मीन, भिन्न नहिं होत कबहुं पल एक।
कृपा डोरि वंसी पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो।
यहि विधि वेधि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो।।"

'विनयपत्रिका' में ऐसी अनेक मौलिक उपमाएँ भरी पड़ी हैं जो उत्कृष्ट काव्य के लिए भी 'शृंगारस्वरूप' होती हैं और जो 'विनयपत्रिका' के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलतीं—

(१) "सुखद अपनो सो घर है।"
(१) "गाड़ी के स्वान ज्यों।"
(३) "जैसे गाँठ पानी परे सनको।"
(४) "तिजोरी को सो टोटका।"

अनुप्रासयुक्त प्रतीप अलंकार का एक उदाहरण लीजिये—

"—कुलिस कुन्द, कुडमल दामिनि दुति दसनन देखि लजाई।"

क्रम अलंकार का चमत्कार देखिये—

"—सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि, यह मन कीने करियाई।
त्यागन गहन उपेछनीय अहि, हाटक तृन की नाई।।"

तथा

"—धेनु करील श्रीखंड बसंतहि भूषन मृषा लगाये।
सार रहित हत भाग्य सुरभि पल्लव सो कहु किमि पावे।।"

अनुप्रास की बहार एक पंक्ति में देखिये—

"—दीन दुख दमन श्री रमन करुना भवन पतित पावन वेद विरद गायो।"

तथा

"—पानी पुण्य पीन को।"

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि 'विनयपत्रिका' भक्ति का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ तो है ही साथ ही भाव और भाषा के मणिकांचनसंयोग के कारण वह साहित्य की भी अद्वितीय कृति है और तुलसी, जो हिन्दी-साहित्य के गौरव हैं, 'विनयपत्रिका' उनको भी गौरव प्रदान करती है।

———

अध्याय ८

# महाकवि जायसी और उनकी काव्यकला

जायसी निस्सन्देह रससिद्ध कवि हैं। किसी कवि की महानता देखने के लिए हमें उसके काव्य के सुविधा के लिए दो भाग कर लेने चाहिए—(१) भावपक्ष और (२) कलापक्ष और इन दोनों के आधार पर कवि की कवित्व-शक्ति की परीक्षा करनी चाहिए।

यों तो जायसी ने तीन ग्रन्थ लिखे हैं, परन्तु उनकी अक्षय कीर्ति का आधार पद्मावत ही है। अतः हम भी जायसी की कवित्व-शक्ति की परीक्षा पद्मावत के आधार पर ही करेंगे।

(१) भावपक्ष

पद्मावत जीवन की विविधता से युक्त एक महान् ग्रन्थ है और जायसी का जीवन-सम्बन्धी मनन, लोक-निरीक्षण एवं उनकी कवित्व-शक्ति इसी ग्रन्थ से बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किसी भी महान् कवि के लिए दो गुणों का होना अनिवार्य बताया है—

(अ) कवि में ऐसी भावुकता होनी चाहिए कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव कर सके।

(आ) मानव-प्रकृति जितने अधिक रूपों के साथ कवि के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हो, उतना ही अच्छा है।

तीसरी बात जो कवि के विषय में कही जा सकती है, वह है रससिद्धता, अर्थात् कवि प्रत्येक रस का सफलतापूर्वक वर्णन कर सके।

चौथी और अन्तिम बात यह है कि कवि का भाषा पर इतना अधिकार हो कि वह जो कुछ कहना चाहता है, इतने अधिक चमत्कारपूर्ण ढंग से कह सके कि पाठक के हृदय पर उसका प्रभाव दूना पड़े।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर हम जायसी की कवित्व-शक्ति की परीक्षा करेंगे।

जायसी ने पद्मावत में मानव-हृदय की प्रत्येक स्थिति का वर्णन किया है।

रत्नसेन जब सिंहलद्वीप जाने लगता है तो नागमती के हृदय की वेदना को चित्रित करने में कवि ने अपनी सहृदयता का परिचय दिया है। यह स्थल अत्यन्त मार्मिक और स्वाभाविक है। जायसी जैसा कवि ही ऐसा मार्मिक वर्णन कर सकता था—

"—रोवँ नागमति रनिवासू।
केइ तुम्ह कन्त दीन्ह बनवासू॥
अब को हमहिं करहि भोगिनी।
हमहू साथ होइब जोगिनी।
कैं हम लावहु अपने साथा।
कैं अब मारि चलहु सैं हाथा॥
तुम्ह अस बिछुरे पिऊ पिरीता।
जहवाँ राम तहाँ संग सीता॥
जौलहि जिउ संग छाँड़न काया।
करिहौं सेव परवरिहौं पाया॥"

राजा जैसे ही घर से बाहर पैर रखता है कि सारी रानियाँ हाहाकार कर उठती हैं और अपने हाथ-पैर विक्षिप्तों की भाँति पीटने लगती हैं। उनके आभरण टूक-टूक हो जाते हैं। जायसी इन रानियों की मानस-दशा का अनुभव करते हैं और एक स्पष्ट चित्र उनके दुःख का हमारे सामने रखते हैं—

"—रोवहिं रानी तजहिं पराना।
फोरहिं वलय करहिं खरिआना॥
चुरहिं गिव अभरन औ हारू।
अब काकह हम करब सिंगारू॥
जाकहँ कहहिं रहसि कै पीऊ।
सोइ चला काकर यह जीऊ॥
मरै चहहिं पै मरै न पावहिं।
उठै आगि तब लोग बुझावहिं॥
घरी एक सुठि भएउ अँदोरा।
पुनि पीछे बीता होइ रोरा॥"
टूटे मन नव मोती फूटे मन दस काँच।
लीन्ह समेटि ओबरन होइगा दुःख कर नाच॥"

यह उद्धरण इस बात को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि जायसी में ऐसी सहृदयता तथा भावुकता थी कि वे अपने को प्रत्येक मानव-स्थिति में डालकर उसका अनुभव कर लेते थे। रत्नसेन और नागमती का विरह इस बात के उदाहरण हैं।

जायसी को मानव-प्रकृति का अच्छा अध्ययन था, इसलिए वे पद्मावत में अच्छे

चरित्र प्रस्तुत कर सके हैं। रत्नसेन, नागमती, पद्मिनी, राघव चेतन, अलाउद्दीन, गोरा-बादल आदि सबकी अलग अलग चारित्रिक विशिष्टताएं हैं। सबका अपना अलग-अलग व्यक्तित्व है जो पद्मावत में उभर कर आ सका है। चरित्रों की यह विविधता, व्यापकता, स्पष्टता तथा मार्मिकता तुलसी के रामचरित-मानस को छोड़कर हिन्दी में शायद ही अन्यत्र कहीं मिले। जायसी की ये विशेषताएं उन्हें साधारण कवियों से बहुत ऊंचा उठा देती हैं।

जो साधारण कवि हैं उनका सभी रसों पर समान अधिकार नहीं होता। उदाहरणार्थ, रीतिकाल के अधिकांश शृंगारी कवि शृंगार रस को छोड़कर और कुछ लिख ही नहीं सके। रससिद्धता की इस प्रतिद्वन्द्विता में तुलसी को छोड़कर जायसी से और किसी कवि की तुलना नहीं है। रससिद्धता ही वास्तव में कवि और कवित्व की कसौटी है क्योंकि रसों की विविधता, कवि-हृदय की भावुकता, उदारता, विशालता, लोक-निरीक्षण तथा कवित्व-शक्ति सभी को एक साथ स्पष्ट करती है। अब इस दृष्टि से जायसी पर विचार किया जाय।

शृंगार रसराज माना गया है। लौकिक दृष्टि से पद्मावत का मुख्य रस भी शृंगार रस ही है। शृंगार रस के दो पक्ष होते हैं—(१) संयोग शृंगार; (२) वियोग शृंगार। सुख और दुःख के दोनों पक्षों से मुक्त रहने के कारण शृंगार रस पूरे जीवन को अपने वृत्त में समेट लेता है। जो कवि शृंगार के दोनों पक्षों का समान सहृदयता, भावुकता और कुशलता से वर्णन कर सके, वह महाकवि की संज्ञा से अभिहित होने का सहज अधिकारी हो जाता है।

## जायसी का विरह शृंगार

शुक्लजी ने नागमती के विरह-वर्णन को हिन्दी संसार की अद्वितीय वस्तु कहा है। जायसी की यह प्रशंसा वास्तव में अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है, अपितु स्वाभाविक है। नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्य में वास्तव में अद्वितीय है। जायसी ने विरहिणी स्त्री के साथ तादात्म्य कर लिया है। इसलिए उनकी विरह-सम्बन्धी उक्तियां एवं वर्णन बड़े ही मार्मिक, स्वाभाविक और रसपूर्ण हैं। देखिये, वियोग में नागमती की क्या दशा है—

"—पिउ वियोग अस बाउर जीऊ।
पपिहा तस बोलै पिउ पीऊ॥
अधिक काम दाधै सो रामा।
हरि जिउ लै सो गयउ पिउ नामा॥
विरह बान तस लाग न डोली।
रकत पसीज भीज तन चोली॥
सखि हिय हेरि हार मन मारी।
हहरि परान तजै अब नारी॥

खिन एक आव पेट मँह स्वांसा ।
खिनहिं जाइ सब होइ निरासा ।।
पौनु डोलावहिं सींचहिं चोला ।
पहरक समुझि नारि मुख बोला ।।
प्रान पयान होत केहूँ राखा ।
को मिलाव चातक कै भाखा ।।"
आह जो मारी विरह की आगि उठी तेहि हांक ।
हंस जो रहा शरीर मँह पाँख जरे तन थाक ।।"

षट् ऋतुओं में तथा बारह विभिन्न महीनों में विरहणी नागमती की दुःख-दशा को जितना मार्मिक एवं भावपूर्ण वर्णन जायसी ने किया है, वह हिन्दी भाषा का शृंगार है। हिन्दी उससे गौरवान्वित हुई है और इसके लिए चौपाई और दोहों का क्रम बड़ा उपयुक्त सिद्ध हुआ है। चौपाइयों में प्रेम की या विरह की पीर एक धारा के रूप में मन्द बहती है और अन्त में दोहे में आकर वह उग्र, क्षुब्ध और तीव्रतर हो जाती है। इस दृष्टि से नागमती विरह-वर्णन का एक-एक दोहा विरह का एक-एक समुद्र है। कुछ दोहे देखिये जो जायसी की सहृदयता, भावुकता एवं कवित्व-शक्ति को स्पष्ट करते हैं—

"—विरह हस्ति तन सालै, खाइ करै तन चूर ।
बेगि आइ पिय बाजहु, गाजहु होइ सिन्दूर ।।"
× × ×
"—पिउ सौं कहेउ सँदेसड़ा, हे भौंरा हे काग ।
सोधनि विरहा जरि मुई, तेहिक धुँआ हम लाग ।।"
× × ×
"—यह तन जारौं छार कै, कहों कि पवन उड़ाव ।
मकु तिहि मारग होइ परौ, कंत धरैं जहँ पाँव ।।"
× × ×
"—कँवल जो विगसा मानसर, बिन जल गयउ सुखाय ।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै, जो पिउ सींचउ आय ।।"

नागमती का यह कथन उसके विरह-समुद्र की प्रचण्डता और असीमता का कुछ आभास देता है—

"—नहिं पावस ओहि देसरा, नहिं हेमंत बसंत ।
न कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कंत ।।"

नागमती का ही नहीं, जायसी ने पद्मिनी के विरह का भी बड़ा मार्मिक वर्णन किया है, किन्तु स्थिति की विशेषता एवं न्यायानुकूलता की दृष्टि से पाठक नागमती

के विरह में अधिक विभोर होता है। सच तो यह है कि नागमती के विरह की तुलना में हिन्दी का विरह-काव्य नागमती के विरह की जूठन है।

## जायसी का संयोग शृंगार

यों तो रत्नसिंह ने अपने जीवन का अधिकांश नागमती के साथ बिताया है और नागमती के चरित्र से यह स्पष्ट भी है कि वह रूप-गुण-गर्विता स्त्री है। इसलिए रत्नसिंह के प्रेम का कभी वह एकमात्र केन्द्र रही होगी, यह तो निश्चित है किन्तु जायसी ने नागमती और रत्नसेन के संयोग का मधुर वर्णन अधिक नहीं किया है। जायसी ने अपने सिद्धान्तों (सूफी) की दृष्टि से पद्मावती-रत्नसिंह संयोग-वर्णन को ही उचित समझा। इसमें सन्देह नहीं कि जायसी का संयोग-वर्णन उतना उत्कृष्ट, मार्मिक और हृदयग्राही नहीं जितना वियोग-वर्णन, फिर भी साधारण कवि संयोग-वर्णन में भी जायसी की कवित्व-शक्ति को नहीं छू सकते हैं। रत्नसेन आने वाला है, पद्मिनी के हर्षातिरेक को जायसी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"—अंग अंग सब हुलसे, कोई कतहूँ न समाइ।
ठावहि ठाँव विमोही, गइ मूरछा तन आइ॥"

जायसी मिलन-शैय्या का सुन्दर वर्णन करते हैं—

"—अति सुकुवाँर सेज सों डासी, छुवै न पारै कोइ।
देखत नवै खिनहि खिन, पाँव धरत कसि होइ॥"

प्रेम के तत्व से अनभिज्ञ मुग्धा पद्मिनी की यह चिन्ता कितनी मधुर और स्वाभाविक है—

"—बारि बैस गई, प्रीति न जानी।
तरुनि भई मैमंत भुलानी॥
जोवन गरब न मैं किछु चेता।
नेह न जानौं साम की सेता॥"

पद्मिनी को प्रिय-शैय्या पर चढ़ने में डर लगता है। नवोढ़ा स्त्री की हृदयस्थ भावनाओं का सुन्दर चित्र है—

"—हौं बारी औ दुलहिन, पीउ तरुन सह तेज।
ना जानौं कस होइहि चढ़त कंत के सेज॥"

जायसी ने पद्मिनी-रत्नसेन के रति-संग्राम का जो वर्णन किया है, वह अत्यन्त नग्न और स्पष्ट है। अश्लीलता की दृष्टि से उसकी आलोचना भी की जा सकती है, किन्तु संयोग शृंगार के उदाहरण के रूप में वह क्षम्य है—

"—टूटे अंग अंग सब भेसा।
छूटी मांग भंग भए केसा॥
कंचुकि चूर चूर भइ तानी।
टूटे हार मोति छहरानी॥

बारी टाँड सलोनी टूटी।
बाहू कंगन कलाई फूटी।।
चन्दन अंग छूट अस भेंटी।
बेसरि टूटि तिलक गा मेटी।।"

पिउ पिउ करत जो सूखि रहि, धनि चातक की भाँति।
परी जो बूँद सीप जनु, मोती होय सुख साँति।।"

रति के बाद की दशा का वर्णन कवि करता है—

"—सब निसि सेज मिला सब सूरू।
हार चीर वलया भए चूरू।।
सोधन पान चून भइ चोली।
रंग रँगली निरंग भइ भोली।।
अलक सुरंगिनि हिरदय परी।
नारंग छुव नागिन विष भरी।।
लरी मुरी हिय हार लपेटी।
सुरसरि जनु कालिंदी भेंटी।।
जनु पयाग अरइल बिच मिली।
सोभित बेंनो रोमावली।।"

संयोग का एक मार्मिक स्थल वहाँ आता है जहाँ समुद्र में बिछुड़ने के पश्चात् समुद्र-पुत्री लक्ष्मी की कृपा से रत्नसेन-पद्मिनी भेंट होती है। उस दशा का एक मार्मिक चित्र लेखक ने इन पंक्तियों में दिया है—

"—लेइ सो आइ पद्मावति पासा।
पानि पियावा मरत पियासा।।
पानी पिया कँवल जस तपा।
निकसा सूरज समुद्र महँ छपा।।
जानहु सूर कीन्ह परगासू।
दिन बहुरा भो कँवल बिगासू।।
कँवल जो विहँस सूर मुख दरसा।
सूरज केवल दृष्टि सौं परसा।।
लोचन कँवल सिरी मुख सूरू।
भयउ अनन्द दुहूँ रस मूरू।।
मालति देखि भँवर गा भूली।
भँवर देखि मालति वन फूली।।"

पाँह परी धनि पीउ के, नैनन सो रज मेटि।
अचरज भयउ सबन कँह, भइ ससि कँवलहि भेंट।।"

इसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। अब जायसी के द्वारा वर्णित अन्य रसों का दिग्दर्शन किया जाय।

### वीर रस

पद्मावत में शृंगार रस के बाद यदि किसी रस का सुन्दर एवं स्वाभाविक वर्णन है तो वह वीर रस है। रत्नसेन-देवपाल युद्ध, गोरा-बादल युद्ध आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। जायसी को वीर रस वर्णन में पूर्ण सफलता मिली है। उन्होंने युद्ध-वर्णन में द्वन्द्व युद्ध, सामूहिक युद्ध आदि सभी प्रकार के युद्धों के वर्णन सफलता-पूर्वक किये हैं। गोरा-बादल युद्ध-वर्णन का एक शब्द-चित्र देखिये—

"—भै बगमेल सेल घन घोरा।
औ गज पेल अकेल सो गोरा।।"
× × ×
"—जैसे पतंग आग धँसि लेही।
बाग न मुएँ दोसर जिउ देही।।
टूटहिं सीस अधर धर मारे।
लोटहिं कंध कबंध निनारे।।
कोई परहि रुहिर होइ राते।
कोइ घायल घूमहि जल माते।।
एक घरी भा भारथ, भा असवारन्ह मेल।
जूझि कुँवारे सब बीते, गोरा रहा अकेल।।"

इसी प्रकार भयानक रस, वीभत्स रस आदि के अनेक उदाहरण इस युद्ध से दिये जा सकते हैं जिसका सफल वर्णन जायसी ने किया है। उद्धरण पद्मावत से लिए जा सकते हैं—

गोरा का रौद्ररूप देखिये—

"—हौं कहिए धौलागिरि गोरा।
टरौं न टारे अंग न मोरा।।
सोहिल जैसे गगन उपराहीं।
मेघ छटा मोहि देख बिलाही।।"

### वात्सल्य रस

बादल की माँ बादल से युद्ध-स्थल में जाते समय कहती है—

"—बादल केरि जसोवै माया।
आइ गहेसि बादल कर पाया।।
बादलराय! मोर तुइ बारा।
का जानसि कस होइ जुझारा।।"

जहाँ दलपति दल मरहिं, तहाँ तोर का काज।
आज गवन तोर आवै, बैठि भानु सुखराज।।"

करुण रस

पद्मावती सिंहल से विदा हो रही है। अब लौट कर कौन आता है ? माता-पिता सभी रोते हैं—

"—रोवहि मात पिता औ भाई।
कोउ न टेक जो कंत चलाई।।
रोवहिं सब नैहर सिंघला।
लेइ बजाय के राजा चला।।
तजा राज रावन का केहू।
छाँड़ा लंक विभीषण लेहू।।
भरी सखी सब भेंटत फेरा।
अन्त कंत सौं भयउ गुरेरा।।"

उपरोक्त उद्धरणों से सिद्ध है कि जायसी रससिद्ध कवि हैं।

(२) कलापक्ष—

भाषा, छन्द, अलंकार

जायसी ने अपने काव्य के लिए दोहा-चौपाई पद्धति चुनी, जिस पद्धति ने कि आगे चलकर रामचरित-मानस जैसे विश्व-विख्यात ग्रन्थ का मार्ग प्रशस्त किया। दोहा-चौपाई में सभी रस व्यक्त किये जा सकते हैं और वर्णन की दृष्टि से भी दोहा-चौपाई अधिक उपयुक्त है। जायसी की भाषा भावानुकूल है। शृंगार का वर्णन करते समय उनकी भाषा अत्यन्त कोमल हो जाती है, जैसे पद्मिनी के रूप-वर्णन के स्थलों या नागमती के विरह-वर्णन तथा युद्ध आदि के प्रसंगों में वह परुष और संयुक्ताक्षर प्रधान हो जाती है, जैसे कि गोरा-बादल युद्ध-खण्ड में।

जायसी ने अलंकारों का प्रयोग काव्य-प्रभाव एवं काव्य-सौन्दर्यवर्द्धन के लिए किया है। अलंकारवादी वे नहीं थे, अतः अलंकारों के लिए अलंकारों का प्रयोग उन्होंने कहीं नहीं किया। वर्णन करने में यदि अलंकार आ गये तो आ गये, नहीं तो जायसी ने जानबूझकर अलंकारों के उदाहरण नहीं प्रस्तुत किये हैं। जायसी में अर्थालंकार ही अधिक मिलते हैं और अर्थालंकार में भी रूपक, उपमा और उत्पेक्षा तथा इन सब में भी उत्प्रेक्षा जायसी का सर्वाधिक प्रिय अलंकार है। अलंकारों के उदाहरण पद्मावत में से लिये जा सकते हैं। निबन्ध का कलेवर अधिक बढ़ने के भय से यहाँ उदाहरण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जायसी का ध्यान भावों पर अधिक रहता है और भाषा उनके भावों का अनुगमन करती हुई चलती है। अवधी पर जायसी का अद्वितीय अधिकार है। कहीं ऐसा नहीं लगता कि उनका काव्य प्रयत्नज है या वे तुक ढूंढ़ने में भावों का सौन्दर्य नष्ट करते हैं। भाषा सदा ही उनकी आज्ञाकारिणी रही है।

इस प्रकार कलापक्ष और भावपक्ष दोनों पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जायसी इसी श्रेणी के कवि हैं जिस श्रेणी के सूर और तुलसी हैं। जीवन की विविधता तो जायसी में तुलसी को छोड़कर सबसे अधिक है और शायद रामचरित-मानस को छोड़कर पद्मावत हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। अतः यह स्पष्ट ही है कि जायसी उन्हीं कवियों में से हैं जिनके विषय में कहा गया है—

"—जयन्ति ते सुकृतनो रससिद्धा कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजंभयम् ॥"

---

अध्याय ९

# महाकवि केशव

केशव हिन्दी में 'कठिन काव्य के प्रेत' के रूप में प्रसिद्ध हैं। हिन्दी के पाठक उन्हे हृदयहीन कवि के रूप में पहिचानते हैं। यों तो इन दोनों रूपों में केशव को हिन्दी जगत के समक्ष उपस्थित करने का उत्तरदायित्व पं० रामचन्द्र शुक्ल पर है। शुक्लजी केशव को सहृदय कवि नहीं मानते। उनका कहना है—

"—केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था। उसमें वह सहृदयता और वह भावुकता न थी जो कवि में होनी चाहिए। वे संस्कृत-साहित्य से सामग्री लेकर अपने पाण्डित्य और रचना-कौशल की धाक जमाना चाहते थे, पर इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए वैसा उन्हें प्राप्त न था। अपनी रचनाओं में उन्होंने अनेक संस्कृत-काव्यों की उक्तियाँ लेकर भरी हैं, पर उन उक्तियों को स्पष्टरूप से व्यक्त करने में उनकी भाषा बहुत कम समर्थ हुई है। पदों और वाक्यों की न्यूनता, अशक्त फालतू शब्दों के प्रयोग और सम्बन्ध के अभाव आदि के कारण भाषा भी अप्रांजल और उबड़-खाबड़ हो गयी है और तात्पर्य भी स्पष्टरूप से व्यक्त नहीं हो सका है। केशव की कविता जो कठिन कही जाती है उसका प्रधान कारण उनकी यही त्रुटि है, उनकी मौलिक भावनाओं की गम्भीरता या जटिलता नहीं है।"

केशव ने, इसमें सन्देह नहीं कि शृंगार रस का बहुत अच्छा वर्णन किया है। राज दरबार में रहने के कारण उनकी रसिकता भी उसी प्रकार की थी। वृद्ध होने पर भी उन्हें 'बाबा' कहलाना पसन्द नहीं था। उनके विषय में यह दोहा अत्यन्त प्रसिद्ध है—

"—केसव केसन अस करी, बैरिहु जस न कराहिं।
चन्द्र वदन मृगलोचनी, 'बाबा' कहि कहि जाहिं॥"

इस शृंगाराधिक्य के कारण अन्य रसों के विषय में उनकी भावुकता मर सी गयी है। तुलसी को जैसा मार्मिक स्थलों का ज्ञान था वैसा केशव को नहीं है। केशव उन विषयों का अनावश्यक विस्तार में वर्णन करते हैं जिनके अधिक वर्णन की आवश्यकता नहीं है और मार्मिक स्थलों को दो-चार पंक्तियों में चलता कर देते हैं, वह

भी अत्यन्त नीरसता के साथ। डॉ० श्यामसुन्दरदास उनकी इस प्रवृति के विषय में लिखते हैं—

"—शृंगार को छोड़कर करुण से करुण दृश्य केशव के हृदय को पिघला नहीं सका है। ऐसे समय में भी उनकी आँखें अलंकारवैचित्र्य की ओर लगी रहती हैं। रामचन्द्रिका में राम का अयोध्या त्याग, दशरथ मृत्यु आदि ऐसे स्थल हैं जिनका प्रभाव केशव के हृदय पर बिल्कुल नहीं पड़ा है और ऐसे स्थानों को यों ही छोड़ कर वे कथानक को आगे बढ़ा देते हैं। प्रिय का प्रिय चिह्न प्रेमी के हृदय को कैसा व्याकुल कर देता है, इसके अनुभव के लिए भी केशव के पास समय नहीं था। रामचन्द्रिका में उनकी सीता राम की मुद्रिका को आँसुओं से स्नान कराके और कंगन की पदवी प्रदान करके ही रह जाती हैं।

यद्यपि केशव की रामचन्द्रिका प्रबन्धकाव्य है, किन्तु केशव की हृदयहीनता और भावुकता के कारण वह सफल प्रबन्धकाव्य नहीं बन सकी है। कथा की अक्षुण्ण और अबाध धारा जो रामचरित-मानस और पद्मावत में है, रामचन्द्रिका में बिलकुल अभाव है। रामचन्द्रिका अनावश्यक तथा अत्यधिक छन्द-परिवर्तन के कारण फुटकर कविताओं का संग्रह जान पड़ती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस विषय में लिखते हैं—

"—सम्बन्ध-निर्वाह की क्षमता केशव में न थी। इनकी रामचन्द्रिका अलग-अलग लिखे हुए वर्णनों का संग्रह सी जान पड़ती है। कथा का चलता प्रवाह न रख सकने के कारण ही उन्हें बोलने वाले पात्रों के नाम नाटकों के अनुकरण पर पद्यों से अलग सूचित करने पड़े हैं।××× उन्हें एक बड़ा प्रबन्धकाव्य भी लिखने की इच्छा हुई और उन्होंने उसके लिए राम की कथा लेली। उस कथा के भीतर जो मार्मिक स्थल हैं, उनकी ओर केशव का ध्यान बहुत कम गया है। वे ऐसे स्थलों को या तो छोड़ गये हैं या यों ही इतिवृत्तमात्र कह कर चलता कर दिया है। राम आदि को वन की ओर जाते देख मार्ग में पड़ने वाले लोगों से कुछ कहलाया भी तो यह कि "किधौं मुनि शापहत, किधौं ब्रह्म दोष रत, किधौं कोऊ ठग हौं।" ऐसा अलौकिक सौंदर्य और सौम्य आकृति सामने पाकर सहानुभूतिपूर्ण शुद्ध सात्विक भावों का हृदय होता है। इसका अनुभव शायद एक-दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखने वाले नीति-कुशल दरबारियों के बीच रह कर केशव के लिए कठिन था।"

किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि केशव में कवित्व है ही नहीं। यदि ऐसा होता तो कवियों में, वह भी महान् कवियों में, केशव की गणना क्यों होती? भाषा पर इनका अद्वितीय अधिकार है, यह तो ठीक है ही साथ ही, कहीं-कहीं भावुकता भी उनके काव्य में मिलेगी। वास्तव में केशव चमत्कारवादी कवि थे। वे रस को भी अलंकार के अन्तर्गत ही मानते थे, इसलिए रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत रस ढूंढ़ने का प्रयास उनके काव्य में न करना चाहिए। उनके सिद्धान्त को ध्यान में रखकर ही उनके

काव्यगत गुण-दोषों का विवेचन अधिक संगत होगा। लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम के शोक का मार्मिक वर्णन केशव ने किया है जो हृदयग्राही है—

"—लक्ष्मण राम जहीं अवलोक्यों।
नैनन ते न रह्यो जल रोक्यो॥
वारक लक्ष्मण मोहि विलोकौ।
मो कहँ प्राण चले तजि रोकौं॥
हौं सुमिरौं गुन केतिक तेरे।
सोदर पुत्र सहायक मेरे॥
बोलि उठौ प्रभु को पन पारौ।
नातरु होत है मुख कारौ॥"

इसी प्रकार मेघनाद की मृत्यु पर रावण की यह उक्ति कितनी स्वाभाविक, मार्मिक और समयानुकूल है—

"—आज आदित्य जल पवन पावक प्रबल।
चन्द अनंद मय भास जग कोहरौ॥
गान किन्नर करौ नृत्य गंधर्व कुल।
यक्ष विधि लक्ष क्षक्ष कर्दम धरौ॥"

विश्वामित्र जब राजा दशरथ से उनके पुत्रों को अपने यज्ञ की रक्षा के लिए माँग लेते हैं तो पुत्रों के जाने के समय दशरथ के हृदय के प्रेम और कर्त्तव्य के द्वन्द्व के बीच जो स्थिति है, उसका भी बहुत सुन्दर चित्र केशव ने इन शब्दों में उपस्थित किया है—

"—राम चलत नृप के जुग लोचन।
वारि भरत में वारिद रोचन॥
पायन परि ऋषि के सजि मौनहिं।
केशव उठ गये भीतर भौनहिं॥"

भरत के साथ जब सब माताएँ चित्रकूट जाती हैं तो राम माताओं से पिता का कुशल समाचार पूछते हैं। माताएँ मौन रहकर और रोकर बिना कहे ही है केशव ने बड़ा ही कारुणिक चित्र इन शब्दों में उपस्थित किया है—

"—तब पूछियो रघुराइ, सुख है पिता तन माइ।
तब पुत्र को मुख जोइ, क्रम तें उठी सब रोइ॥"

इसी प्रकार कम से कम शब्दों में एक स्थान पर केशव राम के रौद्र रूप के दर्शन कराते हैं—

"—करि आदित्य अदृष्ट नष्ट जन धरौं अष्टवसु।
रुद्रन बोरि समुद्र करौं गंधर्व सर्व पसु॥"

'रसिक प्रिया' और 'कवि प्रिया' में केशव अपेक्षाकृत अधिक भावुक, अधिक सरस और सरल है। नायक के परदेश जाने पर नायिका अपनी भावना को द्विधा-मयी वाणी में प्रकट कर रही है, हिन्दी में इतना भावपूर्ण और मार्मिक कवित्त शायद ही प्रकट मिले—

"—जौं हौं कहौं रहिये तौ प्रभुता प्रकट होति,
चलन कहौं तो हित हानि नहिं सहनो ;
'भावै सो करहु' तो उदास भाव प्राननाथ,
'साथ लैउ चलहु' कैसे लोक लाज वहनो।
केशवदास की सौं तुम सुनहु छबीले लाल,
चले ही बनत जो पै आज नहीं रहनो ;
जैसी ये सिखाओ सीख तुम ही सुजान प्रिय,
तुमहिं चलत मोहि जैसो कछु कहनो।"

इसके अतिरिक्त केशव की दो विशेषताओं का तो उनके विरोधी भी लोहा मानते हैं—(१) सम्वाद और (२) राज दरबार का उचित वैभव-वर्णन। इस विषय में हिन्दी का कोई कवि उनकी प्रतिद्वन्द्विता नहीं कर सकता, यहाँ तक कि हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि महात्मा तुलसीदास भी नहीं। केशव की यही विशेषता उन्हें हिन्दी के महान् कवियों की कोटि में रख देती है। एक ही कवित्त या सवैया में कई पात्रों के कई सम्वाद रखना कविता और भाषा पर अद्वितीय अधिकार का परिचायक तो है ही, साथ ही उसकी भाव-साधना को भी यह विशेषता स्पष्ट करती है। निश्चित पंक्तियों और मात्राओं के बन्धन को स्वीकार करते हुए भी सम्वादों में केशव ने सचमुच कमाल कर दिया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल को भी दबी जबान से यह कहना ही पड़ा है कि—

"—रामचन्द्रिका में केशव को सबसे अधिक सफलता हुई है सम्वादों में। इन सम्वादों में पात्रों के अनुकूल क्रोध, उत्साह आदि की व्यंजना भी सुन्दर है। जैसे लक्ष्मण-राम-परशुराम सम्वाद, लव-कुश के प्रसंग के सम्वाद तथा वाक्पटुता और राजनीति के दाँव-पेंच का आभास भी प्रभावपूर्ण है। उनका रावण-अंगद सम्वाद तुलसी के सम्वाद से कहीं अधिक उपयुक्त और सुन्दर है।" इसी विशेषता को स्पष्ट करने के लिए कुछ उद्धरण देना आवश्यक है।

### रावण-हनुमान सम्वाद

"—'रे कपि कौन तू', 'अक्ष को घातक दूत बली रघुनन्दन जू को।'
'को रघुनन्दन रे', 'त्रिशिरा खरदूषण-दूषण भूषण भू को।'
'सागर कैसे तर्यो', 'जस गोपद', 'काज कहा', 'सिय चोरहिं देखो।'
'कैसे बँधायो', 'जु सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो'।"

रावण और अंगद के सम्वाद रामचन्द्रिका के सम्वादों में भी श्रेष्ठतम हैं। केशव को इस बात का विश्वास भी था, अतः उन्होंने सोलहवें प्रकाश (रामचन्द्रिका) में स्पष्ट लिख दिया है—

"—यह वर्णन है षोड़शे केशवदास प्रकाश।
रावण अंगद से विविध शोभित वचन विलास॥"

अब रावण-अंगद सम्वाद एक छन्द में देखिये—

'कौन के सुत', 'बालि के', 'वह कौन बालि न जानिए।'
'कांख चांपि तुम्हें जो सागर सात न्हात बखानिए॥'
'है कहां वह', 'वीर अंगद देव लोक बताइयो।'
'क्यों गयो', 'रघुनाथ बान विमान बैठि सिधाइयो'॥"

इसी प्रकार भरत ननिहाल से लौटने पर अपने पिता के विषय में पूछते हैं। माता कैकयी उत्तर देती हैं और इस प्रकार प्रश्नोत्तर का लम्बा क्रम उनमें चलता है। देखिये, कितने अधिक सम्वाद केशव ने इस एक ही सवैये में रख दिये हैं—

भरत-कैकयी सम्वाद—

"—'तातु कहां', 'तात गए सुर लोकहिं', 'क्यों', 'सुत सोक लए।'
'सुत कौनसु' 'राम', 'कहां हैं अबै', 'वन लक्ष्मण सीय समेत गए।'
'वन काज कहा कहि' 'केवल मो सुख', 'तो को कहा सुखयामें भए।'
'तुमको प्रभुता', 'धिक तो को, कहा अपराध सिवा सिगरेई हुए॥"

तुलसीदास को राज-दरबार का अनुभव नहीं था, इसलिए उनके काव्य में हनुमान-रावण सम्वाद 'सठ', 'महा अभिमानी', 'अधम', 'मूढ़' आदि गालियों से भरे हुए हैं, जो अस्वाभाविक हैं। राज-सभा में ऐसे सम्वाद अनुचित समझे जायेंगे। इसके अतिरिक्त इन्द्रभान रावण को तुच्छ, मूर्ख और मूढ़ समझ कर उपदेश देते हैं मानो कोई स्वामी सेवक को डाट-फटकार रहा हो, यह भी घोर अस्वाभाविक है। इन स्थानों पर केशव तुलसी को भी पीछे छोड़ जाते हैं। इसके अतिरिक्त रावण की सभा और उसके आतंक का ऐसा सुन्दर स्वाभाविक वर्णन तुलसी नहीं कर सके हैं, जैसा केशव ने किया है। केशव के प्रहरी के निम्नांकित शब्दों में रावण का उचित आतंक और प्रभाव व्यक्त होता है। रावण का प्रहरी ब्रह्मा, नारद, इन्द्र आदि को भी डाँट देता है—

"—पढ़ो विरंचि मौन वेद जीव सोर छांड़ि रे।
कुबेर बेर के कही न यक्ष भीर भांड़ि रे॥
दिनेस जाइ दूरि बैठु, नारदादि संग्रही।
न बोल चन्द्र मंद बुद्धि, इन्द्र की सभा नहीं॥"

केशव भाषा और अलंकारों के सम्राट् हैं। उनके काव्य को पढ़ कर लगता है कि कोई भी भाव वे किसी भी अलंकार में व्यक्त कर सकते हैं। केशव के प्रशंसक हिन्दी के विद्वान् भगवान 'दीन' के इन शब्दों के साथ हम अपना निबन्ध समाप्त करते हैं—

"—बहैसियत कवि के केशव का स्थान बहुत ऊँचा है। कवि वही है जिसमें कल्पना-शक्ति की बहुत अधिकता हो। इस पुस्तक में (रामचन्द्रिका में) केशव की कल्पनाशक्ति ऊँची और विलक्षण शक्ति के उदाहरण ढूँढ़ने और पाने में जरा भी देर नहीं लगती। सारी पुस्तक भी भरी पड़ी है। कथाक्रम में कम रुचि और वस्तु-वर्णन में अधिक रुचि काफी प्रमाण है।"

पांडित्य तो केशव का ऐसा अगाध है कि कहते ही नहीं बनता। अन्य कवियों में भी पांडित्य होता है, पर इनमें यह विलक्षणता है कि एक तो पांडित्य ऊँचा, दूसरे उससे अधिक पांडित्य-प्रदर्शन की रुचि है। इस रुचि ने उनकी कविता को बहुत कठिन कर दिया है। प्रसाद और माधुर्य को मरोड़ डाला है। प्रत्येक प्रकार के पांडित्य के उदाहरण न देकर केवल इतना ही कहना काफी है कि राजनीति, समाजनीति, राज-दरबार के कायदे-कानून, धर्मनीति, वस्तु-वर्णन, सौन्दर्य प्रकाशन इत्यादि जिस विषय पर केशव ने लेखनी चलाई है, उसे अपने पांडित्य से ऐसा परिपूर्ण रूप दिया है कि दूसरे आचार्य की शिष्यता करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। संस्कृत का पांडित्य तो प्रत्येक पृष्ठ पर झलकता ही है। केवल संस्कृत के शब्द ही नहीं, वरन् कठिन समस्त-पद भी (जैसे हिन्दी में उस समय प्रचलित न थे, अब हैं) केशव ने रख दिये हैं। निजेच्छया, स्वलीलया, लीलयैव, हरिणाधिष्ठित इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

केशव आचार्य होने के कारण अलंकार के बड़े शौकीन थे। उत्प्रेक्षा, रूपक, परिसंख्या के तो भक्त ही जान पड़ते हैं। सन्देह और श्लेष की भी भरमार है, पर देव और दीनदयाल की तरह यमक और अनुप्रास की बड़ी रुचि न रखते थे।

———

अध्याय १०

# जगन्नाथदास रत्नाकर : रससिद्ध कवि

जगन्नाथदास रत्नाकर हिन्दी के रससिद्ध कवि हैं। रससिद्ध कवि होने के लिए दो बातों की आवश्यकता है—एक तो कवि के हृदय की असीम भावुकता और उसका विस्तृत निरीक्षण; दूसरी, भाषा पर उसका असाधारण अधिकार। रत्नाकार के काव्य में ये दोनों बातें हैं, इसलिए निश्चित रूप से महान् कवियों की श्रेणी में आते हैं। अब यहाँ उनके काव्य के दोनों पक्षों का अलग-अलग विवेचन आवश्यक है जिससे तर्क और उद्धरणों के आधार पर उपरोक्त तथ्य को प्रमाणित किया जा सके।

## भावपक्ष

रत्नाकरजी प्राचीनतावादी कवि हैं। उनके विषय प्राचीन हैं। उनकी उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षाएँ भी प्राचीन हैं एवं उनका काव्य प्राचीन साहित्यशास्त्र की लीक पर ही चला है। इसलिए उनके काव्य की विवेचना के लिए पुराने मानदण्ड ही उपयुक्त होंगे।

जगन्नाथदास रत्नाकर रससिद्ध कवि हैं। सभी रसों का समान अधिकार के साथ वर्णन करने की उनमें अद्भुत शक्ति है। महान् कवि होने के लिए जिन बातों की आवश्यकता है, उनके विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—

"—कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। × × × जो केवल दाम्पत्य रति ही में अपनी भावुकता प्रकट कर सके या वीरोत्साह का ही अच्छा चित्र प्रस्तुत कर सके, वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते। पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्द-शक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें।"

## शृंगार रस

शृंगार दो प्रकार का होता है—(१) संयोग शृंगार और (२) वियोग शृंगार।

संयोग शृंगार—संयोग शृंगार का वर्णन रत्नाकर जी में कम मिलता है, लेकिन जितना मिलता है उसके आधार पर यह सहज कहा जा सकता है कि

रत्नाकरजी संयोग शृंगार के चित्रण में पूर्ण सफल हैं। गंगा स्वर्ग से उतर कर आ रही हैं, अनायास उनके हृदय में रति स्थायीभाव जाग्रत हो जाता है और शृंगार के संचारीभाव भी प्रकट होने लगते हैं। थोड़ी सी ही पंक्तियों में रत्नाकरजी ने शृंगार (संयोग) का पूर्ण सफल चित्रण कर दिया है—

"—भई थकित छवि छकित हेरि हर रूप मनोहर।
ह्वै प्रानन के प्रान रहे तन धरे धरोहर॥
भयो कोप को लोप चोप औरै उमगाई।
चित चिकनाई चढ़ी कढ़ी सब रोष रेखाई॥
छोम छलक ह्वै गई प्रेम की पुलक अंग में।
थहरन के ढरि ढंग परे उछरत तरंग में॥"

× × ×

"—प्रगटत सोइ अनुभाव भाव औरै सुखकारी।
ह्वै थाई उत्साह भयो रति को संचारी॥"

× × ×

"—विचरन लागी गंग जटा गह्वर वन वीथिन।
लहति सम्भु सामीप्य परमसुख दिनानि निसीथन॥
इहि विधि आनँद में अनेक बीते संवत्सर।
छोड़त छुवत न बनत ठनत नव नेह परस्पर॥"

## वियोग शृंगार

वियोग शृंगार का तो 'उद्धव शतक' अद्भुत काव्य है। विरह की सभी दशाएँ, अवस्थाएँ उसमें मिल जाँयगी। परम्परागत षट् ऋतुवर्णन भी उसमें है और सबसे बड़ी बात विरहिणी गोपियों के हृदय की अनन्यता और तल्लीनता उसमें है। 'उद्धव शतक' के विरह शृंगार में एक विशिष्टता है और वह है उभय पक्ष का विरह। अधिकांश कवियों ने गोपियों का विरह तो दिखाया है किन्तु कृष्ण का नहीं दिखाया। हृदय के भेदों से सुपरिचित रत्नाकरजी ने कृष्ण को भी विरह में समानरूप से दुःखी और पीड़ित दिखाया है—

"—सील सनी सुरुचि सुबात चलैं पूरब की।
औरैं ओप उमगी दृगनु मृदुराने तैं॥
कहैं रत्नाकर अचानक चमक उठी।
उर घनस्याम के अधीर अकुलाने तैं॥
आसाच्छन्न दुरदिन दिख्यो सुरपुर माँहि।
ब्रज में सुदिन वारि बूँद हरियाने तैं॥
नीर को प्रवाह कान्ह नैनन के तीर बह्यो।
धीर बह्यो ऊधौ उर अचल रसाने तैं॥"

स्मृति में संचारीभाव का सुन्दर वर्णन देखिये। कृष्ण को रात-दिन ब्रज की बातें ही याद आती रहती हैं—

"—जमुना कछारनि की रंग रस रारनि की,
विपिन विहरनि की हौंस हुमसावती;
सुधि ब्रज वासिनि की दिवैया सुख रासिन की,
ऊधो नित हमकों बुलावन कों आवती।"

कृष्ण उद्धव से कुछ सन्देशा कहना चाहते हैं पर कह कहाँ पाते हैं। प्रेमावेग से गला रुँध जाता है, आँखों से आँसू बहने लगते हैं और रोते-रोते हिचकियाँ बँध जाती हैं। कृष्ण के ये आँसू हिन्दी में नयी चीज हैं, पर कितने स्वाभाविक हैं—

"—विरह विथा की कथा अकथ अथाह महा,
कहत बनै न जो प्रवीन सुकवीन सों;
कहै रत्नाकर बुझावन लगे ज्यों कान्ह,
ऊधो को कहन हेत ब्रज जुवतीन सों।
गहवरि आयो गरो भभरि अचानक त्यों,
प्रेम परयौ चपल चुचाइ पुतरीन सौं;
नैंकु कही बैननि अनेक कही नैननि सौं,
रही सही सोऊ कहि दीनीं हिचकीन सौं।"

उद्धव ज्ञान का सन्देश लाये हैं। राधा वैसे ही विरह-व्यथित पड़ी हैं। गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि कहीं आपकी बात राधा के कान तक न पहुँच जाय, नहीं तो प्रलय ही हो जायगी—

"—हरितन पानिप के भाजन दृगंचल तैं,
उमगि तपनतें तपाक करि धावै ना;
कहै रतनाकर त्रिलोक ओक मण्डल मैं,
वेगि ब्रह्म द्रव उपद्रव मचावै ना।
हरकौं समेत हर गिरि के गुमान गरि,
पल में पताल पुर पैठन पठावै ना।
फैले बरसाने में नरावरी कहानी यह,
बानी कहूँ राधे आधे कान सुन पावै ना॥"

विरह में गोपियों की बड़ी बुरी दशा हो रही है। कृष्ण के लिए एक पत्र भी उनके लिए लिखना सम्भव नहीं रहा है—

"—दावि-दावि छाती पाती लिखन लगायी सबै,
ब्योत लिखवे को पै न कोई करि जात है;
कहै रतनाकर फुरत नाहिं बात कछू,
हाथ धरियौ ही तल थहरि थरि जात है।

ऊधौ के निहोरें फेरि नेकु धीर जोरें पर,
ऐसो अंग ताप को प्रताप भरि जात है ;
सूखि जात स्याही लेखनी कैं नेकु डंक लागै,
अंक लागैं कागद बरनि बरि जात है ।"

गोपियों ने सोचा कि लिखना तो सम्भव नहीं है, मौखिक रूप से ही सन्देश कह दिया जाय। लेकिन कृष्ण का स्मरण होते ही उनकी बुरी दशा हो जाती है और जो कुछ कहना चाहती हैं, कह नहीं पातीं। रत्नाकरजी ने कितना मार्मिकता से इसका वर्णन किया है—

"—कोऊ जोरि हाथ कोई नाइ नम्रता सौं माथ,
भावन की लाख लालसा सौं नहि जात है ;
कहै रतनाकर चलति उठि ऊधव के,
कातर ह्वै प्रेम सौं सकल महि जात है।
सबद न पावत सो भाव उमगावत जो,
ताकि ताकि आनन ठगे से ठहि जात हैं ;
रंचक हमारी सुनौ रंचक हमारी सुनौ,
रंचक हमारी सुनौ कहि रहि जात हैं।"

निजी सम्बन्ध की जैसी दृढ़ता 'उद्धव शतक' में देखने को मिलती है, अन्यत्र उसके दर्शन दुर्लभ है। देखिये, रत्नाकरजी की गोपियों का आत्मविश्वास और उनके प्रेम की दृढ़ता—

"—करहि प्रतीति प्रीति नीतह त्रिवाचा बाँधि,
ऊधौ साँच मन की हिये की अरु जी की है ;
वे तो हैं हमारे ही हमारे ही हमारे ही,
हम उनही की उनही की उनही की हैं।"

तथा

"—ब्रह्म हूँ भए पै नारि ऐसियै बनी जो रहै,
तौ तौ सहैं सीस नवै बैन जु तुम्हारे हैं ;
यह अभिमान तो गवै हैं ना गवै हूँ प्रान,
हम उनकी हैं वे प्रीतम हमारे हैं।"

गोपियों के प्रेम की थाह कौन पा सकता है ? वे उद्धव का हर कहना मानने को तैयार हैं। शर्त यही है कि वे कृष्ण के दर्शन किसी प्रकार करा दें। कितनी अनन्यता, अबोधता और निश्छलता इन पंक्तियों व्यक्त है—

"—पाँच आँच हू की झारि झेलि हैं निहारि जाहि,
रावरे हू कठिन करे जो हिल जाइगो ;

सहि हैं तिहारे कहै सांसति सबै पै बसि,
ऐती कह देउ कै कन्हैया मिलि जाइगो।"

गोपियाँ कृष्ण को प्रेम तो करती हैं किन्तु उसमें उदण्डता या अभद्रता नहीं है। वे कृष्ण का अत्यन्त आदर करती हैं। देखिये, उनकी वाणी में कितनी दीनता है—

"—ओसर मिलै औ सरताज कछु पूछें तो,
कहियो कछु न दसा देखी सो दिखाइयो ;
आह कै कराहि नैन नीर अवगाहि कछू,
कहिवे कौं चाहि हिचकी लै रहि जाइयो।"

हिन्दी में इतनी कोमलता, मधुरता और मार्मिकता शायद ही कहीं दिखाई दे। अनन्य प्रेमिका गोपियाँ कृष्ण के कष्ट का कितना ध्यान करती हैं कि अपने कष्ट की तो कोई चिन्ता ही नहीं करतीं। देखिये, उनकी विनय कितनी निश्छल, अबोध और दीन है—

आँसि भरि ऐहैं औ उदास मुख ह्वै है हाय,
ब्रज दुख त्रास की न तातैं सांस लीजियो ;
नाम कौं बताइ औ जनाइ गाम ऊधौ पुनि,
स्याम सौं हमारो राम राम कह दीजियो।"

## वीर और रौद्र रस

गंगावतरण के प्रसंग में शिवजी के गंगा सिर पर धारण करने के लिए तैयार होते समय जो चित्रण किया है उसमें रौद्र और वीर दोनों रसों का सुन्दर वर्णन है। रौद्र का स्थायीभाव क्रोध होता है और वीर का उत्साह। देखिये, दोनों का वर्णन रत्नाकरजी ने किस कौशल से किया है—

"—सिव सुजान यह जानि तानि भौंहनि मन माषै।
बाढ़ी गंग उमंग मन पर उर अभिलाषै॥
भए सँभरि सन्नद्ध भंग के रंग रँगाए।
अति दृढ़ दीरघ शृंग देखि तापर चलि आए॥
× × ×
तमकि ताकि भुजदंड चंड फरकत चित चोपे।
महि दवाइदुहुँ पाँइ कछुक अन्तर सो रोपे॥
मनु बल विक्रम जुगल खंभ जग लखन हारे।
धीर धरा पर अति गंभीर दृढ़ता जुत धारे॥
× × ×
बल विक्रम पौरुष अपार दरसत अंग-अंग तें।
वीर रौद्र दोउ रस उदार झलकत अंग-अंग तें॥
मनहु भानसित भान किरन विरचित पटवर की।
झलक दुरंगी देति देहियुत शिवशंकर की॥"

**भयानक रस**

गंगावतरण का वर्णन भयानक रस से पूर्ण है। रत्नाकरजी की भाषा भी रसानुकूल अपना रूप बदलती चलती है—

"—निकस कमंडल तें उमंगी नभ मंडल खंडित।
धाई धार अपार वेग सौ वायु विहंडित॥
भयो घोर अति शब्द धमक सौं त्रिभुवन तरजे।
महामेघ मिलि मनहु एक संगहि सब गरजे॥
भरके भानु तुरंग चमकि चल मग सौं सरके।
थाके वाहन सकत नैकु नहीं विधु हरिहर के॥
दिग्गज करि चिक्कार नैन फेरत भय थरके।
धुनि प्रति धुनि सौं धमकि धराधर के उर धरके॥"

**शान्त रस**

"—तब नृप करि आचमन मारजन सुचि रुचिकारी।
प्रानायाम पुनीत साधि चित वृत्ति सुधारी॥
बहुरि अंजली बाँधि ध्यानि विधि को विधिवत गहि।
माँगी गंग उमंग सहित पूरब प्रसंग कहि॥"

**हास्य रस**

यद्यपि हास्य रस मात्रा में रत्नाकर जी के काव्य में अधिक नहीं मिलता तथापि कहीं कहीं मुस्कराहट पाने में सफल हो सका है। यह स्मरणीय है कि रत्नाकरजी का हास्य वर्णित नहीं, व्यंग्य ही होता है। अर्थ समझने पर ही श्रोता के मुख पर हँसी आयेगी। कुछ उद्धरण देखिये—

ऐते दूर देसनि सौं सखनि सँदेसनि सौं,
लखन चहैं जो दसा दुसह हमारी है;
आनै उर उत्तर प्रतीत यह तातें हम,
रीति नीति निपट भुजंगन की न्यारी है।
आँखिन ते एक तो सुभाव सुनिवे को लियो,
कानन ते एक देखिवे की टेक धारी है।"

मायावाद, जो कि संसार को स्वप्नवत मानता है, पर एक व्यंग्य देखिये—

जग सपनो सौं सब परत दिखाई तुम्हैं,
ताते तुम ऊधो हमैं सोवत लखात हो;
कहै रतनाकर सुनै को बात सोवत की,
जोर मुँह आवत सो विवस बयात हो;
सोवत मैं जगत लखत अपने को जिमि,
त्योंही तुम आपहीं सुज्ञानी समुझात हो।"

अन्य रसों के उदाहरण भी खोजने से रत्नाकरजी में मिल जायेंगे। रत्नाकर जी हृदय के भेदों से सुपरिचित एक सरस कवि हैं। यही कारण है कि परम्परा और युगों से चली आती पौराणिक कहानियों में वे नई जान डाल सके हैं।

सूर की गोपियों जैसी तल्लीनता के दर्शन हमें रत्नाकर की गोपियों में होते हैं। उनकी प्रेम की अनन्यता के समक्ष संसार की बड़ी से बड़ी वस्तु भी तुच्छ है। देखिये, उनकी कुछ उक्तियाँ कितनी मनोहर हैं—

(१) "—चेरी हैं न ऊधो काहू ब्रह्म के बना की हम,
सूधो कहे देत एक कान की कमेरी हैं।"

(२) "—ब्रह्म मिलिबे ते कहा मिलिहै बताओ। हमें,
ताको फल जबलौ मिलै ना नन्द लाला हू।"

(३) "— मोर पँखियानि को मोर वारो चारु चाहन कों,
ऊधो अँखियाँ चहैं न मोर पखियाँ चहै।"

(४) "—ऊधो ब्रह्म ज्ञान को बखान करते न नैकु,
देख लेते कान्ह हमारी अँखियान तैं।"

रत्नाकरजी के 'उद्धव शतक' को हम हिन्दी के महान् से महान् कवि की तुलना में रख सकते हैं। रत्नाकरजी की कविता में सूर का भावपक्ष और नन्ददास का कलापक्ष एक स्थान पर ही हमें मिल जाते हैं। सूर ने अपने भ्रमरगीत द्वारा निराकारोपासना का जैसा खण्डन किया है, रत्नाकरजी के 'उद्धव शतक' में उससे कम नहीं है। भावपक्ष की प्रचुर चमत्कारपूर्ण सामग्री रत्नाकरजी के 'उद्धव शतक' में विशेषरूप से है क्योंकि यही उनकी सबसे प्रौढ़ रचना है। निर्गुण की असारता को घोषणा करने वाले रत्नाकरजी के कुछ छन्द देखिये—

(१) "—कर बिनु कैसे गाइ दुहिहै हमारी वह,
पद बिनु कैसे नाच थिरकि रिझाइ है;
कहै रत्नाकर बदन बिनु कैसे चाखि,
माखन बजाइ बेनु गोधन गवाइ है।
देखि सुनि कैसे दृग स्रवन बिना ही हाय,
भोरे ब्रजवासिनि की बिपति बहाइ है;
सबसे अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म,
ऊधो कहो कोन धौ हमारे काम आइ है।"

(२) "—रूप रस हीन जाइ निपटि निरूपि चुके,
ताको रूप ध्याइबो और रस चखिबो कहो;
ऐते बड़े बिस्व माँहि ढूंढेहूँ न पहिए जाहि,
ताहि त्रिकुटी में नैन मूँद लखिबे कहो।"

(२) "—हम परतच्छ में प्रमान अनुमान नाहिं,
तुम भ्रम भौंर में भले ही बहिबौ करौ;
कहै रत्नाकर गुविंद ध्यान धारें हम,
तुम मन मानौ ससांसिग गहिबौ करौ।
देखति सो मानति है सूधो न्याय जानति हैं,
ऊधौ तुम देखिहूँ अदेख रहिबै करौ;
लखि ब्रज-भूप-रूप अलख अरूप ब्रह्म,
हम न कहैंगी तुम लाख कहिबौ करौ।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि हृदय की कोमल से कोमल वृत्तियों का वर्णन रत्नाकरजी ने बड़े कौशल और सफलता के साथ किया है। वे भावपक्ष के असाधारण कवि हैं। उनका निरीक्षण अत्यन्त सूक्ष्म और अनुभव अत्यन्त विस्तृत और गहन है और इन सब बातों के ऊपर उन्हें दैवी प्रतिभा प्राप्त है, जिसके बिना किसी कवि का होना असम्भव है। अब रत्नाकरजी के कलापक्ष पर कुछ विचार किया जाय।

कलापक्ष

कलापक्ष के अन्तर्गत कवि की भाषा, शब्द-शक्ति, अलंकारों आदि का विवेचन होता है।

रत्नाकरजी की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है और उन पर बिहारी, पद्माकर तथा सेनापति का अत्यधिक प्रभाव है। उनसे भावसाम्य ही नहीं है, अपितु कहीं-कहीं तो वाक्य तक मिल जाते हैं। रत्नाकरजी ने बिहारी का गम्भीर अध्ययन करके 'बिहारी-रत्नाकरजी' की टीका प्रस्तुत की थी, इसलिए बिहारी का प्रभाव उनके ऊपर अत्यन्त स्वाभाविक है। बिहारी का एक दोहा है—

"—यह विनसत नगु राखि कै, जगत बड़ौ जस लेहु।
जरी विषम जुर जाइहै, आइ सुदरसन देहु॥"

देखिये, रत्नाकरजी के निम्नांकित कवित्त पर उपर्युक्त दोहे की छाया कितनी गहन है—

"—रस के प्रयोगनि के सुखद सुजोगनि के,
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं;
तिनके चलावन की चर्चा चलावै कौन,
देत न सुदरसनहु यों सुधि बिसराई है।
करत उपाय ना सुभाव लखि नारिन कौ,
भाव क्यों अनारिन कौ भरत कन्हाई है;
यहाँ तो विषम ज्वर वियोग की चढ़ाई यह,
पाती कौन रोग की पठावत दवाई है।"

यह अवश्य है कि बिहारी के भाव को रत्नाकरजी ने अधिक सरस, मधुर तथा चमत्कारपूर्ण रूप में प्रस्तुत किया है। 'बिहारी सतसई' में अनेक सांगरूपक आये हैं और सम्भवतः बिहारी जैसे सांगरूपक हिन्दी में दुर्लभ हैं। किन्तु रत्नाकरजी ने बिहारी को भी इस दिशा में दो पग पीछे छोड़ दिया है। रत्नाकरजी के सांगरूपक निर्दोष, चमत्कारपूर्ण और मार्मिक होते हैं। भाषा की मधुरता, व्यंजना और शब्दमैत्री भी रत्नाकरजी के कवित्तों में पिछले कवियों से उत्कृष्ट ही मिलेगी—

"—हेत खेत माँहि खोद खाई सुद्ध स्वारथ की,
प्रेम तृन गोपि राख्यौ तापै गमनौ नहीं;
करनी प्रतीति काज करनी बनावट की,
राखी ताहि हेरि हिय हौंसनि सनौ नहीं।
घात में लगे हैं ये बिसासी ब्रजवासी सबै,
इनके अनोखे छल छन्दन छनौ नहीं;
वारन कितेक तुम्हे वारन कितेक करै,
वारन उवारन ह्वै वारन बनौ नहीं।"

(उपर्युक्त कवित्त में प्रेमपाश और हाथी पकड़ने के रूपक का अन्त तक निर्वाह किया है)। निम्नांकित कवित्त में रत्नाकरजी ने काँटे और स्मृति का सांगरूपक किया है—

"—चलत न चारयौ भाँति कोटिन विचारयौ तऊ,
दाबि दाबि हारयौ पै न टारे टसकत है;
परम गहीली बसुदेव देवकी की मिली,
चाहि चिमटी हूँ सौ खेच्यौ खसकत है।
कटत न क्यों हूँ हाय विथके उपाय सबै,
धीर आकछोर हूँ न धारे धसकत है;
ऊधौ ब्रजवास के विलासन को ध्यान धस्यौ,
निसिदिन काँटे लौं करेजे कसकत है।"

रीतिकालीन कवियों में बिहारी के बाद सेनापति का प्रभाव सबसे अच्छा रत्नाकरजी पर दिखाई देता है। रत्नाकरजी ने भी श्लेष अलंकार का पूरे पदों में सफलतापूर्वक निर्वाह किया है जो एक अत्यन्त कठिन काम है। उदाहरणार्थ, निम्नांकित कवित्त में गोपियों और वसन्त का श्लिष्ट वर्णन है—

"—विकसित विपिन बसन्तिकावली कौ रंग,
लखियत गोपिन के अंग पियराने में;
बौरे वृन्द लसत रसाल बर बारिन के,
पिक की पुकार चबाव उँमगाने में।

होत पतझार झार तरनि समूहनि कौ,
बहरि बतास लै उसास अधिकाने में ;
काम विधि काम की कला में मीन मेख कहा,
ऊधौ नित बसत बसंत बरसाने में।"

तथा

"—रस के प्रयोगनि के सुखद सुजोगनि के,
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं ;
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन,
देत ना सुदरसनहू यों सुधि बिसराई है।
करत उपाय न सुभाय लखि नारिनि कौं,
भाव क्यों अनारिनि को भरत कन्हाई है ;
ह्यां तो विषमज्वर वियोग की चढ़ाई यह,
पाती कौन रोग की पठावत दवाई है।"

रत्नाकरजी भावाभिव्यक्ति की तीव्रता के लिए विविध अलंकारों के उपयोग में बड़े पटु हैं और विशेषरूप से उनका 'उद्धव शतक' तो भावपक्ष और कलापक्ष का माणिकांचनसंयोग है। यहां उसी से विभिन्न अलंकारों के उदाहरण लिये जाते हैं।

अतिशयोक्ति अलंकार

"—हरि तन पानिप के भाजन दृगंचल तें,
उमगि तपन तें तपाक करि धावै ना ;
कहै रतनाकर त्रिलोक ओक मंडल में,
वेगि ब्रह्म द्रव उपद्रव मचावै ना।
हरि कौं समेत हरि गिरि के गुमान गरि,
पल में पाताल पुर पैठन पठावै ना ;
फैले बरसाने में न रावरी कहानी यह,
बानी कहूँ राधे-आधे कान सुनि पावै ना॥"

यमक अलंकार

"—बारन कितेक तुम्हे बारन कितेक करें,
बारन उबारन ह्वै, बारन बनौ नहीं।"

छेकानुप्रास का चमत्कार भी रत्नाकर की कविता में अत्यधिक मिलता है और यह उनकी कविता में एक विचित्र संगीतात्मक ध्वनि उत्पन्न कर देता है। देखिये—

"—मुक्ति मुकता को मोल माल ही कहा है जब,
मोहन लला पै मन मानिक ही वारि चुकौं।"

मुहावरों तथा कहावतों से भी कविता में एक विशेष प्रकार का चमत्कार और भावतीव्रता आ जाती है। रत्नाकरजी ने उनसे अधिकतम लाभ उठाया है।

(१) "नो दो ग्यारह होते तनि पंचिहि विसरावत।" (गंगावतरण)
(२) "निसिदिन काटे लों करेजे कसकत है।"
(३) "दिनन के फेर सों भयो है हेर फेर ऐसो।"
(४) "करेजो थामि परम दुखारे ह्वै।"
(५) "सीतल करत नेकु हीतल हमारो।"
(६) "लाइ लाइ पाती कबलों सिरै हैं हाय।"
(७) "मीड़ि हम कबलो करेजो मन मारि हैं।"
(८) "कोई छेदि छाती छलनी कै बैन बाननि सौं।"
(९) "पर उर धाम करि कौन सो लगाए हो।"

रत्नाकरजी के कवित्तों का सारा संगीत, सारा माधुर्य और रस उनके कवित्त की अन्तिम दो पंक्तियों में संचित रहता है और यही कारण है कि उनके अधिकांश कवित्तों की अन्तिम दो पंक्तियाँ सूक्तियाँ या सुभाषित जैसी बन गई हैं। सच तो यह है कि बहुत कम कवियों को यह सौभाग्य प्राप्त होता है कि उनकी पंक्तियाँ लोगों की जिह्वाग्र पर रहें। रत्नाकरजी ऐसे ही सौभाग्यशाली कवियों में हैं। ऐसे भाषा-चमत्कार, अनुप्रास और शब्दमैत्री से युक्त कुछ पंक्तियाँ देखिये—

(१) "—मोर पँखियांन को मौर वारो चारु चाहन कों,
ऊधौ अँखियाँ चहै न मोर पंखियाँ चहै।"
(२) "—सहि हैं तिहारे कहे साँसति सबै पै बसि,
एतौं कहि देउ कै कन्हैया मिल जाइगौ।"
(३) "—मुक्ति मुकता को मोल माल ही कहा है जब,
मोहन लला पै मन मानिक ही वारि चुकीं।"
(४) "—एक मन मोहन तो वसिकै उजारयौ मोहि,
हिय में अनेक मन मोहन वसावौ ना।"
(५) "—पानी आज सकल सँवार्यो काज बानी ह्वै।"
(६) "—वारक कितेक तुम्हे वारक कितेक करैं,
वारक उवारन ह्वै वारन वनौ नहीं।"
(७) "—फिरत हुते जू जिन कुंजन में आठौ जाम,
नैननि में अब सोई कुंज फिरिबौ करै।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि रत्नाकरजी के काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष का सुन्दर सामंजस्य है जो साधारणतया महान् कवियों के काव्य में ही सम्भव है।

———

अध्याय ११

# 'प्रसाद'— छायावाद के प्रतिनिधि कवि

यह कहा जा सकता है कि हिन्दी में छायावाद के जन्मदाता प्रसादजी हैं। छायावाद 'आँसू' के बाद आकर ग्रहण करता है। 'आँसू' छायावाद की पृष्ठभूमि है। छायावाद की विशेषताएँ कामायनी में ढूंढ़ने से पूर्व छायावाद की विशेषताओं पर विचार कर लिया जाय। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद की विशेषताएँ स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"—छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें सन्देह नहीं। इसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप सम्पुटित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।"

छायावादी कविता वास्तव में द्विवेदीकाल की इतिवृत्तात्मक कविता की प्रतिक्रिया है। वह स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह भी कहलाता है। रीतिकाल में नारी का जो मांसल या स्थूल शरीर कवियों का वर्ण्यविषय था, छायावाद में वही स्थूल से सूक्ष्म हो गया; वासना का विषय न रहकर विस्मय का विषय बन गया। प्रकृति में छायावादी कवि नारी के सौंदर्य का आरोप करने लगा। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर अब 'कामायनी' पर विचार किया जाय।

## शृंगारिकता का प्राचुर्य

छायावादी कविता भी उसी प्रकार शृंगारप्रधान है जिस प्रकार रीतिकालीन कविता। अन्तर विषय का नहीं, अभिव्यक्ति के प्रकार का है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में सामाजिक अंकुश या भय के कारण कवि शृंगार की उन्मुक्त कविताएँ नहीं लिख सकते थे, इसलिए उनकी यह भावना अन्तर्मुखी हो गयी और शृंगार का रूप स्थूल से सूक्ष्म हो गया। कवि प्रकृति में नारी के सौंदर्य का आरोप करने लगा। 'कामायनी' इसका अपवाद नहीं है। देखिये, कवि रात्रि में स्त्री-सौंदर्य का आरोप करते हुए कहता है—

"—पगली हाँ सँभाल ले कैसे,
छूट पड़ा तेरा अंचल;
देख बिखरती है मणिराजी,
अरी उठा वेसुध अंचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या ?
ओ यौवन की मतवाली;
देख अकिंचन जगत लूटता,
तेरी छवि भोली भाली।"

छायावाद वास्तव में प्रकृति के प्रति एक भावात्मक दृष्टिकोण है, इसलिए छायावादी कविता में अभिव्यक्ति का प्रकार ही बदल गया है। 'कामायनी' छायावाद की सर्वश्रेष्ठ रचना है और छायावाद की परिपक्वता की प्रतीक है।

छायावाद की अन्य निम्नांकित विशेषताएं भी कामायनी में मिलती हैं—

## प्रकृति का मानवीकरण

प्रकृति में मनुष्य के दुःख-सुख की छाया देखना छायावाद की सबसे बड़ी विशेषता है। यह विशेषता इतनी प्रमुख है कि लोग मानवीकरण को ही छायावाद समझते हैं। 'कामायनी' में रात्रि का मानवीकृत रूप देखिये—

"—विश्व कमल की मृदुल मधुकरी,
रजनी तू किस कोने से;
आती चूम चूम चल जाती,
पढ़ी हुई किस टोने से।
किस दिगंत रेखा में इतनी,
संचित कर सिसकी सी साँस ?
यों समीर मिस हाँफ रही सी,
चली जारही किस के पास ?
विकल खिलखिलाती है क्यों तू ?
इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर;
तुहिन कणों फेनिल लहरों में,
मच जावेगी फिर अंधेर।"

तथा

"—सिंधु सेज पर धरा वधू अब,
तनिक संकुचित बैठी सी;
प्रलय निशा हल चल स्मृति में,
मान किये सी ऐंठी सी।"

**अमूर्त का मूर्तविधान**

अमूर्त वस्तुओं को मूर्तरूप में प्रस्तुत करना भी छायावादी काव्य की एक विशेषता है। 'कामायनी' में यह विशेषता सब स्थानों पर मिलेगी।

चिन्ता, आशा, काम, लज्जा ये सभी अमूर्त भावनाएं हैं, पर 'कामायनी' में उन्होंने आकार ग्रहण कर लिया है—

**चिन्ता**

"—ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व वन की व्याली;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कम्प सी मतवाली।
हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा;
हरी भरी सी दौड़ धूप ओ,
जल माया की चल रेखा।
इस ग्रह कक्षा की हल चल री,
तरल गरल की लघु लहरी;
जरा अमर जीवन की और न,
कुछ सुनने वाली बहरी।"

**आशा**

"—यह क्या मधुर स्वप्न सी झिलमिल,
सदय हृदय में अधिक अधीर;
व्याकुलता सी व्यक्त हो रही,
आशा बन कर प्राण समीर।
यह कितनी स्पृहणीय बन गई,
मधुर जागरण सी छविमान;
स्मित की लहरों सी उठती,
नाच रही ज्यों मधुमय तान।"

**मूर्त का अमूर्तविधान**

मूर्त वस्तुओं को अमूर्तरूप में चित्रित करना भी छायावादी कविता की विशेषता है। हिमालय पर्वत का अमूर्तरूप चित्रित करते हुए प्रसादजी लिखते हैं—

"—विश्व कल्पना सा ऊँचा वह,
सुख शीतल सन्तोष निदान;
और डूबती सी अचला का,
अवलम्बन मणि रत्न निधान।"

हिमालय की चोटियों का अमूर्तीकरण देखिये—

"—विश्व मौन गौरव महत्व की,
प्रतिनिधियों की भरी सभा ;
इस अनन्त प्रांगण में मानों,
जोड़ रही है मौन सभा ।"

अलकों का अमूर्तीकरण देखिये—

"—बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल ।"

प्रतीक-पद्धति

प्रतीकों का प्रचुरता के साथ प्रयोग छायावाद की बड़ी विशेषता है । प्रतीक प्रभाव साम्य को स्पष्ट करते हैं, रूप या गुण साम्य को नहीं जो कि उपमा की विशेषता थी । 'आँसू' की निम्नांकित पंक्तियाँ देखिये जिसमें कई प्रतीकों का एक साथ प्रयोग हुआ है—

"—शशि मुख पर घूँघट डाले,
अंचल में दीप छुपाये ;
जीवन की गोधूली में,
कौतूहल से तुम आये ।"

(घूँघट रहस्य का प्रतीक है, गोधूली समाप्ति का प्रतीक)

गत्यात्मकता

जहाँ शब्दों में एक गति का आभास मिलता हो—

"—पंच भूत का भैरव मिश्रण,
शंकाओं के शकल निपात ;
उल्का लेकर महाशक्तियाँ,
खोज रही ज्यों खोया प्रात ।"

चित्रोपमता

शब्दों के द्वारा चित्र खड़ा करना छायावाद की विशेषता है । प्रसादजी के काव्य में यह विशेषता पर्याप्त मात्रा में मिलती है—

प्रारम्भ में उदास बैठे मनु का चित्र देखिये—

"—हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छाँह ;
एक पुरुष भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय प्रवाह ।"

मनु के शरीर का शब्द-चित्र देखिये—

"—अवयव की दृढ़ माँस पेशियाँ,
उर्ज्जस्वत था वीर्य अपार ;
स्फीत शिरायें स्वस्थ रक्त का,
होता था जिसमें संचार ।"

**चित्रमय विशेषण (One-word Picture)**

चित्रमय एवं सार्थक लम्बे विशेषणों का प्रयोग भी छायावादी कविता की विशेषता है। इसके पर्याप्त उदाहरण 'कामायनी' में सुलभ हैं—

(अ) "अरी आँधियों और बिजली की दिवा रात्रि तेरा नर्तन।" (बिजली)

(ब) "मणिद्वीपों के अन्धकारमय अरे निराशापूर्ण भविष्य" (भविष्य)

(स) "अरे अमरता के चमकीले पुतलो, तेरे वे जयनाद" (देवता)

(द) "हे अनन्त की गणना" (तारा)

(य) "विश्व वन की व्याली" (चिन्ता)

(र) 'हे अभाव की चपल बालिके" (चिन्ता)

(ल) "तम के सुन्दरतम रहस्य" (तारा)

**ध्वन्यात्मकता**

भाषा की सामर्थ्य की वह चरमसीमा है जहाँ शब्द ध्वनि देने लगते हैं। पाठक ध्वनि सुनता है, चित्र देखता है। छायावादीकाल की एक यह भी विशेषता है। 'कामायनी' में उसके अनेक उदाहरण मिल जायेंगे—

सर्प

"—उधर गरजती सिन्धु लहरियाँ,
कुटिल काल के जालों सी;
चली आ रहीं फेन उगलतीं,
फन फैलाये व्यालों सी।"

ज्वालामुखी

"—धँसती धरा धधकती ज्वाला,
ज्वालामुखियों के निश्वास;
और संकुचित क्रमशः उसके,
अवयव का होता था ह्रास।"

**विशेषण विपर्यय**

भावगाम्भीर्य तथा सजीवता लाने के लिए एक साथ दो-दो विशेषणों का प्रयोग जहाँ होता है, उसे विपर्यय कहते हैं। छायावादी काव्य की विशेषताओं में से यह एक है। प्रसादजी के काव्य में से इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं—

"—सुख आहत शांत उमंगें,
बेकार साँस ढोने में;
यह हृदय समाधि बना है,
करुणा रोती कोने में।
इस विकल वेदना को दे,
किसने सुख को ललकारा?

वह एक अबोध अकिंचन,
बेसुध चैतन्य हमारा।"

**भाषा की लाक्षणिकता**

छायावादी कविता लक्षणप्रधान है। यह उसकी बहुत बड़ी विशेषता है। छायावादी कविता और भाषा में लाक्षणिकता का काव्य प्रवृत्ति के रूप में प्रयोग सम्भवतः पहले पहल 'आँसू' में मिलता है—

"—अभिलाषाओं की करवट,
फिर सुप्त व्यथा का जगना;
सुख का सपना हो जाना,
भींगी पलकों का लगना।
झंझा झकोर गर्जन था,
बिजली थी नीरद माला;
पाकर इस शून्य हृदय को,
आ सबने डेरा डाला।"

'कामायनी' में तो सभी छायावादी प्रवृत्तियों एवं प्रसाद की काव्य-साधना की चरमसीमा मिलती है। लाक्षणिकता का 'कामायनी' में प्रयोग देखिये—

"—पवन पी रहा था शब्दों को,
निर्जनता की उखड़ी साँस;
टकराती थी दीन प्रतिध्वनि,
बनी हिम शिलाओं के पास;
बिछुड़े तेरे सब आलिंगन,
पुलक स्पर्श का पता नहीं;
मधुमय चुम्बन कातरतायें,
आज न मुख को सता रही;
कुसमित कुंजों में वे पुलकित,
प्रेमालिंगन हुए विलीन;
मौन हुए हैं मूर्च्छित तानें,
और न सुन पड़ती अब बीन।"

चूँकि उपर्युक्त सभी विशेषताएँ प्रसादजी में मिलती हैं, इसलिए हम कह सकते हैं कि प्रसादजी छायावाद के प्रतिनिधि कवि हैं और कामायनी तो वास्तव में छायावादी शैली में लिखा गया महान् काव्य-ग्रन्थ है।

## अध्याय १२

# प्रसाद-काव्य में प्रकृति-चित्रण

छायावादीकाल कविता में प्रकृति के वैभव का काल है। प्राचीन काल में प्रकृति को वास्तव में वह स्थान प्राप्त नहीं था जो छायावादीकाल में प्राप्त हुआ। संस्कृत के आचार्य तो प्रकृति को आलम्बनरूप में चित्रण के योग्य ही नहीं समझते थे। किन्तु यदि छायावादी-काव्य को यदि कोई दूसरा नाम दिया जाय तो वह प्रकृति-काव्य के अतिरिक्त वह दूसरा नहीं हो सकता। प्रकृति छायावादी-काव्य की तो पृष्ठ-भूमि ही बन गयी। आलम्बनरूप में प्रकृति का चित्रण होने लगा और कवि प्रकृति में में एक सजीव आत्मा के दर्शन करने लगा। जनाकीर्ण संसार में छायावादी कवि का मन नहीं लगता और वह आबादी से दूर प्रकृति के एक कोने में अपना जीवन बिताना चाहता है। प्रसादजी की इसी प्रकार की इच्छा का एक उदाहरण लीजिये—

"—ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी अम्बर के कानों में गहरी।
निश्छल प्रेम कथा कहती हो तज कोलाहल की अवनी रे।"

कवि प्रकृति में मानवात्मा के दर्शन कर उससे तादात्म्य स्थापित करता है। प्रसादजी की कविता में ऐसे अनेक सुन्दर उदाहरण मिलेंगे—

"—बीती विभावरी जाग री,
अम्बर पनघट में डुबो रही;
तारा घट ऊषा नागरी,
खग कुल 'कुलकुल' बोल रहा।
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई;
मधु मुकुल नवल रस गागरी।"

प्रसाद के काव्य में प्रकृति का चित्रण निम्नांकित रूपों में मिलता है—

(१) पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति-चित्रण;

(२) शुद्ध प्रकृति-चित्रण;

(३) मानवीकरण के रूप में प्रकृति-चित्रण ;
(४) सम्वेदनात्मक रूप में प्रकृति-चित्रण ;
(५) उद्दीपनरूप में प्रकृति-चित्रण ;
(६) अलंकाररूप में प्रकृति-चित्रण ;
(७) रहस्य के रूप में प्रकृति-चित्रण ;
(८) उपदेश के रूप में प्रकृति-चित्रण ;
(९) प्रतीक के रूप में प्रकृति-चित्रण ।

अब प्रसादजी की कविता से उद्धरण देते हुए प्रत्येक प्रकृति-चित्रण के भेद पर क्रमशः विचार किया जाय ।

### (१) पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति-चित्रण

आगे आने वाली घटनाओं का आभास जहाँ प्रकृति के द्वारा ही करा दिया जाय वहाँ प्रकृति-चित्रण का यही भेद माना जायेगा ।

मनु श्रद्धा को छोड़कर चले गये हैं। अब उसका जीवन बड़ा ही दुःखी और नीरस हो गया है । उसकी दशा का आभास प्रसादजी प्रकृति के दृश्यों के द्वारा हमें करा देते हैं—

"—सन्ध्या अरुण जलज केशर ले अब तक मन थी बहलाती ।
मुरझाकर कब गिरा तामरस, उसको खोज कहाँ पाती ।।
क्षितिज भाल का कुंकुम मिटता, मलिन कालिमा के डर से ।
कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मँडराती ।।"

प्रकृति की इस पृष्ठभूमि में श्रद्धा का अवसादपूर्ण चित्रण देखिये—

"—कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी न वह मकरन्द रहा ।
एक चित्र बस रेखाओं का अब उसमें है रंग कहाँ ।।
वह प्रभात का हीन कलाशशि किरन कहाँ चाँदनी रही ।
वह सन्ध्या थी रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ ।।"

### (२) शुद्ध प्रकृति-चित्रण

प्रकृति की सुन्दर दृश्यावली से आकृष्ट होकर कवि कभी-कभी तटस्थ मन होकर उसका वर्णन करना चाहता है । ऐसा वर्णन शुद्ध प्रकृति-चित्रण ही कहा जायगा । प्रसादजी में शुद्ध प्रकृति-चित्रण के अनेक उदाहरण सहज ही मिल जायेंगे—

'—उषा सुनहले तीर बरसाती,
जय लक्ष्मी सी उदित हुई ;
उधर पराजित काल रात्रि भी ।
जल में अन्तर्निहित हुई ।
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का ।
आज लगा हँसने फिर से ;

वर्षा बीती हुआ सृष्टि में,
शरद विकास नये सिर से।
नव कोमल आलोक बिखरता,
हिम संसृति पर भर अनुराग;
सित सरोज पर क्रीड़ा करता,
जैसे मधुमय पिंग पराग।"

(३) मानवीकरण के रूप में प्रकृति-चित्रण

प्रसादजी छायावाद के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं और प्रकृति का मानवीकरण छायावाद की सबसे बड़ी विशेषता है। इसलिए प्रसादजी के प्रकृति-चित्रण में उसका मानवीकृत रूप ही छा रहा है। सच तो यह है कि उनके प्रकृति-चित्रण में से ऐसी पंक्तियाँ ढूंढना कठिन है जहाँ प्रकृति का मानवीकृत रूप न हो।

कामायनी में रात्रि का मानवीकृत रूप देखिये—

"—विश्व कमल की मृदुल मधुकरी,
रजनी तू किस कोने से;
आती चूम-चूम चल जाती,
पढ़ी हुई किस टोने से।
किस दिगंत रेखा में इतनी,
संचित कर सिसकी सी साँस;
यों समीर मिस हाँफ रही सी,
चली जा रही किसके पास।
विकल खिलखिलाती है क्यों तू?
इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर;
तुहिन कणों फेनिल लहरों में,
मच जावेगी फिर अंधेर।
पगली हाँ सम्हाल ले कैसे,
छूट पड़ा तेरा अंचल;
देख बिखरती है मणि राजी,
अरी उठा बेसुध चंचल।"

(४) सम्वेदनात्मक रूप में प्रकृति-चित्रण

जहाँ व्यक्ति प्रकृति को अपने दुःख में दुःखी देखने लगता है वहाँ 'सम्वेदनात्मक' प्रकृति-चित्रण ही माना जायगा। 'कामायनी' में मनु के छोड़ के चले जाने के पश्चात् श्रद्धा का जीवन अत्यन्त दुःखमय और नीरस हो जाता है। सारी प्रकृति उसे उसी रंग में रंगी दिखायी पड़ती है—

"—दुग्ध श्वास से आह न निकले सजल कुहू में आज यहाँ।
कितना स्नेह जलाकर जलता ऐसा है लघु द्वीप कहाँ?
बुझ न जाय वह साँझ किरन सी दीपशिखा इस कुटिया की।
शलभ समीप नहीं तो अच्छा सुखी अकेले जले यहाँ॥
आज सुनूँ केवल चुप होकर कोकिल चाहि जो कहले।
पर न परागों की वैसी है चहल-पहल जो थी पहले॥
इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतिक्षा की सन्ध्या।
कामायनि तू हृदय कड़ा कर धीरे-धीरे सब सहले॥"

तथा

"—विश्व विपुल आतंक ग्रस्त है अपने ताम विषम से।
फैल रही है—घनी नीलिमा अन्तर्दाह परम से॥
उद्वेलित है उदधि लहरियाँ लौट रही व्याकुल सी।
चक्रवाल की धुँधली रेखा मानो जाती ढल सी॥"

(५) उद्दीपन के रूप में प्रकृति-चित्रण

प्रकृति हमारे भावों को उद्दीप्त करने में समर्थ रहती है। प्रिय की उपस्थिति में प्रकृति हमें अधिक आह्लादकारक और अधिक उन्मादक लगती है। इसके विपरीत प्रिय की अनुपस्थिति में वही प्रकृति हमें काटने दौड़ती है। श्रद्धा आज मनु के साथ है। प्रकृति का अणु-अणु आज उसे हँसता सा दिखायी देता है, जैसा पहले कभी नहीं दिखाई दिया। वायु में एक अजीव थिरकन है और वातावरण एक विचित्र मादकता से भरा है—

"—सृष्टि हँसने लगी आँखों में खिला अनुराग।
राग रंजित चन्द्रिका थी उड़ा सुमन पराग॥
और हँसता था अतिथि मनु का पकड़ कर हाथ।
चले दोनों स्वप्न पथ में स्नेह सम्बल साथ॥
आरही थी मधुर भीनी, माधवी की गन्ध।
पवन के घन घिरे पड़ते थे बने मधु अन्ध॥
मधु वसंती विधु किरण है काँपती सुकुमार।
पवन में है पुलक मन्थर चल रहा मधुभार॥
तुम समीप अधीर इतने आज क्यों है प्राण।
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण॥"

(६) अलंकाररूप में प्रकृति-चित्रण

अनादिकाल से प्रकृति कवियों को उपमान देती रही है। इस प्रकार वह उनके काव्य के कलापक्ष का भी आधार रही है। खंजन आँख के लिए, कमल कर के लिए,

सिंह कटि के लिए, सर्प वेणी के लिए, कपोत कण्ठ के लिए उपमान बन कर आते हैं। देखिये, श्रद्धा के रूप-वर्णन में प्रकृति से उपमान लेकर प्रसादजी ने उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, सन्देह आदि अलंकारों की झड़ी लगा दी है—

"—नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अध खुला अंग ;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघवन बीच गुलाबी रंग।
आह वह मुख ! पश्चिम के व्योम,
बीच जब घिरते हों घनश्याम ;
अरुण रवि मण्डल उनको भेद,
दिखाई देता हो छवि धाम।
याकि नव इन्द्र नील लघु शृंग,
फोड़ कर धधक रहा हो कांत ;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत,
माधवी रजनी में अश्रांत।
घिर रहे थे घुँघराले बाल,
अंश अवलम्बित मुख के पास ;
नील घन शावक से सुकुमार,
सुधा भरने विधु के पास।"

(७) उपदेश के रूप में प्रकृति-चित्रण

मनुष्य प्रकृति की गोद में रहता है, इसलिए जहाँ वह दुःख-सुख में उसे साथ पाता है। वहाँ निरीक्षण के द्वारा वह उससे अनेक उपदेश भी ग्रहण करता है। तुलसी के 'रामचरित-मानस' में तो उपदेश के रूप में प्रकृति-चित्रण भरा पड़ा है, जैसे—

"—हरित भूमि तृण संकुलित, समुझि परहिं नहिं पंथ।
जिमि पाखंड विवाद ते, लुप्त होइ सद्ग्रन्थ ॥"

किन्तु प्रसादजी में प्रकृति-चित्रण का यह रूप अधिक नहीं दिखाई देता, लेकिन उसका नितान्त अभाव भी उनके काव्य में नहीं है। 'कामायनी' में समुद्र के विक्षोभ और आलोड़न-विलोड़न द्वारा दुःखी जीवों की स्थिति से प्रसादजी उपदेश ग्रहण करते हैं कि जब किसी का घर ही नष्ट हो रहा हो तो निवासियों को सुख कहाँ मिल सकता है—

"—जलनिधि के तलवासी जलचर,
विकल डूबते उतराते ;
हुआ विलोड़ित गृह तब प्राणी,
कौन कहाँ कब सुख पाते।"

### (८) रहस्य के रूप में प्रकृति-चित्रण

एक स्थिति ऐसी आती है जब कवि प्रकृति में सजीवता ही नहीं देखता अपितु उसमें एक आत्मा के दर्शन करता है और सर्वत्र उसी की प्रतिच्छाया प्रकृति में देखता है। सरल शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि वह प्रकृति में परमात्मा की झलक पाता है और शिव का अणु-अणु उसे उसी की शोभा से दीप्त दिखाई देता है। हिन्दी में महादेवी वर्मा के काव्य में रहस्यवाद के उस रूप के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। प्रसादजी की 'कामायनी' में भी ऐसे स्थल हैं। एक स्थान पर मनु सृष्टि में परमात्मा का आभास पाकर कहते हैं—

महा नील इस परम व्योम में,
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान ;
ग्रह नक्षत्र और विद्युत् कण,
किसका करते से संधान।
छिप जाते हैं और निकलते,
आकर्षण में खिंचे हुए ;
तृण वीरुध लहलहे हो रहे,
किसके रस से सिंचे हुए।
सिर नीचा कर किसकी सत्ता,
सब करते स्वीकार यहाँ ;
सदा मौन हो प्रवचन करते,
जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?
हे अनन्त ! रमणीय कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता ;
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो,
भार विचार न सह सकता।
हे विराट् ! हे विश्व देव ! तुम,
कुछ हो ऐसा होता भान ;
मंद गंभीर धीर स्वर संयत,
यही कर रहा सागर गान।"

### (९) प्रतीक रूप में प्रकृति का चित्रण

योरुप के रोमान्टिक काव्य का प्रभाव छायावाद पर बहुत अधिक है। प्रकृति से उपमान के स्थान पर प्रतीक ग्रहण करना उसकी विशिष्ट पद्धति है। प्रसादजी पर भी उसका प्रभाव है और उनके काव्य में प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग मिलता है—

"—शशि मुख पर घूँघट डाले,
अंचल में दीप छिपाये ;

जीवन की गोधूली में,
कौतूहल से तुम आए।"

(घूँघट = रहस्य, गोधूली = समाप्ति)

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसादजी ने अपने काव्य में प्रकृति का सभी रूपों में चित्रण किया है और उत्कृष्टरूप में प्रसादजी नारी-सौंदर्य में प्रकृति के दर्शन करते हैं, जैसा कि श्रद्धा के रूप-वर्णन से स्पष्ट है।

अध्याय १३

# पृथ्वीराज रासो की प्रमाणिकता

'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का आदि महाकाव्य माना जाता है। यह विशालकाय ग्रन्थ २५०० पृष्ठों का है और इसमें ६६ समय हैं। किसी समय 'पृथ्वीराज रासो' की प्रमाणिकता असंदिग्ध थी और चन्द हिन्दी के आदिकवि के रूप में प्रतिष्ठित थे। 'रासो' में वर्णित घटनाएं जनता में प्रचलित थीं और अब भी हैं, किन्तु रासो की ऐतिहासिकता पर आज प्रश्नवाचक चिन्ह लग गया है। विद्वानों का दृष्टिकोण 'रासो' के प्रति आज आशा या श्रद्धा का न होकर समीक्षा और विवेचना का है। विद्वानों को 'रासो' में इतनी इतिहास-विरुद्ध बातें मिली हैं कि वे 'रासो' को शंका और सन्देह की दृष्टि से देखने लगे हैं।

प्राचीन इतिहासकारों में कर्नल 'टाड' तथा हिन्दी के साहित्य के आदि इतिहासकार तासी इसे प्रमाणित मान चुके हैं। किन्तु सर्वप्रथम 'रासो' की प्रमाणिकता पर विवेचनात्मक तथा समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करने वाले जोधपुर के कवि राजा मुरारीदान एवं उदयपुर के कवि राजा श्यामलदान हैं। इन दोनों विद्वानों का विचार है कि 'पृथ्वीराज रासो' एक अप्रमाणिक रचना है। इसके पश्चात् प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डॉ० बूलर ने भी अपना निर्णय 'रासो' की प्रमाणिकता के विपक्ष में ही दिया और इस प्रकार उन्होंने विद्वत्मण्डली का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। 'रासो' के हिन्दी के आदि ग्रन्थ तथा प्रमाणिक होने के विषय में लोगों के मन-मस्तिष्क में बची आस्था की दुर्बल जड़ों पर अन्तिम और निर्णायक प्रहार किया। प्रसिद्ध इतिहासकार पं० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने तर्कों के समक्ष निर्जीव इस ग्रन्थ की तो शवपरीक्षा ही कर डाली और कठोर तर्कों एवं ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर उसे कवियों की कपोलकल्पनामात्र प्रमाणित कर डाला।

'रासो' की इस आकस्मिक दुर्भाग्य और यशोहानि का कारण 'पृथ्वीराज विजय' महाकाव्य नामक वह पुस्तक है जो डॉ० बूलर को संस्कृत-ग्रन्थों की खोज करते समय सन् १८७८ में काश्मीर में मिली। इस पुस्तक का लेखक कोई जयानक नामक कवि है। शोध करने पर डॉ० बूलर को ज्ञात हुआ कि इस पुस्तक में दिये हुए वर्णन एवं

सम्वत् आदि खोजों में मिले शिलालेखों आदि से मेल खाते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'पृथ्वीराज विजय' महाकाव्य नामक ग्रन्थ की जो प्रति मिली है वह खण्डित है। किन्तु इस पुस्तक के वर्णनों से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि इस महाकाव्य का प्रणयनकर्त्ता पृथ्वीराज का समकालीन और उसका राजकवि था। दोनों पुस्तकों के अन्तर को कुछ अधिक स्पष्ट करने के लिए 'पृथ्वीराज रासो' का कथासार देना आवश्यक है।

'रासो' के अनुसार आबू के यज्ञ-कुण्ड से चार क्षत्रिय-कुलों की उत्पत्ति हुई। चौहानों का वंश उनमें से एक था। चौहानों ने अजमेर में अपना राज्य स्थापित किया था। प्रसिद्ध सोमेश्वर चौहान पृथ्वीराज के पिता थे। अजमेर इनकी राजधानी थी। सोमेश्वर के समकालीन अनंगपाल तोमर दिल्ली के और विजयपाल कन्नौज के राजा थे। विजयपाल उन दिनों असाधारण शक्ति-सम्पन्न थे। वे उत्तरी भारत में सम्राट् माने जाते थे। किसी कारणवश विजयपाल ने दिल्ली पर चढ़ाई की। अनंगपाल ने सोमेश्वर चौहान से इस संकट में सहायता की याचना की और सोमेश्वर ने भी इस अवसर पर उन्हें निराश नहीं किया। दोनों के संयुक्त प्रतिरोध के कारण विजयपाल की दिल्ली-विजय की आशा निराशा में परिणत हो गयी।

अनंगपाल पुत्रहीन थे। उनके दो पुत्रियाँ थीं—सुर सुन्दरी और कमला। कमला छोटी थी। अनंगपाल ने कमला का विवाह सोमेश्वर के साथ कर दिया और सुर सुन्दरी का विवाह विजयपाल के साथ कर वैर-भाव की सदा के लिए समाप्ति कर दी। पृथ्वीराज कमला का पुत्र था और भारत के इतिहास में कुप्रसिद्ध जयचन्द सुर सुन्दरी का पुत्र था, ऐसा अनुमान किया जाता है (जयचन्द सुर सुन्दरी के गर्भ से ही उत्पन्न था, इस विषय में पुष्ट प्रमाणों का अभाव है)। पूरे 'रासो' में उपरोक्त तथ्यों का समर्थन ४८ वें समय में एक स्थान पर मिलता है जहाँ जयचन्द पृथ्वीराज से कहता है, "मातुल हम तुम इक्क", किन्तु बाद में फिर इसका उल्लेख और कहीं नहीं मिलता। जयचन्द विजयपाल का उत्तराधिकारी था और उसकी मृत्यु के पश्चात् सिंहासनासीन हुआ।

'रासो' में जयचन्द और पृथ्वीराज के मनमुटाव का कारण इस प्रकार दिया हुआ है—

वृद्धावस्था में अनंगपाल की इच्छा बद्रीनारायण यात्रा करने की हुई। जाने से पूर्व राज्य-संचालन के सूत्र वे अपने धेवते पृथ्वीराज के हाथों में सौंप गये। इस प्रकार व्यावहारिक रूप में तो तभी पृथ्वीराज दिल्लीश्वर हो गये। अनंगपाल तथा अपने पिता सोमेश्वर की मृत्यु के पश्चात् पृथ्वीराज दिल्ली और अजमेर दोनों में शासक हो गये। जयचन्द इस बात से कुढ़ गया और पृथ्वीराज का अहितचिन्तक बन गया।

जयचन्द ने अपनी पुत्री संयोगिता का स्वयंवर रचा तो पृथ्वीराज को आमंत्रित

तो किया किन्तु उसे अत्यन्त निम्नकोटि का कार्य सौंपा, इसलिए पृथ्वीराज ने निमन्त्रण अस्वीकार कर दिया। जयचन्द ने पृथ्वीराज की एक स्वर्ण मूर्ति बना कर द्वारपाल के स्थान पर खड़ी करवा दी। संयोगिता पृथ्वीराज के गुणों के विषय में पहले ही सुन चुकी थी और गुण-श्रवण द्वारा ही वह उससे प्रेम भी करने लगी थी। स्वयंवर के समय संयोगिता ने पृथ्वीराज की मूर्ति के गले में ही अपने पूर्वनिश्चय के अनुसार जयमाला डाल दी। पुत्री के इस अवांछनीय कृत्य से रुष्ट होकर जयचन्द ने इसे गंगा किनारे एक प्रसाद में निर्वासित कर दिया और उसे एक प्रकार से बन्दी बना दिया। पृथ्वीराज को जब यह सब पता लगा तो वे छद्मरूप में वहाँ जा पहुँचे और उसी महल में संयोगिता से विधिपूर्वक विवाह किया। चलने से पूर्व अपने कवि चन्द को उन्होंने इस तथ्य की सूचना देने जयचन्द के पास भेजा क्योंकि राजपूती परम्परा के अनुसार वे बलात् अपहरण करना चाहते थे, चोरों की भाँति छिप कर उन्हें भागना पसन्द न था। यह समाचार पाकर जयचन्द अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने अपने सेनापतियों को पृथ्वीराज को जीवित ही पकड़ लाने की आज्ञा दी। पृथ्वीराज की सेना भी युद्ध के लिए तैयार थी। भयंकर युद्ध हुआ और पृथ्वीराज संयोगिता को लेकर सकुशल दिल्ली पहुँच गये और वैभव एवं विलास में आकण्ठमग्न रहने लगे।

इधर एक और विचित्र घटना घटी। शहाबुद्दीन गोरी का एक सेनापति चित्ररेखा नामक किसी युवती से प्रेम करता था। स्वयं शहाबुद्दीन गोरी चित्ररेखा पर आसक्त हो गया। पठान सेनापति प्राण-रक्षा के लिए पृथ्वीराज की शरण में आ गया। पृथ्वीराज ने उसे अभयदान दे दिया और गोरी द्वारा माँगने पर भी उस सेनापति को लौटाया नहीं। अन्त में पृथ्वीराज और गोरी के बीच में कई युद्ध हुए जिनमें गोरी सदैव हारता रहा। कई बार बन्दी भी बना लिया गया, किन्तु उदार हृदय पृथ्वीराज ने सदा ही उसे दण्डस्वरूप भेंट लेकर बन्धनमुक्त कर दिया। अन्त में पृथ्वीराज एक युद्ध में पराजित हुए और गोरी ने उन्हें बन्दी बना लिया और उन्हें गजनी ले गया। कवि चन्द भी गजनी उनके साथ गया। चमत्कार-प्रदर्शन के एक उत्सव में शब्दभेदी-बाण-पटु पृथ्वीराज ने गोरी को बाण का लक्ष्य बनाया और उसे मार कर चन्द और पृथ्वीराज दोनों ने आत्महत्या कर ली।

'पृथ्वीराज विजय' नामक पुस्तक में कहीं भी यह लिखा नहीं मिलता कि पृथ्वीराज अनंगपाल का दौहित्र ( धेवता ) था तथा अनंगपाल ने उसे गोद लिया था। मुसलमान इतिहासकार तक पृथ्वीराज को अजमेर का शासक कहते हैं, उसे दिल्लीश्वर नहीं मानते। 'पृथ्वीराज विजय' में पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी दिया हुआ है जबकि 'पृथ्वीराज रासो' में उसकी माता के नाम पर कमला देवी का उल्लेख है।

'रासो' में पृथ्वीराज की जन्म-तिथि १११५ दी हुई है। 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार वि० सं० १२२६ में भी जबकि पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर की मृत्यु हुई। पृथ्वीराज बच्चा ही था, अतः रासो में दिया जन्म सम्वत् भी अशुद्ध प्रतीत होता है।

सोमेश्वर की घटना भी 'पृथ्वीराज विजय' में नहीं है। गजनी और गोरी की हत्या का उल्लेख भी 'पृथ्वीराज विजय' में नहीं है। 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार पृथ्वीराज का राजकवि पृथ्वी भट्ट था न कि चन्द वरदाई, किन्तु 'रासो' के समर्थकों का कहना है कि उपरोक्त कमियाँ 'रासो' की नागरी प्रचारिणी सभा वाली प्रति के आधार पर दिखाई गयी है जो कि स्वयं प्रमाणित प्रति नहीं है।

जितनी प्रतियाँ अब तक 'रासो' की प्राप्त हुई हैं उनके अनुसार उसके चार रूपान्तर प्रमाणित होते हैं—

(१) वृहत् रूपान्तर

काशी नागरी प्रचारिणी सभा में 'रासो' की जो प्रति रखी है, वह इसी रूपान्तर की है। ऐसी ही कई प्रतियाँ उदयपुर राज्य के पुस्तकालय में भी हैं। इस रूपान्तर की सभी प्रतियाँ सं० १७५० के बाद की प्रतीत होती हैं। इस रूपान्तर की प्रति में जितने प्रक्षिप्त अंश भरे पड़े हैं, रासो के अन्य रूपान्तरों की प्रतियों में उतने नहीं हैं।

(२) मध्यम रूपान्तर

इस रूपान्तर की चार प्रतियाँ मिलती हैं। मथुरा प्रसाद दीक्षित इस रूपान्तर की लाहौर वाली प्रति को प्रमाणिक एवं मूल प्रति मानते हैं कि इस रूपान्तर की चारों प्रतियों का रूपान्तरकाल सम्वत् १७०० के बाद ही ठहरता है। सम्वत् १७०० से पूर्व की कोई प्रति इस रूपान्तर की नहीं मिलती। इस प्रति में छन्दों की संख्या 'सत्त सहस' बताई गयी है जो गणना करने पर ठीक उतरती है।

(३) लघुरूपान्तर

इसकी लगभग ४ प्रतियाँ प्राप्त हैं—तीन प्रतियाँ तो बीकानेर राज्य के 'अनूप-संस्कृत-पुस्तकालय' में तथा एक श्री अगरचन्द नाहटा के पास है। इस रूपान्तर के अनुसार समयों ( अध्यायों ) की संख्या १९ और छन्दों की सम्पूर्ण संख्या ३५०० है। इसकी भी सभी प्रतियाँ सम्वत् १७०० के बाद की हैं।

(४) लघुतम रूपान्तर

यह रूपान्तर प्रसिद्ध साहित्यसेवी श्री अगर चन्द नाहटा की शोध के परिणाम-स्वरूप प्रकाश में आया। इस रूपान्तर का आकार अब तक सभी प्राप्त प्रतियों से छोटा है। इसके लिपिकार ने उसकी छन्द-संख्या केवल १३०० दी है। अध्यायों का विभाजन भी इसमें नहीं मिलता। इसका लिपिकाल सं० १६६७ है और भाषा भी अपेक्षाकृत प्राचीन है।

नवीन शोधों के आधार पर 'रासो' की एक और प्राचीनतम प्रति का पता लगा है जिसका लिपिकाल सं० १४५५ बताया जाता है। किन्तु जब तक यह प्रति प्रकाश में न आये और सम्बन्धित विषय के गम्भीर विद्वान् इस पर अपना मत न दे दें तब तक उसे प्रमाणिक कैसे माना जा सकता है।

हिन्दी में 'रासो' की प्रमाणिकता एवं ऐतिहासिकता पर बहुत वाद-विवाद हो चुका है और स्पष्टरूप से विद्वान् इस विषय में चार दलों में बट गये हैं—

(१) पहला दल तो उन विद्वानों का है जो 'रासो' के वर्तमानरूप को पूर्ण प्रमाणित मानते हैं और चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं। इस दल के विद्वानों में प्रमुख हैं—पं० मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या, श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, राव मोहनसिंह तथा मथुराप्रसाद दीक्षित आदि।

(२) दूसरा दल उन विद्वानों का है जो 'रासो' को बिलकुल ही अप्रमाणिक रचना मानते हैं और चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन भी नहीं मानते। इस दल के प्रमुख विद्वान् हैं—कवि राजा श्यामलदान, कवि राजा मुरारिदान, डॉ० बूलर, प्रसिद्ध ऐतिहासकार पं० गोरीशंकर हीराचन्द 'ओझा', हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ० रामकुमार वर्मा आदि।

(३) तीसरा दल उन विद्वानों का है जो चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन तो मानते हैं और यह भी मानते हैं कि उसने 'पृथ्वीराज रासो' की रचना की, किन्तु उनका कथन है कि 'पृथ्वीराज रासो' आज अपने मूलरूप में प्राप्त नहीं है। इस दल के प्रमुख विद्वान् हैं—श्री मुनि जिनविजय, श्री अगरचन्द नाहटा, डॉ० सुनीत कुमार चटर्जी, डॉ० दशरथ शर्मा आदि। इनमें से कुछ विद्वानों का मत यह भी है कि 'रासो' की रचना अपभ्रंश भाषा में हुई होगी।

(४) चौथा दल उन विद्वानों का है जो चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन तो मानते हैं, परन्तु इन बातों में विश्वास नहीं करते कि उसने 'पृथ्वीराज रासो' नामक किसी ग्रन्थ की रचना भी की थी। उनके कथानुसार चन्द ने जो कुछ लिखा होगा, फुटकल-रूप में ही लिखा होगा। जैन-प्रबन्धों में जो पद्य प्राप्त हुए हैं वे भी फुटकल ही हैं।

अब पहले विपक्ष के विद्वानों की मत परीक्षा की जाय।

डॉ० रामकुमार वर्मा का 'रासो' के विषय में मत है—

"—आबू पहाड़ के राजा 'जेत' और 'शलख' शिलालेखों में कहीं भी नहीं मिलते। आबू पहाड़ पर उस समय धारावर्ष परमार राज्य करता था जिसका उल्लेख कहीं नहीं है। पृथ्वीराज की शक्ति का परिचय देने के लिए अनेक राजाओं का उसके हाथ से मारा जाना लिखा है। गुजरात के राजा भीमदेव पृथ्वीराज के हाथों मारे गये, किन्तु शिलालेखों के अनुसार वे सम्वत् १२७२ तक जीवित रहे। शहाबुद्दीन गोरी भी पृथ्वीराज के तीर से नहीं मारा गया। सम्वत् १२६० में गक्करो के हाथ उसकी मृत्यु हुई। पृथ्वीराज से १०० वर्ष बाद के राजाओं को उसका समकालीन होना लिखा है। चित्तौड़ के रावल समरसी के साथ पृथ्वीराज की बहिन पृथ्वा का विवाह होना वर्णित है। किन्तु समरसी के शिलालेख सम्वत् १३३५—१३४२ तक के मिलते हैं। इस प्रकार 'रासो' में ऐतिहासिक घटनाओं की ही नहीं वरन् तिथियों की भी भूल भरी

पड़ी है। कपोलकल्पित और मनगढ़न्त कथाएँ इतनी अधिक हैं कि वे अविश्वसनीय भी हैं और उनका इतिहास से कोई सम्बन्ध भी नहीं जान पड़ता है।"

पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'रासो' के विषय में मत है—

"—बात सम्वत् तक ही नहीं है, इतिहास विरुद्ध जो कल्पित घटनायें भरी पड़ी हैं उनके लिए क्या कहा जा सकता है। माना कि 'रासो' इतिहास नहीं है, काव्य ग्रन्थ हैं पर काव्य ग्रन्थों में सत्य घटनाओं में बिना किसी प्रयोजन के उलट फेर नहीं किया जाता। जयानक का 'पृथ्वीराज विजय' भी तो काव्य ग्रन्थ ही है। फिर उसमें क्यों घटनाएँ और नाम ठीक-ठीक हैं। इस सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने की जगह नहीं कि यह पूरा ग्रन्थ वास्तव में जाली है। रहा प्रश्न यह कि पृथ्वीराज की सभा में चन्द नाम का कोई कवि था या नहीं? अधिक सम्भव यह जान पड़ता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज या उनके भाई हरिराज अथवा इन दोनों में से किसी वंशज के यहाँ चन्द नाम का कोई भट्ट कवि रहा हो जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता आदि के वर्णन में कुछ रचना की हो। पीछे जो 'भट्ट वर्णन' तैयार होता गया उन सब को लेकर और चन्द को पृथ्वीराज का समसामयिक मान, उसी के नाम पर रासो नाम की यह बड़ी इमारत खड़ी की गयी हो।"

'रासो' की भाषा के विषय में भी शुक्लजी के विचार कम उग्र नहीं हैं।

"—भाषा की कसौटी पर यदि ग्रन्थ को कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिलकुल वेठिकाने हैं। उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है। कहीं कहीं तो भाषा आधुनिक ढांचे में ढली सी दिखाई पड़ती है। क्रियायें नये रूपों में मिलती हैं पर साथ ही कहीं-कहीं भाषा अपने असली प्राचीन साहित्यिक रूप में भी पाई जाती है जिसमें प्राकृत और उपभ्रंश शब्दों के रूप और विभक्तियों के चिह्न पुराने ढंग के हैं। इस दशा में भाटों के वाग्जाल के बीच कहाँ पर कितना अंश असली है इसका निर्णय असम्भव होने के कारण यह ग्रन्थ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का है।"

'रासो' को जाली एवं अनैतिहासिक प्रमाणित करने के लिए विद्वानों ने जो तर्क एवं तथ्य दिये हैं, संक्षेप में उन्हें इस प्रकार रखा जा सकता है।

(१) 'रासो' में दी हुई तिथियाँ अशुद्ध हैं। वे 'पृथ्वीराज विजय' एवं शिलालेखों में दी हुई तिथियों से मेल नहीं खातीं।

(२) 'रासो' की भाषा कहीं-कहीं इतनी अधिक आधुनिक है कि वह अठारहवीं शताब्दी के भी बाद का ग्रन्थ प्रतीत होता है।

(३) 'रासो' में दिये हुए पृथ्वीराज के निकटतम सम्बन्धियों के नाम भी ठीक नहीं हैं। जैसे—पृथ्वीराज की माता, भाई, पुत्र तथा रानियों एवं प्रमुख सामन्तों के विषय में यह बात कही जा सकती है।

(४) 'रासो' में वर्णित चौहानों, प्रतिहारों एवं सोलंकियों की उत्पत्ति-सम्बन्धी कथा कपोलकल्पित, भ्रमपूर्ण एवं अनैतिहासिक है।

(५) 'पृथ्वीराज विजय', 'हम्मीर महाकाव्य' तथा 'सुर्जन चरित्र' आदि में दिये अधिकांश नाम ऐतिहासिक हैं जबकि 'रासो' में दी हुई चौहानों की वंशावली तक भ्रमपूर्ण और अशुद्ध है तथा उसके अधिकांश व्यक्तियों के नाम शिलालेखों एवं उपरोक्त प्रमाणिक पुस्तकों से मेल नहीं खाते।

(६) अन्य प्रमाणिक पुस्तकों में पृथ्वीराज के राजकवि के रूप में किसी पृथ्वी भट्ट की चर्चा तो मिलती है, परन्तु चन्द का कहीं नाम नहीं है।

(७) 'रासो' में अरबी-फारसी शब्द प्रचुरता से मिलते हैं और उनकी संख्या १० प्रतिशत से भी अधिक है। अरबी-फारसी शब्दों की प्रचुरता तभी सम्भव है जब मुसलमानी शासन स्थापित हो गया हो। संक्रान्तिकाल में उनका आना और भाषा में ग्राह्य हो जाना सम्भव नहीं दिखाई देता।

(८) पृथ्वीराज के हाथों गुजरात के राजा भीम का मारा जाना घोर अनैतिहासिक है।

(९) पृथ्वीराज के जितने विवादों का वर्णन 'रासो' में है, वे अधिकांश अनैतिहासिक एवं अप्रमाणिक हैं।

(१०) सररसी (समरसिंह) के साथ पृथ्वीराज की बहिन 'पृथा' के पाणिग्रहण की बात भी बिलकुल कपोलकल्पित प्रतीत होती है। 'रासो' में समरसिंह को शहाबुद्दीन गोरी के विरुद्ध पृथ्वीराज की ओर से युद्ध-क्षेत्र में वीरगति प्राप्त करता दिखाया है। किन्तु शिलालेखों के द्वारा समरसिंह का पृथ्वीराज की मृत्यु के १०९ वर्ष बाद तक जीवित रहना प्रमाणित है।

(११) पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या द्वारा 'आनन्द' सम्वत् की कल्पना करने पर भी सम्वतों की अशुद्धि दूर नहीं होती। पंड्याजी के कथानुसार 'रासो' के दिये हुए सम्वतों में ९१ जोड़ देने से शुद्ध विक्रम सम्वत् निकल आते हैं। इसी प्रकार प्रसिद्ध इतिहासकार 'टॉड' का कथन था कि 'रासो' में १०० वर्ष पहले के सम्वत् दिये हुए हैं, किन्तु इस उपाय से भी 'रासो' के सम्वत् शुद्ध नहीं होते; उदाहरणार्थ, 'रासो' में पृथ्वीराज का जन्म सम्वत् १११५ दिया हुआ है। सं० १११५ में अनन्द सम्वत् के अनुसार ९१ वर्ष जोड़ कर यह सम्वत् वि० सं० १२०६ निकलता है। 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार सोमेश्वर की मृत्यु के समय अर्थात् वि० सं० १२३६ में पृथ्वीराज बालक था। वि० सं० १२०६ में तो पृथ्वीराज का पिता भी बहुत छोटा था और अविवाहित था। वि० सं० १२१८ के पश्चात् उसने कपूरदेवी से विवाह किया था, इसलिए सम्वत् १२२० से पूर्व पृथ्वीराज के जन्म की कल्पना विलष्ट कल्पना ही होगी। इस प्रकार रासो का सम्वत् १११५ तथा पंड्याजी का वि० सं० १२१६ दोनों ही अशुद्ध ठहरते हैं।

अब उन तथ्यों पर भी विचार किया जाय जो 'रासो' के समर्थक उसके पक्ष में रखते हैं—

(१) 'रासो' के समर्थकों का प्रमुख तर्क यह है कि 'रासो' एक काव्य-ग्रन्थ है, इतिहास-ग्रन्थ नहीं, इसलिए ऐतिहासिक तथ्यों को उसमें ढूंढना समीचीन नहीं है। कवि लोग तो बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहते ही हैं, पाठक चमत्कारपूर्ण बातों में से अपने काम की बात समझ लेता है। काव्य की पद्धति ही अत्युक्ति की पद्धति है।

(२) विद्वान् 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्य' के आधार पर 'रासो' को अप्रमाणिक एवं अनैतिहासिक प्रमाणित करते हैं जबकि स्वयं उपरोक्त पुस्तक की खण्डित प्रति भी प्राप्त है। कौन कह सकता है कि शेष लुप्त पुस्तक में 'रासो' के समर्थन में बहुत कुछ तथ्य प्राप्त नहीं होते।

(३) पृथ्वीराज के विवाह, प्रसिद्ध युद्ध, पुत्र-पुत्री के विषय में अन्य पुस्तकें एवं साधन मूक हैं तो उन्हें अशुद्ध कैसे समझा जाय। अशुद्ध वे तभी हो सकते हैं जब अन्य प्रमाणिक साधनों में भी उनकी चर्चा तो हो किन्तु दूसरी तरह हो।

(४) जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, शुक्लजी भी यह मानते हैं कि प्राचीन भाषा के उदाहरणों की भी 'रासो' में कमी नहीं है।

(५) सबसे मुख्य बात यह है कि अधिकांश विद्वानों ने 'रासो' का खण्डन नागरी प्रचारिणी सभा, काशी वाली विशालकाय प्रति के आधार पर किया है। किन्तु वह तो 'रासो' का प्रथम रूपान्तर है जिसमें क्षेपकों एवं प्रक्षिप्त अंश की संख्या सर्वाधिक है, बाद के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ रूपान्तरों में प्रक्षिप्त स्थल निरन्तर कम होते चले गये हैं। अतः केवल एक प्रति को आधार मानकर ही रासो के विरोधियों ने अपने तर्कों का जो चक्रव्यूह बनाया है, वह अन्यायसंगत एवं अयुक्तियुक्त है।

(६) इस विषय में 'रासो' के कट्टर समर्थक भी अब लगभग एकमत हैं कि 'रासो' में समय-समय पर प्रक्षिप्त अंश मिलते रहे हैं। डॉ० श्यामसुन्दरदास का तो कथन है कि जब केवल ३०० वर्ष पुरानी रामायण में क्षेपकों अथवा प्रक्षिप्त अंशों की कमी नहीं है तो फिर इतने प्राचीन ग्रन्थ में अंशों का उसी अनुपात में अधिक होना न तो आश्चर्य का विषय है और न अविश्वास का।

(७) चौहानों के वंश की उत्पत्ति के विषय में 'रासो' की बीकानेर वाली लघुतम प्रति में निम्नांकित पंक्तियाँ मिलती हैं।

"—ब्रह्मान जग ऊपन्न भूर।
मनिक राय चहुमान सूर॥"

(अर्थात् ब्रह्मा के यज्ञ से वीर चौहान मानिक राय उत्पन्न हुआ)। दशरथ शर्मा का कथन है कि अन्य ग्रन्थों में भी यह कथा इस प्रकार मिलती है। 'रासो' के विरोधी विद्वान् 'हम्मीर महाकाव्य' तथा 'सुर्जन चरित्र' को प्रमाणित मानते हैं। इस पुस्तक में

भी चौहान वंश की उत्पत्ति की कथा ब्रह्म के यज्ञ से पुष्कर तीर्थ में हुई, ऐसा वर्णन मिलता है।

(८) 'रासो' की लघुतम प्रति में दी हुई वंशावली में बहुत से ऐसे नाम मिल जाते हैं जो प्रमाणिक पुस्तकों तथा शिलालेखों आदि में भी मिलते हैं।

(६) घनिष्टतम एवं निकटतम नामों के भिन्न होने के विषय में 'रासो' के समर्थकों का कहना है कि अभी तक भी घर के लोगों का नाम कुछ और होता है और बाहर का कुछ और। हो सकता है, पृथ्वीराज के अंतरंग चित्र होने के कारण जयचन्द ने घर के नामों का ही व्यवहार किया हो।

(१०) मेवाड़ाधिपति समरसिंह और उनके पृथा के साथ विवाह की बात तथा रण-क्षेत्र में शहाबुद्दीन के विरुद्ध लड़ते हुए मारे जाने की ये दोनों घटनाएँ 'रासो' की लघुतम प्रति में नहीं हैं।

(११) अरबी और फारसी के शब्दों के विषय में डॉ० श्यामसुन्दरदास का कथन विचारणीय है : "—शहाबुद्दीन गोरी से लगभग पौने दो सौ वर्ष पहले महमूद गजनवी भारत में लूट मार करने आ चुका था। गजनवी से ३०० वर्ष पहले भी सिन्धु और मुलतान पर मुसलमानों का अधिकार हो चुका था और वे भारत में अपना व्यौपार करने लगे थे। पंजाब भी मुसलमानी संस्कृति से प्रभावित हो चुका था। चन्द लाहौर का निवासी था अतः उसकी बाल्यावस्था से ही ये अरबी फारसी के शब्द उनके मस्तिष्क में प्रवेश करने लगे थे। इस कारण चन्द की भाषा में मुसलमानी शब्दों का होना स्वाभाविक है। 'रासो' का बहुत सा भाग प्रक्षिप्त है अतः परवर्तीकाल में मुसलमानों के आतंक के साथ-साथ भाषा पर अरबी फारसी के शब्दों का आतंक होना स्वाभाविक था। इस कारण ऐसे शब्दों का प्रतिशत और भी बढ़ गया है।

(१२) कुछ लोगों का यह कहना भी है कि वास्तव में 'पृथ्वीराज रासो' चन्द ने नहीं लिखा बल्कि और लोगों ने उसे लिखकर चन्द के नाम से प्रसिद्ध कर दिया है। प्रथम बात तो यह है कि यह बात सम्भव नहीं दिखाई देती कि कोई परिश्रम करे और दूसरे के यश के लिए ; दूसरी बात यह है कि यह मान भी लिया जाय कि कुछ और लोगों ने चन्द के नाम से लिखा तो उससे भी यही प्रमाणित होता है कि चन्द अपने समय का इतना प्रसिद्ध और लोकप्रिय कवि था कि दूसरे लोग रचनाएँ उसी के नाम से प्रसिद्ध करना चाहते हैं।

(१३) इतिहासज्ञ पृथ्वीराज के बन्दी होने का समर्थन नहीं करते और पृथ्वीराज द्वारा शहाबुद्दीन के वध तथा अन्त में आत्महत्या करने की घटना को भी प्रमाण-सम्मत नहीं मानते। इसका तो बहुत स्वाभाविक समाधान यह भी हो सकता है कि ये सब वर्णन एक तो चन्द ने नहीं किये (चन्द तो पृथ्वीराज के कार्यवश अर्थात् उसका साथ देने के लिए उसके साथ ही गजनी चला गया था, "जल्हण पुस्तक हृथ्य दै चल गज्जन नृप काज") और दूसरे उसके पुत्र जल्हण ने किये हैं। इसके अतिरिक्त जल्हण अपने

तथा अपने पिता के आश्रयदाता का एक आततायी के हाथ से वध होना नहीं दिखाना चाहता था। (इस प्रवृति के प्रमाणस्वरूप जायसी के पद्मावत का उदाहरण दिया जा सकता है जहाँ कवि रत्नसिंह का अलाउद्दीन के हाथों वध नहीं दिखाता)। आत्महत्या की घटना 'रासो' का काव्यात्मक अन्त कही जा सकती है। यह राष्ट्रीय सम्मान का प्रश्न है, अत: उसे कविता की छाया में ही समझाना अधिक न्यायसंगत होगा, इतिहास के प्रकाश में नहीं।

(१४) कुछ पट्टे और परवाने, जो नागरी प्रचारिणी सभा काशी की ओर से प्रकाशित किये गये हैं, उनसे भी 'पृथ्वीराज रासो' की प्रमाणिकता और ऐतिहासिकता सिद्ध होती है।

(१५) हाल ही में मुनि जिन विजय को चन्द विरचित 'रासो' के चार प्राचीन छप्पय मिले हैं जिनकी भाषा निश्चितरूप से पृथ्वीराजकालीन कही जा सकती है। प्राप्त छप्पयों में से तीन छप्पय विकृतरूप में रासो की पुरानी प्रतियों में भी मिलते हैं। उदाहरणस्वरूप एक छप्पय उद्घृत करना अप्रासंगिक न होगा—

प्राचीन छप्पय

"—इक्कु वाणु पहुवीस जु पइं कइं वासह मुक्कओ।
उर भींतरी खड़ हड़िउ धीर कव खंतरि चुक्कउ॥
बीअं करि संधीउ भंमइ सूमेसर नंदण।
एहु सु गडिदाहिमओ खणाइ खुद्द इ सइंभरिवणु॥
फुउ छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खलगुलह।
न जांणउं चदवालद्दिउ किं न वि छुट्टइ इह फलह॥"

नागरी प्रचारिणी सभा काशी की प्रति में उपरोक्त छप्पय जिस रूप में मिलता है उसे देख लेना भी कम रोचक न होगा—

"—एक वान पुहमी नरेस कैमासह मुक्यो।
उर उपर थर हव्यो वीर कष्पंतर चुक्यो॥
कियो वान संधान हन्यो सोमेसर नन्दन।
गाढौ करि निग्रह्यो षनिव गड्यो संभरिधन॥
थल छोरि न जाय अभागरो गाड्यो गुनगन आगरो।
इमं जंपै चन्द वरद्दिया कहा निघरहै इय प्रलो॥"

इसमें सन्देह नहीं कि अभी तक यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त सामग्री का अभाव है कि 'पृथ्वीराज रासो' की वास्तविक प्रति कौन-सी है। इस दिशा में निरन्तर शोध-कार्य की आवश्यकता है। किन्तु इतना अवश्य है कि विद्वानों का बहुमत 'रासो' के पक्ष में होता जा रहा है। लोगों का विश्वास है कि चन्द कवि पृथ्वीराज का समसामयिक कवि था और उसने 'पृथ्वीराज रासो' नामक काव्य अवश्य लिखा था।

वह वास्तविक काव्य आज प्राप्त नहीं है। आशा है, 'रासो' के क्षीर को विद्वान् लोग एक दिन प्रक्षिप्त अंशों के नीर से अलग करने में समर्थ हो सकेंगे। प्राप्त 'पृथ्वीराज रासो' भी कम महत्वपूर्ण रचना नहीं है। हम डॉ० श्यामसुन्दरदास के इन शब्दों के साथ निबन्ध समाप्त करते हैं—

"—पृथ्वीराज रासो समस्त वीरगाथा युग की सबसे अधिक महत्वपूर्ण रचना है। उस काल की जितनी स्पष्ट झलक इस ग्रन्थ में मिलती है उतनी दूसरे अनेक ग्रन्थों में नहीं मिलती। छन्दों का जितना साहित्यिक सौष्ठव इसमें मिलता है, अन्यत्र उसका अल्पांश भी दिखाई नहीं देता। पूरी जीवन गाथा होने का कारण इसमें वीर-गीतों की-सी संकीर्णता तथा वर्णनों की एकरूपता नहीं आने पाई है, 'वरन् नवीनता समन्वित कथाओं की ही इसमें अधिकता है।"

———

अध्याय १४

# साधारणीकरण : प्रक्रिया और परिभाषा

काव्य पढ़ते समय या नाटक देखते समय पाठक या दर्शक जब इतने तन्मय हो जाते हैं कि वह स्वगततत्व की भावना से ऊँचे उठ जाते हैं और वर्णनों तथा दृश्यों को देखकर रोते तथा प्रसन्न होते हैं—यद्यपि रोना भी उस दशा में आनन्दप्रद लगता है—तो यही दशा साधारणीकरण है।

डॉ० श्यामसुन्दरदास इसी बात को इस प्रकार कहते हैं—"जब तक संसारिक वस्तुओं का हमें अपर-प्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनन्दनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है परन्तु जिस समय हमको वस्तुओं का पर-प्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय तथा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलम्बन बन कर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं। अभिनवगुप्त पाद आचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है और कुछ नहीं।"

इन पर-प्रत्यक्ष और अपर-प्रत्यक्ष शब्दों को स्पष्ट करना आवश्यक है—

अपर-प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जहाँ शब्द, अर्थ तथा ज्ञान इन तीनों की प्रतीति भिन्न-भिन्न हो। इसी भिन्न-भिन्न अनुभव करने को अपर-प्रत्यक्ष कहते हैं। इसमें वितर्क रहता है।

पर-प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जहाँ वितर्क की भावना ही नहीं रहती, अर्थात् शब्द, अर्थ तथा ज्ञान को प्रतीत भिन्न-भिन्न नहीं होती। पर-प्रत्यक्ष की इसी अवस्था को योग में मधुमती भूमिका कहा गया है। मधुमती भूमिका योग की जिस दशा का नाम है, साहित्य में रस की उसी दशा का नाम साधारणीकरण है। दोनों में ही योगी तथा पाठक को अपनत्व तथा परत्व का ज्ञान नहीं रहता और विश्व का कण-कण एक ही रस में डूबा प्रतीत होता है। सर्वत्र केवल एक सत्ता का ही आभास होता है। अन्तर इतना ही है कि सिद्ध योगी मधुमती भूमिका में जब चाहे रस सकता है किन्तु कवि

या पाठक रजस् या तमस के उभरते ही इस अवस्था से अलग हो जाता है। दोनों की अनुभूति सर्वथा तथा सर्वदा आनन्दमयी होती है। दुःखात्मक भाव भी इस दशा में सुख के आलम्बन बनकर आते हैं क्योंकि भाव जब रस दशा को पहुँच जाता है तब उसमें केवल 'सत्य' की ही प्रधानता रहती है, रजस् अथवा तमस की नहीं। यह रसानुभूति कवि और पाठक दोनों को ही होती है। काव्य पढ़ते-पढ़ते या नाटक देखते-देखते जब भाव जागृत होकर रस दशा को पहुँच जाते हैं तो पाठक या दर्शक का हृदय आनन्द से आप्लावित हो जाता है। उसकी सब वृत्तियाँ एक तान हो जाती हैं, आनन्द में लय हो जाती है। यही साधारणीकरण या मधुमती भूमिका की दशा है।

फिर भी साधारणीकरण के विषय में कुछ विवाद है। डॉ० श्यामसुन्दरदास तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल का इस विषय में मतैक्य नहीं है। विवाद का विषय यह है कि 'हमारा हृदय कवि के आश्रय के, आलम्बन के, भाव के—किसके साथ साधारणीकरण करता है।'

शुक्लजी का कथन इस विषय में यह है—"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक रसास्वादन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इस रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।"

शुक्लजी का मत है कि जो भाव लाया जाय वह विचित्र तथा विशिष्ट नहीं होना चाहिए, वरन् लोकसामान्य होना चाहिए जिससे सामाजिक उस भाव को सरलता से ग्रहण कर सकें तथा आनन्द ले सकें। शुक्लजी, स्पष्ट है कि साधारणीकरण में आलम्बनत्व के धर्म को प्रधानता देते हैं। वे आश्रय से तादात्म्य तथा आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं।

इस विषय में 'साधारणीकरण' के जनक भट्ट नायक का मत भी दृष्टव्य है क्योंकि इस विषय में शुक्लजी उनसे ही प्रभावित प्रतीत होते हैं।

भट्ट नायक ने साधारणीकरण होने तक की प्रक्रिया में तीन शक्तियों की कल्पना की थी—(१) अभिधा ; (२) भावकत्व ; (३) भोजकत्व।

पहली शक्ति के द्वारा पाठक काव्य का साधारण अर्थ समझता है, दूसरी के द्वारा काव्यगत पात्रों के विभाव, अनुभावादि किसी पात्रविशेष के न रहकर साधारण अथवा सामान्य हो जाते हैं, अर्थात् ऐसी दशा में पाठक या दर्शक के लिए सीता एक स्त्री और राम पुरुषमात्र रह पायेंगे और इस प्रकार पाठक या दर्शक उनके विभाव और अनुभाव का सहज आनन्द ले सकेगा।

शुक्लजी का अभिप्राय विभाव, अनुभाव को साधारण रूप देकर लाये जाने से प्रतीत होता है। किन्तु इससे तो विभाव, अनुभावादि सीमित तथा शृंखलाबद्ध हो जायेंगे और काव्य की व्यापकता नष्ट हो जायगी। इस विषय में पण्डित राम

दहन मिश्र लिखते हैं—"इससे स्पष्ट है कि वे (शुक्लजी) आलम्बनत्व धर्म को प्रधानता देते हैं और स्पष्ट कहते भी हैं कि साधारणीकरण का आलम्बनत्व धर्म का होता है। इस दशा में वे अपरिमित को परिमित बना देते हैं, विस्तृत को संकुचित कर देते हैं। क्या रसोद्बोध में आलम्बन ही आलम्बन है ? यदि अनुभाव विपरीत हो तब ? शोकातुर व्यक्ति को ताल लय से मंच पर गाना गाते देख सभी शोकग्रस्त हो सकते हैं ? यहाँ तो शोकभाव का आलम्बन सभी का आलम्बन तो है और उससे साधारणीकरण भी होता है पर उसके अनुभाव से सभी का साधारणीकरण नहीं हो सकता। अतः केवल आलम्बन का ही नहीं, सभी का साधारणीकरण आवश्यक है।"

कुछ विद्वानों का कथन है कि जब हमारा चित्त एकाग्र या साधारणीकृत हो जाता है तब सब कुछ साधारण सा लगने लगता है और कुछ का कहना है कि लेखक जब ऐसे सामान्य भाव को ही काव्य मे अभिव्यक्त करता है, जो सबके हृदय में विद्यमान है तब साधारणीकरण होता है।

शुक्लजी का कथन है कि साहित्यिक का कार्य 'बिम्बग्रहण' करना है, अर्थ-ग्रहणमात्र नहीं। बिम्बग्रहण सामान्य वस्तु का नहीं हो सकता, केवल व्यक्ति का या विशिष्ट वस्तु का ही हो सकता है। अतः साधारणीकरण के लिए यह आवश्यक है कि जो विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति काव्य में लाया जाय वह सामान्य का प्रतिनिधि हो, उसकी अनुभूति विचित्र या निराली न हो, नहीं तो समाज का उससे तादात्म्य नहीं हो सकेगा। यहाँ भी शुक्लजी भाव को साधारणीकृत रूप में रखने के पक्षपाती हैं। उनका कथन है कि यूरोप में जो चरित्र-चित्रणप्रधान साहित्य-धारा बह रही है उसमें पाठक को रसानुभूति नहीं होती क्योंकि पात्रों के विभाव, अनुभाव सामान्य न होकर व्यक्तिगत होते हैं। उनकी परिस्थितियाँ भी सामान्य न होकर विशिष्ट कल्पित की हुई होती हैं। अतः ऐसे पात्रों को पढ़कर कौतूहलमिश्रित आनन्द होता है जो रसकोटि का नहीं होता। लेकिन रस में कोटियों की बात कहना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होती। रही अलौकिक एवं निराली अनुभूतियों की बात सो वह यों समझी जा सकती है कि विश्व के सभी मनुष्यों के मस्तिष्क का निर्माण एक ही प्रकार से नहीं हुआ, वह अनन्त रहस्य से भरा है। कभी सत्य कल्पना से भी आश्चर्यजनक होता है। बहुत से व्यक्तियों में अपनी निजी विशेषताएँ होती हैं, उन्हें साहित्य में प्रकट ही नहीं किया जाय, यह तो नियम नहीं बनाया जा सकता। फिर साहित्यकार का कार्य केवल इतना ही नहीं कि जो अत्यन्त सामान्य तथा स्थूल भावनाएँ हैं उनको ही बार-बार काव्य का रूप देता रहे। मानव मन में वासनारूप में निहित भावनाएँ कितनी हैं ? इनकी गणना का गर्व कौन कर सकता है ? निराली अनुभूतियाँ नाम का कोई शब्द हो कैसे सकता है ? केवल इतना कहा जा सकता है कि भय, मैथुन, आहार, निद्रा से सम्बन्धित भावनाएँ सम्भवतः सब व्यक्तियों में अधिक विकसितरूप में पाई

जाती हैं, किन्तु सभ्यताप्रसूत भावनाएं संस्कार भी तो हैं। सबसे अधिक सभ्य और सर्वाधिक असभ्य व्यक्ति की वासनाओं में क्या कोई अन्तर नहीं है ? साहित्य के गम्भीर विषय, मनोविज्ञान की जटिल बातें सभ्यता से दूर रहने वाले व्यक्ति के लिए यदि आजीवन निराली बनी रहें तो क्या आश्चर्य ? यदि वही असभ्य अपने को सभ्य व्यक्तियों में मिला ले तो हो सकता है, निराली तथा अलौकिक बातें उसके लिए सामान्य बन जांय। टॉलसटाय ने एक स्थान पर कहा है कि पृथ्वी के अणु-परिमाणु में इतने रहस्य व्याप्त हैं कि कोई भी वैज्ञानिक चाहे जो कल्पना करके अन्वेषण करने लगे, वही तथ्य प्रमाणित कर सकता है। आकर्षण और विकर्षण का सिद्धान्त भी बन सकता है। ठीक यही बात मानव मन के सम्बन्ध में कही जा सकती है कि उसके अन्तर के स्तर-प्रस्तरों में कितनी वासनाएं बीज-रूप में निहित हैं, यह कौन जानता है? जिन अनुभूतियों को सामान्य कहा जाता है क्या संसार में ऐसे व्यक्तियों का अभाव है जिनके लिए वे भी निराली तथा अलौकिक नहीं हैं ? फिर यह कोई तर्क नहीं कि काव्य में भाव को साधारणीकृत करके ही लाना चाहिए। कवि तो भावों का वर्णन करेगा और साधारणीकरण होगा पाठकों का लेखक की अभिव्यक्ति विशेषता के कारण। पाठक साधारणीकरण, तन्मयता तथा तादात्म्य का कोई निश्चित मानदण्ड लेकर पढ़ने नहीं बैठता कि अमुक वस्तु में वह आनन्द लेगा, अमुक में नहीं। वह तो पढ़ते समय लेखक के हाथ में रहता है। यह लेखक की सफलता अथवा असफलता है कि वह पाठक को अपने साथ ले सका है या नहीं। यदि पाठक साथ नहीं चल पाता तो या तो लेखक असमर्थ है अथवा पाठक अयोग्य है, भावों तथा भावनाओं से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रमाण के लिए तुलसी की कैकयी से पाठक विरक्त रहता है। उसके प्रति घृणा की भावना रहती है, किन्तु गुप्तजी की कैकयी से पाठक को घृणा तो दूर, सहानुभूति रहती है। क्यों ? केवल लेखक की अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति के कारण सामान्य या असामान्य भावों के चित्रण के कारण ही। 'साकेत' में कैकेयी के चरित्र को स्पष्ट करने वाले शब्दों—

"—पागल सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई,
सौ बार धन्य वह एक लाल की माई;
जिस जननी ने है जना भरत सा भाइ।"

की तुलना तुलसी के इन शब्दों से कीजिये—

"—गात गलानि कुटिल कैकेयी।"

क्या कारण है, कि पाठक को सहानुभूति तुलसी की कैकेयी से नहीं होती, गुप्तजी की कैकेयी से होती है।

इसके अतिरिक्त शरद के चरित्रहीन या देवदास को लीजिये। देवदास

शराब पीता है। उसके अन्दर और भी समाज की दृष्टि से अवगुण हैं, किन्तु पाठक उसे प्यार करता है, उससे सहानुभूति करता है। क्यों ? शुक्लजी के शब्दों में उसकी अनुभूतियाँ तो निराली अवश्य हैं।

इसी प्रकार मेघनाद एक ऐसा पात्र है कि असत् का प्रतीक मान कर पाठक उससे घृणा करता है, उसे दस्यु अथवा राक्षस समझता है किन्तु माइकेल मधुसूदन-दत्त के मेघनाद से उसे सहानुभूति क्यों हो जाती है ? इसमें तो सन्देह नहीं कि कि अब तक प्रचलित भावनाओं को देखते हुए लेखक ने उसमें निराली भावनाओं का समावेश किया है और भी आज ऐसे शतशः उपन्यास मिलेंगे जिनमें कि दुश्चरित्र एवं नीच कहे जाने वाले पात्रों से हमें सहानुभूति होती है। आज युग बदल रहा है ; लेखक और पाठक भी बदल रहे हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि वास्तव में साधारणी-करण लेखक के विचारों के साथ होता है, पात्रों के साथ नहीं। उपरोक्त बात मान लेने से किसी प्रकार का विवाद नहीं रह जाता। वास्तव में लेखक कुछ भावनाओं से प्रभावित होता है और उसे अपनी हृदय के रस से सिक्त कर साहित्य में रखता है। वह वर्णन ऐसे कौशल से करता है कि उसने जिस भावना का अनुभव जिस रूप में किया था, ठीक उसी रूप में पाठक उसी भावना का अनुभव करता है। लेखक या कवि की यही चरम सार्थकता है। अतः प्रश्न सामान्य अनुभूतियों का नहीं है अपितु इस बात का है कि लेखक अपनी अभिव्यक्ति-कौशल से पाठक के हृदय में अपने ही अनुकूल भावनाओं का उद्वेग कराने में सफल होता है कि नहीं ? लेखक यदि समर्थ और प्रतिभाशाली है तो वह प्रसिद्ध से प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्र के लिए हमारी घृणा आकर्षित कर सकता है और नीच से नीच पात्र के साथ हमारी सहानुभूति करा सकता है। हमारा साधारणीकरण हर दशा में लेखक की मान्यताओं और उसके विचारों के साथ ही होता है।

---

अध्याय १५

# महाकाव्य के लक्षण (शास्त्रीय पक्ष)

हिन्दी महाकाव्य के वे सभी लक्षण मान्य हैं जो संस्कृत भाषा में संस्कृत महाकाव्यों के लिए मान्य हैं। संस्कृत भाषा में साहित्य का (काव्य का) गम्भीर मंथन हुआ है और संस्कृत के काव्यशास्त्र का जितना सुलझा, सुविभाजित तथा उचितरूपेण वर्गीकरण किया गया है, शायद ही किसी दूसरी भाषा का काव्य इतना स्पष्ट और भ्रमरहित हो।

संस्कृत-साहित्य में जो महाकाव्य के लक्षण मिलते हैं, वे किसी मद्यप का अनर्गल प्रलापमात्र नहीं है। उनका आधार बिलकुल वैज्ञानिक है। यह दूसरी बात है कि आज प्रत्येक वस्तु को देखने का दृष्टिकोण ही बदल गया है। फिर भी किसी भी दृष्टि से देखने पर संस्कृत-साहित्य अपने नियमों की गहराई तथा प्रगतिशीलता के तत्वों में विश्व के किसी भी साहित्य से पिछड़ा हुआ नहीं कहा जा सकता। महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) महाकाव्य के आरम्भ में मंगलाचरण होना चाहिए। खल-निन्दा या सज्जन-संकीर्तन होना चाहिए, जैसा कि तुलसी की रामायण में है।

भारत, यह तो निश्चित है, एक आध्यात्मिक संस्कृति रखता है। ईश-वन्दना को यहाँ आध्यात्मिक महत्व दिया गया है। काव्य-शक्ति की प्राप्ति कभी-कभी देवताओं से भी होती है, इसलिए उनकी वन्दना आवश्यक समझी गयी है। दूसरी बात यह है कि भारतीय कवि सदा ही अपने को तुच्छ समझता है और उसके द्वारा यदि कुछ असाधारण बन भी पड़े तो वह उसका श्रेय परमात्मा को ही देता है। खल-निन्दा एवं सज्जन-संकीर्तन की सामाजिक उपादेयता है जो मनोवैज्ञानिक है।

(२) कथा सर्गबद्ध हो, सर्ग ८ से कम न हों।

इसमें प्रबन्धचारुता की ओर स्पष्ट इंगित किया गया है। एक महान् काव्य महाकाय तो होना ही चाहिए फिर भी उसकी कथा को सर्गों में विभाजित कर देने से उसमें सुचारुता की रक्षा हो सकेगी। इस नियम का सम्बन्ध कथा के रूप-विधान से है जिससे यह व्यवस्थित तथा पुष्ट रहे।

(३) ख्यातवृत हो तथा प्रासंगिक कथा भी हो।

इसका अभिप्राय तो बिलकुल स्पष्ट है। समाज का अधिकांश जिस कथा को जानता हो वही कथा महाकाव्य के लिए चुननी चाहिए इस। प्रकार से महाकाव्य की घट-घट पहुँच सहज ही हो जायगी और उस ख्यातवृत के कारण उसमें वर्णित सभी बातें समाज को सुपरिचित और चिरपरिचित लगेंगी, जो महाकाव्य को उनके लिए अधिकाधिक बोधगम्य बना सकेंगी। ख्यातवृत होने से लाभ यह भी है कि यदि उसमें कोई अलौकिक अंश है तो समाज उसे अस्वाभाविक या अतिरंजित नहीं समझेगा अपितु उसकी अलौकिकता से इसके विपरीत प्रभावित और होगा। इस प्रकार सम्मानीय गुणों से उसका ही सहज में परिचय हो सकेगा।

प्रासंगिक कथा के दो उद्देश्य हैं—एक तो प्रधान कथा के नायक का चरित्र-विकास और दूसरा, कथा में उचित मोड़ या परिवर्तन, जो कथा को अधिक रुचिकर बना देता है। हिन्दी या संस्कृत के सभी महाकाव्यों में प्रासंगिक कथाएँ मिलेंगी। मानसिक तथा कथा-सौन्दर्य दोनों दृष्टि से यह उचित प्रतीत होता है। नायक का चरित्र अधिक स्पष्ट हो जाता है—अधिक उत्कर्ष को पहुँच पाता है और पाठकों के लिए कथा अधिक रोचक हो जाती है।

(४) नायक धीरोदात्त तथा सद्वंशजात होना चाहिए।

धीरोदात्त वह नायक होता है जो धार्मिक, महान् प्रतापी तथा सत्यवादी, एक पत्नीव्रत होता है। दूसरे शब्दों में, कह सकते हैं कि ऐसा नायक अपने देश की संस्कृति का समर्थ प्रतिनिधि होता है। समाज प्रत्येक आदर्श उसी से ग्रहण करता है, अतः असाधारण और महान् होना उसके लिए अनिवार्य है। नायक अपराजेय, अलौकिक शक्तिसम्पन्न तथा धर्म-रक्षा में समर्थ होना चाहिए। इसका एकमात्र कारण यह है कि यदि महाकाव्य के नायक को निर्बल और सामर्थ्यहीन चित्रित किया जाय तो समाज उससे क्या शिक्षा लेगा ? नायक अपराजेय इसलिए रखा जाता है कि उसकी विजय, धर्म या सद्वृत्तियों की विजय है तथा विरोधी की विजय पाप या पापी की विजय है। ऐसे नायक के साथ समाज का हृदय स्वयमेव हो जाता है और इसकी पराजय दिखाना धर्म की पराजय दिखाना एवं सत्य का पतन दिखाना होगा जो समाज के मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यधिक घातक होगा।

उच्च वंश का होना इसलिए आवश्यक है कि वह सभी वर्गों की श्रद्धा का पात्र हो सके और आदरणीय गुणों का समावेश उसमें सहज ही हो। इस प्रकार वह एक असाधारण प्राणी होने के लिए बाध्य है। भारतीय महाकाव्य का नायक इतना महान् तथा आदर्श प्राणी होना चाहिए कि प्रत्येक पाठक उससे कुछ न कुछ ग्रहण कर सके।

संक्षेप में, धीरोदात्त नायक तथा सद्वंशजात होने से नायक के जीवन में विविधता का समावेश स्वतः हो जायगा। महाकाव्य जीवन का सर्वांगीण चित्र उपस्थित करता है, अतः नायक का जीवन भी विविधता से पूर्ण होना ही चाहिए।

आदर्श गुणों की विजय तथा पाप की पराजय की भी सामाजिक उपादेयता है। यह अच्छा ही है कि सामाजिकों को दृढ़विश्वास हो जाय कि धर्म की जय और पाप की पराजय होती है।

(५) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से एक की प्राप्ति नायक को होती है।

संसार में प्राणी के जन्म लेने का क्या उद्देश्य है? चाहे कुछ भी हो, इतना तो निश्चित ही है कि इन चार वस्तुओं के अतिरिक्त वह चाहेगा भी क्या? रह भी क्या गया? आचार्यों ने प्राप्य वस्तुओं की तालिका में धर्म तथा मोक्ष के अतिरिक्त अर्थ तथा काम को भी रख कर उद्देश्य को अधिक स्वाभाविक तथा जीवन के अधिक निकट बना दिया है और इस प्रकार विविधता और स्वाभाविकता का समावेश स्वतः हो गया है। किन्तु एक बात विचारणीय अवश्य है कि महाकाव्य में धर्म के माध्यम से ही प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति का विधान होगा। अर्थ एवं काम महाकाव्य के उद्देश्यों में कोई साधारणता तथा वर्णन में कोई अश्लीलता न पायेंगे क्योंकि अधर्म या अनुचित उपायों से नायक द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं दिखाई जायेगी।

साहित्य का उद्देश्य क्या है? मनुष्य को मानसिक भोजन देना, साथ ही उसके जीवन के चरम लक्ष्य की ओर उसे सतत उन्मुख रखना। भारतीय महाकाव्यों का यही उद्देश्य रहता है। कुछ लोगों को यह आपत्ति है कि इन प्रकारों के उद्देश्यों में अस्वाभाविकता का समावेश हो जाता है और काव्य जीवन के निकट की वस्तु नहीं रह जाता। इसका उत्तर तो बहुत साधारण है। जीवन की कुरूपता संसार में जैसी है, वैसी ही यदि काव्य में भी अभिव्यक्त की जाय तो समाज पर क्या प्रभाव पड़ा? यह कहा जा चुका है कि काव्य कोई Photography नहीं है कि जैसा दृश्य हो उसका ज्यों का त्यों दृश्य उतार दिया जाय। कलाकार काव्य में जिस दृश्य को रखता है, उसकी सम्पूर्ण कुरूपता अवश्य दूर कर देता है। साहित्य में यदि जीवन का परिष्कृत रूप रखा जाय तो वह वांछनीय ही कहा जायगा। स्वाभाविकता के नाम पर साहित्य में अश्लीलता का नग्न नृत्य दुर्भाग्य का ही विषय कहा जायगा। फिर भारतीय काव्यों में उस समय समस्या को काव्य का रूप नहीं दिया जाता था। हाँ, सहायकरूप में सब बातें उसके अन्तर्गत आ जाती थीं। इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्राप्यरूप में रखी गयीं। ये चार वस्तुएँ साहित्यशास्त्रियों के ज्ञान-वैभव को ही प्रकट करती हैं, किसी दुर्बलता को नहीं।

(६) शृंगार या वीर में से एक रस प्रधान हो, शेष रस सहायकरूप में उपस्थित हों।

उपरोक्त लक्षणों से स्पष्ट है कि महाकाव्य या तो पराक्रमप्रधान हो या प्रेम का सुन्दर वातावरण उसमें हो। ये ही दो रस प्रधान क्यों हो? इसका भी वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक कारण है।

शृंगार रस रस-राज कहा जाता है। इसके दो पक्ष होते हैं—संयोग शृंगार

तथा विप्रलम्भ शृंगार, अर्थात् जीवन की सुख-दुःखमयी अनुभूतियाँ शृंगार रस के अन्तर्गत सरलतापूर्वक रखी जा सकती हैं। ऐसा और कोई दूसरा रस नहीं जो जीवन के इतने विस्तृत क्षेत्र को अपने प्रभाववृत्त में समाहित किये हुए हो। जीवन की विविधता जितनी शृंगार रस में दिखायी जा सकती है, किसी दूसरे रस में नहीं। इसके अतिरिक्त शृंगार रस में सम्पूर्ण संचारीभाव आ जाते हैं। केवल कुछ रसों—रौद्र, भयानक, वीभत्स आदि से उसका विरोध है; अधिकांश रस सहायकरूप में उसके साथ आ सकते हैं।

इसी प्रकार वीर रस भी जीवन का महान्तम तथा अत्यन्त उदात्त स्थायीभाव है। दया, क्षमा, परोपकार आदि की जो भावना उसमें स्वतः ही निहित रहती है और उत्साह जो वीर रस का स्थायीभाव है, उसके अभाव में तो कोई रस टिक ही नहीं सकता। वीर रस शृंगार के साथ भी आ सकता है। शृंगार के बाद महत्व में वीर रस ही आता है।

इस प्रकार शृंगार और वीर रस का प्रधान रस के रूप में महाकाव्य में विधान प्रत्येक दृष्टि से वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक उचित प्रतीत होता है। शेष सब रस महाकाव्य में सहायक होकर आते हैं। जब जीवन में मनुष्य समय-समय पर सब भावों का अनुभव करता है तो महाकाव्य में भी उनका अन्त आवश्यक है और स्वाभाविक भी क्योंकि महाकाव्य सर्वांगीण जीवन की साहित्याभिव्यक्ति ही है।

(७) महाकाव्य के एक सर्ग में एक ही छन्द हो।

एक सर्ग में एक ही छन्द होने से कथा में प्रवाह बना रहता है। अधिक छन्द-परिवर्तन रस में बाधक होता है। इसके लिए केशवदास का उदाहरण लिया जा सकता है। उनकी रामचन्द्रिका (छन्दों का अजायबघर) प्रतीत होती है, किन्तु अन्त में छन्द-परिवर्तन का भी एक मनोवैज्ञानिक रहस्य है। एक छन्द पढ़ने से जब पाठक ऊब जाता है तो अन्त में परिवर्तित छन्द से उसका मन चमत्कृत हो जाता है। अच्छा हो, यदि महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में एक नवीन छन्द हो। इससे कवि का भाषा तथा पिंगलशास्त्र पर अधिकार भी सिद्ध होगा।

अन्तिम छन्द में अगले सर्ग की कथा का आभास महाकाव्य के प्रबन्ध-विधान में एक सुन्दर मनोवैज्ञानिक वृद्धि है। इसका सम्बन्ध पाठक से अधिक है। अगले सर्ग की कथा के आभास से उसकी उत्सुकता निरन्तर बनी रहेगी और इस प्रकार महाकाव्य की रोचकता बनी रहेगी। पाठक, लेखक या दर्शक की दृष्टि से भारतीय साहित्य का सब विधान पूर्ण ही दिखाई देता है।

(८) महाकाव्य में प्रेम, नगर, यात्रा, सन्ध्या, रजनी, प्रभात, सागर, सरिता, निर्झर, षट्ऋतु, मृगया, युद्ध, रणसज्जा, वन आदि का वर्णन हो।

इस नियम का सम्बन्ध भी महाकाव्य के रूपविधान से ही अधिक प्रतीत होता है। पाठक की दृष्टि से उसमें रोचकता बढ़ जायगी। लेखक जीवन की विवि-

घता का समावेश कर सकेगा। महाकाव्य में अन्य बातों का भी वर्णन हो सकता है, किन्तु उक्त बातों का वर्णन तो अनिवार्य ही है।

(६) सामयिक समस्याओं पर व्याख्यान।

यह तो ठीक है कि काव्य जीवन की 'मक्खीमार अनुकृति' नहीं है, फिर भी कवि सामाजिक प्राणी है। यदि युग की पुकार उसके काव्य में प्रस्फुटित हो उठे तो यह स्वाभाविक ही है। कवि समाज का सबसे अधिक सजग प्रहरी है। सामाजिक समस्याएँ प्रत्येक व्यक्ति के मन और मस्तिष्क से टकराती हैं किन्तु उन पर मनन कितने व्यक्ति करते हैं? कवि भी उनसे अछूता नहीं रह सकता। फिर, जो वस्तु उसके सम्पर्क में आयेगी वह उसे उसके सुन्दरतम रूप में रखने का प्रयत्न करेगा। अतः सामाजिक, राजनैतिक या धार्मिक—किसी भी प्रकार की समस्याओं के लिए समाज कवि का मुखापेक्षी है, इसलिए कवि का उत्तर-दायित्व महान् है और वह एक असाधारण प्राणी है। कवि प्रधान समस्याओं पर बिना प्रकाश डाले कैसे रह सकता है? समाज उसी से सर्वोत्तम हल की आशा रखता है। महाकाव्य में सामाजिक समस्याओं का विवेचन कवि की बहुज्ञातता एवं विद्वत्ता की परीक्षा भी है। तुलसी की रामायण जीवन की सभी समस्याओं का समाधान करती है, अतः तुलसी महानतम कवियों में से हैं।

आधुनिक युग में महाकाव्य की परिभाषा में परिवर्तन ही नहीं हुआ। उसके लक्षणों में परिवर्द्धन भी हुआ है और आज प्राचीन लक्षणों का पालन काव्य में आवश्यक नहीं समझा जाता। महाकाव्य के प्राचीन लक्षणों के अनुसार महाकाव्य दुःखान्त हो ही नहीं सकता था क्योंकि महाकाव्य का नायक धर्म का प्रतिनिधि होता था अतः उसका पतन धर्म का पतन होता था। ऐसा होने से समाज का विश्वास ही आदर्श सिद्धान्तों से हट जाता। नायक का पतन धर्म का पतन या सत् पक्ष का पतन था, अतः वह कभी नहीं दिखाया जाता था। आज यह सब कुछ आवश्यक नहीं रहा। पाश्चात्य ट्रेजेडी तथा कोमेडी का प्रभाव यहाँ भी पड़ा और यहाँ भी दुःखान्त काव्य लिखे जाने लगे। इस प्रकार के काव्य-समर्थकों का कहना है कि विश्व में सदैव सत् पक्ष की विजय नहीं होती, फिर साहित्य में उसे सदा क्यों विजयी दिखाया जाय? यह तो घोर अस्वाभाविकता है।

इसके अतिरिक्त आज महाकाव्य का नायक कोई भी हो सकता है—एक मजदूर एवं एक घास खोदने वाला तक। नवीन समर्थकों का कहना है कि प्राचीन काव्य सामंतवादी तथा पूँजीवादी संस्कृति का साहित्यिक प्रचार है; उसमें समाज के बहुमत को, जो दीन-दुःखी हैं, कोई स्थान नहीं।

आज के महाकाव्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में एक उसका प्राप्य हो। आज तो समस्याप्रधान काव्य की रचना अधिक होती है। एक ज्वलन्त समस्या लेखक लेता है और उसे काव्य का आवरण पहना देता है।

जीवन का सर्वांगीण और स्वाभाविक चित्र आज के नवीन लक्षणों में से एक है। आज और बातों से अधिक इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि जीवन के लिए एक सन्देश महाकाव्य अवश्य दे। पाप और पुण्य का स्थूल संघर्ष अब हट रहा है और द्वन्द्व तथा मनोवैज्ञानिक संघर्ष का प्राबल्य महाकाव्यों में रहता है। आज के महाकाव्य चरित्र-चित्रणप्रधान रहते हैं, प्राचीन महाकाव्य कथाप्रधान रहते थे।

आज महाकाव्य का अर्थ है—'महान् कथानक तथा महान् काव्यत्व।' इन दोनों के मिश्रण से ही महाकाव्य का रूप-निर्माण आज अधिक वांछनीय समझा जाता है। एक और नवीन तत्व, जो आज के महाकाव्य में दृष्टिगोचर होता है, इसमें गीतों का प्रयोग होता है। आधुनिक महाकाव्यों—'कामायनी', 'वैदेही वनवास', 'साकेत' आदि सब में गीतों का प्रयोग हुआ है। इसमें सन्देह नहीं है कि यह एक नवीन आकर्षण है, जो वांछनीय है। गीतों में आत्माभिव्यक्ति तीव्रतररूप में होती है।

सारांश यह है कि आज महाकाव्य के पुराने लक्षण अधिक मान्य नहीं हैं। नवीन लक्षणों का समावेश हो रहा है। समयानुकूल तथा काव्य-धारा के अनुकूल परिवर्तन कभी अस्वस्थकर नहीं होते। नवीन लक्षण भी आज के वातावरण में हमारे काव्य-साहित्य को नवीन आकर्षण एवं नवीन बल देंगे। परिवर्तन का स्वागत करना प्रत्येक सच्चे व्यक्ति का कर्त्तव्य है। रूढ़ियों से चिपका रहना हितकर नहीं। परन्तु इतना अवश्य है कि कोई प्राचीन वस्तु इसलिए कुरूप एवं अवांछनीय नहीं हो जाती कि वह प्राचीन है। यदि प्राचीन वस्तु ठीक है तो उसका ग्रहण भी श्रेयस्कर है।

---

अध्याय १६

# साहित्य-सृजन : आलोचना और आलोचक

साहित्य जब अपने रूप का विश्लेषण स्वयं करने लगता है तब समालोचना का जन्म होता है। इसका यही अर्थ है कि साहित्य में प्रथमत: लक्ष्य-ग्रन्थों का परिप्रणयन होता है, फिर लक्षण-ग्रन्थों का। पहले पहल लक्ष्य-ग्रन्थों की विशेषताओं के आधार पर कुछ सिद्धान्त बनाये जाते हैं, फिर साहित्य की किसी भी कृति को उस कसौटी पर कस कर उसे अच्छा या बुरा ठहराया जाता है।

साहित्य-क्षेत्र में ग्रन्थों को पढ़कर उनके गुण-दोषों का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। सद्-असद् की इस प्रकार की विवेचना साहित्य में अपेक्षित भी है क्योंकि साधारण पाठकों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे कवि के उद्देश्य को यथावत् समझकर उसकी रचना का रसास्वादन कर सकेंगे। फिर यह आवश्यक भी तो नहीं कि साहित्य के नाम पर लिखी गयी सब चीजें उच्चकोटि की ही हों। कितनी ही तो पठनीय भी नहीं होतीं। तो क्या समाज ऐसी पुस्तकें पढ़ने में भी अपने समय का अपव्यय करे जो पठनीय नहीं है ? यहीं तो आलोचना का कार्य और आलोचक का गुरुतर कार्य आरम्भ होता है कि वह समाज को उन्हीं कृतियों को पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करे जो उत्तम कोटि की हैं और निम्न कोटि की वस्तुओं के अध्ययन से समाज के मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करे।

यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा। साहित्य में जीवन की ही व्याख्या मिलती है और आलोचना, चूंकि उस व्याख्या को और भी स्पष्ट करती है, इसलिए इसका महत्व तो स्वयंसिद्ध है। समाज में अच्छे और बुरे प्रकार के दोनों तत्व विद्यमान रहते हैं, किन्तु जिस प्रकार विद्वान् लोग बुरे तत्वों से समाज को सावधान करते रहते हैं उसी प्रकार आलोचक भी साहित्य में जीवन की भ्रमपूर्ण व्याख्या न की जाय, किसी सिद्धान्त का भ्रमपूर्ण प्रतिपादन न किया जाय आदि बातों का ध्यान रखते हैं।

साहित्य में प्रवाहित गन्दी धाराएं एवं व्यर्थ की रूढ़ियां आलोचना के कठिन

प्रहारों से छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और साहित्य की धारा में एक नई गति तथा नवीन जीवन आ जाता है। चूंकि साहित्य का सम्बन्ध जीवन की व्याख्या, नीति, समाज आदि अनेक बातों से होता है, इसलिए उसके गुण और दोषों के विवेचन की भी आवश्यकता होती है। आलोचना साहित्य का उचित मार्ग-दर्शन करती है। कुछ लोगों का विचार है कि साहित्य पर इस प्रकार का अंकुश अच्छा नहीं। उसे स्वेच्छया रहने देना चाहिए। किन्तु यह कथन भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है। ऐसे व्यक्ति साहित्य को केवल विलासमात्र समझते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि साहित्य में एक जीवन-शक्ति होती है जो मृत समाज के स्नायुओं मे शुद्ध रक्त का संचार करती है, उसे प्राण-दान देती है। साहित्य में क्रांति कराने की शक्ति होती है। वह शासन-विधान और वर्ग-श्रेणियों को मिटाने में पूर्ण समर्थ है—फ्रांसीसी तथा रूसी साहित्य इसके उदाहरण हैं। रूसी साहित्य विशेषरूप से इस विषय का सुन्दरतम निदर्शन है कि सामाजिक जीवन का अभ्युत्थान, राजनैतिक विधान में अभीप्सित परिवर्तन साहित्य द्वारा किस प्रकार सम्भव है, जब साहित्य में इतनी शक्ति है, जब वह एक शक्तिशाली अस्त्र से भी अधिक प्रभावशाली है। फिर यदि उसमें गन्दे भावों की धारा बह निकले तो उसे रोकना एक साहित्यिक और सामाजिक आवश्यकता है। यह कार्य केवल आलोचना से ही सम्भव है कि वह ऐसे साहित्यकार का उद्गम बन्द करे जो समाज-विरोधी है। ऐंगिल्स ने कहा था कि "और हथियारों की भाँति साहित्य हमारे मोर्चे का सबसे अधिक सशक्त हथियार है।" सभी साहित्यों में ऐसा हुआ कि जब-जब उच्छृंखलता बढ़ी तब-तब वहाँ समर्थ आलोचकों ने उचितरूप में उसे नियन्त्रित रखा और मानसिक गन्दगी की बाढ़ से समय-समय पर समाज को बचाया। यदि आलोचकों के अंकुश का डर न रहे तो हमारा साहित्य "तोता-मैना" जैसी अश्लील और कुरुचिपूर्ण कृतियों से भर जाय।

आलोचना इस प्रकार एक ओर तो साहित्यिक स्वच्छन्दतावाद या उच्छृंखलता-वाद पर कड़ा नियंत्रण रखती है, दूसरी ओर जनकृति को परिष्कृत पर सत्साहित्य के प्रचार का मार्ग प्रशस्त करती है। आलोचना सामूहिकरूप से जन-मानस को परिष्कृत और सुरुचिपूर्ण बनाती है।

आलोचना-कार्य उतना ही पुराना है जितना साहित्य-सृजन का। यह तो निश्चित बात है कि मनुष्य जितनी वस्तुओं के सम्पर्क में आता है, उनके प्रति अच्छे या बुरे विचार अनजान में उसके मस्तिष्क में बन जाते हैं। यही आलोचना की आदिम अवस्था होगी और प्राचीन समय के प्रशंसा-सूचक और कुछ अप्रशंसा-सूचक वाक्य आज तक प्रचलित हैं। वे सब आलोचनात्मक वाक्य हैं और आलोचना का अति पुरातन-रूप हमारे सामने रखते हैं।

"—उपमा कालीदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्।
दण्डिन: पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणा:॥"

उपरोक्त श्लोक कवि और उसकी रचना की विशेषताओं की संक्षिप्त किन्तु कितनी सारगर्भित आलोचना है। यह परम्परा संस्कृत-साहित्य तक ही सीमित नहीं रही, हिन्दी में वह और भी विकसित रूप में दृष्टिगोचर होती है।

"और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया।"

नन्ददास के कलापक्ष की विशेषता जड़िया शब्द से बिलकुल स्पष्ट हो उठती है। इसी प्रकार—

"—सूर सूर तुलसी शशी, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करें प्रकाश॥"

यह उक्ति सूर, तुलसी और केशवदास के सम्मान को उचित श्रेणियाँ बनाती है और तद्विषयक ज्ञान को स्पष्ट करती है।

आधुनिक युग में अन्य बातों की भाँति आलोचना के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुआ है। उसका ढंग और रूप भी अब बदल गया है।

आज हम आलोचना के चार भेद स्पष्टत: कर सकते हैं—

(१) निर्णयात्मक आलोचना ; (२) व्याख्यात्मक आलोचना ; (३) आत्मप्रधान आलोचना और (४) सैद्धान्तिक आलोचना।

### (१) निर्णयात्मक आलोचना

इस प्रकार की आलोचना के लिए आलोचक को निश्चित व मान्य साहित्य-सिद्धान्तों का आश्रय लेना पड़ता है। विस्तृत विवेचन इसकी प्रधान विशेषता है क्योंकि बिना पूर्ण विवेचन के निर्णयात्मक आलोचना सफल ही नहीं हो सकती। इस प्रकार की आलोचना में वस्तुत: आलोचक अपनी रुचि से शासित हो, उसके अनुकूल आलोचना-सिद्धान्त को लेकर किसी कृति व कृतिकार की आलोचना के लिए उनका (सिद्धान्तों का) आरोप उस पर करता है और इस प्रकार वह रचना के भले-बुरे का निर्णय करता है।

निर्णयात्मक आलोचक तीन प्रकार के होते हैं—

(अ) वे जो अपनी रुचि के अनुकूल ही किसी कृति का निर्णय करते हैं।

(आ) वे जो सिद्धान्तों के लक्षण मिला कर किसी कृति का निर्णय करते हैं।

(इ) वे जो सिद्धान्तों से पूर्ण परिचित होते हैं, किन्तु फिर भी उनमें न बँध कर उनसे परे रहते हैं। यही सर्वमहान् आलोचक होते हैं, क्योंकि केवल सिद्धान्तों का अन्धानुकरण किसी भी आलोचना को निम्न कोटि की बना देता है। चूँकि साहित्य जीवन की व्याख्या होने के कारण परिवर्तनशील है, इसलिए नियम तो बदलते रहने भी चाहिए।

हिन्दी में इस प्रकार की आलोचना-प्रणाली की पुस्तकें हैं—'मिश्रबन्धु', 'विनोद' और 'नवरत्न'।

### (२) व्याख्यात्मक आलोचना

आलोचना का मुख्य स्वरूप है किसी रचना की आलोचना उसी में

वरिणत बातों को दृष्टि में रख कर करना और निर्णयात्मक आलोचना की भाँति किसी निश्चित सिद्धान्त का आरोप उस पर न करना। इस प्रकार की आलोचना में आलोच्य रचना ही उसका सिद्धान्त होती है। उसमें किसी भी प्रकार के वाह्य सिद्धान्तों का समावेश नहीं किया जाता। किसी रचना का मूलोद्घाटन (Valuation) ही इस आलोचना का मुख्य उद्देश्य होता है। तुलनात्मक ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक आलोचनाएँ इसी के अन्तर्गत आती हैं। इस प्रकार की आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें व्याख्या करने वाला कृति से कृतिकार की ओर चलता है, लेखक से कृति की ओर नहीं। इसमें आलोचक एक अन्वेषक के रूप में रहता है, न्यायाधिकारी की भाँति निर्णायकरूप में नहीं, जैसा निर्णयात्मक आलोचना में होता है। इस प्रकार की आलोचना में कवि के प्रगतिशील तत्वों की ही प्रशंसा की जाती है, निर्णयात्मक आलोचना की भाँति नियमोल्लंघन का दोष उस पर नहीं लगाया जाता। इस प्रकार की रचनाएँ हैं—

देव बिहारी—कृष्ण बिहारी मिश्र

बिहारी और देव—भगवादीन

(३) आत्मप्रधान आलोचना—इसमें आलोचक विवेचन या विचार की ओर उन्मुख नहीं होता, जो आलोचक का मुख्य कार्य है, प्रत्युत वह किसी रचना द्वारा अपने हृदय पर पड़े प्रभावों को व्यक्त करता है।

प्रभावों की व्यंजना ऐसा आलोचक प्रायः प्रभावात्मक शैली में करता है जिसके कारण उसकी आलोचना एक स्वतन्त्र रचना के रूप में प्रस्तुत होती है। इस प्रकार की आलोचना में सिद्धान्त या विचार मुख्य न रह कर आलोच्य-ग्रन्थ ही आलोचक के भाव का आलम्बन बन जाता है और यह आलोचना विवेचन न रह कर अभिव्यक्ति-मात्र रह जाती है। इस प्रकार की आलोचना में हम कवि से भी अधिक आलोचना का परिचय पाते हैं क्योंकि कृति या कवि का उसके द्वारा निरूपित रूप उसका अपना ही दृष्टिकोण होता है, किसी मान्य आधार पर की गयी विवेचना नहीं। प्रायः सभी छायावादी समालोचक हजारीप्रसाद द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र तथा गंगाप्रसाद पाण्डे आदि इसी प्रकार के आलोचक हैं।

(४) सैद्धान्तिक समालोचना—इसमें लक्ष्य-ग्रन्थों के गम्भीर विवेचन के पश्चात् साहित्य-सिद्धान्तों की स्थापना होती है। असाधारण कवियों की अमर कृति द्वारा इन साहित्य-सिद्धान्तों की रचना होती है। फिर इन्हीं साहित्य के सिद्धान्तों पर अन्य कवियों की रचनाएँ कसी जाती हैं और उनका उत्तम या निकृष्ट होना निश्चित किया जाता है, किन्तु इतना तो निश्चित है कि इस प्रकार के पूर्वनिश्चित सिद्धान्त

भी सब कवियों के साथ उचित न्याय नहीं कर सकते। एक लेखक ने कहा है कि कालीदास के जिन ग्रन्थों के आधार पर साहित्यशास्त्रों की रचना हुई, अब उन्हीं साहित्यशास्त्रों के अनुसार उसमें (लक्ष्य-ग्रन्थों में) कमियाँ ढूँढ़ीं जाती हैं। वास्तव में, साहित्य नियमों के पीछे नहीं चलता, नियम उसके पीछे चलते हैं। भाषा व्याकरण का पदानुसरण नहीं करती, व्याकरण भाषा का अनुगामी है। जो साहित्य-सिद्धान्त स्थिर किये गये हैं उनके अनुसार तो कोई भी रचना पूर्णतः ठीक निकलेगी नहीं, लेकिन प्रायः देखा जाता है कि किसी-किसी कवि की रचना प्राचीन निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार नहीं होती है, फिर भी उसकी मान्यता होती है। आधुनिक काल के निराला और पन्त ऐसे ही कलाकार हैं जिनका अत्यधिक विरोध केवल इसलिए हुआ कि वे कला के नवीन रूप के समर्थक थे और प्राचीनता के टक्कर विरोधी थे। आज वे किसी भी महाकवि के समकक्ष रखे जा सकते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृतकाल में इसी प्रकार के आलोचना-ग्रन्थ अधिक लिखे गये। हिन्दी में भी कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं—

विश्वनाथ—साहित्य दर्पण। जगन्नाथ—रस गंगाधर। आनन्दवर्द्धन—ध्वन्यालोक। भरत नाट्यशास्त्र। श्यामसुन्दरदास—साहित्यालोचन। रामदहिन मिश्र—काव्य दर्पण। बाबू गुलाब राय एम० ए०—सिद्धान्त और अध्ययन, आदि।

किसी भी लेखक की कोई कृति आज आलोचक के माध्यम से समाज में जाती है। जॉन्सन इस कृति की परख के लिए आलोचक पर विश्वास करता है, अतः आलोचक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह ऐसा कोई कार्य न करे जिससे जन-मन के विश्वास को ठेस पहुँचे।

प्रश्न उठता है कि क्या किसी कृति की आलोचना आवश्यक है। क्या बिना आलोचना के कोई कलाकृति समाज में अपना सम्बन्ध सीधा नहीं जोड़ सकती? उत्तर अत्यन्त साधारण है कि यदि एक साधारण पाठक साहित्यशास्त्र का पूर्ण ज्ञाता हो, विद्वान् हो तो फिर निश्चितरूप से आलोचना नाम की किसी वस्तु की आवश्यकता न पड़े, किन्तु ऐसा होना सम्भव प्रतीत नहीं होता। कम से कम जब तक यह सम्भावना एक सत्य नहीं बन जाती तब तक आलोचना की आवश्यकता है ही।

आलोचना का उद्देश्य क्या है? इस पर एक दृष्टि डाल लेना भी असंगत नहीं होगा।

आलोचना द्वारा किसी कवि या लेखक की कृति की विस्तृत व्याख्या की जाती है और आलोचक उस कृति के विषय में अपना मत स्थिर करता है जिससे पाठक उसका पूर्ण रसास्वादन कर सके। भाव तथा भाषा के चमत्कारों को स्पष्ट करके वह कृति को पाठक के लिए बोधगम्य बनाता है। किसी वाक्य के कितने अर्थ हो सकते हैं अथवा कितने अलंकारों का सुन्दर समावेश उसमें है, यह सब कुछ आलोचक सुन्दरतापूर्वक स्पष्ट करता है।

कुछ लेखक या कवि ऐसे भी हो सकते हैं जो स्वयं अपनी प्रतिभा से परिचित न हों। आलोचक का यह आवश्यक कार्य है कि लेखक को उसकी प्रतिभा का ज्ञान कराये और नवसाहित्य-सृजन के लिए उसे उचित प्रोत्साहन दे। देखा यह जाता है कि कभी-कभी अत्यन्त साधारण लेखक महान् आलोचकों से प्रोत्साहन पाकर महान् लेखक बन जाते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि आलोचक एक चारण या भाट है जिसका कार्य है किसी कवि की कृति की स्तुति करना। लेकिन यह उचित नहीं है। महान् आलोचक का व्यक्तित्व किसी भी महान् कवि से किसी दशा में कम नहीं है। आलोचक का कार्य है—कवि या लेखक का उचित मार्ग-दर्शन करना। जब वह साधारण प्राणी होगा तो एक असाधारण व्यक्ति (कवि) का पथ-प्रदर्शन कैसे कर सकता है? डॉ० जॉन्सन के विषय में प्रसिद्ध है कि वे किसी लेखक की महानता से मन्त्रमुग्ध नहीं हुए, अपितु सदैव, एक हेडमास्टर जिस प्रकार विद्यार्थी को उसकी भूलों पर डाट कर उसे उचित शिक्षा देता है, महान् लेखकों को शिक्षा दिया करते थे। वास्तव में आलोचक जब तक इतना विद्वान्, बुद्धिमान और तत्वदर्शी नहीं होगा तब तक न तो वह लेखक के साथ न्याय ही कर सकता है और न समाज का ही कुछ उपकार कर सकता है। उसका कार्य होता है आपत्तिजनक साहित्य को हतोत्साहित करना तथा सत्साहित्य को प्रोत्साहन देना, जिससे साहित्य की उचित वृद्धि हो सके।

आलोचक का एक महान् उत्तरदायित्व यह भी है कि वह साहित्य-जगत में फैले भ्रमपूर्ण वादों का उचित निराकरण करे तथा सत्य को पाठक के समक्ष रखे क्योंकि जब साहित्य में वादों का प्रचलन अधिक हो जाता है तो उसमें साम्प्रदायिकता की गंध आने लगती है जो साहित्य के स्वास्थ्य के लिए घातक है। संकीर्णता जिस साहित्य में प्रवेश पा जायगी, फिर उसका समुचित विकास नहीं हो सकता। अत: आलोचक का कर्तव्य है कि वह संकीर्णता तथा वादों पर उचित नियन्त्रण किये रहे।

आलोचक का कार्य इतना साधारण नहीं है कि वह केवल उसके वर्तमान तक ही सीमित रहे। वह जो कुछ करता है उसका वर्तमान से भी अधिक भविष्य से सम्बन्ध है। जिस प्रकार राजनैतिक नेता सर्वोत्तम शासन-विधान के आनयन के लिए कृत-प्रयत्न रहते हैं उसी प्रकार आलोचक साहित्य-सृजन की धारा को कल्याणकारी मोड़ देना चाहता है कि भविष्य में भी साहित्य-सृजन उसी के निर्देशित मार्ग पर हो। यह कोई असम्भव बात नहीं है। प्रत्येक देश के साहित्य में इस बात के सहस्रश: उदाहरण मिलेंगे कि समर्थ समालोचक साहित्य में सृजन तथा उसके प्रभा की दिशा ही बदल देते हैं। साहित्य-धारा किस मार्ग से प्रवाहित हो कि वह जन-कल्याणी बने, यह उनके ही चिन्तन का विषय है। अकेले महावीर प्रसाद द्विवेदी ने रीतिकालीन उस शृंगार से पूर्ण गन्दी धारा को ही रोक दिया जिसमें नवरस अपनी पूर्ण गन्दगी से प्रवाहित हो रहे थे और जो जन-मानस में एक अनभीप्सित तथा घातक दल-दल का निर्माण कर रहे थे। यदि द्विवेदीजी उस काल में न हुए होते तो नहीं कहा जा सकता कि साहित्य-

सृजन धारा की आज कौन दिशा होती। कितने आश्चर्य का विषय है कि एक व्यक्ति ने एक प्रवाह को रोक कर उसे मनोवांछित मोड़ दे दिया। ऐसे ही समालोचक होते हैं जो कवियों के द्वारा भी वन्दनीय होते हैं। क्या द्विवेदीजी की आलोचनाएँ साहित्य-सृजन के मार्ग में बाधक हुई ? ऐसा कहना भ्रम से रहित न होगा। न केवल सत्साहित्य को प्रोत्साहन देकर उन्होंने उसकी श्रीवृद्धि की अपितु कुछ महान् कवि भी हिन्दी-साहित्य को दिये ; मैथलीशरण गुप्त उन्हीं में से एक हैं। उस समय का कोई कवि, कोई लेखक ऐसा नहीं जो प्रभाववृत के बाहर रहा हो या उचित मार्ग-दर्शन के लिए उनका आभारी न हो।

आलोचक किसी कृति का नैतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि से मूल्यांकन करता है। यह उसका कर्त्तव्य होता है कि वह किसी कृति की आलोचना उसके कर्त्ता के साथ व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण एकांगी और दोषपरक-मात्र न करे। किन्हीं दो कवियों को अपनी मानसिक क्रीड़ा के लिए छोटा-बड़ा न बनाये। तुलना करते समय उनके समय की परिस्थितियों को तथा विचारधारा का ध्यान रखे।

कभी-कभी महान् प्रतिभाशाली कलाकार उपेक्षित रह जाते हैं और समाज उनके परिचय-लाभ से लाभान्वित नही हो पाता। यहीं से आलोचक की महान् साधना का क्षेत्र आरम्भ होता है कि वह उन धूल भरे हीरों को उचित स्थान दिला पाता है या नहीं। प्रसिद्धतम देवता राम की भक्ति या कृष्ण-भक्ति के कारण सूर और तुलसी का प्रसिद्धि प्राप्त कर लेना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी, किन्तु प्रतिभा की साकार प्रतिभा अद्वितीय रससिद्ध कवि जायसी को कौन प्रकाश में लाया ? एक आलोचक ही पं० रामचन्द्र शुक्ल। कभी कवि आलोचक को प्रसिद्ध कर देता है और कभी आलोचक कवि को। अतः स्पष्ट है कि यह दोनों व्यक्ति एक-दूसरे से कम महत्व-पूर्ण नहीं।

अब प्रश्न उठता है कि जब आलोचना का कार्य इतना गुरुतर है कि समाज की रुचि और कुरुचि तक का प्रश्न उसी पर बहुत कुछ आधारित है तो फिर आलोचक में कौन से गुण होने चाहिए कि उसे एक सफल समालोचक कहा जा सके ?

सर्वप्रथम वस्तु जो एक सफल आलोचक के लिए अत्यावश्यक है, वह है उसकी पैठ या अन्तर्दृष्टि (Inside) जिस प्रकार कवि के लिए प्रतिभा की आवश्यकता है, उसी प्रकार आलोचक के लिए पैठ की। आलोचक को अध्ययनशील एवं रसिक होना चाहिए। कुछ लोगों का विचार है कि आलोचना का कार्य नीरस एवं शुष्क होता है, अतः आलोचक भी शुष्क होने के लिए बाध्य है क्योंकि एक असफल कलाकार आलोचक बन जाता है। यह बात युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। आलोचक में वे सब गुण होने चाहिए जो कवि में होते हैं। किसी बात को सुन्दरतर रूप में स्पष्ट करने का

गुण आलोचक में और अधिक होता है। आलोचक को सहृदय होना चाहिए और आलोच्य-रचना एवं उसके कर्त्ता के प्रति सहानुभूति तथा श्रद्धा की भावना होना चाहिए। विना सहृदयता एवं श्रद्धा के रचना और रचनाकार के साथ उचित न्याय नहीं किया जा सकता। व्यक्तिगत बातों का प्रभाव कभी आलोचना पर नहीं पड़ना चाहिए और आलोचना करने के पूर्व किसी लेखक या उसकी रचना के प्रति कुछ धारणा बना लेना और तदनुकूल आलोचना करना तो और भी बुरी बात है। एकपक्षीय आलोचना की जोंकवृत्ति ही कहा जायगा। ऐसी एकांगी आलोचना शुभ नहीं मानी जाती।

आलोचक में बहुज्ञतता का गुण भी अन्य गुणों की भाँति होना आवश्यक है। कवि स्वयं एक बहुज्ञ प्राणी होता है, अत: उसकी रचना की युतियुक्त समीक्षा तथा विवेचन के लिए आलोचना का भी बहुज्ञ होना आवश्यक है।

आलोचक को यह जानना चाहिए कि उसके कर्त्तव्य की सीमा-रेखा कहाँ तक है ? उससे परे उसे कोई सम्बन्ध नहीं। कोई कलाकार व्यक्तिगत जीवन में कैसा है, उसकी कलाकृति को भी उसी दृष्टि से नहीं देखना चाहिए, क्योंकि किसी भी कला-कृति का प्रणयन आवेश या भावुकता के क्षणों में होता है और क्षण या उस समय कवि अपनी सात्विकतम अवस्था में होता है। आलोचक को व्यर्थ की अप्रासंगिक एवं असंगत बातों से अपनी आलोचना को दूर रखना चाहिये। संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि आलोचक को औचित्य का ज्ञान होना चाहिए।

अनन्यता और अनासक्ति भी आलोचक होने के लिए अत्यन्त अपेक्षित गुण हैं। आलोचक को सर्वप्रथम आलोच्य-रचना का अनन्यतापूर्वक अध्ययन करना चाहिए। अध्ययन के समय सहानुभूति और श्रद्धा का भाव भी होना आवश्यक है। श्रद्धालु समालोचक को रचना में कितनी ही नवीन विशेषताएँ दिखाई दे सकती हैं। यदि वह किसी पूर्वनिश्चित धारणा को आधार बना कर आलोचना करेगा तो हो सकता है कि आलोच्य-पुस्तक उसे विशेषताशून्य ही दिखाई दे। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि लेखक की रचना से वह इतना प्रभावित हो जाय कि उसकी आलोचना स्तुतिमात्र रह जाय। मित्र की कृति होने के कारण भी किसी कृति की प्रशंसात्मक आलोचना करना उतना ही बड़ा साहित्यिक पाप है जितना किसी अमित्र की कृति की अप्रशंसात्मक आलोचना करना। आलोचक का पद महान् और उसका दायित्व महानतर है, अत: भौतिक सम्बन्ध, नाते आदि बातों से आलोचक को बचना ही नहीं पड़ेगा। इस प्रकार उसकी आलोचना या तो अयुक्तिपूर्ण स्तुति रह जायगी या केवल अप्रशंसा युक्त।

कवि या लेखक अपनी कृति में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है, जैसा प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता है। आलोचक को उन पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान होना चाहिए। दूसरे, उसे अपनी आलोचना में एक निश्चित शब्द का एक निश्चित अर्थ

में ही व्यवहार करना चाहिए, जिससे कि पाठक उसके पारिभाषिक शब्दों को यदि एक बार समझ ले तो फिर उसे कठिनाई न हो। इसके अतिरिक्त आलोचना-क्षेत्र में पहले से जो एक शब्द एक निश्चित अर्थ में व्यवहृत होते आ रहे हैं, उन पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान भी आलोचक को होना चाहिए। जहाँ तक हो सके, आलोचक को उन्हीं पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार अधिक करना चाहिए जो अधिक प्रचलित हैं। अपने नये शब्द बनाने की धुन प्रशंसनीय नहीं कही जायेगी।

आलोचक को शब्द-शक्ति का पूरा ज्ञान होना चाहिए। इसके अभाव में तो निर्दोष आलोचना का होना ही असम्भव है। कारण, कभी-कभी शब्द अपने वाच्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ का बोध करता है और कभी व्यंग्यार्थ का। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना—ये शब्द की तीन मुख्य शक्तियाँ होती हैं। इसका पूर्ण ज्ञान आलोचक को होना चाहिए। इसके अभाव में कवि के काव्य-चमत्कार को वह स्पष्ट कैसे कर सकेगा ? इसी प्रकार सम्पूर्ण अलंकार और रसों का परिचय भी उसे होना चाहिए। बिना भाषामर्मज्ञ हुए वह साहित्य के कलापक्ष का मार्मिक विवेचन न कर सकेगा। कलापक्ष इतना प्रधान होता है कि अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति को ही कला कहा गया है।

साहित्य की आत्मा से आलोचक को परिचित होना चाहिए। वह तभी सम्भव है जब वह विद्वान् हो और उसकी पैठ गहरी हो, वह भावुक हो तथा रसिक हो। रस ही काव्य की आत्मा है, इसका उसे ज्ञान हो। इसके अतिरिक्त आलोचक की तुला भी ठीक होनी चाहिए। उसे ऐसे दो कवियों की तुलना नहीं करना चाहिए जिनका विषय, देश एवं परिस्थितियाँ भिन्न हों। उदाहरणार्थ, बिहारी बड़े कवि थे या सूर, भूषण बड़े कवि थे या पद्माकर, ऐसी तुलना उचित नहीं कही जा सकती क्योंकि जब विषय में ही साम्य नहीं फिर उत्कृष्ट और निम्न होने का निर्णय कैसे दिया जा सकता है।

धैर्य तथा निष्पक्षता की मनोवैज्ञानिक मनोवृत्ति भी आलोचक में होनी चाहिए। एक बार में यदि रचना उसे बोधगम्य नहीं हुई तो धैर्यपूर्वक उसे उसका अनुशीलन करना चाहिए तथा निष्पक्ष होकर वैज्ञानिक आधार पर उस कृति का विश्लेषण करना चाहिए। आलोचक जब तक मनोवैज्ञानिक पण्डित न होगा तब तक निश्चितरूप से साहित्य के मर्म को न समझ सकेगा, फिर उसे स्पष्ट करना तो और भी दूर की बात है।

सब बातों के साथ आलोचक की अभिव्यक्ति प्रभावशाली होनी चाहिए। भाषा पर उसका पूर्ण अधिकार होना चाहिए। शैली सरस और सुबोध होनी चाहिए। आलोचक की शैली ही वास्तव में उसका व्यक्तित्व है। किसी बात को इस रूप में समझा देना कि पाठक बिना किसी कठिनाई के समझ जाय, वही सबसे अधिक सफल आलोचना कही जायगी।

आलोचक का कर्त्तव्य दुहरा होता है—एक ओर तो किसी बात के विश्लेषण

और उसके तत्सम्बन्धी प्रभाव के लिए वह समाज के प्रति उत्तरदायी है, दूसरी ओर, कवि के प्रति उसका उत्तरदायित्व और भी अधिक है। समाज तो कवि को आलोचना की दृष्टि से देखता है, अतः किसी कवि के उचित सम्मान का महान् दायित्व भी आलोचक के कन्धों पर होता है।

इसके अतिरिक्त वह स्वयं अपने वर्ग (आलोचक) के सम्मान का प्रतिनिधि है। वह कोई ऐसी बात न लिखे जो उस पूरे आलोचक वर्ग के लिए असम्मान का कारण बने। अतः उपरोक्त सब गुण एक आलोचक में होने चाहिए।

---

अध्याय १७

## मानव जीवन, काव्य तथा साहित्य

मानव मन पर अनजाने में ही प्रकृति की कितनी ही वस्तुओं के छाया-चित्र अंकित होते रहते है। वह कभी आनन्दानुभव करता है और कभी दुःख। यों तो मानव हृदय में उठने वाले भावों की हम गणना नहीं कर सकते किन्तु फिर भी वे भावनाएं निरन्तर मानव मन में अवस्थित रहती हैं। उनके अनुसार उनकी गणना कर ली गयी है और आचार्यों ने उसकी संख्या नो मानी है। ये स्थायीभाव जब साहित्य या काव्य के माध्यम से व्यक्त होते है तो रस कहलाते हैं। रसों के नाम इस प्रकार हैं—

शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत और शांत। शान्त रस को रस मानना विवादास्पद है, किन्तु वह नाटकों में ही जहां उसकी अभिव्यक्ति का प्रश्न अभिनय द्वारा आता है।

साहित्य अनादिकाल से इन्हीं भावों को भाषा का रूप देता आ रहा है और जन-मानस को काव्यानन्द में आप्लावित करता आ रहा है। साहित्य या काव्य अपने वर्णन-कौशल से एक वृद्ध के हृदय में वृद्धों जैसी भावना भर देता है। कारण यह है कि काव्य में ऐसी शक्ति होती है कि वह हमारे तद्विषयक भावों को उद्दीप्त कर देता है। दूसरी बात यह है कि काव्य सदैव ही पाठक या द्रष्टा के मन का संस्कार एवं परिष्कार कर उसकी रुचि को उदात्त बनाता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना केवल साहित्य द्वारा ही आ सकती है। उपन्यास पढ़ते समय या नाटक देखते समय कभी-कभी पाठक या दर्शक भावावेष में रोने तक लगते हैं, यद्यपि वे यह जानते हैं कि उपन्यास या नाटक में संकटग्रस्त व्यक्ति हमारा सगा-सम्बन्धी नहीं है। फिर ऐसा क्यों होता है? केवल इसलिए कि काव्य मनुष्य के हृदय को उस धरातल पर ले जाता है जहां वह स्वगतत्व एवं परत्व की भावना से रहित अपने को केवल मनुष्य अनुभव करता है। वहां उसकी वृत्ति केवल सात्विक रह जाती है और मानव-मात्र के प्रति उसकी सहानुभूति हो जाती है। उसकी भावनाएं इतनी सुकुमार, हृदय इतना विशाल तथा उदार हो जाता है कि वह एक मानसिक समरसता का अनुभव करने लगता है। काव्य के पात्र उसे अपनी ही प्रतिच्छाया प्रतीत होते हैं। वह सब में

अपनी ही झलक देखने लगता है। दर्शन या भक्ति का भी यही चरम अभीष्ट है जहाँ साधक अहं की भावना त्याग दे। साहित्य में भी यही होता है। यह दूसरी बात है कि वह कुछ देर के लिए ही हो।

काव्य में जो कुछ वर्णित होता है वह इस प्रकार वर्णन किया जाता है कि पाठकों के हृदय पर सीधा प्रभाव डालता है। कभी-कभी हम देखते हैं कि संसार की वास्तविक वस्तुओं को देख कर हमारे हृदय पर इतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना काव्य में उसका वर्णन पढ़कर और हम स्वयं चमत्कृत हो जाते हैं कि वह वस्तु इतनी सुन्दर थी, हमतो जानते ही नहीं थे। संसार की कुरूप लगने वाली वस्तुएं भी साहित्य में सुन्दर परिधान धारण करके आती हैं, अतः वे वांछनीय प्रतीत होती हैं। काव्य वास्तव में कोई फोटोग्राफी नहीं है जिससे जैसा दृश्य लेना है, वह ज्यों का त्यों चला आये। हो सकता है, उसमें कुछ ऐसी वस्तुएं भी अंकित हो जाँय जिनकी उपस्थिति चित्र में हमे अभीप्सित नहीं, जो चित्र की सुन्दरता में व्याघात उपस्थित करती हैं। किन्तु ऐसा कोई उपाय नहीं जिससे चित्र में उन वस्तुओं को अंकित होने से रोका जा सके। किन्तु काव्य के चित्र इसलिए अधिक प्रभावशाली होते हैं कि कवि अनभीप्सित वस्तुओं का परित्याग करके केवल उन वस्तुओं पर ही बल देता है, जो उसके चित्र को अधिक प्रभविष्णु बना सके। वह अपने चित्र में रखेगा वही सब कुछ जो उसने देखा है किन्तु उनका संस्कार करके परिष्कृत रूप में। विद्वानों का कथन है कि साहित्य के मूल में ही अनुकरण की प्रवृत्ति है। लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि कवि किसी भी वस्तु की मक्खीमार अनुकृति नहीं करता। अरस्तु ने लिखा है—"अनुकरणकारी होने के कारण कवि तीन विषयों में से एक विषय का अनुकरण कर सकता है—वस्तु वैसी थी या है, वस्तु जैसी होने लायक कही या सोची गयी है या वस्तु को जैसा होना चाहिए।"

काव्य वही है जिसे कवि कहे बिना न रह सके। स्पष्ट है कि जो भाव प्रभावशाली रूप में होते हैं वह उतने ही प्रभावशाली रूप में उन्हें व्यक्त करना चाहता है ताकि पाठक भी उस वस्तु का तद्वत् अनुभव कर सकें। इस विषय में कवि जिस वस्तु से सबसे अधिक सहायता लेता है वह है उसकी कल्पना। यही वह वस्तु है जिससे कवि ब्रह्म की भाँति एक स्वतन्त्र शक्ति का निर्माता समझा जाता है। यही वस्तु है जो उसका प्रवेश उन स्थानों पर भी सम्भव बना देती है जहाँ सूर्य का प्रवेश भी सम्भव नहीं। यही वह वस्तु है जिसके द्वारा कवि ऐसी बातों की अवतरणा करता है जो न कभी किसी ने देखीं न सुनीं, फिर भी जो मिथ्या नहीं लगतीं, मनमोहक लगती हैं। कल्पना मिथ्या बातों का संकलन करती है, यह कहना बुद्धिमत्ता नहीं। कवि की अपनी सृष्टि होती है। वह निरंकुश प्राणी है 'निरंकुशाः कवयः'। कवि स्वयंभू भी इसलिए है कि वह नवीन जगत का निर्माण करता है।

कल्पना तीन प्रकार की होती हैं—

(१) उत्पादक (Creative Imagination) ;

(२) संयोजक (Associative Imagination) ;

(३) अवबोधक (Interpretative Imagination) ।

उत्पादक कल्पना-चित्रों का अपरिमित भण्डार कवि के मस्तिष्क में लाकर रख देती है । संयोजक कल्पना के द्वारा कवि उनमें से सुन्दरतम चित्रों का संयोजन कर एक नवीन चित्र का निर्माण कर लेता है और तीसरे प्रकार की कल्पना उस नवीन चित्र को निश्चित और स्वाभाविक रूप देकर उसे अस्तित्व में लाती है ।

संक्षेप में, यदि कवि किसी व्यक्ति की सुन्दरतम आँखें देखता है, किसी की नाक, किसी के ओंठ तो ये विभिन्न वस्तुएं उत्पादक कल्पना के सहारे उसके मस्तिष्क में एक साथ आयेंगी । कवि संयोजक कल्पना के सहारे उनमें से सुन्दरतम वस्तुओं को एक जगह कर लेगा और अवबोधक कल्पना के द्वारा उन सबको मिला कर एक सुन्दरतम चित्र तैयार कर देगा । यह तो नहीं कह सकते कि वह चित्र इस संसार में पहले नहीं था अतः मिथ्या है और न यह भी कह सकते हैं कि वह पहले नही था । कारण, नवीन प्रसरित चित्र के अंगप्रत्यंग तो अस्तित्व में पहले भी थे पर एक स्थान पर नियोजित नहीं थे । कवि ने अपनी कल्पना से उन सबको एक ही स्थान पर नियोजित कर एक सुन्दरतम वस्तु की सृष्टि कर दी । कवि वास्तव में करता यही है । वह पाठक, श्रोता या दर्शक को सुन्दरतम वस्तु देना चाहता है । अच्छे मनुष्य संसार में होते हैं, बहुत अच्छे भी । फिर भी उनमें कुछ कमियाँ होती हैं, लेकिन कवि कमियों को निकाल कर और विभिन्न विशेषताओं को एक ही स्थान पर रख कर एक ऐसा पात्र उपस्थित कर देगा जो अभूतपूर्व एवं अश्रुत पूर्व होगा, किन्तु साथ ही विश्वसनीय और आदर्श भी । तुलसी के राम और क्या हैं ? मानव की उच्चतम विशेषताओं का एक काल्पनिक समुच्चय जो कवि द्वारा किया गया । सारांश यह है कि कवि सुन्दरम देता है किन्तु उसे झूठा नहीं कहा जाता और न कहा ही जा सकता है ।

इतिहास और साहित्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए एक विद्वान् ने लिखा है कि "साहित्य में नाम और तिथियों के अतिरिक्त सब सत्य होता है तथा इतिहास में नाम और तिथियों के अतिरिक्त सब मिथ्या ।"

यदि उपरोक्त बात पर विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य में मिथ्या नाम की वस्तु उस रूप में नहीं होती, जैसा कि लोग प्रायः समझते हैं । कवि का उद्देश्य होता है कि जिस भावना को उसने जिस रूप में स्वयं अनुभव किया है, उसी रूप में पाठकों को भी अनुभव कराये और इसी कारण उसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का सहारा लेना पड़ता है । इसमें सन्देह नहीं कि इनके द्वारा वह पाठक पर अपनी अनुभूति अभिव्यक्त करने तथा उसे भी तद्वत् अनुभव कराने में समर्थ

होता है। यदि कोई कहे, "उस सुन्दरी का मुख चन्द्रमा के समान है"—यह वाक्य वैज्ञानिक सत्य तो हो नहीं सकता क्योंकि किसी भी स्त्री का मुख चन्द्रमा के सदृश्य कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार ऐसे लोगों के विचार में "घोड़ा वायु वेग से दौड़ता है तथा "तलवार बिजली जैसी कौंधती है" आदि वाक्य मिथ्या ही प्रतीत होंगे, परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है।

कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह जिस वस्तु की उपमा देता है, उत्प्रेक्षा करता है या रूपक बाँधता है वह उपमेय से सब बातों में मिलती हो। कवि तो एक प्रभाव डालना चाहता है। समानता का एक बिन्दु उभयनिष्ठ होने से उसका कार्य चल जाता है। चन्द्रमा की उपमा द्वारा सुन्दरता तथा शीतलता, बिजली कौंधने से तीव्रता आदि का बोध वह पाठक को कराता है। बिहारी के इस दोहे को इस कसौटी पर कसिये—

"—पत्रा ही तिथि पाइये, वा घर के चहुँ पास।
निति प्रति पून्यों ही रहै, आनप ओप उजास।।"

इस दोहे पर मिथ्या-वर्णन का दोष सरलता से लगाया जा सकता है, किन्तु वास्तव में वैज्ञानिक सत्य और कवि-सत्य में अन्तर समझ लेना अत्यावश्यक है।

विज्ञान विश्लेषणप्रधान है। वह समग्र वस्तु का परिचय खण्ड-खण्ड करके प्राप्त करता है : नियम-निर्धारण, वर्गीकरण आदि उसका उद्देश्य होता है।

साहित्य संश्लिष्ट वस्तु है। वह खण्ड-खण्ड को छोड़ किसी वस्तु की समग्रता से सम्बन्ध रखता है। वह केवल भावाभिव्यक्ति करता है, नियम-निर्धारण नहीं। उदाहरण के लिए, एक वैज्ञानिक को पुष्प में कोई सौन्दर्य दिखाई नहीं देगा, वह तो उसका खण्ड-खण्ड करके उस पुष्प की जाति तथा और ऐसी ही वैज्ञानिक बातों की ओर प्रवृत्त होगा, जब कि कवि का सम्बन्ध उस पूर्ण पुष्प से है। उसके बाद उसका कोई सम्बन्ध नहीं। सारांश यह है कि काव्य केवल भावाभिव्यक्ति करता है और पाठक को उस भाव का अनुभव उसके चरमरूप में कराना चाहता है।

बिहारी का उपरोक्त दोहा केवल नायिका के सौन्दर्यातिरेक की व्यंजना करता है। नायिका का सुन्दरतम रूप वह पाठक के समक्ष रखना चाहता है। 'वह नायिका अत्यन्त सुन्दरी है'—इस बात में न कोई खण्ड और न कहने की कोई विचित्रता।

काव्य तो मानव हृदय की सुप्त कोमल भावनाओं को जागृत करने का कार्य करता है और उसके लिए कल्पना का अबाध प्रयोग उसमें होता है। कल्पना के द्वारा ही कवि वर्ण्य-वस्तु से तादात्म्य कर पाता है और इसीलिए कहानी, उपन्यास, नाटक या कविता पढ़ते समय पाठक सोचता है—"अरे यह तो मेरा ही वर्णन कर दिया गया है।" काव्य के सत्य के मूल में वह व्यापक भावना कार्य करती है जिसके द्वारा मानव सृष्टि की प्रकट विविधता में भी एक पुष्पों के धागे की भाँति व्याप्त भावना की समानता के दर्शन होते हैं और जिसमें कि अखण्ड मानवता के विकास का रहस्य-सूत्र

उलझा हुआ है। काव्य यदि मिथ्या काल्पनिक सृष्टिमात्र हो तो क्यों प्रत्येक पाठक या दर्शक का मन काव्यकृति से आन्दोलित होने लगता है ? क्यों कभी वह (पाठक) रोता है, कभी हंसता है और कभी रोमांचित होता है। वह जानता है कि कवि उसी के मानस की अगाध गहराई से सारे रहस्य चुरा ले गया है और काव्य के रूप में उसी की निधि उसे लौटा रहा है। यह तो सच ही है "जहाँ न जाइ रवि वहाँ जाइ कवि" सूर्य-किरणें मानव उर में प्रवेश नहीं कर सकतीं लेकिन कवि से क्या छिपा रह सकता है ? पन्तजी ने कितना सुन्दर कहा है—

"—देखूं सब के उर की डाली।
सब में कुछ सुख के तरुण फूल॥
सब में कुछ दुख के करुण शूल।
सुख दुख न कोई सका भूल॥"

× × ×

"—किस छवि किस मधु के मधुर भाव।
किस रंग इस रुचि से किसे चाव॥
कवि से रे किस का क्या दुराव।"

लेकिन यदि कोई कहे कि मेरे ऊपर काव्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, तो संस्कृत-साहित्य में स्पष्ट इंगित ऐसे व्यक्ति के लिए किया गया कि पाठक 'सहृदय' होना चाहिए। पाठक की भी योग्यता कुछ होनी चाहिए।

प्रतिभा दो प्रकार की होती है—(१) कारयित्री और (२) भावयित्री। कवि में निर्माण या सृजन की प्रतिभा तथा पाठक में जब तक ग्रहण करने की प्रतिभा नहीं होगी तब तक काव्य उसके लिए व्यर्थ है।

सारांश यह है कि काव्य मनुष्य की उदार वृत्तियाँ जागृत कर उसे देवत्व की ओर उठाता है, उसे असाधारण रूप से सहृदय और महान् बनाता है। काव्य इस अर्थ में बिलकुल सत्य है कि वह कुछ भाव जागृत करना चाहता है और इसमें वह पूर्ण सफल है।

आज साहित्य शब्द कितने ही अर्थों में व्यवहृत होता है। अँग्रेजी में लिट्रेचर (Literature) शब्द का जो अर्थ है, हिन्दी में वही अर्थ आज साहित्य देने लगा है। प्रचार के लिए छपने वाली सामग्री आज प्रचार-साहित्य कही जाती है और सिनेमा-सम्बन्धी लिट्रेचर भी सिनेमा-साहित्य कहलाता है और इसी प्रकार अँग्रेजी के Moment literature तथा Day literature की भाँति हिन्दी में भी क्षणिक साहित्य तथा स्थायी साहित्य आदि नाम रख लिये गये हैं।

परन्तु वास्तव में साहित्य का यह अर्थ नहीं है। साहित्य—वह साहित्य जो विज्ञान नहीं, धर्मशास्त्र नहीं, राजनीति नहीं, आयुर्वेद नहीं—क्या है ? यह विचारणीय है। संस्कृत भाषा में साहित्य का अर्थ लिया जाता है जो हित सहित हो। यों तो साहित्य का और भी अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है, जो द्रष्टव्य है।

गुप्तजी साहित्य शब्द का प्रयोग यहाँ साथ के अर्थ में करते हैं—तदपि निश्चित रहो तुम नित्य यहाँ राहित्य नहीं साहित्य।" गुप्तजी दूसरे एक स्थान पर कौशल के अर्थ में साहित्य शब्द का प्रयोग करते हैं—

"—नयी नयी नावक सज्जायें सूत्र धार करते हैं नित्य।
और ऐन्द्रिजालक भी अपना भरते हैं नूतन साहित्य॥"

भामह संस्कृत भाषा के प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने शब्द और अर्थ के सहित की बात कह कर उसे काव्य की संज्ञा दी है। बाद में तो रुद्रट तथा मम्मट ने भी इस विषय में उनका अनुकरण किया है। भामह का यह वाक्य है "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।"

राजशेखर के द्वारा नवीं शताब्दी में इस शब्द का प्रयोग मिलता है— "शब्दार्थयोर्यथावत्सह भावेन विद्या साहित्य विद्या", अर्थात् वह विद्या जहाँ शब्द और अर्थ का यथायोग्य सहयोग रहता है, साहित्य विद्या है।

भृतृहरि ने भी स्पष्ट ही कहा है—

"साहित्य संगीत कला विहीन: साक्षात्पशु: पुच्छविषाणहीन:।"

(जो व्यक्ति संगीत-साहित्य तथा कलाविहीन है, वह पशु के ही सदृश्य है, केवल उसके पूंछ और सींग नहीं होते।)

साहित्य के द्वारा ही शेष सृष्टि के साथ हम रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ होते हैं। इस विषय में कवीन्द्र रवीन्द्र के यह शब्द द्रष्टव्य हैं—

"—साहित्य शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है वह केवल भाव-भाव का, 'भाषा-भाषा' का, 'ग्रन्थ-ग्रन्थ' का ही मिलन नहीं है, किन्तु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का पर्यन्त अन्तरंग मिलन साहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्भव नहीं।"

आज तो साहित्य शब्द वाङ्मय का पर्याय-सा होता जा रहा है। यद्यपि जहाँ यह काव्य के अर्थ में आता है, वहाँ केवल साहित्य, वैदिक साहित्य, लौकिक साहित्य आदि के रूप में आता है।

रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'साहित्य' नामक लेख में बिलकुल ही स्पष्ट कर दिया है कि वे साहित्य से क्या समझते हैं। उनसे पूर्व महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा था— "विचारों के संचित कोष का नाम ही साहित्य है।" फिर भूगोल क्या है? दर्शन क्या है? विचार तो सबमें हैं। इसको स्पष्ट कर रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था कि "वे साहित्य के अन्तर्गत केवल निम्नलिखित विषयों को ही लेंगे—गद्य, पद्य, नाटक, उपन्यास, चम्पू तथा साहित्य-सम्बन्धी आलोचनाएं। शेष चाहे जहाँ जांय, उन्हें वह साहित्य नाम से स्वीकार नहीं था। अन्य विषयों से उसका भेद स्पष्ट करते हुए उन्होंने उसकी दो कसौटी रखीं थीं जिन पर परीक्षा करने से निर्णय किया जा सकता है कि परीक्षक वस्तुएं साहित्य हैं या नहीं—

(१) जो सुप्त भावों को जागृत कर सकें अथवा

(२) जिसमें चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो।

उपरोक्त दोनों बातें साहित्य की परिभाषा निश्चित कर देती हैं—या तो जिसमें भावों की प्रेषणीयता हो या भाषा का कलात्मक चमत्कार हो। साहित्य के अतिरिक्त किसी भी दूसरे विषय में ये बातें आवश्यक नहीं हैं।

अँग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक डी क्वेन्सी ने भी दूसरे शब्दों में इसी बात को स्पष्ट किया है। वह साहित्य दो प्रकार का मानता है—

(१) Literature of Power (शक्ति का साहित्य) और

(२) Literature of Knowledge (ज्ञान का साहित्य)

शक्ति का साहित्य तो मनुष्य के हृदय में स्थित स्थायी भावों को उद्दीप्त और आनन्द की सृष्टि करता है। ज्ञान का साहित्य मनुष्य का ज्ञान-वर्द्धन करता है।

हिन्दी में हम जिसे साहित्य कहते हैं—काव्य कहते हैं, वही शक्ति का साहित्य है।

प्रसिद्ध आलोचक श्यामसुन्दरदास काव्य तथा साहित्य में अभेद स्थापित करते हुए लिखते हैं—

"—काव्य शब्द का वही अर्थ है जो साहित्य शब्द का वास्तविक अर्थ है।" वे आगे लिखते हैं—

"—काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक आनन्द या चमत्कार की सृष्टि करे। इस प्रकार हम देखते है कि 'काव्य' कला है और 'काव्य' शब्द साहित्य का समानार्थक है। बहुत से लोग काव्य को कविता के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि कविता काव्य का एक अंगमात्र है। किसी पुस्तक को हम साहित्य या काव्य की उपाधि तभी दे सकते हैं जब जो कुछ उसमें लिखा गया है, वह कला के उद्देश्यों की पूर्ति करता हो। यही एकमात्र उचित कसौटी है। साहित्य के अन्तर्गत कविता, नाटक, चम्पू, उपन्यास, आख्यायिकाएं आदि सभी आ जाते हैं। ज्योतिष, गणित, व्याकरण, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के ग्रन्थ-साहित्य में परिगणित नहीं हो सकते।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साहित्य तथा काव्य तत्वत: एक ही वस्तु हैं। काव्यों के समुच्चय या संग्रह को ही साहित्य कहेंगे।

अब प्रश्न उठता है कि काव्य है क्या? जिस प्रकार जीवित व्यक्ति नहीं कह सकता कि जीवन क्या है, भक्त विश्लेषण नहीं कर सकता कि ईश्वर क्या है, उसी प्रकार काव्य की भी कोई निश्चित परिभाषा नहीं है। जैसा जिसके हृदय में आया है उसे परिभाषा में बाँधने का प्रयत्न किया है किन्तु कोई भी परिभाषा पूर्ण नहीं कही जा सकती, यों तो सत्यांश सबमें कुछ न कुछ है ही।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अर्थात् रस से युक्त वाक्य ही काव्य है, परन्तु इस परिभाषा में रस ही एक ऐसा शब्द है जो स्वयं बोधगम्य नहीं है और काव्य की भाँति ही क्लिष्ट है।

काव्यप्रकाशकार मम्मट काव्य की परिभाषा देते हुए लिखते हैं—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन: कापि।" इसमें शब्द और अर्थ दोनों को ही प्रधानता दी गयी है।

पण्डित राज जगन्नाथ लिखते हैं—

"रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यम्।" रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द ही काव्य कहे जाते हैं। यह परिभाषा संस्कृत की अन्य परिभाषाओं की अपेक्षा अधिक अर्वाचीन है। इसमें रमणीय शब्द ध्यान देने योग्य है। रमणीय का अर्थ है अनुकूल वेदनीयता अलौकिक चमत्कार की अनुभूति। ऐसी रमणीयता के वाहक जो शब्द हैं वे ही काव्य की संज्ञा पाते हैं। संसार के मोद तथा इस रमणीयता में बड़ा अन्तर है। भौतिक मोद अस्थिर होता है और कम आनन्ददायक, किन्तु काव्यानन्द तो अलौकिक होता है और वह फिर शब्दों के द्वारा प्राप्त होता है।

वामन "रीतिरात्मा काव्यस्य" (काव्य की आत्मा रीति) मानते हैं।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन "काव्यस्यात्मा ध्वनि" (काव्य की आत्मा ध्वनि) मानते हैं।

भामह ने "शब्दार्थौ सहितौ काव्यं" (अर्थसहित शब्द काव्य है) माना है।

अब इन परिभाषाओं पर विचार करने से पूर्व देखना है कि काव्य-शरीर का निर्माण किन-किन तत्वों से होता है और क्या उपरोक्त परिभाषाएँ पूर्णरूप से काव्य के सम्पूर्ण रूप पर प्रकाश डालती है।

काव्य के मूल चार तत्व माने गये हैं—(१) भावात्मक तत्व; (२) बुद्धि तत्व; (३) कल्पना तत्व और (४) काव्यांग, अर्थात् भाषा, शैली, गुण तथा अलंकार आदि। इस प्रकार काव्य में इन तत्वों का समावेश अनिवार्य प्रतीत होता है, अर्थात् उसमें मनो-भावात्मक बुद्धि बुद्धयात्मक, कलात्मक तथा रचनात्मक तत्वों का समावेश होना चाहिए।

काव्य-साहित्य में भावों की तीव्रता बुद्धि के द्वारा भावों का उचित नियन्त्रण, कल्पना द्वारा नवीन चित्रों की अवतरणा तथा उनके अभिव्यक्त करने का कौशल—इतनी बातें होनी ही चाहिए।

यदि हम चाहें तो उपरोक्त बात को और संक्षिप्त कर सकते हैं और काव्य के दो पक्ष करके ही काम चला सकते हैं—(१) भावपक्ष और (२) कलापक्ष।

भावपक्ष का सम्बन्ध उस अनुभूति से है जो कलाकार स्वयं करता है और उसे व्यक्त करने को व्याकुल हो उठता है। व्यक्त करने के विविध चमत्कारपूर्ण ढंग ही

कलापक्ष के अन्तर्गत आयेंगे। भावपक्ष का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह सर्वाधिक महत्व-पूर्ण है। यह तो वह वस्तु है जिससे निर्माण किया जायगा। अनुभूति जिस कवि की जितनी तीव्र होगी उसका काव्य उतना ही प्रभावशाली होगा। यों तो कलापक्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि भाव तो प्रायः विश्व में एक से ही होते हैं, उनमें नवीनता बहुत कम होती है। प्रेम, घृणा, क्रोध इत्यादि भावनाएँ आदिम हैं। उनमें कुछ नवीनता नहीं। अतः व्यक्त करने का ढंग अपना अलग-अलग महत्व रखता है। हम देखते हैं कि कभी-कभी कोई व्यक्ति सबके द्वार पर कही हुई बात इस प्रकार कह देता है कि हम चमत्कृत हो जाते हैं और हमें एक विशेष आनन्द मिलता है। सर्वश्रेष्ठ काव्य तो वही है जहाँ तीव्र अनुभूति चमत्कारयुक्त भाषा में व्यक्त की गयी हो, अर्थात् जहाँ भावपक्ष और कलापक्ष का उचित सम्मिश्रण हो। ऊपर दी हुई अधिकांश परिभाषाएँ इस कसौटी पर एकांगी उतरती हैं। कारण, उनमें से किसी के भावपक्ष पर अधिक जोर दिया गया है और किसी में कलापक्ष पर। वास्तव में भावपक्ष और कलापक्ष के मिश्रण से ही काव्य का पूर्ण शरीर बनता है।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' में स्पष्टरूप से भावपक्ष की प्रधानता और कलापक्ष की गौणता परिलक्षित होती है।

इसी प्रकार "तददोषो शब्दार्थो सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" में कला पर अधिक जोर दिया गया है और भावपक्ष की उपेक्षा की गयी है।

इसी प्रकार "रीतिरात्मा काव्यस्य" में कलापक्ष पर जोर दिया गया है और भावपक्ष की उपेक्षा की गयी है।

इसी प्रकार 'काव्य की आत्मा ध्वनि है' में कलापक्ष को गौण बनाया गया है।

सारांश यह है कि कोई भी परिभाषा पूर्ण प्रतीत नहीं होती जो काव्य के दोनों पक्षों को लेती हुई चलती हो।

---

# भारतीय रंगम

कुछ दिन ऐसा फैशन रहा कि हम अ... का ऋण मानकर परम सन्तोष का अनुभव ... तब तक कैसे सम्मानित हो सकती थी ज... न करें। इससे अधिक और क्या आश्च... ...ता कि हमारे ...ीय कवि वाल्मीकि, कालीदास आदि की प्रशंसा ज. योरुपीय विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से की तब हमें विश्वास हुआ कि महानता अपने सुन्दररूप में न सही विकृतरूप में ही सही, भारत में भी है अवश्य। वे हमारे मानसिक पतन के दिन थे। ऐसी दशा में कुछ वाक्य ऐसे प्रसिद्ध हो गये हों जो योरुपीय ऋण के सजीव ऋणपात्र के सदृश्य लगते हों तो आश्चर्य क्या ? ऐसे ही हास्यास्पद वाक्यों में से एक वाक्य था—"भारतीय अभिनय कला पाश्चात्य रंगमंच की ऋणी है।[1]

इतिहास ही इस बात को तीव्रता देगा कि जब भारत में नाटकों का स्वर्णयुग था उस समय योरुप के निरावरण श्वेतांग महाप्रभु वाक्यों के समुचित प्रयोग एवं प्रयोग तक से परिचित न थे। यदि उनके अश्लील और अभद्र उछल-कूद को नाट्य और अपरिष्कृत ऊबड़-खाबड़ काष्ठ पदों को रंगमंच कहा जाय तो इससे बड़ा व्यंग्य नाट्य और रंगमंच पर क्या होगा ? ऐसे ही ज्ञानविहीन कुछ प्रकांड विद्वान् कहते होंगे कि अभिनय और रंगमंच भारत ने पश्चिम से उधार लिये। लेकिन मद्यप का विलाप ध्यान देने योग्य नहीं होता, केवल हास्यास्पद होता है। यह कथन भी किसी ऐसे ही विवेकशील मद्यप की सुमधुर स्वरलहरी है।

इससे पूर्व यह प्रमाणित किया जाय कि भारत का अपना रंगमंच था और उसके अपने सिद्धान्त थे। भारत के नाट्य-साहित्य की प्राचीनता पर दृष्टि डालना अप्रासांगिक न होगा।

भारत की यह एक सांस्कृतिक विशेषता रही है कि यहाँ प्रत्येक वस्तु का अन्त आनन्दमय माना जाता है। काव्य में भी हमारे यहाँ दुःखान्त काव्य लिखना निषिद्ध

जो भारतीय नाटकों को पश्चिम से बिलकुल
सके अतिरिक्त एक दूसरी सांस्कृतिक भावना
कवियों ने अप[illegible] विषय में कुछ नहीं लिखा
[illegible]र अपनी खोज का उन्होंने कोई पथ ही
लौकिक [illegible] आडम्बरों में क्या रुचि होगी।
[illegible]क नाटकों [illegible] की निश्चित तिथियों का सर्वथा
[illegible] ही सन्तोष करना पड़ता है. फिर
[illegible]कों की प्राचीनता-सिद्धि में विशेष

[illegible] कि पाणिनि ईसा से लगभग ४०० वर्ष
[illegible] शास्त्र का निर्माण किया जा सकता था,
वैज्ञानिक विवेचन हो सकता था तो उस
[illegible]र्ग का विषय होगा। पाणिनि के सूत्रों में
[illegible]नाम मिलते हैं। इसके अतिरिक्त पतंजल
के महाभाष्य में भी 'कंस[illegible] [illegible] दो नाटकों का उल्लेख आता है।

'विनय-पिटक' नामक [illegible]थ में भी रंगशाला तथा नाटक का उल्लेख आता है।

इसी प्रकार ईसा से ३०० वर्ष पूर्व [illegible] कल्प-सूत्रों में नट तथा नटियों का उल्लेख है।

भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में भी प्राचीन आचार्यों का उल्लेख है जिन्होंने नाट्य-शास्त्र पर कुछ लिखा। लक्षण-ग्रन्थ तब बनते हैं जब बहुत पहले लक्ष्य-ग्रन्थ बन चुके होते हैं।

संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध नाटककार कालीदस की प्राचीनता ही अभी निश्चित नहीं। कोई उन्हें चौथी ईसवी सदी का मानते हैं और कोई ईसा पूर्व तक का। डॉ० पेटर्सन का कथन है—

"Kalidas stands near the beginning of christian era indeed, he does not over top it." (हो सकता है, कालीदास निकट ईसवी पूर्व में हुए हों, बाद के तो वे नहीं हैं)।

इसके अतिरिक्त सरगुजा रियासत की रामगढ़ पहाड़ी में दो गुफाएँ हैं उनमें लिखे लेखों से स्पष्ट है कि वे नटों के विश्राम-गृह के रूप में प्रयुक्त होती थीं। ये गुफाएँ ३२० ई० पूर्व की कही जाती हैं। सच तो यह है कि नाट्य-कला हमारे यहाँ भगवान बुद्ध से पूर्व भी अस्तित्व में थी।

इसके विरुद्ध योरुप का नाट्य-साहित्य तिथियों में स्पष्ट किया जाय तो पता लगेगा कि जब हमारे यहाँ रंगमंच अपने पूर्ण वैभव में था। उस समय तक योरुप के

अधिकांश देश अभिनय की कला तक से अपरिचित थे। इसमें सन्देह नहीं की अरस्तु योरुप का आदि व्यक्ति है जिसने नाटक, महाकाव्य तथा गीतकाव्य में अन्तर समझा। किन्तु इसके दो हजार वर्ष बाद तक योरुप में कोई ऐसा प्रतिभाशाली व्यक्ति नहीं हुआ जो इस विषय को आगे बढ़ाता। भारतीय नाट्य-इतिहास की तुलना में योरुपीय नाट्य-साहित्य तथा उसकी दशा को स्पष्ट करने वाले डॉ० श्यामसुन्दरदासजी के कुछ वाक्य यहाँ अविकल उद्धृत करना असंगत न होगा—

"—उस पुरातनकाल की बात जाने दीजिये जब यूनानी अभिनेता बैल व गाड़ियों पर बैठकर अभिनय करने निकलते थे अथवा जुलूस निकाल कर अश्लील दृश्यों का प्रदर्शन करते थे। अभी तीन सौ वर्ष पहले तक (शेक्सपीयर के समय तक) नकाबपोश पात्र रंगमंच पर आकर अपना बेढंग रूप दिखाया करते थे। पर्दे गिराने और चढ़ाने का इतना भद्दा ढंग प्रचलित था कि अभिनय में स्वाभाविकता आ ही नहीं सकती थी। आदमियों को लगाकर इधर से उधर पर्दा खींचना पड़ता था। थियेटर इतना बड़ा और विशालकाय होता था कि रंगमंच में प्रवेश करते ही अभिनेता बिल्ली बन जाता था। उसकी स्वाभाविक गति में वहीं से विक्षेप पड़ने लगता था और वह स्वयं ही एक कृत्रिम वातावरण का अनुभव करने लगता था। परन्तु दर्शकों के लिए तो अभिनय का सम्पूर्ण व्यापार और भी मिथ्यारूप धारण कर लेता था। यदि कोई पात्र रंगमंच में प्रवेश कर किसी कमरे में आता है जिसमें पुरानी रीति के अनुसार एक खिड़की और कुछ कुर्सियाँ पड़ी हैं और फिर वह इस कमरे (जिसके बाहर निकलने का रास्ता पर्दे पर दिखाया नहीं जा सका) के आगे बढ़कर स्टेज के किनारे तक पहुँच जाता है जहाँ रोशनी हो रही है और जहाँ से आगे के दर्शक उसकी पीठ मजे में देख सकते हैं तो यह अस्वाभाविकता की हद होगयी। इसके उपरान्त तो वह पात्र अपने मन में कुछ बड़बड़ाये—स्वगत का बहाना करके अपने चरित्र, विचारों और इच्छाओं का परिचय देने लगे तो भी दर्शकों को अधिक नहीं खटक सकता क्योंकि वे तो इससे पहले ही सबसे अधिक अस्वाभाविक और खटकने वाली बात का सामना कर चुके हैं। वह जितना चाहे बके-झके अब तो उसके लिए सब कुछ क्षन्तव्य है। ये सब विचित्रताएँ उस समय योरुप में प्रचलित थीं जिस समय शेक्सपीयर जो संसार-साहित्य का शिरोमणि कहलाता है, अपने नाटकों की रचना कर रहा था।"

यह एक शब्द-चित्र है जो योरुप के सबसे उन्नत कहे जाने वाले देश के सबसे श्रेष्ठ कलाकार के समय का है। जिनके पास स्वयं कुछ नहीं वे दूसरों को क्या ऋण देंगे। शेक्सपीयर के समय भी पात्रों के सम्वाद पद्य में होते थे जो घोर अस्वाभाविक हैं। उन्हें न तो यह ज्ञान था कि रंगमंच कैसा हो, नाटक कैसा हो, पात्र कैसे हों, नाटक-घर कैसा हो? फिर भी क्या वे भारत को ऋण दे सकते हैं, जहाँ नाट्य, रंगमंच का, नाटक-घर का, पात्रों का पूर्ण वैज्ञानिक विभाजन, विश्लेषण एवं [illegible]

है। भारती नाट्यशाला और नाट्यकला को तो योरुपीय नाट्यकला चरण स्पर्श भी करने योग्य नहीं थी। डॉ० श्यामसुन्दरदास कहते हैं—

"—रंगमंच में कौन से दृश्य चित्र की सहायता से दिखाये जाने चाहिए, कौन दृश्य वास्तविक वस्तुओं द्वारा दिखाये जा सकते हैं और किन दृश्यों की सूचना केवल पर्दा गिरा कर दे देनी चाहिए—यह अब से दो सौ वर्ष पहले इंगलैंड को विदित नहीं था।"

भारत में नाटक-सम्बन्धी वस्तुओं का कितना गम्भीर विश्लेषण, विभाजन और वर्गीकरण हुआ है—यह देखकर दंग रह जाना पड़ता है; लेखक, दर्शक, अभिनेता सभी की दृष्टि से।

भारतीय नाट्यशास्त्र एवं रंगमंच के विषय में कुछ लिखा जाय।

हमारे यहाँ प्रेक्षागृह (रंगशाला) तीन प्रकार की होती थी—

(१) विकृष्ट—यह १०८ हाथ लम्बी होती थी और सर्वोत्कृष्ट मानी गयी है।

(२) चतुरस्र—यह ६४ हाथ लम्बी तथा ३२ हाथ चौड़ी होती थी और मध्यम कोटि में इसकी गणना थी।

(३) त्र्यस्र—यह साधारण कोटि की औरों से भिन्न त्रिभुजाकार होती थी। इसमें थोड़े से ही व्यक्ति आते थे। रंगशाला का आधा स्थान दर्शकों के लिए और आधा रंगमंच के लिए होता था। नेपथ्य-गृह तथा रंगशीर्ष होते थे।

इसी प्रकार अभिनय कितने प्रकार का हो, वस्तु कैसे विभाजित हो, पात्र कैसे हों आदि का वैज्ञानिक वर्गीकरण यहाँ किया गया था जिसे पढ़कर लोग आज भी आश्चर्यचकित रह जाते हैं।

विद्वानों का कहना है कि पश्चिम के नाम पर यूनान का ही प्रभाव वहाँ की प्रत्येक वस्तु पर पड़ा है (नाटकों पर भी)। यों तो संस्कृतियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं किन्तु एक को ऋणी और दूसरे को दाता बताना एक की हँसी उड़ाना है। कुछ बातों में प्रभाव पड़ा हो, पर अधिकांश बातों में तो हमारा रंगमंच अछूता है। सब कुछ उसका अपना है उधार का तो कुछ भी नहीं।

हमारे यहाँ नाटक अंकों में विभाजित होते थे, परन्तु यूनानी नाटकों में अंक का कार्य सम्मिलित कोरस से लिया जाता था। वही एक अंक की समाप्ति तथा दूसरे के आरम्भ का प्रतीक था।

स्वगत कथन आदि की जो समानता है उसे किसी देश-विदेश से हम सम्बद्ध कर सकते, वे तो स्वाभाविक हैं जो सर्वत्र पाये जाते हैं।

ट्रेजेडी, जो यूनानी विशेषता है, हमारे यहाँ कभी नहीं रही। हमारे यहाँ नाटक अधिकांश सुखान्त होते थे।

यवनिका शब्द को लेकर ही भारत को ऋणी सिद्ध करने का प्रयास हास्यास्पद तक है, जब हमारे यहाँ 'जवनिका' शब्द ही मिल जाता है।

कुछ विद्वान् पात्र साम्य के आधार पर यह ऋण सिद्ध करते हैं कि शकुन्तला पर उसकी छाया है और रत्नावली पर अमुक की। विश्व का भाव जगत् ही सृष्टि का एक विचित्र साम्य है, अतः ऐसा भावसाम्य साहित्य में नया नहीं।

अतः यह स्पष्ट है कि अभिनय-कला सम्बन्धी भारत पर पाश्चात्य ऋण एक गम्भीर भ्रम है।

यह भ्रम फैला क्यों और वास्तविकता क्या है? इस विषय में डॉ० श्यामसुन्दरदास ने बहुत ही सुन्दर लिखा है जो अविकल उद्धृत किया जाता है—

"—दुःख है कि अभिनय की प्राचीन उन्नत कला हमें विस्मरण हो गयी है और हम नये सिरे से जो शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं वह पश्चिम की कह कर हमें दी जा रही है। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक भारतीय रंगमंच पश्चिम की शैली पर ही गठित हो रहा है और अभिनय का प्रकार भी अधिकतर पाश्चात्य ही है, परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि इन दिनों हम पश्चिम से जो कुछ ग्रहण कर रहे हैं, वह सर्वथा नवाविष्कृत नहीं है। इसका बहुत कुछ अंश किसी न किसी रूप में पूर्व की देन है। यदि अपने साहित्य और इतिहास का अध्ययन अधिक मनोनिवेश के साथ किया जाय तो निःसन्देह बहुत सी कलाएं और विद्याएं, जिन्हें हम पश्चिमी समझ रहे हैं, अपने ही देश की सिद्ध होंगी। आज हम एक शताब्दी पूर्व के यूरुप के रंगमंच की नकल करके अपने को बहुत अधिक विकास प्राप्त और उन्नत मानते हैं परन्तु यदि हम २० शताब्दी पूर्व के भारतीय रंगमंच के नकल करने की योग्यता प्राप्त कर सकें तो हम देखेंगे कि आज की अपेक्षा हम पिछड़े हुए नहीं हैं, पर कठिनाई यह है कि वह योग्यता प्राप्त करने की न तो हमें सुविधा ही प्राप्त है, न हमारे अन्तःकरण में इस विषय में कोई दृढ़ प्रेरणा प्राप्त होती है। हमारी चेतना मन्द हो रही है और जो कुछ हमें सुगमता से मिल जाता है उसे ही हम आँख मूंद कर अपना-लेते हैं।"

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने उपरोक्त शब्दों में वस्तुस्थिति का वास्तविक चित्र खींच दिया है। हमारी मानसिक दासता ने हमारा ध्यान अपनी कलाओं की ओर से हटा कर विदेशी वस्तुओं की ओर लगा दिया है। पश्चिम ने पूर्व से ही सब कुछ लिया। उसे ज्ञान यहीं से प्राप्त हुआ। बाइबिल इस सम्यता को स्वीकार करती है—

"Light was brought from the east." अब वही ऋणी योरुप राजनैतिक पराभव के दिनों में अपने दाता पर अपना ऋण सिद्ध करने चला है।

यदि आज भी हम अपने साहित्य का उचित अध्ययन करें तो सब कुछ स्पष्ट हो जायगा।

सत्यता यह है कि अन्य विषयों की भाँति रंगमंच भी अपना है। यद्यपि आधुनिक काल के अनुसार उसमें सुधार करने की बात किसी ने नहीं सोची, फिर भी अपने प्राचीनरूप में ही वह पश्चिम के नवीन रंगमंच से कहीं अच्छा है।

---

अध्याय १६

# भारतीय नाटक की उत्पत्ति

काव्य के मुख्यरूप से दो भेद किये गये हैं—(१) श्रव्यकाव्य और (२) दृश्यकाव्य। श्रव्यकाव्य में पाठक पूर्ण आनन्द ग्रन्थ पढ़कर या सुनकर ही ले सकता है, किन्तु दृश्यकाव्य में वही आनन्द देखकर प्राप्त किया जाता है। श्रव्यकाव्य में तो केवल एक-मात्र वर्णन होता है, किन्तु दृश्यकाव्य में शब्दों के अतिरिक्त वाणी, नृत्य, वेशभूषा, अंग-संचालन आदि अभिनय-क्रिया से दर्शक को रसमग्न किया जाता है।

अरस्तु काव्य को जीवन की अनुकृति मानता है। वास्तव में अनुकरण करने की मनुष्य की प्रवृत्ति अनादिकाल से चली आ रही है। किसी वस्तु का अनुकरण करने में मनुष्य को एक आनन्द प्राप्त होता है। नाटक इसी मानवीय भावना के फलस्वरूप प्रतीत होते हैं।

जब दृश्यकाव्य में वाणी, अभिनय, वेशभूषा तथा अन्य किसी पात्र का रूप धारण कर नट दर्शकों को प्रभावित करता है तो उसे रूपक कहते हैं—'रूपारोपातु रूपकम्' (एक व्यक्ति का दूसरे में आरोप करने को रूपक कहते हैं)। रूपक के दो भेद माने गये हैं—(१) रूपक और (२) उपरूपक। रूपक के दस भेद हैं जिनमें से नाटक मुख्य है। नाटक का सम्बन्ध नट से है—'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् दशरूपक' (अवस्थाओं की अनुकृति को नाट्य कहते हैं)। यद्यपि नाटक रूपक का एक भेद है किन्तु अधिक लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध होने के कारण रूपक का पर्यायवाची बन गया है।

नाटक की उत्पत्ति कैसे हुई, इसके विषय में दो दृष्टिकोण हैं—(१) भारतीय दृष्टिकोण और (२) पाश्चात्य दृष्टिकोण।

पहले पाश्चात्य दृष्टिकोण को समझ लिया जाय। पश्चिम के विद्वान् योरुप के सबसे प्राचीन नाटकों के देश यूनान में नाटकों की उत्पत्ति 'मेपोल' नामक उत्सव में होने वाले नृत्य से मानते हैं और उनका कथन है कि भारतीय नाटकों की उत्पत्ति भी इसी प्रकार के 'इन्द्रध्वज' नामक महोत्सव से माननी चाहिए। इसके लिए भरत-मुनि के नाट्यशास्त्र से ही प्रमाण दिया गया है जहाँ कि 'इन्द्रध्वज' का उल्लेख मिलता है—

"—अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्त्तते ।
अत्रे दानीमयं वेदो नाट्य संज्ञः प्रयुज्यताम ।।"

यह उत्सव नैपाल में आज भी मनाया जाता है, परन्तु एक बात विचारणीय है कि नाटक केवल एकमात्र नृत्य नहीं है, केवल उछल-कूद एवं भद्दे गानों के प्रदर्शन को नाटक नहीं कहा जा सकता। नाटक के मूल में तो अनुकरण की प्रवृत्ति होनी चाहिए। नृत्य, अनुभव एवं अनुकरण के मिश्रण से नाटक का रूप बनता है। 'मेपोल' या 'इन्द्रध्वज' उत्सव केवल उत्सव हैं, उनमें अनुकरण का तत्व नहीं, अतः उनसे नाटकों की उत्पत्ति मान लेना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

डॉ० रिजवे का कथन है कि यूनानी प्रसाद ( ट्रेजेडी ) का मूल वीर-पूजा है। वीरों के शव सुरक्षित रखे जाते थे और प्रति वर्ष उनकी स्मृति या सम्मान में उन्हीं की जीवन-घटनाओं का वर्णन किया जाता था। डॉ० रिजवे ने इसी सिद्धान्त का प्रयोग भारतीय नाटकों पर भी करना चाहा और उन्होंने वीर-पूजा की ओर इंगित करते हुए कृष्णलीला, रामलीला आदि को भारतीय नाटकों का मूल माना।

डॉ० कीथ की इस विषय में एक विचित्र ही धारणा थी। वे ऋतु-परिवर्तन को ही नाटकों का मूल मानते हैं। इसका कारण है—वास्तव में विश्व के प्रत्येक देश में ऋतु-परिवर्तन के समय समाज में सामूहिक नृत्य, गीत आदि का आयोजन होता है। उनके विचार से यही नृत्य, गीत आदि नाटकों के जनक हैं। उन्होंने इस विषय में प्रमाणस्वरूप 'कंसवध' नाटक का उल्लेख किया है जिसका वर्णन पतंजलि के महाभाष्य में आता है। इसमें वर्णित कंस और उसके अनुयायियों को नीले वस्त्र धारण किये हुए बताया गया है तथा कृष्ण और उसके अनुयायियों को लाल वस्त्र धारण किये हुए बताया गया है। इसका अर्थ डॉ० कीथ ने लिया है कि यह शिशिर ऋतु पर ग्रीष्म ऋतु की विजय का रूपक प्रस्तुत करता है। किन्तु डॉ० कीथ का मत वास्तविक से अधिक काल्पनिक सा प्रतीत होता है।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् पिशेल नाटकों का मूलरूप कठपुतलियों के नाच को मानते हैं। उनका कथन है कि कठपुतलियों के उस नाच का ही आज के नाटक विकसित रूप हैं। उन्होने प्रमाण के लिए दो शब्दों को विशेषरूप से उद्धृत किया है—पहला शब्द है सूत्रधार और दूसरा स्थापक। होता यह था कि कठपुतलियाँ सूत्रों (धागों) के द्वारा नचाई जाती थीं और एक वृत्ति पर्दे के अन्दर से उन सूत्रों का संचालन करता था, उसी को सूत्रधार कहते थे। जो सूत्रों को धारण करे वह सूत्रधार और जो कठपुतलियों को यथास्थान रखे वह स्थापक। ये दोनों शब्द संस्कृत नाटकों के विकसिततम युग में भी ज्यों के त्यों प्रयोग में आते रहे। पिशेल का कथन है कि दोनों शब्द उसी काल के हैं जब कठपुतलियाँ नचाई जाती थीं और भावसाम्य के कारण ये संस्कृत के नाटकों में भी प्रयुक्त होते रहे। उन्होंने इसके लिए संस्कृत-साहित्य के बहुत से उद्धरण दिये हैं, जहाँ कठपुतली-नृत्य का वर्णन आता है। गुणाढ्य

की 'बृहत्कथा'; राजशेखर की 'बालरामायण' तथा 'महाभारत' का इस विषय में नाम लिया जाता है। बृहत्कथा में लिखा है कि मायासुर की कन्या के पास ऐसी कठपुलती थी जो नाचती गाती थी और हवा में उड़ भी सकती थी। महाभारत में लिखा है कि उत्तरा ने अर्जुन से एक पुत्तलिका लाने के लिए कहा था।

पिशेल साहब के पास प्रमाण तथा तर्कस्वरूपमहत्वपूर्ण वस्तु है—'सूत्र' शब्द, किन्तु इसके तो अनेक अर्थ हैं। मकान नापने के सूत्र को कारीगर लोग (राज लोग) सूत्र भी कहते हैं। मकान नापने के इसी सूत्र से 'सूत्रपात' शब्द का उद्‌भव हुआ है। व्याकरण तथा दर्शन आदि के भी सूत्र होते हैं। इस विषय में स्वर्गीय महाकवि प्रसाद का मत उद्‌धृत करना असंगत न होगा—

"—कठपुतलियों से नाटक प्रारम्भ होने की कल्पना का आधार 'सूत्रधार' शब्द है, किन्तु सूत्र के लाक्षणिक अर्थ का ही प्रयोग सूत्रधार और सूत्रात्मा जैसे शब्दों से मानना चाहिए। जिसमें अनेक वस्तु ग्रथित हो और जो सूक्ष्मता से सब में व्याप्त हो, उसे सूत्र कहते हैं, कथावस्तु और नाटकीय प्रयोजन के सब उपादानों को जो ठीक-ठीक संचालित करता हो। वह सूत्रधार आजकल के डायरेक्टर की तरह ही होता था। सम्भव है कि पटाक्षेप और जवनिका आदि के सूत्र भी उसके हाथों में रहते हों।"

प्रसादजी कठपुतलियों के सूत्र से भिन्न सूत्र शब्द का लक्षणार्थ लेते हैं। सारांश यह है कि यह भी मत विद्वानों में अधिक मान्य नहीं हुआ।

डॉ० ल्यूडर्स छाया नाटकों से भारती नाटकों की उत्पत्ति मानते है और प्रमाणस्वरूप 'दूतांगद' नामक एक संस्कृत छाया नाटक का नाम लेते हैं।

कुछ विद्वान् भारतीय नाट्यकला को भारत पर यूनानी ऋण मानते हैं। उनके विश्वास और प्रमाण का दुर्बल आधार है—यवनिका शब्द। नाटक में यवनिका सबसे आरम्भ का पर्दा होता है जो नाटक आरम्भ होने से पूर्व या समाप्ति पर गिरा दिया जाता है। वास्तव में संस्कृत नाटकों में 'जवनिका' शब्द का प्रयोग होता है जिसका अर्थ होता है 'ढकने वाला पर्दा'। इसलिए यवनिका शब्द को अटकल से यवन से जोड़ना कोई संगत नहीं प्रतीत होता। यदि यवनिका का सम्बन्ध यवन से जोड़ना आवश्यक हो तो इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि यवनिका पट यूनानी कपड़े से बनाया जाता रहा होगा। फिर भारतीय नाटकों को यूनानी नाटकों का ऋणी कहना हास्यास्पद तो है ही, साथ ही ऐतिहासिक ज्ञान का अभाव भी प्रकट करता है। विक्रम से ४०० वर्ष पूर्व पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में 'कृशाश्व' तथा 'शिलालिन्' नामक नटसूत्रकारों का उल्लेख किया है। दूसरा मौलिक अन्तर यह है कि यूनान में ट्रेजेडी और कॉमिडी इस प्रकार से नाटकों के दो भेद किये गये हैं और भारत में इस प्रकार का कोई विभाजन नहीं मिलता। भारतीय आचार्यों ने तो भारतीय संस्कृति एवं भारतीय दर्शन के आधार पर दुःखान्त नाटक लिखने का निषेध तक किया है।

अब विद्वान् प्रायः इस विषय में एक मत होते जा रहे हैं कि वेद ही नाटकों

का मूल है। कहते हैं कि महेन्द्र आदि देवताओं के प्रार्थना करने पर ब्रह्मा ने नाट्य-वेद को पाँचवें वेद के रूप में बनाया। ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाटक का सृजन किया गया।—

"—जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसनाथर्वणादपि॥"

शिवजी ने इसके लिए ताण्डव नृत्य दिया और पार्वती ने लास्य (कोमल नृत्य)। अभिनय का कार्य सौंपा गया भरत मुनि को जिसको कि उन्होंने अपने सौ पुत्रों को तद्विषयक शिक्षा दे पूर्ण किया।

आज विद्वान् इस विषय में यह भी मत रखते हैं कि भारत में नाटकों का आरम्भ धार्मिक कृत्यों से हुआ है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि लौकिक तथा सामाजिक कृत्य भी इसके मूल में है।

प्रोफेसर मैक्समूलर, लेवी, डॉ० हर्टेल नाटक का उदय वैदिक ऋचाओं के गान से मानते हैं। उनका कथन है कि ऋचाओं में जहाँ सम्वाद आते थे वहाँ उसे स्पष्टता देने के लिए दो पक्ष उन्हें उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में रखने पड़ते थे। उन्होंने इस विषय में इन्द्र और मारुतों के सम्वाद तथा सोम-विक्रय-सम्बन्धी घटनाओं का उल्लेख किया है। पीछे कृष्ण-पूजा सम्बन्धी यात्राओं में इसका रूप और भी स्पष्ट हो गया। धार्मिक अवसरों पर रात्रि-जागरण कर गीत-नाट्य करने का उल्लेख धार्मिक ग्रन्थों में आता है।

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान के अगाध भण्डार वेद ही नाटक के उदय के मूल में हैं। सारा भारती वाङ्मय ही वेदों को अपने जनक के रूप में मानता है। जहाँ विश्व के ज्ञान की सम्पूर्ण दिशाओं के अंकुर वेदों में प्राप्य हैं, फिर नाटक ही कहाँ रह जायगा।

---

अध्याय २०

# नाटक के तत्व : पौर्वात्य तथा पाश्चात्य

श्रव्य-काव्य का आनन्द मनुष्य घर में बैठकर एकान्त में भी ले सकता है किन्तु नाटकों (दृश्यकाव्य) का पूर्ण आनन्द उसके अभिनय के बिना सम्भव नहीं, नाटक वास्तव में अभिनय की दृष्टि से ही लिखा जाता है ।

उपन्यास के रूप-विधान के भारतीय ढंग तथा पाश्चात्य ढंग में कुछ अन्तर है, फिर भी कुछ साम्य है । संक्षेप में, हम पाश्चात्य एवं पौर्वात्य दोनों प्रकार के नाटक तत्वों का विश्लेषण कर उसमें साम्य और भेद देखेंगे ।

यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि नाटक शब्द में ही 'नट्' धातु है । अवस्थाओं का अनुकरण करना ही नाट्य है । "अवस्थानुकृति नाट्यम्" । अत: अनुकरण का तत्व ही नाटकों में प्रधान है।

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुकूल नाटक के चार तत्व माने गये हैं—

(१) वस्तु ; (२) नेता या पात्र ; (३) रस और (४) अभिनय । योरुपीय नाट्य-शास्त्र के अनुकूल नाटक के छह तत्व माने गये हैं—(१) कथावस्तु ; (२) पात्र ; (३) कथोपकथन ; (४) देशकाल ; (५) उद्देश्य और (६) शैली ।

## वस्तु

नाटक में आई हुई कथा को ही वस्तु कहते हैं और अंग्रेजी में इसी को Plot कहते हैं । वस्तु दो प्रकार की मानी गयी है—(१) अधिकारिक और (२) प्रासंगिक । अधिकारिक कथावस्तु वह है जिसका सीधा सम्बन्ध नायक से होता है और कथा का मुख्य विषय इसमें रहता है । प्रासंगिक कथावस्तु को गौण कथावस्तु भी कहते हैं । इसका सम्बन्ध नायक के अतिरिक्त अन्य अप्रधान पात्रों से होता है । इसके दो कार्य हैं—(१) नायक के चरित्र या उसके उद्देश्य को स्पष्ट करना और (२) कथा में उचित परि-वर्तन करना या मोड़ देना ।

उदाहरण के लिए रामायण में सुग्रीव की कथा प्रासंगिक कथा है । इसी प्रकार राधाकृष्णदासजी के 'महाराणा प्रताप' नाटक में गुलाबसिंह तथा मालती की कथा प्रासंगिक कथा है । यह भी दो प्रकार की होती है—

(१) पताका—एक बार आरम्भ होकर जब प्रासंगिक कथा अन्त तक अधिकारिक कथा के साथ चलती है।

(२) प्रकरी—जहाँ प्रासंगिक कथा आरम्भ होकर नहीं बीच में ही समाप्त हो जाय।

कथा की ऐतिहासिकता के आधार पर भी उसके तीन भेद किये गये हैं—

(१) प्रख्यात—जो कथा, इतिहास, पुराण या जन-प्रसिद्ध हो।

(२) उत्पाद्य—जो कथा लेखक की कल्पनाप्रसूत हो।

(३) मिश्र—जहाँ कल्पना और ऐतिहासिकता का मिश्रण हो।

भारतीय नाटक किसी समस्या को लेकर नहीं लिखे जाते थे। उनके उद्देश्य निश्चित होते थे और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति इनके उद्देश्यों में होती थी। पाश्चात्य नाटकों की भाँति संघर्ष का आरम्भ तथा विकास और चरमसीमा दिखा कर केवल संघर्ष की समाप्ति ही उद्देश्य प्राप्ति के रूप में उनमें नहीं दिखायी जाती थी। इस प्रकार कार्य-व्यापार की दृष्टि से दोनों प्रकार के नाटकों में कार्यावस्थाओं के भिन्न-भिन्न नाम हैं। भारतीय नाटक का मुख्य उद्देश्य फल होता है जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से एक होता है। भारतीय नाट्यशास्त्र की दृष्टि से कार्य-व्यापार की निम्नांकित अवस्थाएँ हैं—

(१) आरम्भ—यह कथा का आरम्भ है। इसमें निश्चित फल को प्राप्त करने की इच्छा दिखायी जाती है।

(२) यत्न—इच्छा को पूर्ण करने के लिए जो यत्न किया जाता है वह इसके अन्तर्गत आता है।

(३) प्रात्याशा—इसमें विघ्नों की समाप्ति के साथ-साथ फल की प्राप्ति की आशा हो उठती है।

(४) नियताप्ति—यहाँ तक आते-आते फल-प्राप्ति की आशा या सम्भावना निश्चितता में बदल जाती है, अर्थात् फल-प्राप्ति का निश्चय हो जाता है।

(५) फलागम—इसमें सम्पूर्ण बाधाओं का नाश होकर फल प्राप्त हो जाता है। पाँचवीं दशा फलागम हमारे नाट्यशास्त्र की एक विचित्र बात स्पष्ट करती है कि नाटक में फल की प्राप्ति आवश्यक मानी गयी थी, अर्थात् ऐसा कभी सम्भव नहीं था कि फल प्राप्त न भी हो और इस प्रकार नाटक का अन्त दुःखद वातावरण में कभी नहीं होता था, अर्थात् हमारे यहाँ दुःखान्त नाटक होते ही नहीं थे। स्पष्ट है कि संघर्ष जैसी वस्तु को प्रधानता देकर पाश्चात्य लोगों ने अपना विषय सीमित कर लिया। भारतीय नाट्य-साहित्य की समीक्षा में उनकी मान्यताएँ एवं समीक्षा सहज ही समाहित हो सकती है। कारण, भारतीय नाट्यशास्त्र की समीक्षा बड़ी व्यापक है।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में पाँच अवस्थाओं के नाम इस प्रकार हैं—

(१) आरम्भ (Exposition);

(२) प्रारम्भिक संघर्षमय घटना (Incident);

(३) चरम सीमा की ओर कार्य की गति (Rising Action);

(४) चरमसीमा (Climax) और

(५) समाप्ति (Denouement या Catastrophe)। Catastrophe सामान्यत: बुरे अन्तिम परिणाम (End) को कहते हैं।

इसके अतिरिक्त भारतीय नाट्यशास्त्र में वस्तु के और अनेक भेद हैं जो बिलकुल वैज्ञानिक हैं।

अर्थ-प्रकृतियाँ—कथावस्तु के चमत्कारपूर्ण अंग जो उसे कार्य की ओर ले जाते हैं। ये पाँच है—(१) बीज; (२) बिन्दु; (३) पताका; (४) प्रकरी; (५) कार्य।

संधियाँ—इसका अर्थ ही है मेल। इनमें कार्यावस्थाओं तथा अर्थ-प्रकृतियों की सन्धि रहती है। ये भी संख्या में ५ हैं—(१) मुख; (२) प्रतिमुख; (३) गर्भ; (४) विमर्ष; (५) निर्वहरण।

अर्थोपक्षेपक—कथावस्तु में दो प्रकार की सामग्री रहती है—

(१) दृश्यश्रव्य—वह जो मंच पर घटित दिखायी जाती है;

(२) सूच्य—जिनकी सूचनामात्र पात्रों द्वारा दी जाती है।

भारतीय नाटकों में कथोपकथन कोई स्वतन्त्र तत्व नहीं माना गया। वहाँ उसे कथावस्तु का ही एक भाग समझा गया है, अतः हमारे यहाँ तीन प्रकार का कथोपकथन माना गया है—

(१) श्राव्य; (२) अश्राव्य; (३) नियत श्राव्य।

(१) श्राव्य—जो सब दर्शकों के सुनने के लिए हो।

(२) अश्राव्य—जो दूसरे पात्रों के सुनने के लिए न हो। इसी को सस्वर विचार या Loud thinking भी कहा जाता है।

(३) नियत श्राव्य—जो कुछ निश्चित पात्रों के लिए ही हो। आकाशभाषित भी कथोपकथन का ही एक भाग है।

पात्र

भारतीय नाटकों में पाश्चात्य देशों की भाँति प्रत्येक व्यक्ति नाटक का नायक नहीं हो सकता। इसका एकमात्र कारण यही है कि वे नायक में असाधारण गुणों का उत्कर्ष दिखाते हैं जिससे समाज उससे कुछ सीख सके। दूसरी बात यह है कि जब नाटक सदैव सुखान्त ही होते हैं तो नायक को विजय दिखाना आवश्यक है। विजय जिसके लिए एक आवश्यक वस्तु हो, वह असाधारण एवं प्रतापी तो होगा ही। पाश्चात्य और भारतीय दृष्टि में यहाँ एक अन्तर यह भी है कि पश्चिम में नायक परिस्थितियों में पड़ा साधारण प्राणी होता है। परन्तु हमारे यहाँ घटनाओं, कार्यों आदि का विकास उसी के लिए होता है क्योंकि वही फल का भोक्ता होता है। नायक चार प्रकार के माने गये हैं—

(१) धीरोदात्त—उदार चरित्र वाला होता है। शक्ति, क्षमा तथा आत्मगौरव के साथ विजयी होता है।

(२) धीरललित—कोमल स्वभाव का विलासी नायक होता है।

(३) धीर प्रशान्त—शान्त स्वभाव का नायक जो ब्राह्मण या वैश्य ही होता है।

(४) धीरोद्धत नायक—यह मायावी, आत्मश्लाघी, स्वभाव से प्रचंड तथा चपल होता है।

इसके अनुसार स्वभाव के अनुसार नायक के और भेद होते हैं। पाश्चात्य मीमांसा में नायक के ऐसे भेद नहीं होते।

## रस

अँग्रेजी मीमांसाशास्त्र में यही उद्देश्य है। भारती नाट्यशास्त्र में जो रस है, वही अँग्रेजी में उद्देश्य है। संस्कृत नाट्यशास्त्र में उद्देश्य होता था—किसी रस का उद्-बाधन करना। वही काव्य का चरम लक्ष्य समझा जाता था। हमारे यहाँ काव्य केवल चरित्र प्रस्तुत नहीं करता था अपितु इससे ऊपर उठकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि ही उसका उद्देश्य थी और वह आनन्द प्राप्ति के द्वारा ही सम्भव थी। अतः रस ही भारतीय शास्त्र मे चरम लक्ष्य माना जाता है। लेकिन पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में संघर्ष जिसकी मूल चेतना होती है; वे अपना लक्ष्य सामाजिक अथवा राजनैतिक अधिकांश में रखते हैं।

## वृत्तियाँ

भारतीय नाट्यशास्त्र में वृत्तियाँ ही शैली के स्थान पर मानी गयी है। अंग्रेजी की शैली इसके अन्तर्गत आ सकती है। ये चार हैं—

(१) कौशकी वृत्ति—यह बड़ी कोमल वृत्ति है जिसका सम्बन्ध कोमल रसों—शृंगार तथा हास्य से है। इसमें नृत्य और गीत का बाहुल्य रहता है।

(२) सात्वकी वृत्ति—इसमें वीरोचित कार्य रहते हैं, अत: यह दया, दाक्षिण्य शौर्य तथा दान आदि से सम्बद्ध है। इसमें रौद्र तथा अद्भुत रस का भी समावेश रहता है।

(३) आरभटी वृत्ति—यह रौद्र रस के उपयुक्त है। इसमें, संग्राम, संघर्ष, क्रोध, माया, इन्द्रजाल आदि का प्रदर्शन होता है।

(४) भारतीय वृत्ति—भरतमुनि इसका सम्बन्ध करुण रस तथा अद्भुत रस से मानते हैं। स्त्रियाँ इसमें वर्जित रहती हैं। केवल पुरुष नटों से ही इसका सम्बन्ध है।

## देशकाल

देशकाल का तत्व कोई अनिवार्य तत्व नहीं है, वह तो सामान्यरूप से अन्य

तत्वों में व्याप्त है। हमारे यहाँ उपरूपक के १८ भेद किये गये हैं। प्रत्येक में नायक संख्या आदि दी गयी है। कितने समय का, किस विषय का नाटक कौन सा होता है, इसका स्पष्ट विवेचन है।

सरांश यही है कि हमारा नाट्यशास्त्र बहुत ही विकसितरूप में हमें प्राप्त है। उसमें नाटक से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु का पूर्ण वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। अंग्रेजी नाट्यशास्त्र के तत्व कोई नये नहीं हैं, वे पहले से ही उसमें मिल जाते हैं और हमारे अपने वर्गीकरण में सहज ही समाजाते हैं।

————

अध्याय २१

# रस की अलौकिकता

काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। बात यह कि जब पाठक का साधारणीकरण होता है तो वह काव्य का रसास्वादन करने लगता है। यह रसास्वादन यद्यपि लौकिक वस्तुओं के माध्यम से होता है, किन्तु है फिर भी अलौकिक। रसास्वादन में पाठक की वृत्ति आनन्दमयी तथा सत्वप्रधान हो जाती है। रस तथा जस् तमस का अभाव उसमें हो जाता है, अत: ऐसी दशा में हर प्रकार की अनुभूति आनन्दमयी होती है। वस्तुजगत में जो वस्तुएं आनन्ददायक नहीं होतीं, काव्य में रस दशा में वे भी आनन्दप्रद हो जाती हैं, यही काव्यानन्द की लौकिकता है। अन्तर इतना ही है कि ब्रह्मानन्द का योग द्वारा सम्बन्ध है और चिरकाल तक रह सकता है, किन्तु काव्यानन्द विभाव-अनुभावों के प्रदर्शन की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाता है। यों तो चित्त-वृत्ति का निरोध तथा सत्वगुणप्रधानता योग में भी होती है और साधारणीकरण में भी।

डॉ० भगवानदास जैसे प्रसिद्ध विद्वान् तथा दार्शनिक का कथन है—"लोकोत्तर भी कैसे कहा जा सकता है; लोक में ही तो काव्य-साहित्य के रस की चर्चा है।" यहाँ लोकोत्तर से डॉ० साहब का अभिप्राय परलोक से ही है।

इस विषय में डॉ० श्यामसुन्दरदास का कथन भी द्रष्टव्य है—

"—इस प्रसंग में यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि जिन भावों के सहारे इसका स्वाद मिलता है वे हमारे लोक के नहीं हैं। वे भाव सर्वथा हमारे तथा हमारे लोक के हैं। वे अतीन्द्रिय, पारलौकिक अथवा लोकबाह्य नहीं होते। वे अलौकिक इसलिए कहे जाते हैं कि उनका अनुभव पर-प्रत्यक्ष के लोक में—चित्त की मधुमती भूमिका में होता है और इस अनुभव के कार्य-कारण साधारण और लौकिक नहीं होते। इसी से जो अंग्रेजी वाले अलौकिक का Supernatural अथवा Extra Ordinary शब्दों से अनुवाद करते हैं, वे सत्य तक नहीं पहुँच पाते। अलौकिक का इस प्रसंग में अर्थ होता है Supersensuous (पर-प्रत्यक्षगम्य)।"

सीधे-सादे शब्दों में कह सकते हैं कि अलौकिक का यहाँ अर्थ है जो लौकिक नहीं, अर्थात् अलोकसामान्य जो लौकिक वस्तुओं से विलक्षण हो।

अब देखना यह है कि लोकानुभूति (प्रत्यक्षानुभूति) तथा काव्यानुभूति में क्या अन्तर है ?

वस्तुजगत में जब हम किसी कोढ़ी को सड़क के किनारे बैठा देखते हैं तो घृणा से हमारा मन भर जाता है और वहाँ एक क्षण ठहरने को भी हमारा मन नहीं चाहता। खून, मांस, वध आदि वस्तुजगत में हमारे लिए दुःखदायी तथा अवांछनीय प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार जब हम किसी उद्यान में किसी प्रेमी को अपनी प्रेमिका से चोरी से मिलते देखते हैं तो कोई आनन्दानुभूति हमें नहीं होती। हो सकता है कि ऐसे समय ईर्ष्या की भावना ही हमारे मन में उदित हो और समाज-विरोधी भावना होने के नाम पर हम उन प्रेमियों के प्रेम में विघ्न डालने का भी प्रयत्न करे। इसी प्रकार वस्तुजगत में हमारे देखते-देखते कोई व्यक्ति अपने शत्रु पर खड्ग से प्रहार करके उसका शिरच्छेदन कर दे तो हमसे देखा नहीं जायगा और क्रोध-मिश्रित घृणा की भावना हमारे हृदय में पैदा होगी। लेकिन एक कथा का अंश बन कर जब ये ही सब बातें साहित्य में आती हैं तो हम उन्हें देखने और पढ़ने में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि अपने अस्तित्व की भावना भी कुछ देर हमें नहीं रहती। शकुन्तला नाटक में प्रेमातुर दुष्यंत शकुन्तला का प्रेम-मिलन किसे अभिभूत नहीं कर लेता। सुकुमार बालक भरत जब तोतले शब्दों में अपनी माता का नाम दुष्यंत को बताता है और दुष्यंत उसे गोद में ले लेता है तब कौन सामाजिक हर्षातिरेक तथा स्नेहातिरेक का अनुभव नहीं करता ? इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तु-जगत की घटनाओं का हमारे हृदय पर दूसरा प्रभाव पड़ता है और उनका साहित्यिक रूपान्तर हमारे हृदय पर दूसरा प्रभाव डालता है। एक लौकिक है तथा दूसरा लौकिक नहीं, उसे अलौकिक भी कह सकते हैं।

प्रश्न यह है कि यह सब कुछ होता क्यों है ?

उत्तर बहुत साधारण है। कवि किसी बात को देखता है, वैसा ही नहीं कह देता। वह उसे सुन्दरम के आवरण में प्रविष्ठित करके कहता है, इसीलिए तो कवि द्वारा प्रस्तुत चित्र में और Photography में बड़ा अन्तर है। फोटो वस्तुजगत की यथार्थ प्रतिकृति है जबकि कवि द्वारा प्रस्तुत वस्तुजगत की अनुकृतिमात्र। कवि किसी बात को परिष्कृत रूप में रखता है, अधिक प्रभावशाली रूप में रखता है। कवि वास्तव में जब किसी वस्तु या दृश्य को देखता है तो तुरन्त ही उसे अंकित नहीं कर देता। कर सकता भी नहीं। कारण, उस समय उसकी चेतना उसके प्रभाव से अभि-भूत रहती है और सृजन-शक्ति मन्द हो जाती है। कलाकार अपने द्वारा देखी हुई वस्तु को निरीक्षण, स्मृति तथा कल्पना के मिश्रण से पूर्ण करके रखता है और जो कुछ वह इस प्रकार रखता है वह सत्य वस्तु होती है और असत्य वस्तु भी होती है। आशय यही कि वह कितनी ही सुन्दर वस्तुओं को कल्पना द्वारा एक वस्तु में नियोजित

कर देता है और इस प्रकार अपने द्वारा विभिन्न स्थानों पर देखी सुन्दर वस्तुओं का समन्वय एक चित्र में ही कर देता है। यही कारण है कि वस्तुजगत में जो वस्तु जैसी है, वह उसे उससे से भी अधिक आकर्षक और प्रभावशाली रूप में रखता है। वह प्रभाव को एक ही चित्र में केन्द्रित कर देता है जिससे वह चित्र अलौकिक अथवा अलोक सामान्य बन जाता है। यों तो चित्र की प्रत्येक वस्तु का अलग-अलग अस्तित्व विश्व में है, परन्तु कवि-कृति की भाँति एक ही स्थान पर वे नहीं भी हो सकतीं। इसीलिए तो कवि को सृष्टा या अपनी सृष्टि का विधाता कहा गया है। यह ठीक भी है कि वह विधाता की सृष्टि की मक्खीमार अनुकृति न करके उसका यथेच्छया सृजन करता है। अलौकिक वस्तुओं के योग से एक अलौकिक—अलोक सामान्य-वस्तु का सृजन ही कवि की विशेषता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। एक चित्रकार ने एक घना वन देखा, दूसरी बार मैदान में उसने कहीं कुछ हिरण देखे, तीसरी बार उसने एक झरना देखा। अब वह इन सबका अलग-अलग चित्र न बना कर सबका समावेश एक चित्र में करता है। घना वन, उसमें एक मनुष्य, प्रपात के पास कुछ मृग—कुछ चौकन्ने खड़े हैं, कुछ पानी पीने में व्यस्त हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि चित्रकार का यह सम्मिलित चित्र जितना प्रभावशाली होगा उतना यथार्थ चित्र नहीं, अर्थात् जैसा देखा वैसे ही चित्रित कर दे। जब वह इस प्रकार प्रभाव को एक स्थान पर केन्द्रित कर देता है तो स्वाभाविक है कि उसका प्रभाव लौकिक प्रभाव से भिन्न हो जाय, अलौकिक हो जाय। यही कवि सत्य है। जो है, जो होता है, कवि के लिए यही सत्य नहीं, अपितु क्या हो सकता है, उसके लिए सबसे बड़ा सत्य यही है जहाँ कि उसे अपनी कल्पना के अबाध प्रयोग का अवसर मिलता है। अरस्तू का कथन इस विषय में द्रष्टव्य है—"It is not the function of the poet to relate what has happened but what may happen ....... poetrytrans forms its fact into truths. The truth of poetry is not a copy of reality but higher reality, what to be, not what is."

स्पष्ट है कि काव्य का सत्य वस्तुजगत के सत्य से भिन्न एवं महानतर होता है। 'वह क्या है' से बढ़कर 'क्या हो सकता है' से सम्बन्ध रखता है।

कवि वास्तव में टेलीफोन की भाँति का कोई यंत्र नहीं कि जो कुछ ग्रहण करे उसे ज्यों का त्यों व्यक्त कर दे। उसके हृदय होता है साधारण रूप से भावुक। प्रत्येक बात जो वह ग्रहण करता है, अपने मानस में रससिक्त कर ही उसे अभिव्यक्त करता है। इसी कारण तो वह पाठक के हृदय में वैसे ही भाव का उद्रेक करा कर उसे रसमग्न कर देता है। अलौकिक (अलोक सामान्य आनन्द) का अनुभव कराता है। पाठक उसकी कृति का परिचय उसकी दृष्टि से उसी के हृदय के माध्यम से पाता है और उसी की भाँति अलौकिक रस में कुछ काल के लिए मग्न हो जाता है।

यह कवि की ही सर्वप्रथम विशेषता है कि हम जैसी वस्तुओं को वार-वार देखना चाहते हैं, जिन्हें वस्तुजगत में एक वार देखना भो पसन्द नहीं करते। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में दर्शक रोहताश्व की मृत्यु पर शैव्या की भाँति ही विलाप करता है। वह यह भूल जाता है कि अभिनेता स्वयं हरिश्चन्द्र और शैव्या नहीं है। दूसरी वात यह है कि वह स्वयं उनसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता। अपने पड़ोस में ही मृत्यु हो जाती है, किन्तु पड़ोसियों के सम्वन्धियों के अतिरिक्त और कौन रोता है ? कोई नहीं। किन्तु नाटक-घर में छद्मवेशी अभिनेतागण हमसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते, फिर भो वहाँ कौन नहीं रोता ? सब रोते हैं। ऐसा क्यों ? ऐसा लोक में नहीं होता किन्तु ऐसा वहाँ होता है, इसलिए काव्यानन्द अलौकिक है, अलोक सामान्य है। काव्य में वीभत्स से वीभत्स चित्र को पाठक पुनः-पुनः पढ़ना चाहता है। भीषण रण-वर्णन में वह रस-मग्न हो जाता है। वह लक्ष्मण के शक्ति लगने पर रोने लगता है, जवकि लौकिक अर्थ में यह सब मिथ्या है। फिर यह अलौकिक वात क्यों हो जाती है ? स्पष्ट है कि काव्य में व्यक्त वस्तु, वस्तुजगत में उत्पन्न प्रभाव से एक भिन्न प्रभाव रखती है। शोक में वस्तु-जगत में कोई आनन्द नहीं ले सकता, किन्तु काव्य में शोक से पूर्ण स्थल सर्वाधिक लोकप्रिय देखे जाते हैं।

शैली ने ठीक कहा है "Our sweetest songs are those which tell us sadest thought." (शोकतम अवस्थाओं के सूचक गीत मधुरतम होते हैं।)

यही काव्य की अलौकिकता है जो लौकिकता से भिन्न है, किन्तु पारलौकिकता से जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

पं० रामदहिन मिश्र ने दर्पणकार द्वारा लिखे अलौकिकता के कुछ कारणों पर प्रकाश डाला है जो द्रष्टव्य हैं—

(१) लौकिक पदार्थ ज्ञाप्य होते हैं, अर्थात् दूसरी वस्तुओं के द्वारा उनका ज्ञान होता है, पर रस ज्ञाप्य नहीं होता है क्योंकि अपनी सत्ता में कभी व्याभिचारित-प्रतीति के अयोग्य नहीं होता। जब होता है, अवश्य प्रतीत होता है। घटपट आदि लौकिक पदार्थ ज्ञापक से अर्थात् ज्ञान कराने वाले दीपक आदि से प्रकाशित होते हैं, वैसे ही उनके विद्यमान रहने पर भी कभी-कभी ज्ञान नहीं होता। ढके हुए पदार्थ को दीपक नहीं दिखा सकता, परन्तु रस ऐसा नहीं है, इससे रस अलौकिक है।

(२) लौकिक वस्तु नित्य होती है, परन्तु रस नित्य नहीं है क्योंकि विभाव आदि के ज्ञान से पूर्व रस-सम्वेदन होता ही नहीं और नित्य वस्तु असम्वेदनकाल में अर्थात् जब वस्तु का ज्ञान नहीं रहता तब भी नष्ट नहीं होती। रस ज्ञानकाल में ही रहता है अन्य काल में नहीं, अतः उसे नित्य भी नहीं कह सकते। अतः रस लोकवस्तु भिन्न धर्मा है, अलौकिक है।

(३) लौकिक पदार्थ कार्यरूप होते हैं, पर रस कार्यरूप नहीं है क्योंकि रस

विभावादि समूहालम्बनात्मक होता है, अर्थात् विभाव आदि के साथ रस सामूहिकरूप से एक ही साथ प्रतीत होता है। यदि रस कार्य होता तो उसके कारण विभावादि का पृथक् ज्ञान होता है। लौकिक कार्य में कारण और कार्य एक साथ नहीं दीख पड़ते। अब यदि विभावादि को कारण मानें और रस को कार्य तो इसकी प्रतीति एक साथ नहीं होनी चाहिए। किन्तु रस-प्रतीति के समय विभावादि की भी प्रतीति होती रहती है, अतः विभावादि का ज्ञान रस का कारण नहीं और इसके अतिरिक्त और कारण सम्भव नहीं है। अतः रस किसी का कार्य नहीं हो सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि रसास्वादन के समय विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के साथ ही स्थायीभाव रस-रूप में व्यक्त होता है, जो लौकिक कार्य के विपरीत है। इससे रस अलौकिक है।

(४) लौकिक पदार्थ भूत, वर्तमान या भविष्यत् होते हैं, पर रस न तो भूत, न वर्तमान और न भविष्यत् ही होता है। यदि ऐसा होता तो जो वस्तु हो चुकी उसका साक्षात्कार आज कैसे हो सकता है? पर ऐसा होता है। ज्ञाप्य और कार्य न होने के कारण रस वर्तमान नहीं है क्योंकि वर्तमान में लौकिक वस्तुएँ इन्हीं दो रूपों में होती हैं। भविष्यत् भी उसे कैसे कहें जबकि वह आनन्द घन और प्रकाशरूप साक्षात्कार—अनुभव का विषय होता है। भविष्यत् की वस्तु वर्तमान में नहीं देखी जाती। अतः रस अलौकिक है।

उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि रस यद्यपि स्वर्गीय या पारलौकिक तो नहीं किन्तु लौकिकता से भिन्न है, अतः अलौकिक है।

———

अध्याय २२

# उपन्यास के प्रमुख तत्व : नाटक तथा उपन्यास में अन्तर

जब किसी महान् व्यक्ति का चरित्र अंकित करना होता है, जिसमें भावों की प्रबलता हो तथा जिसमें मार्मिक स्थल पर्याप्त हों, ऐसा चरित्र या कथानक जो मानव समाज को महान् सन्देश देता हो तो ऐसी दशा में महाकाव्य का प्रणयन होता है। ठीक इसी प्रकार जब समाज की कोई समस्या जवलन्त रूप में उभर आती है, किसी राजनैतिक, सामाजिक या धार्मिक आन्दोलन को साहित्यिक रूप देना होता है, ऐसा कथानक जो विश्लेषणप्रधान समस्यात्मक हो, दिन-प्रतिदिन के जीवन का जिससे निकट सम्बन्ध हो, यदि गद्य में साहित्यिक रूप प्राप्त करता है तो उपन्यास का निर्माण होता है। गत कुछ वर्षों में उपन्यास समाज में अत्यधिक लोकप्रिय तथा प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं। आज विषमता का युग है। आर्थिक एवं राजनैतिक संघर्ष अपनी चरमसीमा पर हैं। संक्षेप में विश्व में, कोमल भावनाओं का अभाव है। शान्ति कुरूप हो उठी हैं। समस्याओं ने मानव जीवन को कटु तथा शुष्क बना दिया है। यह समय महाकाव्यों के प्रणयन के अनुकूल नहीं है, अत: उपन्यासों ने उसका स्थान ले लिया है क्योंकि आज की विषमता की वे ही स्पष्ट वाणी दे सकते हैं।

भारत में उपन्यासों का इतिहास अधिक पुराना नहीं है। साहित्य की और कितनी ही वस्तुओं की भाँति ही इसका भी आरम्भ भारतेन्दुकाल से हुआ, लेकिन तब से उपन्यास अन्य साहित्यिक रचनाओं (नाटक, कहानी, निबन्ध) से अधिक लोकप्रिय हुआ है।

उपन्यास का रूप-निर्माण किन तत्वों से होता है ? तत्व बिलकुल वही हैं जो कहानी, नाटक आदि में हैं, किन्तु उनके प्रयोग वैशिष्ट्य तथा तत्व के न्यूनाधिक्य के कारण उसका रूप उपरोक्त दोनों वस्तुओं (नाटक, कहानी) से भिन्न है। उपन्यास के सात तत्व होते हैं—

(१) कथावस्तु ; (२) पात्र ; (३) चरित्र-चित्रण ; (४) कथोपकथन ; (५) देश-काल ; (६) शैली और (७) उद्देश्य।

कथा-साहित्य की किसी भी रचना में कथावस्तु सर्वप्रधान वस्तु है। महान्

साहित्य का उद्देश्य होता है—मनोरंजन के साथ शिक्षण। जिस साहित्य में यह गुण नहीं होता वह उच्चकोटि का साहित्य नहीं है। मानव की पाशविक वृत्तियों को उद्दीप्त करनाभर तो अच्छे साहित्य का उद्देश्य हो ही नहीं सकता। उपन्यास का कार्य मुख्यरूप से समाज का मनोरंजन करना है, किन्तु श्रेष्ठ उपन्यास वही कहलायेगा जिसमें मनोरंजन के साथ-साथ समाज का उचित शिक्षण भी हो। कथावस्तु की दृष्टि से उपन्यास दो प्रकार के कहे जा सकते हैं—

(१) भावप्रधान ; (२) घटनाप्रधान। भावप्रधान कहने का अर्थ यह नहीं है कि उसमें कथा होती ही नहीं। अभिप्राय यही है कि उसमें घटना, घटना के लिए नहीं लाई जाती अपितु किसी उद्देश्य या चरित्र को स्पष्ट करने के लिए घटनाओं की कल्पना की जाती है। कथा के अभाव में तो उपन्यास का निर्माण सम्भव नहीं।

घटनाप्रधान उपन्यास वह होता है जहाँ घटनाओं का वर्णन इस रूप में रहता है कि बहुत सी विचित्र घटनाएँ एकसूत्र में आवद्ध रहती हैं। उसका उद्देश्य कुछ नहीं होता, केवल पाठकों को आश्चर्य में डालकर उपन्यास के प्रति रुचि बनाये रखना ही उसका लक्ष्य प्रतीत होता है। 'चन्द्रकान्ता संतति', 'भूतनाथ', 'रक्त मण्डल' आदि उपन्यास इसी प्रकार के घटनाप्रधान उपन्यासों के निर्देशन हैं। अंग्रेजी उपन्यासों से अनूदित जासूसी सीरीज के उपन्यास भी इसी कोटि के हैं। पाठक को पढ़ने के पश्चात् कुछ प्राप्त नहीं होता, कुछ सन्देश नहीं मिलता।

वस्तु के गठन के लिए लेखक को सतर्क रहने की आवश्यकता होती है। वस्तु का असन्तुलन उपन्यास को कुरूप एवं अरोचक बना सकता है। व्यर्थ के वर्णनों से लेखक को बचना चाहिए। अनुभव की गम्भीरता एवं सूक्ष्म निरीक्षण के अभाव में सफल उपन्यास लिखा नहीं जा सकता। लेखक को जिस विषय का ज्ञान न हो, उसका प्रसंग उपन्यास में नहीं उठाना चाहिए। वर्णनों में यथार्थता तथा सरलता लाने के लिए योरुप के कितने ही उपन्यासकारों ने एक ही उपन्यास लिखने में कभी-कभी अपना जीवन ही समाप्त कर दिया।

घटनाओं का समुचित नियोजन ही उपन्यास-साफल्य की कुंजी है। घटनाएँ जोड़ी हुईं प्रतीत न हों अपितु स्वाभाविक लगें, जैसी जीवन में होती हैं। अलौकिक अंश की कमी जितनी होगी, उपन्यास उतना ही सफल होगा।

**पात्र**

लेखक उपन्यास में पात्र जितने जीवन के निकट से चुनेगा, उपन्यास उतना ही सफल होगा। ऐसे पात्रों की कल्पना करना जिनका अस्तित्व इस पृथ्वी पर नहीं देखा जाता, उपन्यास की स्वाभाविकता तथा रोचकता में विक्षेप डालते हैं। लेखक की सबसे बड़ी सफलता यही है कि उसके प्रत्येक पात्र को पाठक जानता हो। पाठक कभी-कभी चौंक उठता है कि लेखक मेरा ही वर्णन कर रहा है, यही लेखक की सफलता है। प्रेमचन्दजी के पात्र इतने ही सजीव और इसी पृथ्वी के होते हैं। पात्रों के

यथावत् चित्रण के लिए अनुभूति एवं सूक्ष्म-निरीक्षण की अतीव आवश्यकता है। पात्रों की संख्या भी व्यर्थ में अधिक नहीं होनी चाहिए कि जिनका अन्त में जबरदस्ती गला घोंटना पड़े। उपन्यासकार मृत पात्रों को जीवित करने में बड़े पटु होते हैं, यह भी एक अस्वाभाविकता है।

### चरित्र-चित्रण

आज के युग में चरित्र-चित्रण उपन्यास या कहानी का सबसे प्रमुख तत्व है। कितने ही उपन्यास तथा कहानी चरित्र-चित्रणप्रधान होते हैं। उसका स्पष्टतया यही अर्थ है कि कभी-कभी उपन्यास किसी उद्देश्य विशेष या समस्या को लेकर लिखा जाता है और उसके लिए पात्र स्थापित किये जाते हैं। कभी कोई पात्र ऐसा विशिष्ट होता है कि लेखक के मस्तिष्क में घर कर जाता है। तब लेखक उस विशिष्ट व्यक्ति को ध्यान में रखकर ही उपन्यास-रचना करता है और उसके लिए घटनाओं की कल्पना करता है जो उसकी चारित्रिक विशेषताओं को प्रकाश में लाती हैं।

प्राचीन प्रकार के कथा-साहित्य में यह देखा जाता है कि कथा-विस्तार की धुन में लेखक पात्रों का कोई ध्यान नहीं रखते थे। यदि कोई व्यक्ति बुरा है तो यावज्जीवन बुरा ही रहा; यदि कोई अच्छा है तो जीवन भर अच्छा ही रहा—यह अस्वाभाविक है। मानव जीवन में कमियाँ भी होती हैं और गुण भी। एक ही जीवन में मनुष्य कभी कुकृत्य करता है और कभी सुकृत्य। आज उपन्यास अधिकांश में चरित्र-चित्रण-प्रधान ही होते हैं जहाँ वे एक व्यक्ति के अन्तर्बाह्य को पूर्णतः स्पष्ट कर देते हैं।

आज तो मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी आ रहे हैं जिनमें कथा नाममात्र को होती है और उन मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण ही अधिक रहता है जो मानव के विचित्र कार्य-व्यापारों की कुंजियाँ हैं।

चरित्र-चित्रण दो प्रकार का होता है—(१) साक्षात् और (२) परोक्ष। एक प्रकार के चरित्र का लेखक स्वयं विश्लेषण करता है, यह साक्षात् चरित्र-चित्रण है। एक में वह पात्रों के संलाप द्वारा चरित्र-चित्रण करता है, यह परोक्ष या अभिनयात्मक ढंग है।

### कथोपकथन

कथोपकथन उपन्यास का सबसे रोचक तत्व है जिससे उपन्यास में नाटक का आनन्द भी आता है। कथोपकथन द्वारा लेखक परोक्ष प्रकार के चरित्र-चित्रण का कार्य भी लेता है। कथोपकथन संक्षिप्त, सारगभित तथा रोचक होना चाहिए। व्यर्थ का विस्तार ठीक नहीं। स्वाभाविकता तब अधिक रहती है जब भाषा का प्रयोग पात्रानुसार कराया जाय। प्रेमचन्दजी ने इसका उचित प्रयोग किया है। कथोपकथन पात्रों के मानसिक पक्ष का स्पष्टीकरण करता है। कथोपकथन स्वाभाविकता लिए हुए होने चाहिए, वे कृत्रिम नहीं लगने चाहिए। वस्तु-विकास और चरित्र-चित्रण का अधिकांश

भार बहुत कुछ कथोपकथन पर है जिनके ऊपर कथोपकथन का ढांचा ही खड़ा होता है ; इसलिये कथोपकथन विशेषरूप से उपयुक्त होने चाहिए।

### देशकाल

उपन्यासकार जिस काल अथवा जिस देश का वृतान्त अपने उपन्यास में कह रहा है वह उसके अनुकूल ही होना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि उपन्यासकार बौद्ध-काल पर उपन्यास लिख रहा है तो उसे तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए ; नहीं तो वह वैसा उचित वातावरण उपस्थित करने में पूर्ण सफल नहीं हो सकेगा और प्रकारान्तर से उपन्यास ही असफल हो जायगा। उस समय की वेशभूषा, समाज-संगठन तथा रीति-रिवाजों का पूर्ण ज्ञान अपेक्षित है। एक मुसलमान को धोती-कुर्ते में चित्रित करना, उसी प्रकार एक हिन्दू को तुर्की टोपी, अचकन पायजामा में चित्रित करना देशकाल-सम्बन्धी दोष उत्पन्न करेगा। देश का ऐतिहासिक ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है क्योंकि उस समय की घटनाओं का ज्ञान भी अपेक्षित है, नहीं तो अज्ञान द्वारा कभी-कभी बड़ी भारी भूलें हो जाती हैं।

### शैली

शैली का सम्बन्ध है उपन्यास के लिखे जाने की प्रणाली से। प्रायः तीन प्रकार की शैलियाँ प्रचलित हैं—(१) आत्मचरित्र प्रणाली, (२) अन्यचरित्र (ऐतिहासिक) प्रणाली और (३) पत्रात्मक प्रणाली।

आत्मचरित्र प्रणाली के उपन्यास आत्माभिव्यंजक होते हैं। वे अधिक अनुभूत तथा स्वाभाविक लगते हैं क्योंकि लेखक व्यक्तिगत अनुभव का रूप देकर उपन्यास को लिखता है।

अन्यचरित्र प्रणाली में लेखक को वर्णन करने की अधिक सुविधा रहती है। वह तटस्थ रहता है।

पत्रात्मक शैली पत्रों के उत्तर-प्रत्युत्तरस्वरूप होती है। उसमें घटना का उचित संकलन नहीं हो पाता। ऐसे उपन्यासों की संख्या हिन्दी में नगण्य है।

### उद्देश्य

प्रत्येक साहित्यिक कृति का कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य होता है, उसी प्रकार उपन्यासकार का भी कुछ उद्देश्य होता है जिससे वह उपन्यास लिखता है।

वास्तव में उद्देश्य में ही लेखक का रूप स्पष्ट होता है कि वह किस दृष्टिकोण का है। लिखने से पूर्व लेखक का भी कुछ न कुछ उद्देश्य होता है जिसे वह घटना के आवरण में उपस्थित करता है।

आज यथार्थवादी उपन्यास और आदर्शवादी दो प्रकार के उपन्यास विचारों की दृष्टि से हैं। कुछ लेखकों का दृष्टिकोण किसी वस्तु को उसी रूप में रख देने का होता है। किन्तु प्रेमचन्दजी ने जिस मार्ग का अनुसरण किया वह अधिक उपयुक्त

प्रतीत होता है—वह है आदर्शोन्मुख यथार्थवाद, अर्थात् किसी वस्तु का ज्यों का त्यों चित्र रखना और उसको सुन्दर बनाने के सुझाव रखना। वे 'यह होता है' के साथ 'यह होना चाहिए' लिखने के पक्षपाती थे।

उपन्यास, नाटक तथा कहानी में रूप-विधान की दृष्टि से एक ही प्रकार के तत्व हैं। वे छह हैं—

(१) कथा वस्तु ; (२) पात्र ; (३) चरित्र-चित्रण ; (४) कथोपकथन ; (५) उद्देश्य और (६) शैली।

तत्वतः साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से अभेद होते हुए भी उनमें भेद है। भेद यही है कि उपरोक्त छह तत्वों का दोनों साहित्यिक कृतियों में अनुपात भिन्न-भिन्न होता है। तत्वों का यही न्यूनाधिक मिश्रण इस साहित्यिक रूप-भेद का कारण है। यहाँ हम प्रत्येक तत्व को लेकर दोनों में अन्तर देखेंगे।

कथावस्तु

नाटक की कथावस्तु का निर्णायक रंगशाला का प्रतिबन्ध होता है, अर्थात् नाटक लिखते समय यह बात ध्यान में रखी जाती है कि जो कुछ लिखा जा रहा है वह अभिनीत हो सकता है या नहीं। नाटक कभी सफल नहीं होगा जब तक उसकी कथा वस्तु में रंगमंच की दृष्टि से सभी गुण न हुए। उदाहरणार्थ, अरूप वस्तुओं का प्रदर्शन, भारीभरकम वस्तुओं का समावेश नाटक में नहीं होना चाहिए क्योंकि रंगमंच पर दिखाई कैसे जायगी ?

इसके अतिरिक्त नाटक कुछ विशेष नियमों में आबद्ध रहता है। उसमें वर्जित दृश्यों का ध्यान रखना पड़ता है। भोजन, नगरावरोध, भीड़, युद्ध, विप्लव आदि के दृश्य वर्जनीय हैं। वे नाटक में कम से कम लिखे जाने चाहिए।

नाटक दृश्यकाव्य है, अतः उसमें प्रत्यक्षानुभवता अधिक रहती है। दर्शक को किसी बात की कल्पना अपनी ओर से नहीं करनी पड़ती ; वह तो प्रत्येक बात को दृश्यरूप में ही देखता है।

नाटक का पूर्ण सौंदर्य अभिनय में होता है, अतः उसके वाक्य केवल पढ़ने से इतना आनन्द नहीं दे सकते। वाक्य भी उच्चारण की सुविधा से लिखे जाते हैं। क्लिष्ट भाषा यदि पात्र बोल नहीं पाया तो नाटक असफल हो जायगा।

नाटककार कथावस्तु में अपना मत कहीं व्यक्त नहीं कर सकता। वह आलोचक के रूप में 'मैं' की भाषा में बात नहीं कर सकता, उसे जो कुछ भी कहना है उसे वह पात्रों के द्वारा ही कहलायेगा।

कथा का विस्तार नाटककार मनमाना नहीं कर सकता। कथा सीमित तथा संक्षिप्त होगी तो अंक और दृश्य का प्रतिबन्ध नाटक की कथावस्तु पर नियन्त्रण रखेगा।

नाटक का कथानक अर्थप्रकृतियाँ, संधियों और कार्यावस्था में बँटा रहता है।

उपन्यास केवल पढ़ने के लिए होता है, अतः उसका पूर्णानन्द पढ़ने में ही आता है। अतः उसकी कथा इसी दृष्टि से लिखी जाती है।

उपन्यास की रंगशाला उसी में रहती है। अतः रंगमंच का प्रतिबन्ध उसकी कथा पर कोई प्रभाव नहीं डालता। उसमें कथा का रूप-विधान अभिनय की दृष्टि से नहीं होता।

उपन्यासकार कहने में पूर्ण स्वतन्त्र होता है ; वह कोई बात 'मैं' की भाषा में कहने में स्वतन्त्र है वह अपने विचार स्वयं प्रकट कर सकता है। उपन्यास की कथा-वस्तु में इस बात से कुरूपता नहीं आती।

कथावस्तु के सीमित या संक्षिप्त होने का कोई प्रतिबन्ध उपन्यासकार पर नहीं होता। नाटक की भाँति उसे सन्धियों, अर्थप्रकृतियों, कार्य-व्यापारों आदि का बन्धन नहीं रहता।

उपन्यास का कथानक नियमबद्ध नहीं होता। चाहे जैसा भयावह दृश्य, प्रलय, बाढ़, अदृश्य वस्तुओं आदि का वर्णन करने में उपन्यासकार स्वतन्त्र है। अंक-दृश्य आदि का भी बन्धन उस पर नहीं। प्राकृतिक वर्णन तथा अन्य प्रकार के वर्णन भी वह उपन्यास में कर सकता है। उपन्यासों के परिच्छेदों की कोई संख्या नियत नहीं है।

संक्षेप में, नाटककार कथा के विषय में बहुत से विषय में बँधा रहता है, उपन्यासकार इस विषय में स्वतन्त्र है।

### पात्र

नाटक में, पात्रों का आधिक्य वांछनीय नहीं होता। नाटक में पात्रों की विशिष्टताएँ ऐसी होनी चाहिए। जो रंगमंच से सामंजस्य रखती हो। नाटककार पात्र के विषय में स्वयं कुछ नहीं कहेगा।

उपन्यास में चाहे जितने पात्र रखे जा सकते हैं, उसमें कोई बन्धन नहीं। उपन्यास में कितने ही विचित्र प्रकार के पात्रों का समावेश किया जा सकता है। रंग-मंच का कोई प्रतिबन्ध उसमें नहीं होता। पात्रों के विषय में उपन्यासकार स्वयं भी चाहे जो कुछ कह सकता है।

### चरित्र-चित्रण

नाटक का चरित्र-चित्रण सांकेतिक तथा व्यंग्यात्मक होता है। नाटककार 'यह पात्र बुरा है', 'वह अच्छा है', आदि जैसी आलोचनात्मक वाक्य नहीं कह सकता। वह पात्रों का चरित्र-चित्रण तीन प्रकार से कर सकता है—(१) अन्य पात्रों के मुख से किसी पात्र के विषय में कहलवाना ; (२) आपसी वार्त्तालाप द्वारा चरित्र-चित्रण और (३) स्वयं पात्र के कथन द्वारा अर्थात् स्वगत-कथन द्वारा।

चरित्र-चित्रण में पात्र के चरित्र का निष्कर्ष नाटककार अपनी भाषा में नहीं कह सकता क्योंकि वह पात्रों में से एक नहीं है।

संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि नाटक में चरित्र-चित्रण केवल कथोपकथन के बल पर होता है।

उपन्यास में लेखक पात्रों के विषय में उनके चरित्र के निर्णायक वाक्य 'मैं' की भाषा में आलोचनात्मक रूप में कह सकता है।

उपन्यासकार स्वयं भी पात्र में से एक हो सकता है (आत्मचरित्र प्रणाली द्वारा लिखे गये उपन्यास में तो नायक लेखक ही होता है)।

उपन्यासकार को चरित्र-चित्रण की वे सुविधाएँ तो प्राप्त हैं ही जो नाटककार को, इसके अतिरिक्त भी उसे कुछ सुविधाएँ प्राप्त हैं।

उपन्यासकार किसी पात्र के चरित्र का विश्लेषण कर सकता है। उपन्यासकार वातावरण के द्वारा भी संकेतरूप में चरित्र-चित्रण कर सकता है।

### कथोपकथन

नाटक की सर्वप्रधान विशेषता, जो उसे अन्य साहित्यिक कृतियों से अलग करती है और भिन्न नाम प्रदान करती है, वह है कथोपकथन। कथोपकथन नाटक का प्राण-तत्व है जिसके बिना उसका कोई अस्तित्व नहीं। उपन्यासकार चाहे तो कथोपकथन बिलकुल भी उड़ा सकता है और केवल किसी कथा को वर्णात्मक ढंग में ही रख सकता है। उपन्यास की जो विशेषताएँ हैं, वे सब नाटककार इसी तत्व के द्वारा लाने का प्रयत्न करता है।

नाटक के कथोपकथन पर भी प्रतिबन्ध होता है और वह तीन प्रकार का होता है—(१) श्राव्य ; (२) अश्राव्य और (३) नियतश्राव्य। उपन्यास का कुछ कथोपकथन तो समानरूप से सबके लिए होता है, किन्तु कुछ ऐसा होता है जो सुना नहीं जाता। पात्र उसे बोलता अवश्य है किन्तु निकटस्थ पात्र उसे न सुनने का बहाना करता है और दिखाता है कि उसने कुछ नहीं सुना। कुछ ऐसा होता है जो कुछ निश्चित व्यक्तियों के सुनने के लिए ही होता है।

नाटक में कथोपकथन ही नाटककार की परीक्षा है। उपन्यास यह काम वर्णनों से पूरा कर लेता है, अतः कथोपकथन उसके लिए इतने आवश्यक नहीं जितने नाटककार के लिए।

सच तो यह है कि कथोपकथन साहित्य के किसी रूप-भेद में इतने आवश्यक नहीं जितने नाटक में, जो न उपन्यास में न कविता में न कहानी में हैं।

### उद्देश्य

नाटककार जीवन की व्याख्या केवल प्रत्यक्षरूप से कर सकता है। नाटक में जीवन को चित्ररूप में उपस्थित किया जाता है जो एक कठिन साधना है। नाटक में जीवन दृश्य के रूप में आता है जो पूर्ण होना चाहिए। दर्शक उस दृश्यरूप को देख कर ही जीवन और उसकी व्याख्या को हृदयंगम कर ले।

किन्तु उपन्यासकार जीवन की व्याख्या प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में कर सकता है। नाटक में उद्देश्य व्यंग्य होता है और उपन्यास में वर्णित। उदाहरणार्थ,

सत्य हरिश्चन्द्र नाटक दिखाया जायगा तो उसमें लेखक कभी यह नहीं कह सकता कि सत्य बोलना चाहिए। 'सत्य बोलना चाहिए' के लिए ही उसे पात्र कल्पित करने होंगे और तब घटनाओं के उचित परिणामों के रूप में यह बात व्यंग्य होगी। किन्तु उपन्यास में नीति-वाक्य कहे जा सकते हैं और कहे जाते हैं।

शैली

नाटक में चार शैलियाँ मानी गयी हैं, जो रस के अनुसार हैं, अर्थात् जिस रस का नाटक हो, भाषा उसी के अनुसार होनी चाहिए। वीभत्स रस का नाटक हो तो भाषा ओजपूर्ण और सात्वकी वृत्ति की होनी चाहिए।

इसी प्रकार जब श्रृंगार रस का नाटक हो तो भाषा मधुर और कोमल होनी चाहिए, अतः कौशिकीवृत्ति होनी चाहिए।

कौशिकी, सात्वकी, आरभटी और भारती चार वृत्तियाँ होती हैं।

उपन्यास में शैलियाँ भाषा के ओज और माधुर्य गुण के अनुसार नहीं अपितु कथन के भेद के अनुसार होती हैं। जैसे—

(१) आत्म-चरित्र—जब उपन्यास 'मैं' की प्रणाली में लिखा जाय, अर्थात् लेखक स्वयं प्रधान पात्र हो।

(२) अन्य-चरित्र—जहाँ उपन्यास 'वह' की भाषा में लिखा जाय और लेखक तटस्थ होकर वर्णन करे।

(३) पात्र-प्रणाली—जहाँ पात्रों के उत्तर-प्रत्युत्तरस्वरूप उपन्यास-रचना हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपन्यास और नाटकों में तत्व तो समान हैं परन्तु नाटक या उपन्यास लिखते समय वे तत्व न्यूनाधिक रूप से एक-दूसरे में व्यवहृत होते हैं और इस प्रकार तत्व-साम्य होते हुए भी एक बड़ा अन्तर उत्पन्न हो जाता है।

———